श्रीअरविन्द-साहित्य

खण्ड १६

अपने विषयमें

टिप्पणियों और पत्रोंसे संकलित

ON HIMSELF

Compiled From Notes And Letters

श्रीअरविन्द
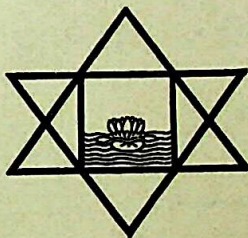
श्रीअरविन्द सोसायटी
पांडिचेरी - 2
1973

अनुवादक :
जगन्नाथ वेदालंकार

प्रथम संस्करण, वर्ष 1973

Price Rs. मूल्य रु॰ Rs 18/00

प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी-2

मुद्रक : ऑल इन्डिया प्रेस,
श्रीअरविन्द आश्रम,
पांडिचेरी-2.

विषय-सूची

श्रीअरविन्द—अपने विषयमें

भाग एक

भाग दो

श्रीअरविन्द—अपने तथा माताजीके विषयमें

दो शब्द

श्रीअरविन्द यह बात बल देकर कहा करते थे कि अपने विषयमें ठीक-ठीक बातें केवल मैं ही बता सकता हूं। परन्तु उन्होंने कभी अपने जीवनके विषयमें विशद या क्रमबद्ध रूपमें कोई विवरण नहीं दिया। केवल अपने शिष्यों और दूसरे कुछ लोगोंके पत्रोंके उत्तरमें कभी-कभी किसी विषयको समझानेके लिये प्रसंगवशात् अपने जीवनकी कुछ घटनाओंका उल्लेख किया और अपने यौगिक जीवनके कुछ अनुभवोंकी चर्चा की। कुछ अवसरोंपर जब किसी पत्रिका या पुस्तकमें उनके विषयमें कोई भ्रमोत्पादक विवरण छपा तो प्रश्न करनेपर उन्होंने उसका संशोधन किया। फिर उनका जीवन चरित्र लिखनेवाले तीन व्यक्तियोंने जब एक बार अपनी हस्तलिपि उनके पास देखनेके लिये भेजी तो उन्होंने कुछ बातोंको स्पष्ट और शुद्ध करनेके लिये जहां-तहां टिप्पणियां लिख दीं। इन्हीं सब सामग्रियोंको एकत्र करके इस पुस्तकके पहले भागमें क्रमबद्ध रूपमें सजा दिया गया है। इस संकलनका एकमात्र उद्देश्य यही है कि श्रीअरविन्दके जीवनके विषयमें लोगोंको एकदम विश्वसनीय विवरण मिल सके और किसीको उनके विषयमें कोई संदिग्ध या भ्रमोत्पादक वक्तव्य देनेका मौका न मिले। अभी कुछ दिन पहले उनके विषयमें कुछ ऐसी पुस्तकें और लेख प्रकाशित हुए थे जो अच्छी नीयतसे लिखे जानेपर भी उनके जीवनके सम्बन्धमें कितने ही भ्रांत तथ्यों तथा उनकी गलत व्याख्याओंसे भरे हुए थे। इसी कारण विशेष रूपसे प्रामाणिक सामग्रीका संकलन प्रकाशित करना आवश्यक समझा गया।

श्रीअरविन्दने अपने कुछ पत्रोंमें, श्रीमाताजीके भारत आने तथा अपने कार्यमें उनके सहयोग देनेके बाद, सम्मिलित रूपसे अपने तथा श्रीमाताजीके विषयमें कुछ बातें लिखी थीं। उन्हीं पत्रोंको पृथक् रूपसे इस पुस्तकके दूसरे भागमें एकत्रित कर दिया गया है।

इस खण्डके कुछ पत्र शताब्दी संस्करणमें प्रकाशित श्रीअरविन्दके योग, काव्य, साहित्य, और कला-विषयक पत्रोंके खण्डोंसे लिये गये हैं, क्योंकि ये स्वयं श्रीअरविन्द या माताजीसे सम्बन्ध रखते हैं। कुछ अन्य पत्र पहली बार प्रकाशित हो रहे हैं। कुछ स्थलोंमें जहां सारे पत्रमें अनेक विषयोंकी चर्चा थी, केवल श्रीअरविन्द या माताजीका उल्लेख करनेवाला भाग ही इस खण्डमें सम्मिलित करनेके लिये छांट लिया गया है। कभी-कभी सीधे व्यक्तिगत उल्लेख से बचनेके लिये श्रीअरविन्द अपने विषयमें तृतीय-पुरुष-सर्वनामका व्यवहार किया करते थे। इसी कारण इस पुस्तकमें कुछ स्थलोंमें श्रीअरविन्दका उल्लेख तृतीय पुरुषमें पाया जाता है।

श्रीअरविन्द अपने जीवनी-लेखकोंके प्रति

केवल मैं ही अपने अतीतकी बातोंके विषयमें, उन्हें ठीक रूप और अर्थ देते हुए, कुछ बता सकता हूँ।

*

मैं देखता हूँ कि तुम जीवनी लिखनेमें दृढ़तापूर्वक लगे हुए हो— क्या इसे लिखना सचमुचमें आवश्यक या उपयोगी है? प्रयत्न असफल होकर रहेगा, क्योंकि मेरे जीवनके विषयमें कुछ भी न तो तुम जानते हो न कोई और; वह बाहरी तलपर नहीं रहा कि लोग उसे देख सकें।

*

पर मेरी जीवनी लिखी ही क्यों जाय? क्या यह वास्तवमें आवश्यक है? मेरे विचारमें, किसी व्यक्तिका मूल्य उसकी शिक्षा, या पद-प्रतिष्ठा या कीर्तिपर या उसके कार्यपर निर्भर नहीं करता, बल्कि इस बातपर निर्भर करता है कि वह क्या है और आन्तरिक तौरपर क्या बनता है।

Sri Aurobindo

भाग एक
श्रीअरविन्द – अपने विषयमें
उनके जीवनपर टिप्पणियां और पत्र

पांडिचेरीसे पहलेका जीवन

यह परिच्छेद श्रीअरविन्दके सन् १९१०में पांडिचेरी पहुँचनेसे पहलेके जीवनके आरम्भिक भागसे सम्बन्ध रखता है। सन् १९४३-४६में श्रीअरविन्दके तीन जीवनी-लेखकोंकी पाण्डु-लिपियां संशोधन या समर्थन एवं सम्मतिके लिये उनके सम्मुख प्रस्तुत की गई थीं। उन्हें पढ़ते हुए श्रीअरविन्दने जो टिप्पणियां लिखायीं उन्हींसे यह परिच्छेद संगृहीत किया गया है। टिप्पणियोंका उद्देश्य यह था कि या तो प्रासंगिक तथ्य प्रदान करके उनके वर्णनोंको स्पष्ट किया जाय अथवा, जहां कहीं आवश्यक हो, उनमें संशोधन एवं परिवर्तन कर दिया जाय।

प्रायः करके मूल असंशोधित पाण्डुलिपियोंके स्थलों अथवा उनके अपूर्ण या अशुद्ध कथनोंका संक्षिप्त उल्लेख श्रीअरविन्दकी टिप्पणियोंके ऊपर कर दिया गया है। कुछ स्थलोंमें केवल छोटे-छोटे शीर्षक दे दिये गये हैं।

एक महाराष्ट्रीय लेखकने श्रीअरविन्दकी एक जीवनी लिखी थी। उसकी पाण्डुलिपिपर श्रीअरविन्दने जहां-तहां कुछ टिप्पणियां लिख दी थीं; उन्हें भी यहां समाविष्ट किया गया है। इसी प्रकार अपने सम्बन्धमें कई पत्र-पत्रिकाओं तथा एक पुस्तकमें प्रकाशित कुछ एक भ्रामक या मनगढ़ंत वक्तव्योंका संशोधन करनेके लिये उन्होंने जो टिप्पणियां और पत्र लिखाये वे भी यहां जोड़ दिये गये हैं।

कुछ पत्र उन्होंने अपने प्रारम्भिक जीवनके कतिपय तथ्योंके सम्बन्धमें साधकोंके प्रश्नोंके उत्तरमें लिखे थे। वे भी उन तथ्योंपर श्रीअरविन्दकी टिप्पणियोंके साथ यथास्थान दे दिये गये हैं।

I

इंग्लैण्डमें प्रारम्भिक जीवन : १८७९-१८९३

श्रीअरविन्दका जन्म १५ अगस्त १८७२ को कलकत्तेमें हुआ था। उनके पिताजी एक सुयोग्य और सुदृढ़ व्यक्तित्ववाले आदमी थे। वे शिक्षा प्राप्त करनेके लिये इंग्लैण्ड जानेवाले पहले व्यक्तियोंमें थे। वे वहांसे अपनी आदतों, विचारों और आदर्शोंमें पूरी तरहसे अंग्रेजी रंगमें रंगकर वापिस लौटे। उनपर इतना पक्का रंग चढ़ा कि उनके अरविन्द बचपनमें केवल अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी ही बोलते थे और अपनी मातृभाषा इंग्लैण्डसे वापिस आनेपर ही सीख पाये। उन्होंने निश्चय कर रखा था कि वे अपने बच्चोंको पूर्ण रूपसे यूरोपीय शिक्षा ही दिलायेंगे। सबसे पहले भारतमें उन्होंने इन्हें शिक्षा आरंभ करनेके लिये दार्जिलिंगके आयरिश संन्यासिनियोंके एक स्कूलमें भेज दिया और फिर १८७९में वे अपने तीनों लड़कोंको इंग्लैण्ड ले गये। वहां उन्होंने इन्हें एक अंग्रेज पादरी और उसकी स्त्रीको सौंप दिया तथा यह कठोर निर्देश दे दिया कि उनके बच्चोंको किसी भारतीयसे परिचय न करने दिया जाय और न उनपर किसी प्रकारका भारतीय प्रभाव पड़ने दिया जाय। इन निर्देशोंका अक्षरशः पालन किया गया और श्रीअरविन्द भारतवर्ष, इसकी जनता, इसके धर्म एवं संस्कृतिसे पूर्णतया अनभिज्ञ रहते हुए ही बड़े हुए।

श्रीअरविन्द मानचेस्टर ग्रामर स्कूलमें कभी नहीं गये। उनके दो भाइयोंने ही वहां अध्ययन किया, पर स्वयं उन्हें श्रीमान् और श्रीमती ड्र्यूएट (Drewett) ने अपने घरपर ही शिक्षा दी। ड्र्यूएट लेटिनके एक प्रकांड विद्वान थे; उन्होंने श्रीअरविन्दको ग्रीक नहीं पढ़ाई, किंतु लेटिनकी शिक्षा इतनी अच्छी तरहसे दी कि लन्दनके सेंट पाल स्कूलके मुख्याध्यापकने उनको ग्रीक पढ़ानेका कार्य स्वयं अपने हाथमें ले लिया और फिर उन्हें शीघ्रतासे स्कूलकी उच्च कक्षाओंमें तरक्की देते गये।

ओस्टन ले (Austen Leigh) उन दिनों स्कूलके अध्यक्ष नहीं थे; अध्यक्षका नाम था प्रोथेरो (Prothero)।

मानचेस्टरमें और सेंट पाल स्कूलमें श्रीअरविन्दने प्राचीन साहित्य पढ़नेकी ओर ध्यान दिया; पर सेंट पाल स्कूलमें पढ़ते समय भी अन्तिम तीन वर्ष उन्होंने अपनी स्कूलकी पाठ्य पुस्तकोंपर तो सरसरी नजर दौड़ाई और अपना शेष समय अधिकतर व्यापक अध्ययन, विशेषतः अंग्रेजी काव्य, साहित्य एवं

गल्प तथा फ्रेंच साहित्य और प्राचीन, मध्ययुगीन एवं अर्वाचीन यूरोपके इतिहास-के अनुशीलनमें ही व्यतीत किया। कुछ समय उन्होंने इटालियन, कुछ जर्मन और थोड़ी स्पेनिश सीखनेमें भी लगाया। कविता लिखनेमें भी उन्होंने अपना बहुत-सा समय लगाया। इस कालमें स्कूली पढ़ाईके लिये वे बहुत ही कम समय देते थे; इसमें उनकी पहलेसे ही सहज गति थी और उन्होंने इसके लिये और अधिक परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं समझी। तथापि किंग कालिज (King's College) में ग्रीक और लेटिन कविता आदि विषयोंके वर्ष भरके सभी पुरस्कार प्राप्त करनेमें वे सफल हुए।

उन्होंने कैम्ब्रिजकी उपाधि प्राप्त नहीं की। ट्राइपोसके प्रथम खण्डकी परीक्षामें वे प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए; साधारणतया इस प्रथम खण्डमें पास होनेपर ही बी. ए.की उपाधि दी जाती है; परन्तु उनके हाथमें केवल दो वर्षका समय था और इसलिये उन्हें यह परीक्षा कैम्ब्रिजमें अपने द्वितीय वर्षमें ही पास करनी पड़ी; पर प्रथम खण्डसे उपाधि केवल तभी प्राप्त होती है जब इसकी परीक्षा तृतीय वर्षमें दी जाय; यदि कोई इसकी परीक्षा द्वितीय वर्षमें दे तो उपाधिका अधिकारी बननेके लिये चतुर्थ वर्षमें ट्राइपोसके द्वितीय खण्डकी परीक्षा देना उसके लिये आवश्यक होता है। यदि वे उपाधिकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना-पत्र देते तो वे इसे प्राप्त कर सकते थे, परन्तु उन्होंने इसकी कोई परवाह न की। अंग्रेजीकी उपाधिका महत्त्व केवल तभी होता है जब कोई अध्ययन-अध्यापनका जीवन अपनाना चाहता हो।

सेंट पाल स्कूलमें दिनमें ही पढ़ाई होती थी। तीनों भाई श्री ड्रयूएटकी मांके साथ कुछ समय लन्दन रहे, परन्तु उसमें और मनमोहनमें धर्म-विषयक कलह हो जानेसे उसने उन्हें छोड़ दिया। वृद्धा श्रीमती ड्रयूएट ईसाई मतकी उत्साही प्रचारिका थी और उसने कहा कि वह एक नास्तिकके साथ नहीं रहेगी, अन्यथा उसपर अनर्थ ढह सकता है। उसके बाद विनयभूषण और श्रीअर-विन्दने दक्षिण केन्सिग्टन लिबरल क्लबमें एक कमरा ले लिया। बंगालके भूत-पूर्व लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर हेनरी काटनके भाई श्री जे. एस. काटन उस क्लबके मंत्री थे और विनय उस कार्यमें उनकी सहायता करते थे। मनमोहन एक 'लाज' (Lodge)* में चले गये। यह अत्यन्त कष्ट और गरीबी का समय था। पीछे श्रीअरविन्द भी, कैम्ब्रिजमें निवास-स्थान लेनेसे पूर्व, अलग एक 'लाज' में रहने लगे।

*विलायतमें जो परिवार खर्च लेकर अपने यहां मेहमान रखते हैं उनके निवासस्थान को 'लाज' (Lodge) कहते हैं।

इंग्लैण्डमें श्रीअरविन्दका नाम

उनके पिताजीने उन्हें वहां 'अरविन्द एक्रायड घोष' नाम दिया था।

इंग्लैण्ड छोड़नेसे पहले ही श्रीअरविन्दने अपने नाममेंसे "एक्रायड" शब्द निकाल दिया था और इसका प्रयोग फिर कभी नहीं किया।

लन्दनमें स्कूल-जीवनके कष्ट

पूरे एक वर्ष भर प्रातःकाल सैंडविच (Sandwich) के एक दो टुकड़े, रोटी और मक्खन तथा एक प्याला चाय और शामको एक आनेका कबाब यही उनका भोजन रहा।

आई०.सी०.एस०.के अन्तर्गत घुड़सवारीकी परीक्षामें सम्मिलित न हो सके

ऐसा कोई कारण नहीं था जिसने उन्हें अपने कमरेसे बाहर न निकलने दिया हो। उन्हें आई. सी. एस.में जानेकी कोई प्रवृत्ति नहीं थी और वे इस बन्धनसे बचनेका कोई तरीका ढूंढ़ रहे थे। अपने-आप सिविल सर्विसका परित्याग करनेकी जगह — जिसके लिये उनके घरवाले अनुमति न देते — कुछ युक्तियों-से उन्होंने अपनेको घुड़सवारीके अयोग्य सिद्ध करनेका उपाय निकाल लिया।

> भारतीय प्रशासन-सेवा (इण्डियन सिविल सर्विस) के लिये अयोग्य ठहरा दिये जानेपर श्रीअरविन्दने अपना सारा ध्यान श्रैणिक साहित्य (ग्रीक और लेटिन साहित्य) के अध्ययन-अनुशीलनमें लगा दिया।

यह अध्ययन-अनुशीलन उस समयतक समाप्त भी हो चुका था।

> भारतीय प्रशासन-सेवाकी परीक्षाके दो वर्ष बाद उन्होंने किंग्'स कालिजसे क्लासिकल ट्राइपोसकी परीक्षामें प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होकर पदवी प्राप्त की।

यह पदवी उन्हें प्रशासन-सेवाकी परीक्षामें असफल होनेके बाद नहीं, पहले ही प्राप्त हो चुकी थी।

श्रीअरविन्द, २० वर्षकी आयुसे पूर्व, ग्रीक, लेटिन और अंग्रेजी भाषाओंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर चुके थे और जर्मन, फ्रेंच, इटालियन जैसी अन्य यूरोपीय भाषाओंका भी उन्होंने पर्याप्त परिचय प्राप्त कर लिया था।

इसमें यह संशोधन कर लेना चाहिये: "......ग्रीक और लेटिन तथा अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाओंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर चुके थे और जर्मन तथा इटालियन आदि यूरोपीय भाषाओंका भी कुछ परिचय प्राप्त कर चुके थे।"

इंग्लैण्डमें छोटी अवस्थामें ही उन्होंने अपने देश को स्वतंत्र करनेका दृढ़ निश्चय किया था।

बात ठीक ऐसी ही नहीं है; श्रीअरविन्दने पहले-पहल इसी आयुमें भारतीय राजनीतिमें दिलचस्पी लेना शुरू किया था, जिसके विषयमें वे इससे पूर्व कुछ नहीं जानते थे। उनके पिताजी उन्हें 'बंगाली' नामक अंग्रेजी समाचारपत्र भेजने लगे। उसमें वे भारतीयोंके साथ अंग्रेजोंके दुर्व्यवहारके समाचारोंपर निशान लगा देते थे और अपने पत्रोंमें वें भारतकी ब्रिटिश सरकारको हृदयहीन सरकार कहकर उसकी निन्दा किया करते थे। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही श्रीअरविन्दको इस बातका तीव्र अनुभव हो गया था कि जगत्‌में एक सार्वभौम उथल-पुथल और महान् क्रांतिकारी परिवर्तनोंका समय आ रहा है और स्वयं उनका भी उसमें भाग लेना दैवनिर्दिष्ट है। तब उनका ध्यान भारतकी ओर आकृष्ट हुआ और शीघ्र ही वह अनुभव अपने देशको स्वतंत्र करनेके विचारमें परिणत हो गया। परन्तु उस "दृढ़ निश्चय"ने अपना परिपक्व रूप और चार वर्षोंके बाद ही ग्रहण किया। कैम्ब्रिज जानेसे पूर्व ही वे यह निश्चय कर चुके थे और वहां 'भारतीय मजलिस' के एक सदस्य तथा कुछ कालके लिये मंत्रीके रूपमें उन्होंने अनेक क्रांतिपूर्ण भाषण भी दिये। बादमें उन्हें पता लगा कि भारतकी सिविल सर्विससे उन्हें अलग रखनेके अधिकारियोंके निर्णयमें इन भाषणोंका भी हाथ था। घुड़सवारीकी परीक्षामें असफल होना तो एक निमित्तमात्र था, क्योंकि कुछ अन्य व्यक्तियोंको स्वयं भारतमें भी इस कमी को पूरा करनेका अवसर दिया गया था।

युवा श्रीअरविन्दने इंग्लैण्डमें रहते हुए "Lotus and Dagger" — "कमल और कटार"—नामकी एक गुप्त संस्था स्थापित की थी।

यह सत्य नहीं है। लन्दनमें रहनेवाले भारतीय विद्यार्थी एक बार एक गुप्त संस्थाकी स्थापना करनेके लिये इकट्ठे हुए थे जिसका रोमांचक नाम उन्होंने "कमल और कटार" रखा था। इसमें प्रत्येक सदस्यने प्रतिज्ञा की कि सामान्य रूपसे वह भारतको स्वाधीन करनेके लिये कुछ-न-कुछ कार्य करेगा और इस लक्ष्यकी पूर्तिके लिये कोई विशेष कार्य भी अपने ऊपर लेगा। श्रीअरविन्दने इस संस्थाको गठित नहीं किया था, किंतु वे अपने भाइयोंके साथ इसके सदस्य बने थे। पर यह संस्था मानो मरी हुई ही जन्मी थी! यह घटना भारत लौटनेसे ठीक पहले और कैंब्रिजसे अंतिम विदाई लेनेके बादकी है। उस समय भारतीय राजनीति नरम और भीरुतापूर्ण थी और इंग्लैण्डमें रहनेवाले भारतीय विद्यार्थियोंका यह इस प्रकारका पहला ही प्रयत्न था। स्वयं भारतमें श्रीअरविन्दके नाना राजनारायण बोसने भी एक बार एक गुप्त समितिका निर्माण किया था —जिसके रवि ठाकुर भी, जो उस समय सर्वथा तरुण थे, सदस्य बने थे— और राष्ट्रीय एवं क्रांतिकारी प्रचारके लिये एक संस्था भी स्थापित की थी, परन्तु अन्तमें इसका कुछ भी फल न निकला। आगे चलकर महाराष्ट्रमें क्रांतिकी भावनाका जन्म हुआ और पश्चिमी भारतमें एक गुप्त संस्था आरंभ हुई जिसके प्रधान एक राजपूत सरदार थे और बंबईमें इसकी पांच सदस्योंकी एक परिषद् थी और अनेक प्रमुख मराठे राजनीतिज्ञ इसके सदस्य थे। इस संस्थासे श्रीअरविन्दने १९०२-३के बीच किसी समय अपना संपर्क स्थापित किया और इसके सदस्य भी बन गये। इससे कुछ दिन पहले ही उन्होंने स्वयं बंगालमें एक गुप्त क्रांतिकारी कार्य आरंभ कर दिया था। बंगालमें उन्होंने देखा कि कुछेक बहुत छोटी-छोटी गुप्त संस्थाएं हाल ही में आरंभ हुई हैं और विना किसी स्पष्ट पथप्रदर्शनके पृथक्-पृथक् कार्य कर रही हैं; और उन्होंने एक समान कार्यक्रमके द्वारा उन्हें सम्मिलित करनेका यत्न किया। वह सम्मिलन न तो पूरा हो पाया और न स्थायी ही रहा, परन्तु स्वयं राष्ट्रीय आंदोलन जोर पकड़ता गया, बहुत शीघ्र ही वह अत्यधिक विस्तृत हो गया और बंगालमें व्यापक विक्षोभका एक प्रबल अंग बन गया।

लन्दनमें रहते हुए वे फेबियन सोसायटी — (Fabian Society) —के साप्ताहिक अधिवेशनोंमें सम्मिलित हुआ करते थे।

एक बार भी सम्मिलित नहीं हुए।

युवक श्रीअरविन्द मनुष्य और प्रकृतिमें निहित सौंदर्यके प्रति संवेदन-

शील थे......मनुष्यके प्रति मनुष्यकी क्रूरताके सहस्रों दृष्टांत देखकर उन्हें पीड़ा होती थी।

पीड़ाकी अपेक्षा घृणाका ही अधिक अनुभव होता था; बिलकुल बचपनसे ही सब प्रकारकी क्रूरता और अत्याचारके प्रति तीव्र घृणा और विरक्ति थी, परन्तु 'पीड़ा' शब्द उस प्रतिक्रियाका ठीक-ठीक वर्णन नहीं करता।

५ वर्षकी आयुतक उन्हें कुछ टूटी-फूटी बंगला आती होगी। उसके पश्चात् २१ वर्षकी आयुतक वे केवल अंग्रेजीमें ही बातचीत करते रहे।

मेरे पिताजीके घरमें केवल अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी बोली जाती थी। मैं बंगला नहीं जानता था।

इंग्लैण्डमें १८से २० वर्षकी आयुके बीच लिखी हुई श्रीअरविन्दकी अंग्रेजी कविताओंमें, जो अधिकांशमें "Songs to Myrtilla" पुस्तकमें सम्मिलित की गई हैं, विदेशीय तत्त्व ही प्रधान है। केवल नाम, रूप-स्वरूप और संकेत ही अपने परिधानमें वैदेशिक नहीं हैं बल्कि साहित्यिक प्रतिध्वनियोंकी भी भरमार है जो विभिन्न स्रोतोंसे ली गई हैं।

विदेशीय किस अर्थमें हैं? वे भारत अथवा इसकी संस्कृति आदिके विषयमें कुछ नहीं जानते थे। ये कविताएं उस शिक्षा-दीक्षा, उन कल्पनाओं और भाव-भावनाओंकी अभिव्यक्ति हैं जो शुद्ध यूरोपीय संस्कृति एवं परिस्थितिसे उत्पन्न हुई थीं — इससे भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता था। इसी प्रकार उसी पुस्तकमें भारतीय विषयों और परिस्थितियोंपर लिखी कविताएं उन प्रतिक्रियाओंको व्यक्त करती हैं जो स्वदेश लौटने तथा इन चीजोंसे प्रथम परिचय प्राप्त करनेके बाद भारत एवं इसकी संस्कृतिके प्रति पहले-पहल उत्पन्न हुई थीं।

मैकालेकी कविता "A Jacobite's Epitaph" की भांति श्रीअरविन्द की कविता "Hic Jacet" भी शब्दोंकी नितांत मितव्ययिताके कारण गंभीर सौंदर्यसे समन्वित है; इस कविताकी विषय-वस्तु, यहां तक कि लय और भाषा — सभी मैकालेकी याद दिलाती हैं।

यदि ऐसी बात है तो यह कोई अचेतन प्रभाव ही होगा; क्योंकि आरंभिक बाल्यकालके बाद मैकालेकी कविता (The Lays) का आर्षण जाता रहा। "जैकोबाइट्'स एपीटाफ" (Jacobite's Epitaph) शायद मैंने दूसरी बार भी नहीं पढ़ी; इसने मनपर कोई छाप नहीं डाली।

> सर हेनरी काटनका श्रीअरविन्दके नाना महर्षि राजनारायण बोससे बहुत मेल-जोल था। उनके पुत्र जेम्स काटन इस समय लन्दनमें थे। इन अनुकूल अवस्थाओंके फलस्वरूप बड़ौदेके गायकवाड़से भेंट हुई।

काटन मेरे पिताजीके मित्र थे — उन्होंने मुझे बंगालमें नियुक्त करानेका प्रबंध कर लिया था; परन्तु गायकवाड़के साथ मेरी भेंट होनेमें उनका कोई हाथ नहीं था। जेम्स काटनका मेरे बड़े भाईके साथ खूब परिचय था, क्योंकि दक्षिण केंसिग्टन लिबरल क्लबके, जहां हम रहते थे, वे मंत्री थे और मेरे भाई उनके सहायक थे । वे हम दोनोंमें बहुत दिलचस्पी लेते थे। उन्हींने गायकवाड़से मेरी भेंट कराई थी।

> चौदह वर्षतक युवक श्रीअरविन्द अपने देशकी संस्कृतिसे विच्छिन्न होकर इंग्लैण्डमें रहे थे और अपने-आपसे प्रसन्न नहीं थे। वे चाहते थे कि सब कुछ नये सिरेसे शुरू करें और अपनेको फिरसे राष्ट्रीय बनानेका यत्न करें।

इस कारण किसी प्रकारकी अप्रसन्नता हो यह बात नहीं थी, न उस समय जान-बूझकर अपनेको पुनः राष्ट्रीय बनानेकी कोई इच्छा ही थी — ऐसी इच्छा तो, भारत पहुँचनेके बाद, भारतीय संस्कृति और जीवन-प्रणालीके प्रति सहज आकर्षण तथा सभी भारतीय वस्तुओंके लिये स्वभावगत संवेदना और अभिरुचि होनेके कारण पैदा हुई थी।

> वे इंग्लैण्डसे विदा ले रहे थे, विदा लेना चाहते थे, और फिर भी विदा लेनेका विचार आते ही उन्हें अनुताप भी अनुभव होता था। अवर्णनीय संदेहों और संतापोंसे उनका चित्त कांपने लगता; काव्य-रचनाका आश्रय लेकर उन्होंने उनसे छुटकारा पाया।

इंग्लैण्डसे प्रस्थान करते हुए ऐसा कोई संताप नहीं हुआ, न अतीतसे मोह-ममता थी न भविष्यके संबंधमें संदेह। इंग्लैण्डमें बहुत ही कम लोगोंसे मैत्री थी और अत्यन्त घनिष्ठता तो किसीसे भी नहीं थी; वहांका मानसिक वातावरण अनुकूल नहीं लगा। इसलिये किसी ऐसे छुटकारेकी आवश्यकता ही नहीं थी।

> श्रीअरविन्द बड़ौदेके गायकवाड़के यहां नौकरी करनेके लिये भारत लौट रहे थे; उन्होंने अपने गृहीतप्राय देशपर अंतिम दृष्टि डाली और 'सोंग्स टु मिरटिल्ला' (Songs to Myrtilla) के अंतिम पद्य 'आँव्वा' (Envoi) में अपने विदाईके उद्‌गार प्रकट किये।

नहीं, वे उद्‌गार एक संस्कृतिसे दूसरीमें संक्रमण करनेके विषयमें थे। अंग्रेजी भाषा और यूरोपीय विचार एवं साहित्यसे आसक्ति थी, पर देशके रूपमें इंग्लैण्डसे नही; वहां, जैसा कि मनमोहनने कुछ समयके लिये किया था, उन्होंने कोई नाता नहीं जोड़ा था और न इंग्लैण्डको अपना वृत देश (adopted country) ही बनाया था, इसके विपरीत यदि द्वितीय देशके रूपमें यूरोप के किसी प्रदेशसे आसक्ति थी भी तो वह थी बौद्धिक एवं हार्दिक रूपमें उस प्रदेशसे जिसे उन्होंने न तो देखा था और न जिसमें वे रहे ही थे, अर्थात् इंग्लैण्डसे नहीं बल्कि फ्रांससे।

अपने पुत्रकी मृत्युके मिथ्या समाचारके कारण श्रीअरविन्दके पिताजीकी मृत्यु

अन्य दो भाइयोंके इंग्लैण्डसे प्रस्थान करनेकी कोई बात नहीं थी। उन्हें केवल श्रीअरविन्दकी मृत्युका समाचार सुनाया गया था और श्रीअरविन्दका नाम लेकर विलाप करते-करते ही उनके प्राण छूटे।

> अपने पिताजीके निधनके पश्चात् परिवारके भरण-पोषणका उत्तर-दायित्व उनपर आ पड़ा और शीघ्र ही कोई नौकरी करना उनके लिये आवश्यक हो गया।

उस समय परिवारके पालनका कोई प्रश्न सामने नहीं था। वह तो भारत जानेके कुछ समय बाद सामने आया।

II

बड़ौदेका जीवन : १८९३-१९०६

बड़ौदा रियासतकी सेवा

पहले उन्हें भूमि-व्यवस्था-विभाग (Land Settlement Department) में नियुक्त किया गया, फिर कुछ समयके लिये स्टाम्पस ओफिस (Stamps Office) में, उसके अनंतर केंद्रीय राजस्व कार्यालय (Central Revenue Office) तथा मंत्रालय (Secretariat) में। तत्पश्चात् कालिजमें नियुक्त हुए बिना तथा अन्य कार्य करते हुए वे कालिजमें फ्रेंचके उपाध्याय रहे और अन्तमें उनके प्रार्थना करनेपर उन्हें वहां अंग्रेजीके प्रोफेसरके पदपर नियुक्त कर दिया गया। इस सारे कालमें, जब कभी कोई ऐसी चीज लिखनी होती जिसकी शब्द-योजना ध्यानपूर्वक करना आवश्यक होता तो महाराज उन्हें उसके लिये बुलवा भेजते; अपने कुछ सार्वजनिक भाषण तैयार करने तथा अन्य साहित्यिक या शैक्षणिक ढंगके कार्यमें भी महाराजने उनकी सहायता ली। आगे चलकर श्रीअरविन्द कालिजके वाइस-प्रिंसिपल बन गये और कुछ समय स्थानापन्न प्रिंसिपल भी रहे। महाराजका बहुत-सा निजी कार्य वे गैरसरकारी हैसियतसे ही करते थे; प्रायः ही वे महाराजके निमंत्रणपर उनके साथ प्रातराश करनेके लिये उनके महलपर जाया करते और तब उनका निजी कार्य करनेके लिये वहां ठहर जाते थे।

*

श्रीअरविन्द व्यक्तिगत मंत्रीके पदपर कभी नियुक्त नहीं हुए। सबसे पहले उन्हें भूमि-व्यवस्था-विभागमें अधिकारीके रूपमें नहीं बल्कि काम सीखने के लिये रखा गया, उसके बाद स्टाम्प्स और राजस्व विभागोंमें; कुछ समयके लिये उन्हें चिट्ठी-पत्री आदिका मसविदा बनानेके लिये सचिवालयमें भी नियुक्त किया गया। अंतमें, वे कालिजके अध्यापन-कार्यकी ओर झुके और पहले वहां थोडे समय फ्रेंच पढ़ानेके लिये गये, बादमें अंग्रेजीके नियमित उपाध्याय हो गये और अन्तमें वाइस-प्रिंसिपलके पदपर नियुक्त हुए। इस बीच, जब कभी महाराज आवश्यक समझते, वे चिटिठयां लिखने, भाषण तैयार करने या अनेक प्रकारके सरकारी कागजोंका, जिनके शब्द-विन्यासमें विशेष सावधानीकी आवश्यकता होती, मसविदा बनानेके लिये उनको बुला भेजते थे। यह सब वह अपने नियमित कार्यके रूपमें नहीं करते थे; व्यक्तिगत मंत्रीके पदपर उनकी नियुक्ति

नहीं हुई थी। एक बार महाराज अपनी काश्मीर-यात्रामें श्रीअरविन्दको मंत्रीके रूपमें साथ ले गये, परन्तु यात्रा-कालमें दोनोंके बीच बहुत मतभेद उठ खड़ा हुआ और इसलिये वह परीक्षण फिर नहीं दुहराया गया।

महाराजका प्रमाण-पत्र

"परिश्रमी, गंभीर इत्यादि" — श्रीअरविन्दके गुणोंका यह मूल्यांकन वह नहीं है जो महाराजने किया था। उन्होंने उनको योग्यता और प्रतिभाके साथ-साथ समय-पालन और नियमितताके अभावके लिये भी प्रमाण-पत्र दिया था। यदि "परिश्रमी और गंभीर" तथा "प्रशंसनीय सेवा-कार्य" कहनेकी जगह यह कहा जाता कि वे प्रगतिशाली तथा कार्यमें क्षिप्र और कुशल थे तो अधिक सत्य होता। जैसा वर्णन यहां किया गया है वह एक अशुद्ध चित्र उपस्थित करता है।

अधिकारियोंने उनके देशभक्तिके कार्योंपर आपत्ति की।

क्या यह संकेत बड़ौदेके अधिकारियोंकी ओर है?

श्रीअरविन्दको नहीं मालूम कि उनके कथनों या लेखोंपर कभी आपत्ति की गई हो। 'इंदु प्रकाश' में उनके लेख बिना नामके निकला करते थे, यद्यपि बंबईके बहुतसे लोगोंको पता था कि इनके लेखक श्रीअरविन्द ही हैं। अन्यथा स्वयं राजमहलमें कुछ अवसरोंको छोड़कर, जैसे, डा. एस. के. मल्लिकके स्वागत-के समय, जिसका राजनीतिसे कुछ भी संबंध नहीं था, वे मुख्यत: बड़ौदा कालिज संघके सभापतिके रूपमें ही भाषण दिया करते थे। इसपर किसी भी समय कोई भी आपत्ति नहीं की गई और बड़ौदा छोड़नेसे पहले तक वे बराबर ही संघ-की कुछ विवाद-सभाओंका सभापतित्व करते रहे। हां, इंग्लैण्डमें केंब्रिजमें अध्ययन करते हुए भारतीय मजलिसकी सभाओंमें उन्होंने कुछ क्रांतिपूर्ण भाषण दिये थे जिन्हें इंडिया आफिसने उनके विरुद्ध एक अपराधके रूपमें गिना था।

श्रीअरविन्द जब भारत पहुँचे तो वे टूटी-फूटी बंगलाके सिवा और कोई भारतीय भाषा नहीं जानते थे; बंगला तो उन्हें आई. सी. एस. के लिये एक विषयके रूपमें पढ़नी पड़ी थी।

आई. सी. एस. की प्रतियोगिताकी परीक्षामें बंगला पाठ्य विषय नहीं थी।

प्रतियोगिताकी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके बाद श्रीअरविन्दने एक ऐसे उम्मीदवारके रूपमें, जिसने बंगालको अपना कार्य-क्षेत्र चुना था, बंगला सीखनी शुरू की। परन्तु उन्हें अत्यंत साधारण शिक्षा ही प्राप्त हो सकी; उनके शिक्षक बंगालके एक अवकाश-प्राप्त अंग्रेज जज थे, जो विशेष योग्य नहीं थे, पर फिर भी उन्होंने वहांपर जो कुछ सीखा वह 'कुछ नहीं'से अधिक था। बंगला तो श्रीअरविन्दने अधिकांशतः स्वयमेव बादमें बड़ौदा आनेपर सीखी।

· बड़ौदेमें बंगलाका अध्ययन

बंगला सीखनेके विषयमें यह कहा जा सकता है कि अपने लिये कोई शिक्षक रखनेसे पहले ही श्रीअरविन्द इतनी भाषा जानते थे कि वे बंकिमके उपन्यासों तथा मधुसूदनके काव्यका मूल्यांकन कर सकते थे। बादमें उन्होंने इसका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त किया जिससे वे स्वयं बंगलामें लिख सकें और अधिकतर अपने ही लिखे लेखोंसे एक साप्ताहिक चला सकें, परन्तु इस भाषापर उनका अधिकार अंग्रेजी जितना नहीं था और उन्होंने अपनी मातृभाषामें भाषण देनेका साहस कभी नहीं किया।

> बड़ौदेमें श्रीअरविन्द दिनेन्द्रकुमार रायसे नियमपूर्वक बंगला पढ़ते थे।

नहीं, वे उनसे नियमपूर्वक नहीं पढ़ते थे। दिनेन्द्र एक साथीकी तरह श्रीअरविन्द-के साथ रहते थे और उनका कार्य कोई नियमित शिक्षा देना नहीं बल्कि उनके भाषा-ज्ञानको शुद्ध करने तथा पूर्ण बनानेमें उनकी सहायता करना और उन्हें बंगलामें बातचीतका अभ्यास कराना था।

श्रीअरविन्द दिनेन्द्रकुमारके छात्र नहीं थे; वे बंगला पहले ही स्वयमेव सीख चुके थे और दिनेन्द्रको उन्होंने अपने अध्ययनमें सहायता करनेके लिये ही बुलाया था।

> बड़ौदेमें श्रीअरविन्दने कई पण्डित रखकर बंगला और संस्कृतका अनुशीलन आरंभ किया।

बंगलाके लिये उन्होंने एक तरुण बंगाली साहित्यिकको अपना शिक्षक रखा था, पर संस्कृतके लिये कोई शिक्षक नहीं रखा।

बड़ौदेमें उन्होंने हिन्दीका भी अध्ययन किया।

श्रीअरविन्दने हिन्दी कभी नहीं पढ़ी; परन्तु संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषा-ओंसे अभिज्ञ होनेके कारण उन्होंने हिन्दी बिना किसी नियमित अध्ययनके ही आसानीसे सीख ली और जब वे हिन्दी पुस्तकें या समाचार-पत्र पढ़ते तो उनको समझनेमें उन्हें कठिनाई नहीं होती थी। संस्कृत उन्होंने बंगला द्वारा नहीं, बल्कि सीधी संस्कृत या अंग्रेजीके द्वारा सीखी।

बड़ौदेमें सभी साहित्यों तथा इतिहास आदिका तुलनात्मक अध्ययन करनेके बाद वे वेदके महत्त्वका अनुभव करने लगे।

नहीं। वेदका अध्ययन उन्होंने पांडिचेरीमें आरम्भ किया था।

१८९५में केवल मित्रोंमें वितरित करनेके लिये उनकी कुछ कविताए प्रकाशित हुई जिनमेंसे पांच इंग्लैण्डमें लिखी गई थी और शेष बड़ौदेमें।

बात इससे ठीक उलटी है; इस पुस्तक (Songs to Myrtilla) की उन पांच पीछेकी कविताओंको छोड़कर जो उन्होंने भारत लौटनेके बाद लिखीं, शेष सभी इंग्लैण्डमें लिखी गई थीं।

यह असंभव नहीं है कि "बाजी प्रभु" और "विदुला" — श्रीअरविन्द-की आरंभिक कालकी दो लंबी कविताएं — वस्तुत: बड़ौदेके अंतिम वर्षोंमें लिखी गई हों या कम-से-कम इनकी मानसिक रूप-रेखा तभी बनाई गई हो।

नहीं, ये कविताएं बंगालमें राजनीतिक कार्यके दिनोंमें सोची और लिखी गईं।

श्रीअरविन्द जब केवल एक विवेकशील शिक्षक या सिद्धहस्त कवि थे....तब भी वे मुख्य रूपसे त्याग और सेवाकी समस्यामें व्यस्त रहते थे......बिलकुल आरंभसे ही निजी मोक्ष या वैयक्तिक सुखका विचार उन्हें अत्यन्त अप्रिय था।

"अत्यन्त अप्रिय" — यह कथन कुछ अत्युक्तिपूर्ण है। यों कहना चाहिये कि

यह विचार परमोच्च लक्ष्य या स्वयं अपने लिये ही अनुसरण करने योग्य चीज नहीं प्रतीत हुआ; व्यक्तिगत मोक्ष, जो संसारको अपने भाग्य पर ही छोड़ दे, विरस-सा प्रतीत होता था।

> बड़ौदा-राज्यकी सेवा करते हुए श्रीअरविन्दके मनमें निरन्तर यह विचार उठने लगा कि क्या उन्हें बँगाल या स्वयं भारत देशके वृहत्तर जीवनकी सेवा का कोई सुयोग प्राप्त नहीं हो सकता।

उन्होंने इंग्लैंडमें ही निश्चय कर लिया था कि वे अपना जीवन देशकी सेवामें तथा उसे स्वतंत्र करनेमें लगायेंगे। भारत आनेके बाद शीघ्र ही उन्होंने दैनिक पत्रोंमें (बिना अपना नाम दिये) राजनीतिक विषयोंपर लेख लिखने भी शुरू कर दिये और देशको भविष्यके विचारोंके प्रति जागृत करनेका यत्न करने लगे। परन्तु उस समयके नेताओंने उन विचारोंका सम्यक् स्वागत नहीं किया तथा आगेके लिये उनका प्रकाशन रुकवा दिया और तब श्रीअरविन्दने मौन धारण कर लिया। परन्तु उन्होंने न तो अपने विचार ही त्यागे और न प्रभाव-पूर्ण कार्यकी आशा ही छोड़ी।

"इन्दु-प्रकाश"में लेख

"इन्दु-प्रकाशक"के लेखोंके संबंधमें तथ्य ये थे। श्रीअरविन्दके केम्ब्रिजकें मित्र के. जी. देशपांडे उक्त पत्रके संपादक थे। उनके कहनेपर ही श्रीअरविन्दने लेख लिखने शुरू किये थे। परन्तु पहले दो लेखोंसे ही सनसनी फैल गई और रानाडे तथा कांग्रेसके अन्य नेता भयसे कांप उठे। रानाडेने पत्रके मालिकको चेतावनी दी कि अगर यह क्रम चलता रहा तो निश्चय ही उनपर राजद्रोहका मुकदमा चलाया जायगा। इसलिये मालिकके कहनेपर लेखोंकी मूल योजना छोड़ देनी पड़ी। देशपांडेने श्रीअरविन्दसे प्रार्थना की कि वे कुछ कम उग्र शैलीमें लेख लिखनेका सिलसिला जारी रखें और उन्होंने अनिच्छापूर्वक ही उनकी बात मान ली, परन्तु लिखनेमें अब उनकी रुचि नहीं रही और लेख बहुत काफी अन्तरसे प्रकाशित होने लगे और अन्तमें बिलकुल बन्द हो गये।

> "इन्दु प्रकाश"में उन्होंने जो धारावाहिक लेख लिखे वे भारतीय सभ्यताके विषयपर थे और उनका शीर्षक था: "पुराने दीपकोंकी जगह नये दीपक।"

इस शीर्षकका संकेत भारतीय सभ्यताकी ओर नहीं बल्कि कांग्रेसकी राजनीतिकी ओर था। इसका प्रयोग अलादीनकी कहानीवाले भावमें नहीं बल्कि इस भावमें किया गया था कि कांग्रेसके पुराने और टिमटिमाते हुए सुधारवादी दीपकोंका स्थान नये दीपकोंको दिया जाय।

> उन्होंने बड़ौदे और बंबईके अपने कुछ मित्रोंको क्रांतिकारी आंदोलन-की भूमि तैयार करनेके लिये बंगाल भेजा।

बड़ौदे और बंबईका उनका कोई भी मित्र उनकी ओरसे बंगाल नहीं गया। उनका पहला गुप्तचर एक बंगाली युवक था जो बड़ौदा-सैन्यमें काम करनेवाले श्रीअरविन्दके मित्रोंकी सहायतासे घुड़सवारोंकी सेनामें एक सैनिक के रूपमें भरती हो गया था यद्यपि भारतकी किसी भी सेवामें किसी बंगालीको भरती करना ब्रिटिश सरकारकी ओरसे मना था। इस युवकने, जो अत्यन्त उद्योग-शील और योग्य था, कलकत्तेमें प्रथम दलका निर्माण किया जो बड़े वेगसे विकसित हुआ (आगे चलकर इसकी अनेक शाखाएं स्थापित हो गईं); उसने पी. मित्तर तथा अन्य क्रांतिकारियोंसे भी, जो प्रांतमें पहलेसे कार्य कर रहे थे, संपर्क स्थापित किया। पीछे बारीन भी, जो इस बीच बड़ौदे आये थे, उससे जा मिले।

> इस समय बंबईमें एक गुप्त संस्था थी जिसके प्रधान उदयपुरके राजपूत राजा थे।

वह राजपूत नेता एक राजा, अर्थात् शासक नहीं थे, बल्कि उदयपुर राज्यके एक सरदार थे जिनकी उपाधि ठाकुर थी। वे ठाकुर बंबईकी कौंसिलके सदस्य नहीं थे; वे सम्पूर्ण आन्दोलनके नेताके रूपमें इससे ऊपर थे जब कि कौंसिल सम्पूर्ण महाराष्ट्र तथा मराठा राज्योंको संगठित करनेमें उनकी सहायता करती थी। वे स्वयं मुख्य रूपसे भारतीय सेनाको अपने साथ करनेके लिये कार्य करते थे जिसकी दो-तीन पलटनोंको वे अपने पक्षमें कर भी चुके थे। इनमेंसे एक पलटनके भारतीय छोटे अधिकारियों एवं सैनिकोंसे मिलने तथा बातचीत करनेके लिये श्रीअरविन्दने मध्य भारतकी विशेष यात्रा की थी।

> बड़ौदा-निवासके समय श्रीअरविन्दने प्रभावशाली लोगों तथा महत्त्व-पूर्ण दलोंसे संपर्क स्थापित किया। वे "यह देखनेके लिये" बंगाल

> गये कि "वहां पुनरुज्जीवनकी कितनी आशा है, जनताकी राजनीतिक स्थिति क्या है और वास्तविक् आन्दोलनकी कोई संभावना है या नहीं।"

इसमें यह भी जोड़ा जा सकता है कि उन्होंने एक कार्य आरंभ कर रखा था जो अभी तक सर्वथा अज्ञात था; और उसी कार्यके सिलसिलेमें वे "यह देखने के लिये" बंगाल गये कि "वहां पुनरुज्जीवनकी कितनी आशा है इत्यादि।"

> १६००से श्रीअरविन्दकी यह इच्छा थी कि वे राजनीतिक संघर्षमें प्रवेश करें और जो शक्तियां भारतको स्वतंत्र करने तथा उसका पुनरुत्थान करनेके लिये गंभीरतापूर्वक कार्य कर रही हैं उन्हें अपनी शक्ति भर सहयोग दें। उन्होंने प्रथम श्रेणीके नेताओंसे गुप्त वार्ता-लाप तथा पत्र-व्यवहार किया और उनपर दबाव डाला; परन्तु अभीतक वे कुछ नहीं कर पाये थे।

इससे बातका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। इसके पहलेसे ही वे कतिपय अग्रगण्य नेताओंके साथ मिलकर राजनीतिक आन्दोलनके लिये कुछ ऐसी संस्थाएं संगठित करनेका कार्य कर रहे थे जो आन्दोलनका समय आनेपर कार्य-क्षेत्रमें उतर पड़ें*; परन्तु जनताके बीच वे अभीतक कुछ भी कार्य नहीं कर पाये थे।

> यहांतक कि उनका अपना निर्भीक प्रांत बंगाल भी उनकी प्रेरणा

*प्रारंभमें इस संगठनका कार्यक्रम था — स्वराज्य, स्वदेशी और बहिष्कार। इसके लिये स्वराज्यका अर्थ पूर्ण स्वातंत्र्य था। 'स्वराज्य' शब्दका प्रयोग सबसे पहले बंगला-मराठी पत्रकार सखाराम गणेश देवस्करने किया था। इन्होंने 'देशेर कथा' नामकी एक पुस्तक भी लिखी थी जिसमें भारतकी आर्थिक दासतासे संबंधित सारी बातोंको विस्तारपूर्वक संगृहीत किया था। उस पुस्तकका बंगालके युवकोंपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा और उन्हें क्रांतिकारी बननेमें उसने सहायता पहुँचायी। क्रांतिकारी दलने स्व-राज्य शब्दको अपने आदर्शके रूपमें अपना लिया और ब्रह्मबान्धव उपाध्याय द्वारा संपादित बंगला पत्र 'सन्ध्या' ने इसका खूब प्रचार किया। कलकत्ता-कांग्रेसमें दादाभाई नौरोजी-ने इसे औपनिवेशिक स्वशासनके पर्यायके रूपमें व्यवहृत किया परन्तु इसका यह संकुचित अर्थ अधिक समयतक नहीं चल सका। श्रीअरविन्द पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इसके अंग्रेजी पर्याय 'इण्डिपेण्डेन्स' "Independence" का प्रयोग किया और 'वन्दे मातरम्' में इसे पुनः पुनः भारतीय राजनीतिके एकमात्र प्रथम लक्ष्यके रूपमें उद्घोषित किया।

> एवं उनकी शक्तिशाली राष्ट्रीयताकी शिक्षाको ग्रहण करनेके लिये इच्छुक नहीं था।

उस समय बंगाल और कुछ भी हो निर्भीक तो नहीं था ; 'वन्दे मातरम्' के मंत्र और क्रांतिकारी आन्दोलनमें कूद पड़नेसे ही प्रांतकी जनतामें परिवर्तन हुआ था।

> उन्होंने देखा कि बंगालमें "सर्वत्र निराशा और उदासीनताका भाव छाया हुआ है।" इसलिये अपने समय की प्रतीक्षा करनेके सिवा उनके लिये और कोई चारा न था।

इसके साथ यह भी कहना चाहिये कि "अपना राजनीतिक कार्य पर्देके पीछे चुपचाप करते रहनेके सिवा और कोई चारा न था। सार्वजनिक कार्यके लिये अभी समय नहीं आया था। एक बार जब उनका कार्य शुरू हो गया तो सार्वजनिक आन्दोलनमें भाग लेनेके लिये परिस्थितियां अनुकूल होनेतक उन्होंने उसे जारी रखा।

> जब वे बड़ौदा-राज्यमें कार्य करते थे तब कभी-कभी अपने नानाजीसे मुलाकात करने बंगाल जाया करते थे। उनकी इन यात्राओंका उद्देश्य राजनीतिक होता था।

यह बात ठीक नहीं है। उन यात्राओंका राजनीतिसे कोई संबंध नहीं था। हां, उनके कुछ वर्ष बाद उन्होंने देवव्रत बोसके साथ, जो 'युगांतर'में बारीनके सहयोगी थे, बंगालकी एक यात्रा की थी। उस यात्राका उद्देश्य पहलेसे स्थापित कुछ क्रांतिकारी केंद्रोंको देखना और दूसरे, जिले-जिलेके प्रमुख व्यक्तियोंसे मिलना तथा देशकी सामान्य मनोवृत्ति एवं क्रांतिकारी आन्दोलनकी संभावनाओंका ज्ञान प्राप्त करना था। अपनी इस यात्राके अनुभवके द्वारा उन्हें निश्चय हो गया कि गुप्त कार्य या तैयारी से अपने-आपमें तबतक कोई फल नहीं निकल सकता जबतक इसके साथ-साथ जनतामें एक व्यापक आन्दोलन न किया जाय, जो जनसाधारणमें देश-प्रेमकी उमंग पैदा कर दे और इस विचारको प्रसारित कर दे कि स्वराज्य ही भारतीय राजनीतिका आदर्श और उद्देश्य है। इसी विश्वासके आधारपर उन्होंने अपना अगला कार्यक्रम निश्चित किया।

दिसम्बर १९०६से अप्रैल १९०७के बीच देवघरमें निवास

देवघरमें श्रीअरविन्द सदा अपने नाना राजनारायण बोसके परिवारके साथ रहा करते थे। उनके सास-ससुर देवघरमें नहीं रहते थे।

> उस समयके प्रमुख तेजस्वी पुरुषोंमें एक पी. मित्तर थे जो सर्वात्मभावेन एक कर्मवीर व्यक्ति थे।

पी. मित्तरका जीवन आध्यात्मिक था; उनमें अभीप्सा थी और थी प्रबल धार्मिक भावना; वे विपिन पाल तथा बंगालके नये राष्ट्रीय आन्दोलनके अन्य कई प्रमुख नेताओंकी भांति, प्रसिद्ध योगी विजय गोस्वामीके शिष्य थे, परन्तु इन चीजोंको उन्होंने अपनी राजनीतिमें नहीं शामिल किया।

> स्वामी विवेकानान्दके देशभक्तिसे भरे उद्गारोंका* श्रीअरविन्दपर बड़ा प्रभाव पड़ा था।

श्रीअरविन्द विवेकानन्दके ऐसे किसी उद्गार या उनके किसी राजनीतिक कार्यसे अभिज्ञ नहीं थे। हां, उन्होंने कहीं किसी प्रसंगमें विवेकानन्दके प्रखर देशभक्तिपूर्ण भावोंकी बात सुनी थी जिनसे बहन निवेदिताको प्रेरणा मिली थी।

> ऐलन ह्यूम — Allan Hume — ने इंग्लैण्ड और भारतके सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियोंको एकत्र करनेके लिये माध्यमके रूपमें अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभाकी स्थापना की थी जिससे कि विचार-विनिमय तथा शासन-सुधार आदिके कार्योंको आगे बढ़ाया जा सके।

उस जमानेमें स्वयं कांग्रेस भी इस 'माध्यमके रूपमें इत्यादि' की कांग्रेसकी परिभाषाको शायद ही स्वीकार करती और ब्रिटिश सरकार भी इसे अंगीकार न करती। वह तो इस संस्थाको घृणाकी दृष्टिसे देखती थी और इसकी यथासंभव उपेक्षा ही करती थी। श्रीअरविन्द राष्ट्रकी ओरसे ब्रिटिश सरकारसे किसी प्रकारकी प्रार्थना करनेके सर्वथा विरुद्ध थे। वे कांग्रेसको एक निरर्थक

*स्वामी विवेकानन्दके कुम्भकोणम्में दिये गये भाषण "वेदान्तका ध्येय"में व्यक्त हुए उद्गारोंका।

आवेदन और प्रतिवादका तरीका समझते थे और स्वावलंबन, असहयोग तथा क्रांतिकारी आन्दोलनके लिये राष्ट्रकी सभी शक्तियोंके संगठनको ही एकमात्र फलप्रद नीति मानते थे।

> सशस्त्र क्रांतिमें श्रीअरविन्दका विश्वास नहीं था, न उन्हें यह पसन्द ही थी।

यह बात गलत है। यदि श्रीअरविन्दको उग्र क्रांतिकी फलोत्पादकतामें विश्वास न होता अथवा यदि वह उन्हें नापसंद होती तो वे उस गुप्त संस्थामें कदापि सम्मिलित न होते जिसका उद्देश्य ही था राष्ट्रीय विप्लवकी तैयारी करना। उनके ऐतिहासिक अध्ययनने उन्हें वह पाठ नहीं पढ़ाया था जिसकी ओर यहां इंगित किया गया है। इसके विपरीत, उन्होंने उन क्रांतियों और विद्रोहोंका जिनके फलस्वरूप कई राष्ट्रोंको स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, अर्थात् अंग्रेजोंके विरुद्ध मध्ययुगीय फ्रांसके संघर्ष और अमरीका तथा इटलीको स्वतंत्र करनेवाले विद्रोहों का बड़े चावसे अध्ययन किया था। उन्हें अपनी अधिकांश प्रेरणा इन आंदोलनों तथा इनके नेताओंसे, विशेषकर 'जान दार्क' (Jeanne d'Arc) और मेजिनी से प्राप्त हुई थी। अपने सार्वजनिक कार्योंमें उन्होंने असहयोग एवं निष्क्रिय प्रतिरोधको स्वातंत्र्य-संग्रामके एक साधनके रूपमें अपनाया पर वे केवल इसीको एकमात्र साधन नहीं मानते थे। जबतक वे बंगालमें रहे, वे खुले विद्रोहकी तैयारीके रूपमें गुप्त क्रांतिकारी कार्य बराबर करते रहे ताकि निष्क्रिय प्रतिरोध यदि स्वतंत्रता-संग्रामके लिये अपर्याप्त सिद्ध हो तो खुली क्रांति शुरू की जा सके।

स्वदेशी, पारनेल-नीति (Parnellism)* और सिन-फिन आन्दोलन

भारतमें श्रीअरविन्दकी जो नीति थी वह पारनेल-नीतिपर आधारित नहीं थी। उसकी समानता सिन-फिनसे अधिक थी पर वह सिन-फिन आन्दोलनसे पहले निर्धारित की गई थी और इसलिये उसे इसके द्वारा प्रेरित नहीं कहा जा सकता।

> श्रीअरविन्दने अपने इंग्लैण्ड-निवासके फलस्वरूप उच्च कोटिका बौद्धिक उत्कर्ष प्राप्त किया था; पर वही पर्याप्त नहीं था और निःसंदेह

*सी. एस. पारनेलके आयरिश स्वराज्य-दलकी नीति।

> वे प्रसन्न नहीं थे। उनके चित्तमें एक गहरी व्याकुलता थी; वे नहीं जानते थे कि उन्हें अपने देशवासियोंके लिये उपयोगी सिद्ध होनेके लिये ठीक कौन-सा कार्य करना चाहिये अथवा उसे कैसे आरंभ करना चाहिये। सुतरां, वे योगकी ओर मुड़े जिससे कि वे अपने दोलायमान विचारों और प्रवृत्तियोंको स्पष्ट करने और यदि संभव हो तो, अपने अन्दरके गुप्त यन्त्रको पूर्ण बनानेमें भी समर्थ हो सकें।

अप्रसन्नता थी ही नहीं। "व्याकुलता" भी अधिक तीव्र शब्द है। श्रीअरविन्दकी कार्यशैली यह नहीं थी कि वे पहलेसे ही सोच-विचारकर कोई योजना बना लेते हों। वे एक निश्चित लक्ष्य अपने सामने रखकर घटनाओंका निरीक्षण करते और शक्तियोंको तैयार करते और जब समय उपयुक्त लगता तब कार्यक्षेत्रमें उतर पड़ते। राजनीतिक क्षेत्रमें अपना प्रथम संगठित कार्य (ऐसे लोगोंको एकत्रित करना जो स्वतंत्रताके विचारको अंगीकार करते हों और उपयुक्त आन्दलोन करनेके लिये तैयार हों) उन्होंने बहुत पहले ही आरंभ कर दिया था, पर उसने नियमित रूप १९०२ में या इसके आसपास ही ग्रहण किया; इसके दो वर्ष बाद उन्होंने योगाभ्यास आरंभ किया — अपने विचारोंको स्पष्ट रूप देनेके लिये नहीं बल्कि ऐसी आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करनेके लिये जो उन्हें सहारा दे और उनके पथको आलोकित करे।

> राष्ट्रीय शिक्षाके आन्दोलनके विषयमें परामर्श लेनेके लिये वे नर्मदाके तटपर ब्रह्मानन्दजी से मिले।

श्रीअरविन्द ब्रह्मानन्दजीसे राष्ट्रीय शिक्षा-आन्दोलनके प्रश्नके पैदा होनेसे भी बहुत पहले मिले थे। ब्रह्मानन्दजीने उन्हें कभी कोई सम्मति या परामर्श नहीं दिया और न उन्होंने कभी बातचीत ही की; श्रीअरविन्द उनके मठमें केवल दर्शन और आशीर्वादके निमित्त गये थे। बारीनका गंगानाथजीसे घनिष्ठ संबंध था और उनके गुरु स्वामी ब्रह्मानन्दकी मण्डलीके ही एक संन्यासी थे, किन्तु गंगानाथजीसे संबंध केवल आध्यात्मिक ही था।

> पांडिचेरीमें अपना नीरव योग आरम्भ करनेपर वे शीघ्र ही लेले और उनके पूर्ववर्ती गुरुजनोंकी शिक्षासे बहुत आगे बढ़ गये।

यह पांडिचेरी जानेसे बहुत पहले ही हो चुका था। पूर्ववर्ती गुरु कोई नहीं थे। नागा-संन्यासियोंके संचालक संघके एक सदस्यसे श्रीअरविन्दका कुछ संबंध था। उन्होंने उन्हें काली का एक मंत्र (या वस्तुतः एक स्तोत्र) दिया था और कुछ क्रियाओं और एक वैदिक यज्ञका अनुष्ठान किया था, पर यह सब उनके राजनीतिक ध्येयकी सफलताके लिये किया गया था, योगके लिये नहीं।

> बड़ौदा-कालमें श्रीअरविन्दने, एक-एक करके, श्री हंसस्वरूप स्वामी, श्री सद्गुरु ब्रह्मानन्द और श्री माधवदाससे भेंट की......अपने प्रथम गुरुओंके साथ उन्होंने आध्यात्मिक अनुभूतियोंका आदान-प्रदान भी किया।

ब्रह्मानन्दजीसे कई बार क्षण भरके लिये उनकी भेंट हुई, पर एक महान् योगीके रूपमें ही, गुरुके रूपमें नहीं — केवल दर्शन और आशीर्वादके निमित्त। शेष दोनोंसे उनका कोई संपर्क नहीं हुआ।

> अरविन्द बाबू स्वामीजी — परमहंस, महाराज इंद्रस्वरूपजी —के उपदेशोंको बड़े चावसे सुना करते थे...स्वयं उनसे मिलने गये और आसनों तथा प्राणायामकी शिक्षा ली।

केवल गायकवाड़के महलमें उनका उपदेश सुना था, उनसे मिलने नहीं गये, उसके बाद भी बहुत समयतक प्राणायामका अभ्यास आरंभ ही नहीं किया।

> नर्मदाके किनारे मलसरमें वे संत माधवदाससे मिले और उनसे योगासन सीखे।

नर्मदा तटके दो-एक स्थानोंके दर्शन किये थे, संभवतः देशपांडेके साथ; पर मलसर या माधवदासकी कुछ भी स्मृति नहीं है, यदि भेंट हुई भी हो तो निःसन्देह उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

> इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अरविन्द बाबू १८९८-९९ से ही योगमें दिलचस्पी लेने लगे थे।

नहीं। लगभग १९०४ तक मैंने योग आरंभ नहीं किया।

> अपने सर्वथा प्रारंभिक गुरुओंसे उनको जो मार्गदर्शन प्राप्त हुआ और जो आंशिक उपलब्धि वे तब प्राप्त कर सके उससे उनका यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि योग ही उनके अपने "गहरे दु:ख" और मनुष्यजातिकी नाना व्याधियोंकी एकमात्र ओषधि है।

("गुरुओं" शब्दके सामने श्रीअरविन्दने प्रश्न-चिह्न लगा दिया।)

योगका अवलंबन अपना दु:ख दूर करनेके लिये नहीं किया गया था; और न दूर करनेके लिये कोई दु:ख था ही। संसार तथा इसकी कठिनाइयोंका सामना करनेके लिये उनकी प्रकृतिमें सदा पर्याप्त समता बनी रहती थी, और उठती जवानीमें कुछ अन्तर्विषाद रहनेके बाद (उसका कारण कोई बाहरी अवस्था नहीं थी और न वह दु:ख या उदासी की सीमातक ही पहुँचा था, क्योंकि वह केवल आंतरिक प्रकृतिका एक रेशा था), यह समता पर्याप्त स्थिर हो गई।

भारतीय राष्ट्रीयताके नायक : १९०६-१९१०

श्रीअरविन्दके राजनीतिक जीवनका एक सामान्य परिचय

श्रीअरविन्दके राजनीतिक विचारों और कार्योंके तीन पहलू थे। सबसे पहला था वह कार्य जिससे उन्होंने आरंभ किया, अर्थात् वह गुप्त क्रांतिकारी प्रचार और सगठन जिसका मुख्य उद्देश्य था सशस्त्र विद्रोहकी तैयारी करना। दूसरा था एक सार्वजनिक प्रचार जिसका प्रयोजन था संपूर्ण राष्ट्रको स्वाधीनताके आदर्शकी दीक्षा देना। जब वे राजनीतिक क्षेत्रमें उतरे तब अधिकतर भारतीय इसे एक अव्यवहार्य और प्राय: पागलोंकीसी कल्पना समझते थे। यह समझा जाता था कि ब्रिटिश साम्राज्य अत्यन्त शक्तिशाली है और भारत अत्यन्त दुर्बल; उसे पूरी तरह नि:शस्त्र कर दिया गया है और वह इतना निर्वीर्य हो गया है कि ऐसे प्रयत्नमें सफल होनेका स्वप्न भी नहीं देख सकता। तीसरा पहलू था जनताका संगठन करना जिससे कि अधिकाधिक बढ़ते हुए असहयोग एवं निष्क्रिय प्रतिरोधके द्वारा विदेशी शासनका सार्वजनिक और संयुक्त रूपसे विरोध करके उसकी जड़ें खोखली कर दी जायँ।

उस समय बड़े-बड़े साम्राज्योंका सैनिक संगठन तथा उनकी सैनिक सामग्री और साधन आजकी तरह सबल और प्रत्यक्षत: अदम्य-से न थे। अभीतक राइफल ही निर्णायक अस्त्र था, वायुयान-शक्तिका अभी विकास नहीं हुआ था और तोप-बन्दूककी शक्ति इतनी प्रलयंकर नहीं थी जितनी कि यह अब हो गई है। भारत नि:शस्त्र कर दिया गया था, परन्तु श्रीअरविन्दका ख्याल था कि समुचित संगठन और बाहरी सहायतासे यह कठिनाई पार की जा सकती है और भारत जैसे विशाल देशमें तथा नियमित ब्रिटिश सैन्यकी अल्पंताको देखते हुए, एक देश-व्यापी प्रतिरोध और विद्रोहके साथ-साथ गुरिल्ला युद्ध भी फलप्रद हो सकता है। इसके अतिरिक्त भारतीय सेनामें भी व्यापक विद्रोह करानेकी सम्भावना थी। साथ ही उन्होंने ब्रिटिश लोगोंके स्वभाव, उनके चारित्र्यकी विशेषताओं तथा उनकी राजनीतिक प्रवृत्तियोंके झुकावका अध्ययन भी कर रखा था, और उनका विश्वास था कि यद्यपि वे भारतीय जनताके स्वतंत्र होनेके हरेक प्रयत्नका प्रतिरोध करेंगे और, बहुत हुआ तो, अत्यन्त धीमे-धीमे केवल ऐसे सुधार ही स्वीकार करेंगे जिनसे उनका साम्राज्यीय प्रभुत्व दुर्बल न होता हो, फिर भी वे इस प्रकारके नहीं हैं कि अन्ततक निष्ठुर पाषाण ही बने रहें। यदि उन्होंने यह देखा कि प्रतिरोध एवं विद्रोह व्यापक और अदम्य होते जा रहे हैं

तो, अन्तमें, वे अपने साम्राज्यका जितना अंश बचा सकें उतना बचानेके लिये कुछ समझौता करनेका यत्न करेंगे अथवा यदि विद्रोह पराकाष्ठाको पहुँच गया तो इसके बजाय कि स्वतंत्रता उनके हाथोंसे जबर्दस्ती छीन ली जाय वे इसे स्वयमेव दे देना पसन्द करेंगे।

कहीं-कहीं यह धारणा फैली हुई है कि श्रीअरविन्दका राजनीतिक दृष्टिकोण पूर्ण रूपसे शांतिवादी था, सिद्धांत और व्यवहार दोनोंमें वे हिंसामात्रके विरुद्ध थे और आतंकवाद तथा राजद्रोह आदिकी यह कहकर निन्दा किया करते थे कि हिन्दू धर्मकी भावना और उसके शास्त्र इसका पूर्ण रूपसे निषेध करते हैं। यहांतक कहा जाता है कि वे अहिंसावादके अग्रदूत थे। यह सर्वथा असत्य है। श्रीअरविन्द न तो पौरुषहीन नैतिकतावादी हैं न दुर्बल शांतिवादी।

राजनीतिक कार्यको निष्क्रिय प्रतिरोध तक ही सीमित रखनेका नियम अहिंसा या शांतिमय आदर्शवादके सिद्धांतके अंगके रूपमें नहीं अपितु उस समय की स्थितिके लिये राष्ट्रीय आन्दोलनकी सर्वोत्तम नीतिके रूपमें अपनाया गया था। शांति सर्वोच्च आदर्शका एक अंग अवश्य है, किन्तु इसे अपने मूलमें आध्यात्मिक या कम-से-कम मनोवैज्ञानिक होना चाहिये; मानव-प्रकृतिका परिवर्तन हुए विना यह सुनिश्चित रूपमें स्थापित नहीं हो सकती। यदि किसी अन्य आधारपर (नैतिक नियम या अहिंसाके सिद्धांत या किसी अन्य सिद्धांतके आधारपर) इसकी प्राप्तिके लिये यत्न किया जाय तो वह विफल होगा, इतना ही नहीं, बल्कि संभवतः वह स्थितिको पहले से भी अधिक खराब कर देगा। वे इस बातके पक्षमें हैं कि, यदि संभव हो तो, अंताराष्ट्रिय समझौते तथा अंताराष्ट्रिय शक्तिके द्वारा युद्धको दबानेका यत्न करना चाहिये, जिसकी कल्पना आज "नई विश्व-व्यवस्था"में की गई है, परन्तु वह अहिंसा नहीं होगी, वह तो अराजकताकी शक्तिको वैधानिक शक्तिके द्वारा दबाना होगा और तब भी हमें इस बातका पक्का निश्चय नहीं हो सकता कि इसका फल चिरस्थायी ही होगा। राष्ट्रोंकी अपनी सीमाके भीतर इस प्रकारकी शांति प्राप्त की जा चुकी है, परन्तु यह समय-समयपर होनेवाले गृहयुद्धो एवं क्रांतियों और राज-नीतिक दंगों एवं दमनोंको बिलकुल रोक नहीं देती जो कि कभी-कभी अत्यन्त रक्तपात करनेवाले होते हैं। इस ढंगकी विश्व-शांतिमें भी ऐसी घटनाएं हो सकती हैं। श्रीअरविन्दने अपने इस मतको कभी नहीं छिपाया कि किसी भी राष्ट्रको हिंसा द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करनेका पूरा अधिकार है—यदि वह ऐसा करनेमें समर्थ हो या इसे छोड़कर और कोई उपाय ही न हो; उसे ऐसा करना चाहिये या नहीं यह किन्हीं नैतिक विचारोंपर नहीं बल्कि इस बातपर निर्भर करेगा कि सर्वोत्तम नीति क्या है। इस विषयमें श्रीअरविन्दका विचार एवं

व्यवहार वैसा ही था जैसा तिलक तथा अन्य राष्ट्रीयतावादी नेताओंका जो किसी प्रकार भी शांतिवादी या अहिंसाके पुजारी नहीं थे।

भारतवर्ष आकर कुछ वर्षतक श्रीअरविन्द ('इन्दु-प्रकाश'में लेख लिखनेके सिवा) हर प्रकारकी राजनीतिक प्रवृत्तिसे अलग रहे और देशकी स्थितिका अध्ययन करते रहे ताकि वे अधिक विवेकपूर्वक यह निर्णय कर सकें कि क्या किया जा सकता है। तदनन्तर उन्होंने पहला कदम यह उठाया कि बड़ौदाकी सेनाके एक तरुण बंगाली सिपाही यतीन बनर्जीको तैयारी तथा आन्दोलनके कार्यक्रमके साथ अपने लेफ्टिनेंटके रूपमें बंगाल भेजा। उनका ख्याल था कि इस कार्यक्रम के सफल होनेमें ३० वर्षका समय लग सकता है। वास्तवमें स्वतंत्रता-आंदोलनके फलप्रद होने तथा पूर्ण सफलताके आरंभतक पहुँचनेमें ५० वर्ष लग गये हैं। निश्चय यह हुआ था कि सारे बंगालमें गुप्त रूपसे अथवा जहांतक प्रत्यक्ष कार्य करना संभव हो वहांतक नाना प्रकारके बहानों और आवरणोंके साथ क्रांतिकारी भावोंके प्रचार और स्वयंसेवकोंकी भरती का कार्य किया जाय। यह कार्य तो देशके युवकोंमें करना था और प्रगतिशील विचार-वाले तथा अपने पक्षमें लिये जा सकनेवाले वयस्कोंसे सहानुभूति और आर्थिक एवं अन्यविध सहयोग प्राप्त करना था। नगर-नगरमें और फिर अन्तमें गांव-गांवमें केंद्र स्थापित करने थे। सांस्कृतिक, बौद्धिक या नैतिक नानाविध प्रकट उद्देश्योंसे युवकोंके संघोंकी स्थापना करनी थी और जो संघ पहलेसे ही विद्य-मान थे उन्हें क्रांतिके कार्य के लिये अपने पक्षमें करना था। युवकोंको घुड़-सवारी, शारीरिक शिक्षा, नानाप्रकारके व्यायाम, कवायद और संगठित गति आदि ऐसे कार्योंकी शिक्षा देनी थी जो अन्तमें सैनिक कार्रवाईमें सहायक हों। इस विचारका बीज वपन करते ही प्रचुर फल दृष्टिगोचर होने लगा; युवकोंके छोटे-छोटे दल और संघ जिनके सामने क्रांतिका कोई स्पष्ट विचार या निश्चित कार्यक्रम न था वे इस दिशामें आने लगे और जिन थोड़े-से दलोंका क्रांतिकारी लक्ष्य था उनसे संबंध स्थापित किया गया और शीघ्र ही संगठित प्रणालीसे कार्य-विस्तार होने लगा। और, 'थोड़े' शीघ्र ही 'बहुत' हो गए। इस बीच श्रीअरविन्द पश्चिमी भारतकी एक गुप्त संस्थाके एक सदस्यसे मिले, इस संस्था-की शपथ ली और बंबईकी कौंसिलसे उनका परिचय कराया गया। उन्होंने अपने भावी कार्यका संचालन इस कौंसिलके किन्हीं निर्देशोंके अनुसार तो नहीं किया परन्तु बंगालमें, जहां अभी तक इसका एक भी सदस्य या अनुयायी नहीं था, इसके उद्देश्योंके लिये सार्वजनिक समर्थन प्राप्त करनेके कार्यका भार स्वयं अपने ऊपर ले लिया। इस संस्था और इसके उद्देश्यकी चर्चा उन्होंने पी० मित्तर तथा बंगालके क्रांतिकारी दलके अन्य नेताओंसे की और उन्होंने भी

इस संस्थाकी शपथ ली और श्रीअरविन्दके बताये ढंगसे इसके उद्देश्योंको कार्यान्वित करनेके लिये वे सहमत हो गये। मित्तरके दलने संगठनके लिये जिस विशेष पर्देका आश्रय लिया था वह था लाठी-संघ, और इसे बंगालके युवकोंमें सरला घोषालने कुछ हदतक पहलेसे ही प्रचारित कर रखा था; परन्तु दूसरे दलोंने अन्य ऊपरी छद्मोंका आश्रय लिया। संपूर्ण आंदोलनको सुदृढ़ रूपसे संगठित करनेमें श्रीअरविन्द सफल नहीं हुए, पर इससे स्वयं आंदोलनको कोई क्षति नहीं पहुँची, क्योंकि सामान्य विचारको तो सभी ने अपना लिया था। और, अनेक विभिन्न दलोंके पृथक्-पृथक् कार्यका परिणाम यह हुआ कि क्रांतिकारी प्रवृत्ति और उसका आंदोलन अधिक प्रवल और व्यापक रूपमें फैल गया। तदनन्तर बंग-भंग और विद्रोहके सार्वजनिक विस्फोटका समय आया जिसने उग्र दल और महान् राष्ट्रीय आंदोलनको और भी आगे बढ़ा दिया। तब श्रीअरविन्दके प्रयत्न अधिकाधिक इस दिशामें मुड़ते गये और गुप्त कार्य गौण तथा अवांतर तत्त्व बन गया। फिर भी, भावी उग्र विद्रोहके विचारका प्रसार करनेके लिये उन्होंने स्वदेशी आंदोलनसे लाभ उठाया। बारीनके प्रस्तावपर वे 'युगांतर' नामसे एक पत्र चलानेके लिये सहमत हो गये जिसका उद्देश्य था खुले विद्रोह तथा अंग्रेजी राज्यके पूर्ण बहिष्कारका प्रचार करना, गुरिल्ला-युद्धकी शिक्षा देनेवाली लेखमाला निकालना तथा इसी प्रकारके अन्यान्य विषयोंकी चर्चा करना। शुरूके अंकोंमें श्रीअरविन्दने स्वयं कुछ प्रारंभिक लेख भी लिखे और इसकी नीतिका सामान्य नियंत्रण सदा उन्हींके हाथमें रहा। जब स्वामी विवेकानान्दके भाईने, जो उपसंपादकीय विभागके एक सदस्य थे, तलाशीके समय अपने-आपको संपादक बताकर पुलिसके हवाले कर दिया और उनपर मुकदमा चलाया गया, तब श्रीअरविन्दके आदेशानुसार 'युगांतर'ने इस आधार पर कि वह विदेशी सरकारको नहीं मानता, ब्रिटिश अदालतमें अपनी पैरवी न करनेकी नीतिको अपनाया। इससे पत्रकी प्रतिष्ठा और प्रभाव बहुत ही अधिक बढ़ गया। बंगालके तीन योग्यतम तरुण साहित्यिक इसके मुख्य लेखक और निर्देशक थे, फलतः इसका अपरिमित प्रभाव तुरन्त ही सारे बंगालमें फैल गया। यहां यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि गुप्त संस्थाने आतंकवादको अपने प्रोग्राममें नहीं रखा था, परन्तु बंगालमें कठोर दमन तथा उसकी प्रतिक्रियाके परिणामस्वरूप यह स्वयमेव उत्पन्न हो गया था।

श्रीअरविन्दका सार्वजनिक कार्य 'इन्दु-प्रकाश' में लेख लिखनेसे आरम्भ हुआ था। इन सात लेखोंमें जो उक्त पत्रके संपादक तथा श्रीअरविन्दके कैंब्रिजके मित्र के० जी० देशपांडेके अनुरोधसे लिखे गये थे, 'पुराने दीपकोंके स्थान पर नये दीपक' शीर्षकसे कांग्रेसकी उस समयकी आवेदन, निवेदन और प्रतिवाद-

की नीतिकी कड़े शब्दोंमें निंदा की गई थी और स्वावलंबन तथा निर्भीकता पर आधारित सक्रिय नेतृत्वके लिये आह्वान किया गया था। परन्तु यह निर्भीक और अकाटच आलोचना एक नरमदलके नेताके कार्यके फलस्वरूप बन्द हो गयी जिन्होंने संपादकको भय दिखाया और इस तरह उस पत्रमें उनके विचारोंको पूर्ण रूपसे विकसित नहीं होने दिया। उन्हें कांग्रेसकी प्रवृत्तियोंको मध्यम वर्गके क्षेत्रसे परे विस्तृत करने तथा उसमें सर्वसाधारण जनताको स्थान देनेकी आव--श्यकता आदि सामान्य विषयोंकी ओर ध्यान देना पड़ा। अन्तमें, उन्होंने इस प्रकारका सब सार्वजनिक कार्य बन्द कर दिया और १९०५ तक केवल पर्देके पीछे ही कार्य करते रहे। परन्तु उन्होंने तिलकसे संपर्क स्थापित किया जिन्हें वे क्रांतिकारी दलके लिये एकमात्र संभवनीय नेता मानते थे और अहमदाबाद कांग्रेसमें उनसे भेंट की। वहां तिलक उन्हें पंडालसे बाहर ले गये और मैदान-में एक घण्टेतक उनसे बातचीत की जिसमें उन्होंने सुधारवादी आन्दोलनके प्रति घृणा प्रदर्शित की तथा यह बतलाया कि महाराष्ट्रमें वे किस तरह काम कर रहे हैं।

अपने क्रांतिकारी कार्यमें श्रीअरविन्दने एक इस प्रकारकी प्रवृत्ति भी सम्मि-लित की जो बादमें राट्रीय दलके सार्वजनिक कार्यक्रमका आवश्यक अंग बन गई। उन्होंने केंद्रोंमें काम करनेवाले युवकोंको स्वदेशीकी भावनाका प्रचार करनेके लिये उत्साहित किया जो भावना उन दिनों अपने शैशवमें थी और इने-गिने लोगोंकी धुन तक ही सीमित थी। इन क्रांतिकारी दलोंके अत्यन्त योग्य व्यक्तियोंमें सखाराम गणेश देवस्कर नामक एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। वह बंगलाके कुशल लेखक थे (उनका परिवार बहुत दिनोंसे बंगालमें बसा हुआ था) । उन्होंने बंगलामें शिवाजी का एक लोकप्रिय जीवन-चरित लिखा था जिसमें उन्होंने सबसे पहली बार 'स्वराज्य' शब्दका प्रयोग किया था और पीछे इसे ही राष्ट्रीयतावादियोंने 'इण्डिपेण्डेन्स' (Independence) के पर्यायके रूपमें अपना लिया — स्वराज्य चतुःसूत्री राष्ट्रीय प्रोग्रामका एक अंग बन गया था। उन्होंने 'देशेर कथा' नामकी एक पुस्तक भी प्रकाशित की थी जिसमें भारतमें अंग्रेजों द्वारा किये गये औद्योगिक एवं व्यापारिक शोषणका पूरे विस्तार-से वर्णन था। इस पुस्तकने बंगालमें बड़ी भारी प्रतिक्रिया उत्पन्न की, बंगालके तरुणोंके मनको वशमें कर लिया और स्वदेशी आंदोलनकी तैयारी में अन्य सभी चीजोंसे बढ़कर सहायता पहुँचाई। स्वयं श्रीअरविन्दका भी सदा यह विचार रहा था कि इस आर्थिक जुएको दूर फेंकना तथा भारतीय उद्योग एवं व्यापार-का विकास करना क्रांतिकारी प्रयासके दो आवश्यक अंग हैं।

जबतक श्रीअरविन्द बड़ौदा-राज्यकी सेवामें रहे वे राजनीतिमें खुल्लम-

खुल्ला भाग नहीं ले सकते थे। इसके अतिरिक्त, उन्हें पर्देके पीछे रहकर अपना काम करना और यहांतक कि जनतामें अपना नाम प्रकट किये बिना पीछेसे ही पथप्रदर्शन करना ज्यादा पसन्द था; 'वन्दे मातरम्के' संपादकके रूपमें सरकारने उनपर जो मुकदमा चलाया वही उन्हें जबर्दस्ती जनताके सामने ले आया। और, फिर उस समयसे वे खुले रूपमें — जैसा कि कुछ समय पहलेसे ही परोक्ष भावसे थे — राष्ट्रीय दलके एक प्रमुख नेता और बंगालमें इसका कार्य-संचालन करनेवाले सर्वप्रधान नेता तथा वहां इसकी नीति और कार्य-पद्धतिके संगठनकर्त्ता बन गये। उन्होंने अपने मनमें उस कार्य-पद्धतिकी रूपरेखा निश्चित कर ली थी जिसके अनुसार वे देशके आन्दोलनको चलाना चाहते थे। जो योजना उन्होंने बनाई वह बहुत कुछ वही थी जिसका विकास आगे चलकर सिन-फिन आंदोलनके रूपमें आयलैंडमें हुआ। कुछ लोगोंका कहना है कि श्रीअरविन्दने अपने विचार आयलैंडसे लिये। किन्तु वास्तवमें बात ऐसी नहीं है, क्योंकि आयलैंडका आन्दोलन पीछे जाकर विख्यात हुआ और उन्हें पांडिचेरी जानेसे पहलेतक इसके विषयमें कुछ भी मालूम नहीं था। और, फिर, भारत और आयलैंडमें एक बड़ा भारी अन्तर था जिससे उनका कार्य अत्यधिक कठिन हो गया। आयलैंडके पुराने इतिहासने आयरिश लोगोंको ब्रिटिश शासनके विरुद्ध विद्रोह करनेका अभ्यासी बना दिया था। यहांतक कहा जा सकता है कि इसका इतिहास स्वतन्त्रताके लिये एक ऐसे अनवरत संघर्षका इतिहास है जो क्रियात्मक रूपसे बीच-बीचमें भले ही रुकता रहा हो, पर सिद्धांत-रूपमें बराबर ही चलता रहा; भारतमें ऐसी कोई चीज नहीं थी। श्रीअरविन्दको भारतीय जनताके मनमें स्वाधीनताके विचारको प्रतिष्ठित और व्यापक बनाना था और साथ ही पहले एक दलको और फिर सारे राष्ट्रको एक ऐसे प्रबल एवं संगठित राजनीतिक आन्दोलनमें प्रवृत्त करना था जो इस आदर्शकी सिद्धिकी ओर ले जाय। उनका विचार यह था कि वे कांग्रेसको अपने हाथमें कर लें, उसे क्रांतिका एक यंत्र बना दें जब कि वह अभी तक भीरुतापूर्ण वैधानिक हलचलका एक केंद्र थी, जो केवल प्रस्तावोंपर बहस करता, उन्हें पास करता और फिर विदेशी सरकारसे सिफारिश करता रहता था। यदि कांग्रेसपर अधिकार न किया जा सके तो एक केंद्रीय क्रांतिकारी दलका निर्माण करना होगा जो इस कार्यको संपन्न कर सकता हो। वह दल राज्यके भीतर एक ऐसा राज्य होना चाहिये जो जनताको आदेश-निर्देश दे तथा ऐसे संगठित दल और संस्थाएं बनाये जो इसके आंदोलनके लिये साधनका काम करें; उत्तरोत्तर एक ऐसा तीव्र असहयोग और निष्क्रिय प्रतिरोध करना होगा जिससे कि विदेशी सरकारके लिये इस देशका शासन करना कठिन या पूर्ण रूपसे असंभव हो जाय, एक ऐसा देशव्यापी

विक्षोभ पैदा करना होगा जो दमनको शांत कर दे और अन्तमें यदि जरूरत हो तो, देशमें सर्वत्र खुला विद्रोह भी करना होगा। ब्रिटिश व्यापारका बहिष्कार, सरकारी संस्थाओंके स्थानपर राष्ट्रीय विद्यालयोंकी स्थापना, ऐसी पचायती अदालतोंका निर्माण जिनमें जनता साधारण अदालतोंकी जगह अपने विवादोंका निपटारा करा सके, स्वयंसेवक-संघोंका संगठन जो खुला विद्रोह करनेवाली सेनाके आधार-विंदु हो सकें —— ये सब इस योजनाके अंतर्गत थे और साथ ही वे सब अन्य कार्य भी जो इस प्रोग्रामको पूर्ण वना सकते हों। भारतीय राजनीतिमें श्रीअरविन्दने बहुत थोड़े समयके लिये ही खुलकर भाग लिया, क्योंकि १९१० में वे इससे अलग होकर पांडिचेरी चले गये। उनका बहुत-सा कार्यक्रम उनकी अनुपस्थितिमें बन्द हो गया, परन्तु भारतीय राजनीतिके संपूर्ण स्वरूप तथा भारतीय जनता की संपूर्ण भावनाको इस प्रकार वदलनेके लिये तबतक बहुत कुछ किया जा चुका था जिससे कि वह स्वतंत्रताको अपना लक्ष्य और असहयोग एवं प्रतिरोधको अपनी प्रणाली बना ले। और इस नीतिका अपूर्ण प्रयोग भी विभिन्न समयोंपर विद्रोहका प्रचंड रूप धारण करके विजय लानेमें पर्याप्त सिद्ध हुआ है। बादके घटनाक्रमने अधिकांशमें श्रीअरविन्दकी विचारधाराका ही अनुसरण किया। अंततोगत्वा कांग्रेस राष्ट्रीय दलके हाथोंमें आ गई, उसने स्वतंत्रताको अपना लक्ष्य घोषित किया, और आंदोलनके लिये संगठन किया। मुसलमानोंके अधिक भाग और कुछ दलित वर्गोंको छोड़कर प्रायः सारे राष्ट्रने इसके नेतृत्वको स्वीकार किया, आखिर भारतमें पहली राष्ट्रीय, पर अभी स्वतंत्र नहीं, सरकारकी स्थापना की और ब्रिटेनसे भारतकी स्वाधीनता स्वीकार करा ली।

प्रारंभमें श्रीअरविन्द कांग्रेसकी राजनीतिमें पर्देके पीछेसे ही भाग लेते रहे, क्योंकि अभी उन्होंने बड़ौदा-राज्यकी सेवा त्यागनेका निश्चय नहीं किया था; परन्तु उन्होंने लंबी अवैतनिक छुट्टी ले ली। उन्हीं दिनों, वे व्यक्तिगत रूपसे गुप्त क्रांतिकारी कार्य करनेके अतिरिक्त बारीसाल कांफ्रेंसमें सम्मिलित हुए जिसे पुलिसने भंग कर दिया। उसके बाद उन्होंने विपिन पालके साथ पूर्वी बंगालका दौरा किया तथा कांग्रेसके अग्रगामी दलके साथ घनिष्ठ रूपमें संबद्ध हो गये। इसी समय उन्होंने 'वन्दे मातरम्' के संपादनमें विपिन पालको सहयोग दिया, बंगालमें नई राजनीतिक पार्टीकी स्थापना की और कांग्रेसके कलकत्ता अधिवेशनमें भाग लिया। उस अधिवेशनमें उग्र दलने, अभीतक अल्पसंख्यक होते हुए भी, तिलकके नेतृत्वमें अपने राजनीतिक प्रोग्रामका कुछ भाग कांग्रेसपर लादनेमें सफलता प्राप्त कर ली। इस बीच बंगाल राष्ट्रीय महाविद्यालयकी स्थापनाने उन्हें आवश्यक अवसर प्रदान कर दिया और वे बड़ौदा-

राज्यके पदको छोड़कर उक्त महाविद्यालयके प्रिंसिपलका कार्यभार ग्रहण कर सके। सुबोध मल्लिकने, जो गुप्त कार्यमें और तदनन्तर कांग्रेसके राजनीतिक कार्यमें भी श्रीअरविन्दके एक सहयोगी थे और जिनके घरमें वे अपने कलकत्ता-निवास-कालमें प्रायः रहा करते थे, इस महाविद्यालयकी स्थापनाके लिये एक लाख रुपये दिये थे और यह शर्त रखी थी कि श्रीअरविन्दको इस महाविद्यालय-में १५० रु०के वेतनपर प्रोफेसरका पद दिया जाय। अब वे अपना सारा समय देशकी सेवामें लगानेके लिये स्वतंत्र थे। विपिन पालने, जो बहुत समयसे अपने साप्ताहिक पत्रमें स्वावलंबन और असहयोगकी नीतिका प्रतिपादन करते आ रहे थे, अब 'वन्दे मातरम्' नामसे एक दैनिक चलाना आरंभ किया, पर इसके बहुत दिन चलनेकी आशा न थी, क्योंकि इसे शुरू करते समय उनकी जेबमें केवल ५००) ही थे और भविष्यके लिये आर्थिक सहायताका कोई दृढ़ आश्वासन भी उन्हें प्राप्त नहीं था। इस साहसिक कार्यमें सहयोग देनेके लिये उन्होंने श्रीअरविन्दसे प्रार्थना की जिन्होंने उसे तुरन्त स्वीकार कर लिया, क्योंकि उन्होंने देखा कि अब उन्हें अपने क्रांतिके कार्यके लिये आवश्यक सार्वजनिक प्रचार आरंभ करनेका अवसर मिलेगा। उन्होंने कांग्रेसके अग्रगामी दलके युवकोंकी एक सभा बुलायी और उन सबने निश्चय किया कि महाराष्ट्रमें तिलकके विख्यात नेतृत्वमें काम करनेवाले अपने ही जैसे दलके साथ मिलकर वे अपने को प्रकट रूपसे एक नई राजनीतिक पार्टीके रूपमें संगठित करेंगे और नरम दलका मुका-बला करेंगे जैसा कि उन्होंने कलकत्ता अधिवेशनमें किया भी। साथ ही, श्रीअर-विन्दने उन्हें प्रेरणा की कि वे दैनिक 'वन्दे मातरम्' को अपनी पार्टीका पत्र बना लें और पत्रकी आर्थिक व्यवस्थाके लिये वन्दे मातरम् कपनी खोल दी गई जिसका संचालन विपिन पालकी अनुपस्थितिमें श्रीअरविन्द ही करते रहे, क्योंकि विपिन पालको नई पार्टीके उद्देश्य और कार्यक्रमकी घोषणा करनेके लिये जिलोंका दौरा करने भेज दिया गया था। नई पार्टीको अविलंब सफलता प्राप्त हुई और 'वन्दे मातरम्' भारतवर्षमें सर्वत्र जाने लगा। इसके कार्यकर्त्ता-ओंमें केवल विपिन पाल और श्रीअरविन्द ही नहीं थे, बल्कि कई अन्य सुयोग्य लेखक, श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, हेमेन्द्र प्रसाद घोष और विजय चटर्जी भी थे। श्यामसुन्दर और विजय अंग्रेजी भाषाके प्रकांड विद्वान् थे, और प्रत्येककी अपनी विशिष्ट शैली थी; श्यामसुन्दरने श्रीअरविन्दकी लेखन-शैलीको कुछ-कुछ पकड़ लिया, यहांतक कि कुछ समय बाद लोग उनके लेखोंको श्रीअरविन्दके लेख समझने लगे। परन्तु कुछ दिनों बाद विपिन पाल तथा 'वन्दे मातरम्' कंपनीके अन्य सहायकों और संचालकोंमें मतभेद हो गया, क्योंकि उनके स्वभाव एक-दूसरेसे मेल नहीं खाते थे और उनके राजनीतिक विचार भी भिन्न-भिन्न थे,

विशेषकर गुप्त क्रांतिकारी आंदोलनसे जहां दूसरे लोग सहानुभूति रखते थे वहां विपिन पाल इसके विरुद्ध थे। इसका परिणाम यह हुआ कि विपिन पाल शीघ्र ही इस पत्रसे अलग हो गये। श्रीअरविन्द उनके अलग होनेको स्वीकार न करते, क्योंकि वे पालके गुणोंको 'वन्दे मातरम्' की महान् संपत्ति समझते थे। कारण, पाल चाहे अच्छे कार्यकर्त्ता नहीं थे और न राजनीतिक नेता बननेके ही योग्य थे, फिर भी वे देशमें शायद सर्वश्रेष्ठ और अत्यन्त मौलिक राजनीतिक विचारक थे, उच्चकोटिके लेखक और महान् वक्ता थे। परन्तु श्रीअरविन्दकी अनुपस्थितिमें ही, जब कि वे ज्वरके भयानक आक्रमणके बाद शनैः-शनैः स्वास्थ्य लाभ कर रहे थे, पाल पत्रकी सेवासे अलग हो गये। यहांतक कि श्रीअरविन्दकी स्वीकृतिके विना ही उनका नाम 'वन्दे मातरम्' में इसके संपादकके रूपमें घोषित कर दिया गया, परन्तु केवल एक दिनके लिये ही, क्योंकि उन्होंने तुरन्त अपना नाम वापिस ले लिया। कारण, अभी वे नियमानुसार बड़ौदाराज्यकी सेवामें थे और अपना नाम जनताके सामने लानेके लिये जरा भी उत्सुक नहीं थे। फिर भी, उसके बादसे 'वन्दे मातरम्' और बंगालकी पार्टीकी नीतिका नियंत्रण वे ही करते रहे। विपिन पालने नई पार्टीका लक्ष्य ब्रिटिश नियंत्रणसे मुक्त पूर्ण स्वराज्य बतलाया था; परन्तु इसका अभिप्राय औपनिवेशिक स्वराज्यका नरमदलीय लक्ष्य भी हो सकता था अथवा कम-से-कम वह भी इसके अन्तर्गत हो सकता था और दादा भाई नौरोजीने कांग्रेसके कलकत्ता-अधिवेशनके सभापतिके रूपमें स्वराज्य नामको, जो उग्र दलका पूर्ण स्वतन्त्रताका द्योतक शब्द था, इस औपनिवेशिक स्वराज्यके लिये हथियानेका सचमुच यत्न भी किया था। श्रीअरविन्दका सबसे पहला कार्य यह था कि उन्होंने खुले रूपमें घोषित किया कि चरम और पूर्ण स्वतंत्रता ही भारतके राजनीतिक आंदोलनका लक्ष्य है और 'वन्दे मातरम्' के पृष्ठोंमें उन्होंने इसपर दृढ़तापूर्वक आग्रह किया; भारतमें वे पहले राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने सार्वजनिक रूपमें यह कार्य करनेका साहस किया और इसमें उन्हें तुरन्त सफलता भी प्राप्त हुई। नई पार्टीने स्वतंत्रताके अपने आदर्शको प्रकट करनेके लिये 'स्वराज्य' शब्दको अपना लिया और यह शीघ्र ही सर्वत्र फैल गया; परन्तु कांग्रेसके आदर्शके रूपमें इसे बहुत पीछे करांची अधिवेशनके समय ही ग्रहण किया गया जब कि राष्ट्रवादी नेतृत्वके अधीन इसका पुनर्गठन और पुनरुज्जीवन हो चुका था। 'वन्दे मातरम्' ने देशके लिये एक नया राजनीतिक प्रोग्राम राष्ट्रवादी पार्टीके प्रोग्रामके रूपमें घोषित और विकसित किया, अर्थात् असहयोग, निष्क्रिय प्रतिरोध, स्वदेशी, वहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा, कानूनी विवादोंका लोकप्रिय मध्यस्थके द्वारा निर्णय तथा श्रीअरविन्दकी योजनाके अन्य अंग। इस पत्रमें श्रीअरविन्द

ने एक लेखमाला 'निष्क्रिय प्रतिरोध' पर लिखी, दूसरी, क्रांतिके राजनीतिक दर्शनपर, इसके अतिरिक्त उन्होंने वहुतसे अग्रलेख भी लिखे जिनका उद्देश्य था नरम दलके मूलमंत्रों और अंधविश्वासोंपर, उदाहरणार्थ, भारतमें विदेशी सरकार द्वारा पहुँचाये हुए लाभों तथा ब्रिटिश न्यायमें विश्वास, भारतके सरकारी विद्यालयों और विश्वविद्यालयोंमें दी जानेवाली शिक्षाकी उपयुक्तता तथा ब्रिटिश अदालतोंमें आस्था आदिपर कुठाराघात करना। विदेशी शासनके कारण भारतमें जो नपुंसकता, प्रगति में अवरोध या शिथिलता, दरिद्रता, आर्थिक दासता और समृद्ध उद्योग-धंधोंका अभाव आदि बुरे परिणाम पैदा हुए थे उनकी आलोचना श्रीअरविन्दने ऐसे तीव्र शब्दोंमें और ऐसी दृढ़ताके साथ की जिस प्रकार पहले कभी नहीं की गई थी। इस बातपर उन्होंने विशेष रूपसे बल दिया कि विदेशी शासन कैसा भी उदार और हितकारी क्यों न हो, वह स्वतंत्र एवं स्वस्थ राष्ट्रीय जीवनका स्थान कभी नहीं ले सकता। इस प्रकारके लेखोंकी सहायतासे राष्ट्रवादियोंके विचारोंकी सर्वत्र विजय हुई, विशेषकर पंजाबमें, जो पहले प्रधान रूपसे नरमदली था। एक जातिके विचारोंको पलटने और उसे क्रांतिके लिये तैयार करनेमें 'वन्दे मातरम्' ने जो प्रभाव डाला उसकी दृष्टिसे वह पत्रकारिता के इतिहासमें प्रायः अद्वितीय ही था। परन्तु आर्थिक दृष्टिसे वह दुर्बल था; क्योंकि उग्र दल अभीतक निर्धनोंका दल था। जबतक इस पत्रपर श्रीअरविन्दका सक्रिय नियंत्रण रहा, वे इसे चलानेके लिये जैसे-तैसे पर्याप्त सार्वजनिक सहायताका प्रवन्ध करते रहे, पर अपनी इच्छाके अनुसार इसे विस्तारित नहीं कर सके। और जव उन्हें गिरफ्तार करके एक वर्षके लिये जेलमें डाल दिया गया तो इसकी आर्थिक स्थिति निराशापूर्ण हो गई। अन्तमें यह निश्चय किया गया कि यदि पत्रको मरना ही हो तो अर्थाभावसे मरनेके बजाय शानसे मरना चाहिये और इसलिये विजय चटर्जीको एक ऐसा लेख लिखनेके लिये नियुक्त किया गया जिसके कारण सरकार पत्रका प्रकाशन निश्चित रूपसे बन्द कर दे। श्रीअरविन्दने सदा इस बातका ध्यान रखा कि 'वन्दे मातरम्' के संपादकीय लेखोंमें ऐसा एक भी छिद्र न रहने दें जिससे सरकारको इसपर राजद्रोहका मुकदमा चलाने या और कोई उग्र कार्रवाई करनेका मौका मिले और इसका अस्तित्व खतरेमें पड़ जाय। 'स्टेट्समैन' के एक संपादकने यह शिकायत की थी कि इस पत्रकी प्रत्येक पंक्तिसे स्पष्ट रूपमें राजद्रोहकी गंध आती है, परंतु वह इतनी चतुराईसे लिखी होती है कि कोई कानूनी कार्रवाई नहीं की जा सकती। पत्रको बन्द करनेकी युक्ति सफल हो गई और उसका जीवन श्रीअरविन्दकी अनुपस्थितिमें ही समाप्त हो गया।

राष्ट्रवादी प्रोग्राम अभी कुछ-कुछ शुरू ही हो पाया था कि कठोर सरकारी

दमनके कारण यह कुछ समयके लिये भंग हो गया। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण क्रियात्मक अंग स्वदेशी और बहिष्कार था; स्वदेशी की भावनाको व्यापक बनानेके लिये बहुत कुछ किया जा चुका था और कुछ आरंभिक सफलता भी प्राप्त हुई थी, परन्तु इसके बृहत्तर परिणाम पीछे समय आनेपर ही प्रकट हुए। श्रीअरविन्दकी बड़ी इच्छा थी कि आंदोलनके इस भागको केवल विचार-रूपमें प्रसारित ही नहीं करना चाहिये, बल्कि इसको सक्रिय रूपमें संगठित करना तथा इसे वास्तविक बल प्रदान करना चाहिये। उन्होंने बड़ौदेसे लिखकर पूछा कि क्या यह संभव नहीं है कि व्यापारियों और मिल-मालिकोंको अपने साथ मिलाकर तथा प्रतिष्ठित जमींदारोंसे आर्थिक सहायता प्राप्त करके एक ऐसा संगठन बनाया जाय जिसमें केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं वरन् व्यापार और उद्योग-धंधेकी योग्यता और अनुभव रखनेवाले व्यक्ति भी स्वदेशीकी नीतिका कार्य-संचालन कर सकें और इसे सफल करनेके उपायोंका अनुसंधान कर सकें। परन्तु उन्हें बताया गया कि यह संभव नहीं है, व्यापारी और जमींदार इतने भीरु हैं कि वे आंदोलनमें सम्मिलित नहीं होंगे और बड़े-बड़े व्यवसायी, सबके सब, ब्रिटिश मालके आयात में ही रुचि रखते हैं, अतएव, वे वर्तमान स्थितिको बनाये रखनेके पक्षमें हैं। इसलिये स्वदेशी और बहिष्कारके संगठनका विचार उन्हें त्याग देना पड़ा। तिलक और श्रीअरविन्द दोनों ब्रिटिश मालके पूर्ण बहिष्कारके पक्षमें थे—परन्तु केवल ब्रिटिश मालके ही; क्योंकि विदेशी वस्तुओंका स्थान लेनेके लिये देशमें कुछ था ही नहीं। इसलिये उन्होंने इंग्लैण्डके स्थानपर जर्मनी, आस्ट्रिया और अमरीकासे विदेशी सामान मंगानेके लिये सम्मति दी जिससे कि इंग्लैण्डपर अधिकसे अधिक दबाव डाला जा सके। बहिष्कारको वे स्वदेशीका सहायक ही नहीं, बल्कि एक राजनीतिक अस्त्र बनाना चाहते थे। सभी विदेशी वस्तुओंका पूर्ण बहिष्कार एक अव्यवहार्य विचार था और कांग्रेसके प्रस्तावोंमें इसके जिस अति सीमित प्रयोगकी सिफारिश की गई थी वह राजनीतिक रूपमें फलप्रद होनेके लिये पर्याप्त नहीं था। उनकी राय थी कि प्रधान उद्योगोंमें हमारे राष्ट्रको स्वावलंबी होना चाहिये और केवल आवश्यक पदार्थ ही नहीं बल्कि सभी शिल्प-द्रव्य, जिनके लिये प्राकृतिक साधन हमारे देशमें हैं, हमें अपने देशमें ही तैयार करने चाहियें, परन्तु पूर्ण स्वावलम्बन या व्यापारिक स्वातंत्र्य व्यवहार्य नहीं प्रतीत हुए और न वे वांछनीय ही थे, क्योंकि स्वतंत्र भारतको भी मालका निर्यात करने तथा अपने यहां खपतके लिये माल जुटानेकी आवश्यकता होगी ही और इसके लिये मालका आयात करना तथा अंतर्राष्ट्रीय विनिमयको बनाये रखना उसके लिये आवश्यक होगा। परंतु सभी विदेशी वस्तुओंका बहिष्कार करनेके लिये जनतामें सहसा

एक व्यापक और अदम्य उत्साह जाग उठा और नेताओंको इस सार्वजनिक पुकारका समर्थन करना पड़ा तथा इससे स्वदेशीकी भावनाको जो बल-वेग प्राप्त हुआ उससे उन्हें संतोष करना पड़ा। राष्ट्रीय शिक्षा दूसरा कार्य था जिस-पर श्रीअरविन्दने बहुत बल दिया। स्कूलों, कालेजों और यूनिवर्सिटियोंमें पाश्चात्य पद्धतिके अनुसार जो शिक्षा दी जाती थी उससे उन्हें अत्यन्त घृणा हो गई थी। बड़ौदा कालिजके प्रोफेसरके रूपमें वे इस पद्धतिका पूरा अनुभव कर चुके थे। वे महसूस करते थे कि यह भारतीयोंकी स्वभावत: तीव्र, उज्ज्वल और कोमल बुद्धिको कुंद, दुर्वल और संकीर्ण बना देती है, उसके अन्दर बुरे बौद्धिक अभ्यास डाल देती है और संकुचित जानकारी तथा यंत्रसम शिक्षणके द्वारा उसकी मौलिकता और उर्वरताको नष्ट कर डालती है। आंदोलनका आरंभ उत्साहजनक था और बंगालमें बहुतसे राष्ट्रीय स्कूल स्थापित हो गये और अनेकों योग्य व्यक्ति शिक्षक का कार्य करने लगे, परन्तु फिर भी इसकी प्रगति पर्याप्त नहीं हुई और स्कूलोंकी आर्थिक स्थिति भी संकटमय थी। श्रीअर-विन्दने इस आन्दोलनको स्वयं अपने हाथमें लेनेका निश्चय किया था और वे देखना चाहते थे कि इसे अधिक व्यापक विस्तार और दृढ़तर आधार प्रदान किया जा सकता है या नहीं, परन्तु उनके बंगालसे चले जानेके कारण यह योजना अधूरी रह गई। दमन और उससे उत्पन्न व्यापक अवसादमें अधिकतर स्कूलोंका जीवन समाप्त हो गया। परन्तु भावना बराबर जीवित रही और यह आशा की जा सकती है कि एक दिन यह अपना उपयुक्त रूप और आकार ग्रहण कर ही लेगी। जनताके अपने न्यायालयोंके विचारको भी कुछ जिलोंमें कार्य-रूप देनेके लिये यत्न किया गया और उसमें कुछ सफलता प्राप्त हुई, पर वह भी दमनकी आंधीमें मटियामेट हो गया। स्वयंसेवक-दलोंके संगठनके विचारमें अधिक प्रबल जीवनी शक्ति थी; यह निरन्तर जीवित रहा, इतना ही नहीं, बल्कि, इसने साकार रूप ग्रहण किया और अपने संगठनोंको बढ़ाया। स्वतंत्रता-संग्राममें जब-जब खुले रूपमें आंदोलन हुआ, इस स्वयंसेवक-दलोंके कार्यकर्त्ता ही उसके अग्रणी नेता रहे। राष्ट्रवादी कार्यक्रम और प्रवृत्तियोंके विशुद्ध राज-नीतिक तत्त्व चिरस्थायी रहे और दमन तथा अवसादकी प्रत्येक लहरके बाद उन्होंने स्वातंत्र्य-आंदोलनकी जीवन-धाराको पुन:-पुन: प्रवाहित किया और लगभग पचास वर्षके संघर्षमें इसे प्रत्यक्ष रूपसे अविच्छिन्न बनाये रखा। परन्तु उन वर्षोंमें जो सबसे बड़ा कार्य संपन्न हुआ वह यह कि देशमें एक नई भावना जागरित हो गई। सर्वत्र उत्साहकी लहरें दिखाई देने लगीं और समस्त दिग्दिगंत 'वन्दे-मातरम्' के निनादसे गुंजायमान हो उठा। ऐसे वायुमंडलमें जीना, साहस दिखाना, मिलकर काम करना और आशा रखना लोगोंको गौरवपूर्ण अनुभव

होता था। पुरानी उदासीनता और कायरता विलुप्त हो गई और एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हुई जिसे कोई मिटा नहीं सकता था और जो एकके बाद एक तरंगके रूपमें पुनः-पुनः उठती रही जबतक कि वह भारतको पूर्ण विजयके निकट नहीं ले आई।

'वन्दे मातरम्' के मुकदमेके बाद श्रीअरविन्द बंगालमें राष्ट्रीयताके सर्व-मान्य नेता बन गये। मिदनापुरमें बंगाल प्रांतीय सभाके अधिवेशनमें उन्होंने राष्ट्रवादी दलका नेतृत्व किया। वहां दोनों दलोंमें बड़ा प्रबल संघर्ष हुआ। अब वे पहली बार सार्वजनिक मंचपर वक्ताके रूपमें सामने आये, सूरतमें उन्होंने बड़ी-बड़ी सभाओंमें भाषण दिये और राष्ट्रवादी सम्मेलनका सभापतित्व भी किया। कलकत्ता वापिस आते हुए वे बीचमें अनेक स्थानोंपर ठहरे और अपने भाषणोंके लिये आयोजित सभाओंमें विराट् जन-समूहोंके सम्मुख भाषण दिये। हुगलीमें प्रांतीय सभाके अधिवेशनमें उन्होंने पुनः अपने दलका नेतृत्व किया। वहां पहली बार यह स्पष्ट पता चला कि राष्ट्रवादका सितारा बुलन्द हो रहा है, क्योंकि अधिकतर प्रतिनिधि इसी दलके थे और विषय-समितिमें श्रीअरविन्द नरमदलवालोंके उस प्रस्तावको, जिसमें उन्होंने सुधारोंका अभिनन्दन किया था, पराजित करनेमें समर्थ हुए और अपना वह प्रस्ताव पास करा लिया जिसमें उन्हें सर्वथा अपर्याप्त तथा अवास्तविक बतलाकर उनकी निंदा करते हुए अस्वी-कृत किया गया था। परन्तु नरमदलके नेताओंने धमकी दी कि यदि यह प्रस्ताव रहने दिया गया तो वे सदस्यतासे पृथक् हो जायँगे और इस आपसकी फूटसे बचनेके लिये श्रीअरविन्दने नरमदलके प्रस्तावको पास होने देना स्वीकार कर लिया, परन्तु खुले अधिवेशनमें इस विषयपर एक भाषण दिया जिसमें उन्होंने अपने निर्णयका कारण समझाया और राष्ट्रवादियोंसे कहा कि वे अपनी विजयके होते हुए भी नरमदलका प्रस्ताव स्वीकार कर लें ताकि बंगालकी राजनीतिक शक्तियोंमें एक प्रकारकी एकता बनी रहे। राष्ट्रवादी प्रतिनिधियोंने जो पहले विजयके उल्लासमें कोलाहल मचा रहे थे, वह निर्णय स्वीकार कर लिया और श्रीअरविन्दके आदेशानुसार चुपचाप सभा-भवनसे उठकर चले गये जिससे उन्हें नरमदलके प्रस्तावके पक्ष या विपक्षमें मत न देना पड़े। इससे नरमदली नेताओं-को मन-ही-मन बड़ा आश्चर्य हुआ और निराशा भी। उन्होंने शिकायत की कि जनताने अपने पुराने और सुपरिचित नेताओंकी बात तो ध्यानसे नहीं सुनी और उनके विरुद्ध हो-हल्ला मचाया, किन्तु राजनीतिके एक नौसिखुए युवककी आज्ञाका पालन एक ही अखंडित दलकी भांति अनुशासन एवं शांतिके साथ किया।

लगभग इन्हीं दिनों श्रीअरविन्दने एक बंगाली दैनिक 'नवशक्ति' का कार्य-

भार अपने हाथमें लेनेका निश्चय किया और अपने 'स्काट्स लेन'वाले किरायेके मकानसे, जहां वे अपनी पत्नी और बहनके साथ रहा करते थे, इस पत्रके दफ्तरके कमरोंमें चले आये। वहां यह नया कार्य आरंभ कर सकनेसे भी पहले, एक दिन वहुत सबेरे जब कि वे अभी सोये हुए थे, पुलिस रिवाल्वर हाथमें लिये जीनेपर चढ़ आई और उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उन्हें पहले पुलिस स्टेशन ले जाया गया और फिर अलीपुर जेल। वहां वे एक वर्ष रहे जवतक कि मजिस्ट्रेटकी जांच-पड़ताल और अलीपुरके सत्र-न्यायालय (Sessions-Court) में उनपर चलाया हुआ मुकदमा समाप्त नहीं हो गया। पहले उन्हें कुछ समय एकांतवासमें रखा गया, परन्तु फिर वहांसे बदलकर जेलके एक बड़े विभागमें भेज दिया गया जहां वे उस मुकदमेके अन्य कैदियोंके ही साथ एक लंवे-चौड़े कमरेमें रहे। पीछे, जेलमें एक सरकारी गवाहकी हत्या हो जानेके कारण, सब कैदियोंको पृथक्-पृथक् किंतु संलग्न कोठरियोंमें बन्द कर दिया गया और वे केवल कचहरीमें या दैनिक व्यायामके समय इकट्ठे होते थे पर वहां भी एक दूसरेसे बातचीत नहीं कर सकते थे। इनमेंसे दूसरे कालमें श्रीअर-विन्दने अपने साथी अभियुक्तोंमें से बहुतोंसे परिचय प्राप्त किया। जेलमें वे अपना प्रायः सारा समय गीता और उपनिषदोंके स्वाध्याय, गम्भीर ध्यान तथा योगाभ्यासमें व्यतीत करते थे। यह क्रम उन्होंने उस दूसरे कालमें भी चालू रखा जव उन्हें अकेले रहनेका सुयोग प्राप्त नहीं था और सब साथियोंकी बातचीत, हंसी-मजाक, खेल-कूद तथा अत्यधिक कोलाहल और विघ्न-बाधाके बीच ध्यानका अभ्यास करना पड़ता था। पहले और तीसरे कालमें उन्हें पूर्ण सुयोग प्राप्त हुआ और उसका उपयोग भी उन्होंने पूर्ण रूपसे किया। सत्र-न्यायालयमें अभियुक्तोंको एक बड़े कठघरेमें बन्द रखा जाता था और वहां वे सारे दिन ध्यानमें लीन रहते थे, मुकदमेकी ओर कान नहीं देते थे न गवाहों-के बयान ही सुनते थे। सी० आर० दास, जो उनके एक राष्ट्रवादी सहयोगी और एक विख्यात वकील थे, अपनी भरी-पूरी वकालतको एक तरफ रखकर तन-मनसे श्रीअरविन्दकी पैरवीमें जुट गये और महीनों इसी कार्यमें लगे रहे। श्रीअरविन्दने अपने मुकदमेका भार पूरी तरहसे उनपर छोड़ दिया और इसकी कुछ भी चिन्ता नहीं की; क्योंकि उन्हें अन्दरसे आश्वासन मिल चुका था और वे जानते थे कि वे छूट जायेंगे। इस कालमें उनकी जीवन-दृष्टि आमूल परि-वर्तित हो गई; आरम्भमें उन्होंने योगका अवलंबन अपने जीवन-कार्यके लिये आध्यात्मिक बल और शक्ति तथा दिव्य मार्ग-दर्शन प्राप्त करनेके विचारसे किया था। परन्तु अब अन्तरीय आध्यात्मिक जीवन एवं अनुभवने, जो अपनी बृहत्ता और विश्वमयतामें अनवरत बढ़ता और अधिक व्यापक स्थान ग्रहण

करता आ रहा था, उन्हें पूर्ण रूपसे अपने अन्दर समा लिया और उनका काम इसका एक अंग और परिणाम बन गया, इतना ही नहीं, बल्कि वह देशकी सेवा और स्वतंत्रताके कार्यको अतिक्रम कर बहुत ऊंचे स्तरपर चला गया और एक ऐसे ध्येयमें केंद्रित हो गया जिसकी पहले केवल एक झांकी ही मिली थी और जो अपने प्रभावमें विश्वव्यापी होनेके साथ-साथ मानवजातिके संपूर्ण भविष्यसे संबंध रखता था।

श्रीअरविन्द जब जेलसे बाहर आये तो वे क्या देखते हैं कि देशकी संपूर्ण राजनीतिक स्थिति कुछ-की-कुछ हो गई है; बहुतसे राष्ट्रवादी नेता जेलमें पड़े हैं और कई देश छोड़कर चले गये हैं तथा सर्वत्र निरुत्साह और विषाद छाया हुआ है, यद्यपि देशसे स्वतंत्रताकी भावना नष्ट नहीं हो गई है, बल्कि केवल दब गई है और दबाये जानेके कारण और भी बढ़ रही है। उन्होंने संघर्ष जारी रखनेका निश्चय किया; कलकत्तेमें प्रति सप्ताह सभाएं करने लगे, परन्तु जहां पहले उपस्थिति सहस्रोंकी संख्यामें होती थी और उत्साहका सागर उमड़ा पड़ता था, वहां अब वह केवल सैकड़ोंकी संख्या तक रह गई और उसमें पहले जैसा उत्साह एवं जीवन भी दृष्टिगोचर नहीं होता था। उन्होंने जिले-जिलेमें घूम-घूमकर कई स्थानोंमें भाषण दिये; इन्हींमेंसे एक स्थान (उत्तर-पाड़ा) में दिया हुआ भाषण उत्तरपाड़ा अभिभाषणके नामसे प्रसिद्ध है जिसमें उन्होंने पहली बार जनताके सामने अपने योग और आध्यात्मिक अनुभवोंकी चर्चा की। उन्होंने 'कर्मयोगिन्' और 'धर्म' नामसे दो साप्ताहिक भी चलाये, एक अंग्रेजीमें और दूसरा बंगलामें। इनकी ग्राहक-संख्या काफी अधिक थी और, 'वन्दे मातरम्' के विपरीत, ये अनायास ही अपना खर्च आप निकालने लगे। १९०९ में वे बारीसालकी प्रांतीय सभामें सम्मिलित हुए और वहां भाषण दिया; क्योंकि हुगलीमें जो समझौता हुआ था उसके कारण बंगालमें दोनों दल सर्वथा पृथक्-पृथक् होनेसे बच गये थे और दोनों ही सभामें सम्मिलित हुए यद्यपि केंद्रीय नरम दलकी सभामें, जिसने कांग्रेसका स्थान ले लिया था, राष्ट्रवादी दलका एक भी प्रतिनिधि स्थान नहीं पा सका। बनारसके अधि-वेशनमें सुरेन्द्रनाथ बैनर्जीने दोनों पार्टियोंको मिलाने तथा नरम दलवालोंके प्रबल दक्षिण पक्षके साथ संयुक्त मोर्चा लेनेकी योजनापर विचार करनेके लिये एक निजी सभा जरूर बुलाई थी जिसमें श्रीअरविन्द तथा दो-एक अन्य राष्ट्र-वादी नेताओंने भी भाग लिया था; क्योंकि वे (सुरेंद्रनाथ बैनर्जी) सदा ही उग्र दलको अपना सबल दायां हाथ बनाकर पुनः संयुक्त बंगालके नेता बननेके स्वप्न देखा करते थे। परन्तु इसके लिये यह आवश्यक था कि बंगालके नरम-दली राष्ट्रवादियोंको प्रतिनिधि चुनें और राष्ट्रवादी सूरतमें लादे गये संविधान-

को स्वीकार कर लें। श्रीअरविन्दने इससे इन्कार कर दिया; वे उस संविधानमें परिवर्तन चाहते थे जिससे कि नव-संगठित दलोंको अपने प्रतिनिधि चुननेका अधिकार प्राप्त हो और फलतः राष्ट्रवादी अखिल-भारतीय अधिवेशनमें स्वतंत्र रूपसे अपने प्रतिनिधि भेज सकें और इस बातपर संधिवार्ता भंग हो गई। तथापि श्रीअरविन्दने इस विषयपर विचार-मंथन आरंभ कर दिया कि बदली हुई अवस्थाओंमें राष्ट्रीय आंदोलनको कैसे पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। उन्होंने देखा कि 'होम रूल' का आन्दोलन पुनः आरंभ किया जा सकता है जिसे सरकार दबा नहीं सकेगी, परन्तु इसका अर्थ स्वराज्यके आदर्शको स्थगित करना और उससे नीचे उतरना होता,—यद्यपि कालांतरमें श्रीमती बेसेंटने इस आन्दोलनको सचमुच ही पुनः जीवित किया था। श्रीअरविन्दने यह भी देखा कि एक संगठित और उद्दाम निष्क्रिय प्रतिरोधका आन्दोलन भी शुरू किया जा सकता है जैसा कि बादमें गांधीजीने चलाया था। किन्तु उन्होंने देखा कि वे स्वयं किसी ऐसे आन्दोलनके नेता नहीं बन सकते।

उस समय सरकार देशके शासनमें जो सुधारोंका दिखावामात्र करना चाहती थी उसपर कुछ भी विचार करनेको श्रीअरविन्द कभी सहमत नहीं हुए। उन्होंने तो सदा 'कोई समझौता नहीं' अथवा, जैसा कि उन्होंने अब 'कर्मयोगिन्'में प्रकाशित देशवासियोंके नाम अपनी "खुली चिट्ठी" में कहा, 'नियंत्रणके बिना सहयोग नहीं' का ही नारा बुलन्द किया। ब्रिटिश सरकारके प्रस्तावोंपर वे तभी विचार करनेको तैयार थे यदि एक निर्वाचित व्यवस्थापिका परिषद्में लोकप्रिय मंत्रियोंको सचमुच राजनीति, प्रशासन और आर्थिक नियंत्रण पर अधिकार दे दिया जाता। इसका उन्हें कोई चिह्न नहीं दिखाई दिया जबतक कि मोण्टेग्यु सुधारोंका प्रस्ताव देशके सामने नहीं रखा गया जिसमें पहली बार उक्त प्रकारके कुछ अधिकार दिये जाते प्रतीत हुए। उन्हें इसका पूर्वाभास मिल गया था कि ब्रिटिश सरकारको राष्ट्रकी आकांक्षाके साथ समझौता करनेका यत्न आरंभ करना ही पड़ेगा, परन्तु उस अवसरके आनेसे पहले उन्होंने उसकी प्रत्याशा नहीं की। मोण्टेग्यु सुधार श्रीअरविन्दके पांडिचेरी जानेके नौ वर्ष बाद आये और तबतक वे अपनेको आध्यात्मिक कर्मके प्रति अर्पित करनेके लिये समस्त बाह्य और सार्वजनिक राजनीतिक कार्य छोड़ चुके थे। उसके बाद वे देशके आंदोलनकी गतिविधिपर केवल अपने आत्मबलसे ही कार्य करते रहे जबतक कि ब्रिटिश सरकार और भारतीय नेताओंमें सच्ची सन्धिवार्ताकी उनकी भविष्यदृष्टि क्रिप्स प्रस्ताव तथा बादकी घटनाओं द्वारा चरितार्थ नहीं हो गई।

इस बीच सरकारने श्रीअरविन्दसे अपना पिण्ड छुड़ानेका निश्चय कर लिया

था, क्योंकि वह उन्हें अपनी दमन-नीतिके सफल होनेमें एकमात्र बड़ा बाधक समझती थी। पर चूँकि वह उन्हें अंडमान नहीं भेज सकती थी, उसने उन्हें देश-निकाला देनेका निश्चय किया। भगिनी निवेदिताको इस बातका पता चल गया और उन्होंने श्रीअरविन्दको इसकी सूचना देते हुए उनसे कहा कि वे ब्रिटिश भारतसे बाहर कहीं चले जायँ और वहींसे काम करें ताकि उनका काम बन्द या सर्वथा अवरुद्ध न हो जाय। इसपर श्रीअरविन्दने 'कर्मयोगिन्' में अपने हस्ताक्षरों सहित एक लेख प्रकाशित करके संतोष माना, जिसमें उन्होंने देश-निर्वासनकी योजनाका उल्लेख किया और देशके लिये अपनी अंतिम इच्छा और आज्ञा सूचित कर दी। उन्हें निश्चय था कि इससे सरकारको देश-निर्वासन-का विचार छोड़ना पड़ेगा और वास्तवमें हुआ भी यही। देश-निर्वासन टल गया, किंतु अब सरकार उनपर राजद्रोहका मुकदमा चलानेके लिये अवसरकी खोज करने लगी और जब श्रीअरविन्दने उसी पत्रमें राजनीतिक स्थितिकी समालोचना करते हुए अपने हस्ताक्षर-सहित एक और लेख प्रकाशित किया तो सरकारको मौका मिल गया। वह लेख काफी नरम स्वरमें लिखा गया था और पीछे हाईकोर्टने भी उसे विद्रोहपूर्ण माननेसे इन्कार कर दिया और मुद्रक-को छोड़ दिया। एक रात 'कर्मयोगिन्' के कार्यालयमें श्रीअरविन्दको सूचना मिली कि सरकार कार्यालयकी तलाशी लेने और उन्हें गिरफ्तार करनेका निश्चय कर चुकी है। जब वे इसपर विचार ही कर रहे थे कि ऐसे समय उन्हें अपने मनमें क्या भाव धारण करना चाहिये, उन्हें सहसा ऊपरसे एक आदेश मिला कि वे फ्रेंच भारतमें चन्दननगर चले जायँ। उन्होंने तुरन्त उस आदेशका पालन किया, क्योंकि तब उन्होंने यह नियम कर रखा था कि भगवान् उन्हें जैसी प्रेरणा देंगे उसके अनुसार ही वे कार्य करेंगे, उसका प्रतिरोध कभी नहीं करेंगे, न उससे विचलित ही होंगे। उन्होंने किसीसे सलाह करनेके लिये प्रतीक्षा नहीं की, बल्कि १० मिनटमें ही नदीके घाटपर पहुँच गये और गंगामें चलनेवाली नौका पर सवार हो लिये। कुछ ही घंटोंमें वे चन्दननगर पहुँच गये जहां वे एक गुप्त स्थानमें रहने लगे। उन्होंने बहन निवेदिताको एक संदेश भेजा कि मेरी अनु-पस्थितिमें 'कर्मयोगिन्' के संपादनका कार्य आप संभाल लें। उस दिनसे अपने दो पत्रोंके साथ उनका सक्रिय संबंध समाप्त हो गया। चन्दननगरमें वे पूर्ण रूपसे एकांत ध्यानमें डूब गये और अन्य सब काम-काज बन्द कर दिया। वहां उन्हें पांडिचेरी चले जानेके लिये पुकार आयी। उत्तरपाड़ाके कुछ युवक क्रांति-कारियोंने नौकामें उन्हें कलकत्ते पहुँचाया; वहांसे 'डूप्ले' जहाजपर सवार होकर वे ४ अप्रैल १९१०को पांडिचेरी पहुँच गये।

पांडिचेरी आनेपर श्रीअरविन्द प्रथम दिनसे ही योगाभ्यासमें अधिकाधिक

तल्लीन होते गये। किसी भी सार्वजनिक राजनीतिक कार्यमें भाग लेना उन्होंने बिलकुल बन्द कर दिया। पुनर्जीवित अखिल-भारतीय राष्ट्रीय महासभाके अधिवेशनोंका सभापतित्व करनेके लिये उनसे अनेक बार प्रार्थना की गई, पर उन्होंने उसे अंगीकार नहीं किया। उन्होंने यह नियम कर लिया कि वे सार्वजनिक रूपसे ऐसा कुछ भी नहीं बोलेंगे जो उनके आध्यात्मिक कार्यसे संबंध न रखता हो, और न कोई लेख आदि ही लिखेंगे —— आगे चलकर "आर्य" के लिये उन्होंने जो कुछ लिखा वह अपवाद-रूप है। कुछ वर्षोंतक उन्होंने दो-एक व्यक्तियोंके द्वारा उन क्रांतिकारी दलोंके साथ, जिनके वे नेता रहे थे, कुछ गुप्त संबंध जारी रखा, परन्तु कुछ समय बाद वह भी छोड़ दिया और राजनीतिसे पूर्णरूपेण संबंध-विच्छेद कर लिया। भविष्यके संबंधमें उनकी दृष्टि ज्यों-ज्यों स्पष्ट होती गई, त्यों-त्यों उन्हें यह दिखाई देने लगा कि उन शक्तियोंकी, जिनसे अब वे सचेतन हो गये थे, प्रगतिके द्वारा भारत अंततः स्वतंत्र होकर रहेगा, भारतवासियोंके प्रतिरोध और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओंके दबावसे ब्रिटेन भारतको स्वतंत्रता देनेके लिये विवश हो जायगा और, चाहे कितने भी विरोध एवं अनिच्छाके साथ क्यों न हों, वह इस परिणामकी ओर बढ़ना शुरू भी कर चुका है। उन्होंने अनुभव किया कि सशस्त्र विद्रोहकी आवश्यकता नहीं होगी और इसकी गुप्त तैयारी बन्द की जा सकती है और इससे राष्ट्रीय कार्यको कोई हानि नहीं पहुँचेगी, यद्यपि क्रांतिकी भावनाको सुरक्षित रखना होगा और उसे अक्षुण्ण रखा ही जायगा। अतएव, राजनीतिमें उनके वैयक्तिक हस्तक्षेपकी अब कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं होगी। इस सबके अतिरिक्त उनके सम्मुख जो आध्यात्मिक कार्य उपस्थित था उसकी महानता उनके सामने अधिकाधिक स्पष्ट होती गई और उन्होंने देखा कि इसमें अपनी समस्त शक्तियोंको एकाग्र कर देना आवश्यक है। सुतरां, जब आश्रमकी स्थापना हुई, उन्होंने इसे समस्त राजनीतिक संबंधों या कार्योंसे पृथक् रखा; यहांतक कि जब आगे जाकर दो विशेष अवसरोंपर उन्होंने राजनीतिमें हस्तक्षेप किया भी तो वह शुद्ध रूपसे वैयक्तिक था और उससे आश्रम का कुछ भी संबंध नहीं था। ब्रिटिश सरकार तथा और भी बहुत-से लोग इसपर विश्वास ही नहीं कर पाते थे कि श्रीअरविन्दने समस्त राजनीतिक कार्यसे संबंध तोड़ लिया है। उनका ख्याल था कि वे क्रांतिकी प्रवृत्तियोंमें गुप्त रूपसे भाग ले रहे हैं और यहांतक कि फ्रेंच भारतके आश्रयमें एक गुप्त संगठनका निर्माण कर रहे हैं। परन्तु यह सब केवल कोरी कल्पना एवं किंवदंती थी और वास्तवमें इस प्रकारकी किसी भी चीजका नामतक नहीं था। राजनीतिक कार्यसे वे उसी प्रकार पूर्णरूपेण निवृत्त हो गये थे जिस प्रकार १९१०से उन्होंने पूर्णरूपेण एकांतवास आरंभ कर दिया था।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं था, जैसा कि बहुतसे लोग समझते थे, कि वे आध्यात्मिक अनुभवके किसी शिखरपर रहने लग पड़े थे और अब उन्हें जगत्में तथा भारतके भाग्यमें कोई दिलचस्पी नहीं रही थी। इसका यह अर्थ हो भी नहीं सकता था, क्योंकि उनके योगका असली तत्त्व केवल भगवान्का साक्षात्कार तथा पूर्ण आध्यात्मिक चेतना प्राप्त करना ही नहीं था, बल्कि समस्त जीवन और समस्त जगद्व्यवहारको भी इस आध्यात्मिक चेतना तथा कर्मके क्षेत्रके अंतर्गत करना तथा जीवनको आत्मापर आधारित करके इसे आध्यात्मिक मूल्य प्रदान करना था। अपने एकांतवासमें भी श्रीअरविन्द जगत् तथा भारतमें घटनेवाली सभी घटनाओंका बड़ी सूक्ष्मतासे निरीक्षण करते रहे और जब कभी आवश्यकता हुई सक्रिय हस्तक्षेप भी किया, परन्तु केवल आध्यात्मिक बल तथा मौन आध्यात्मिक क्रियाके द्वारा ही; क्योंकि जो योगमें काफी आगे बढ़े हुए हैं उन सभीका यह अनुभव है कि जड़ प्रकृतिमें मन, प्राण और शरीरकी साधारण शक्तियों और व्यापारोंके अतिरिक्त अन्य बल एवं शक्तियां भी हैं जो पीछेसे तथा ऊपरसे कार्य कर सकती हैं और करती ही हैं। इसी प्रकार एक आध्यात्मिक कर्म-शक्ति भी है जिसे वे लोग, जो आध्यात्मिक चेतनामें आगे बढ़े हुए हैं, प्राप्त कर सकते हैं, यद्यपि इसे प्राप्त करने अथवा प्राप्त करके प्रयोगमें लानेकी परवाह सब योगी नहीं करते, और यह शक्ति अन्य किसी भी शक्तिकी अपेक्षा अधिक महान् तथा फलोत्पादक है। इसी शक्तिको श्रीअरविन्दने प्राप्त करते ही प्रयोगमें लाना आरंभ कर दिया, पहले तो केवल वैयक्तिक कार्यके सीमित क्षेत्रमें परन्तु पीछे सांसारिक शक्तियोंपर अनवरत क्रियाके रूपमें। उन्हें इसके परिणामोंसे असंतुष्ट होने या किसी अन्य प्रकारसे कार्य करनेकी आवश्यकता नहीं मालूम हुई। फिर भी दो अवसरोंपर उन्होंने इसके साथ-साथ सार्वजनिक ढंगका एक और कार्य करना उचित समझा। पहला अवसर द्वितीय विश्व-युद्धका था। आरंभमें उन्होंने इससे किसी प्रकारका सक्रिय संबंध नहीं रखा, परन्तु जब ऐसा दिखने लगा मानों हिटलर अपना विरोध करनेवाली सभी शक्तियोंको कुचल डालेगा और संसारपर नात्सीवादका प्रभुत्व हो जायगा, तब उन्होंने हस्तक्षेप आरंभ किया। उन्होंने सार्वजनिक रूपसे घोषणा की कि मैं मित्रराष्ट्रोंके पक्षमें हूँ, युद्ध-कोषके लिये अपीलके प्रत्युत्तरमें उन्होंने कुछ आर्थिक सहायता की और जिन्होंने सेनामें भरती होने या युद्ध-प्रयत्नोंमें भाग लेनेके लिये उनसे परामर्श मांगा उन्हें प्रोत्साहित किया। आभ्यंतरिक रूपमें वे डनकर्क (Dunkirk) के समयसे, जब कि प्रत्येक व्यक्ति यह आशा कर रहा था कि इंग्लैण्डका शीघ्र पतन हो जायगा और हिटलरकी निश्चित रूपसे जीत होगी, अपनी आध्यात्मिक शक्तिसे मित्रराष्ट्रोंकी सहायता करने लगे और उन्हें यह देखकर संतोष हुआ

कि जर्मनीकी विजयका वेग लगभग तुरन्त ही रुक गया और युद्धका पासा पलट गया। ऐसा उन्होंने इसलिये किया कि उन्हें यह प्रत्यक्ष हो गया था कि हिटलर और नात्सीवादके पीछे अन्धकारमय आसुरिक शक्तियां कार्य कर रही हैं और उनकी सफलताका अर्थ यह होगा कि मनुष्य-जाति दुष्टोंके अत्याचार-पूर्ण शासनके अधीन हो जायेगी और उसका सामान्य क्रमविकास तथा विशेष रूपसे आध्यात्मिक विकास रुक जायगा। इसके परिणामस्वरूप केवल यूरोप ही नहीं बल्कि एशिया और इसके अन्दर भारत भी गुलाम हो जायगा। भारतकी यह गुलामी उन सब गुलामियोंसे, जिन्हें यह पहले कभी भोग चुका है, कहीं अधिक भयानक होगी और इससे वह सब कार्य जो इसकी स्वतंत्रताके लिये किया जा चुका है मिट्टीमें मिल जायगा। यह भी एक कारण था जिससे प्रेरित होकर उन्होंने क्रिप्स प्रस्तावका सार्वजनिक रूपसे समर्थन किया और इसे स्वीकार करनेके लिये कांग्रेसके नेताओंपर दबाव डाला। कई कारणोंसे उन्होंने जापानके आक्रमणके विरुद्ध अपनी आध्यात्मिक शक्तिका प्रयोग तबतक नहीं किया जबतक कि यह स्पष्ट नहीं हो गया कि वह भारतपर आक्रमण करना और यहांतक कि उसे आक्रांत करके जीत लेना चाहता है। हिटलरके विरुद्ध युद्धके समर्थनमें श्रीअरविन्दने कुछ पत्र भी लिखे जिनमें उन्होंने हिटलर-वादकी आसुरी शक्ति तथा उसके अनिवार्य परिणाम के विषयमें अपने विचारोंका प्रतिपादन किया और पीछे उन्हें प्रकाशित करनेकी अनुमति भी दे दी। उन्होंने क्रिप्सके प्रस्तावोंका अनुमोदन किया, क्योंकि उनके स्वीकृतं हो जानेसे भारत और ब्रिटेन संयुक्त होकर आसुरी शक्तियोंका सामना कर सकते थे और क्रिप्स-का समाधान स्वतंत्रताके एक सोपानके रूपमें प्रयोगमें लाया जा सकता था। परंतु जब संधिवार्ता असफल रही तो श्रीअरविन्दने पुनः आक्रांताके विरुद्ध केवल आध्यात्मिक शक्तिके प्रयोगपर ही निर्भर रहनेका विचार किया और उन्हें यह देखकर संतोष हुआ कि जापान की विजयकी धारा, जो उस समयतक अपने आगे आनेवाली सभी चीजोंको बहाये लिये जा रही थी, तुरन्त ही एक द्रुत एवं ध्वंसक और अंततः एक गुरुतर एवं दुर्दांत पराजयकी लहरमें बदल गई। कुछ समय बाद उन्हें यह जानकर भी प्रसन्नता हुई कि भारतके भविष्यके संबंधमें उन्होंने जो कुछ देखा था वह सब सत्य सिद्ध हो रहा है और फल-स्वरूप वह आज, कितनी ही आभ्यंतरिक कठिनाइयोंके होते हुए भी, एक स्वतंत्र राष्ट्र है।

* * *

वाइसरायके सचिवको केवल एक ही तार दिया गया था और वह युद्ध-कोषके लिये १०००रु० के दानके साथ भेजा गया था। यह राशि धुरी-राष्ट्रोंके विरुद्ध मित्र-राष्ट्रोंके कार्यके प्रति श्रीअरविन्दकी निष्ठा सूचित करनेके लिये भेजी गई थी। और फिर, एक अन्य दानराशि भेजते हुए मद्रासके गवर्नरको एक पत्र लिखा गया था जिसके साथ एक वक्तव्य भी प्रेषित किया गया जिसमें द्वितीय विश्वयुद्धके संबंधमें श्रीअरविन्दके विचार दिये गये थे। यह वक्तव्य बादमें प्रकाशित हो गया। इसके अतिरिक्त, अन्य दान-राशियां सीधे फ्रांस भेजी गयीं। बादमें, इस युद्धके समर्थक पत्रोंको प्रकाशित कर दिया गया। जहांतक क्रिप्सके प्रस्तावका संबंध है, उसका समर्थन एक लंबे तारके द्वारा किया गया जो वाइसरायके सचिवको नहीं दिया गया था वरन् सीधे स्वयं क्रिप्सको, उनके द्वारा इस प्रस्तावकी घोषणा आकाशवाणी द्वारा प्रसारित की जानेके बाद, भेजा गया था।*

श्रीअरविन्दका राजनीतिक दृष्टिकोण और शांतिवाद*

यहां तथा अन्य कई स्थानोंपर यह विचार प्रस्तुत किया गया प्रतीत होता है कि श्रीअरविन्दका राजनीतिक दृष्टिकोण पूर्णतया शांतिवादी था, वे सिद्धांत और व्यवहार दोनोंमें हिंसामात्रके विरुद्ध थे और आतङ्कवाद तथा राजद्रोह आदिकी यह कहकर निन्दा किया करते थे कि हिन्दूधर्मकी भावना और उसके शास्त्र इसका पूर्णरूप से निषेध करते हैं। ऐसा विचार भी प्रस्तुत किया जाता है कि वे महात्मा गांधीके अग्रगामी और अहिंसावादके अग्रदूत थे। यह सर्वथा असत्य है और यदि इसे यूँ ही छोड़ दिया जाय तो इससे श्रीअरविन्द-के विषयमें अशुद्ध धारणा बनेगी। इस विषयपर अपने विचार उन्होंने, सर्व-सामान्य रूपसे, गीताप्रवन्धके प्रथम भाग (अध्याय ६) में प्रस्तुत किये हैं जहां उन्होंने गीताके धर्मयुद्धके विचारका समर्थन करते हुए आत्मबल-विषयक गांधी-वादी विचारोंकी, प्रकट रूपमें न सही प्रच्छन्न रूपमें, आलोचना की है। यदि वे शांतिवादीय आदर्शके समर्थक होते तो वे इस युद्धमें मित्रराष्ट्रोंका (या अन्य किसीका) पक्ष कभी न लेते, अपने कुछ शिष्योंको विमानचालकों, सैनिकों, चिकित्सकों, बिजली-मिस्त्रियों आदिके रूपमें सेनामें सम्मिलित होनेकी स्वीकृति

*इस टिप्पणीमें उल्लिखित तारों और पत्रोंके लिये खण्ड ८ देखें।

* इस टिप्पणीका कुछ अंश, थोड़े-से हेर-फेरके साथ, श्रीअरविन्दके राजनीतिक जीवनपर इससे पहले दी गई सामान्य टिप्पणीमें समाविष्ट किया जा चुका है।

देना तो दूरकी बात रही। उक्त पुस्तकमें जो घोषणाएं और वक्तव्य उद्धृत किये गये हैं वे उनके नहीं हैं, अधिक-से-अधिक यह हो सकता है कि वे उनके वकीलों द्वारा पेश किये गये हों या फिर 'वन्दे मातरम्' में काम करनेवाले उनके सहकर्मियोंके द्वारा (सत्यनिष्ठाकी अपेक्षा कहीं अधिक दूरदर्शिताके साथ) लिखे गये हों। राजनीतिक कार्यको निष्क्रिय प्रतिरोधतक ही सीमित रखनेका नियम अहिंसा या शांतिके सिद्धांतके अंगके रूपमें नहीं अपितु उस समय की स्थितिके लिये राष्ट्रीय आन्दोलनकी सर्वोत्तम नीतिके रूपमें अपनाया गया था। शांति सर्वोच्च आदर्शका एक अङ्ग अवश्य है किंतु इसे अपने मूलमें आध्यात्मिक या कम-से-कम मनोवैज्ञानिक होना चाहिये; मानव-प्रकृतिका परिवर्तन हुए बिना यह सुनिश्चित रूपमें स्थापित नहीं हो सकती। यदि किसी अन्य आधार पर (किसी मानसिक नियम, या अहिंसाके सिद्धांत या किसी अन्य सिद्धांतके आधारपर) इसकी प्राप्तिके लिये यत्न किया जाय तो वह विफल होगा, इतना ही नहीं, बल्कि संभवतः वह स्थितिको पहले से भी अधिक खराब कर देगा। वे इस बातके पक्षमें हैं कि, यदि संभव हो तो, अन्तराष्ट्रिय समझौते तथा अन्तराष्ट्रिय शक्तिके द्वारा युद्धको दबानेका यत्न करना चाहिये, जिसकी कल्पना आज "नई विश्व-व्यवस्था" में की गई है, परन्तु वह अहिंसा नहीं होगी, वह तो अराजकताकी शक्तिको वैधानिक शक्तिके द्वारा दबाना होगा और हमें इस बातका पक्का विश्वास नहीं हो सकता कि इसका फल चिरस्थायी होगा ही। राष्ट्रोंकी अपनी सीमाके भीतर इस प्रकारकी शांति प्राप्त की जा चुकी है, परन्तु यह समय-समयपर होनेवाले गृहयुद्धों एवं क्रांतियों और राजनीतिक दंगों एवं दमनोंको बिलकुल रोक नहीं देती जो कि कभी-कभी अत्यन्त रक्तपात करनेवाले होते हैं। इस ढंगकी विश्वशांतिमें भी ऐसी घटनाएं हो सकती हैं। श्रीअरविन्दने अपने इस मतको कभी नहीं छुपाया कि किसी भी राष्ट्रको हिंसा-द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करनेका पूरा अधिकार है — यदि वह ऐसा करनेमें समर्थ हो या इसे छोड़कर और कोई उपाय ही न हो; उसे ऐसा करना चाहिये या नहीं यह इस बातपर निर्भर करेगा कि सर्वोत्तम नीति क्या है, न कि गांधी-वादी ढंगके किन्हीं नैतिक विचारोंपर। इस विषयमें श्रीअरविन्दका विचार एवं व्यवहार वैसा ही था जैसा तिलक तथा अन्य राष्ट्रीयतावादी नेताओंका जो किसी प्रकार भी शांतिवादी या अहिंसाके पुजारी नहीं थे। उनमेंसे जिन्होंने क्रांतिकारी प्रवृत्तियोंमें भाग लिया उन्होंने अपनी उन प्रवृत्तियोंपर कुछ कारणोंसे पर्दा डाले रखा। उन कारणोंपर अब चर्चा करनेकी जरूरत नहीं। श्रीअरविन्द इन सब चीजोंको जानते थे और उन्होंने अपना ही रास्ता अपनाया, किन्तु इस विषयमें वे सदा दृढ़निश्चयी रहे हैं कि जबतक उपयुक्त समय न आ जाय

तबतक पर्दा न उठाया जाय।

इससे यह परिणाम निकलता है कि जिन संदर्भोंमें इससे विपरीत विचार प्रकट किया गया है उन्हें सत्यके हित छोड़ दिया जाय या नये सिरेसे लिखा जाय। उस समयकी राष्ट्रवादीय प्रवृत्तियोंके श्रीअरविन्दसे संबंद्ध पक्षके बारेमें कुछ कहनेकी आवश्यकता ही नहीं।

भूपेंद्रनाथ दत्त — 'युगान्तर' के संपादकके रूपमें

सत्यकी खातिर इस नामको निकाल देना चाहिये। भूपेन दत्त उन दिनों 'युगांतर' — कार्यालयमें एक अप्रसिद्ध व्यक्तिमात्र थे जो कोई भी महत्त्व-पूर्ण लेख नहीं लिख सकते थे। क्रांति-सेनामें भी वे एक साधारण रंगरूट भर थे जो, किसी और का तो क्या, अपना नेतृत्व करनेमें भी सर्वथा असमर्थ थे। जब पुलिसने इस पत्रके कार्यालयकी तलाशी ली तो इन्होंने आगे आकर शेखीके भावमें घोषणा की कि मैं हूँ इसका संपादक, यद्यपि यह बात थी बिलकुल झूठ। बादमें उन्होंने अपना बचाव करना चाहा, परंतु यह निर्णय किया गया कि 'युगांतर' जो प्रत्यक्षतः ही, सशस्त्र विद्रोहका समर्थन करनेवाला क्रांतिकारी पत्र है, अपना बचाव नहीं कर सकता और उसे ब्रिटिश अदालतमें अपनी वकालत करनेसे इन्कार कर देना होगा। इस स्थितिको फिर शुरू से अन्ततक बनाये रखा गया। इससे पत्रकी प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ गई। भूपेनको दण्ड मिला, उन्होंने अपना कारावास पूरा किया और बादमें अमरीका चले गये। उस समय उनकी प्रसिद्धिका कारण एकमात्र यही था। युगांतरके असली संपादक या लेखक (क्योंकि उसका कोई घोषित संपादक था ही नहीं) थे बारीन, उपेन बैनर्जी, (साथ ही वन्दे मातरम्के एक उपसंपादक) और देवव्रत बोस जो पीछे जाकर (अलीपुर- काण्डसे मुक्त होनेके बाद) रामकृष्ण मिशनमें प्रविष्ट हो गये और अलमोड़ाके संन्यासियोंमें सबसे प्रमुख थे और मिशनकी पत्र-पत्रिकाओं-में लेख लिखा करते थे। उपेन और देवव्रत बंगलाके सिद्धहस्त गद्य-लेखक थे। उनके तथा बारीनके लेखोंके कारण ही पत्रको अतुलनीय लोकप्रियता प्राप्त हुई। यही हैं तथ्य, पर भूपेनके नामको हटा देना ही काफी होगा।

> श्रीअरविन्द अब कलकत्तेमें और अपने अनुकूल क्षेत्रमें थे। बड़ौदा-राज्यकी सेवा, उसके स्थिर वेतन तथा उन्नतिके प्रलोभनोंको उन्होंने बिना किसी हिचकके त्याग दिया था।

१९०४में और फिर १९०६में भी श्रीअरविन्द कांग्रेसमें सम्मिलित हुए और उग्र दलकी मंत्रणाओं और उसके चतुःसूत्री कार्यक्रम — "स्वराज्य, स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा" — के निर्धारणमें भाग लिया। पर्देके पीछेके एक जबर्दस्त संघर्षके बाद विवश होकर नरमदली नेताओंको यह कार्यक्रम १९०६के प्रस्तावोंमें सम्मिलित करना पड़ा। विपिन पालने हाल ही में केवल ५०० रूपयेकी पूँजीसे एक दैनिक पत्र 'वन्दे मातरम्' निकालना शुरू किया था। श्रीअरविन्दने उसका संयुक्त संपादक बनना स्वीकार किया, विपिन पालकी अनुपस्थितिमें उसका संपादन किया और राष्ट्रवादी दलको प्रेरित किया कि वह इसे अपना मुखपत्र बना ले और इसका आर्थिक भार अपने ऊपर ले ले। उन्होंने दलके नेताओंकी एक सभा बुलाई जिसमें उनके कहनेपर यह निश्चय किया गया कि नरमदलवालोंके साथ पर्देकी ओटमें मुठभेड़ करना छोड़कर उनकी नीतिके प्रति खुले युद्धकी घोषणा की जाय और देशमें क्रांतिकारी प्रचार क्रिया जाय। बड़ौदा-राज्यकी सेवा उन्होंने इसके कुछ समय बाद छोड़ दी; उन्होंने अनिश्चित अवधिके लिये अवैतनिक अवकाश ले रखा था; इसी कारण उन्होंने नियमित और खुले रूपमें 'वन्दे मातरम्' के संपादनका कार्यभार अपने ऊपर नहीं लिया यद्यपि जबसे विपिन पालने संपादकके पदका त्याग किया तबसे कार्यतः सचमुच पत्रकी नीतिका नियंत्रण पूर्ण रूपसे उनके हाथमें ही था।

> बंगाल राष्ट्रीय कालिजकी स्थापना हुई और श्रीअरविन्दको उसका प्रिंसिपल बनाया गया। परन्तु कालिजके अधिकारियोंसे मतभेद हो जानेके कारण उन्होंने उस पदका त्याग कर दिया।

लगभग आरम्भमें ही वे कालिजके प्रबन्धका कार्य शिक्षाविज्ञ श्री सतीश मुखर्जीको सौंपकर स्वयं पूर्णरूपेण राजनीतिक कार्यमें निमग्न हो गये थे। जब उनपर 'वन्दे मातरम्' का अभियोग चलाया गया, तब उन्होंने कालिजके अधिकारियोंको परेशानीसे बचानेके लिये त्यागपत्र दे दिया परन्तु जेलसे छूटनेपर पुनः कार्यभार संभाल लिया। अलीपुर अभियोगके समय उन्होंने कालिजके अधिकारियोंकी प्रार्थनापर अन्तिम रूपसे अपना पद त्याग दिया।

*

[कालिजके अधिकारियोंसे] किसी प्रकारका भी मतभेद नहीं था; त्यागपत्र उन्होंने 'वन्दे मातरम्'-अभियोगके कारण दिया, जिससे कि अधिकारियोंको

किसी प्रकारकी परेशानी न हो। मुकदमेसे छूटनेके बाद कालिजके अधिकारियों-ने उन्हें फिरसे अपना पद संभालनेके लिये बुला लिया। अन्तिम त्यागपत्र उन्होंने अलीपुर जेलसे भेजा।

सतीश मुखर्जी

सतीश मुखर्जीसे मेरा परिचय तब हुआ जब वे बंगाल राष्ट्रिय कालिजके व्यवस्थापक थे (१९०५-०७), किन्तु उसके बाद उनसे फिर कभी मेरा संपर्क नहीं रहा। उस समय भी हममें कोई घनिष्ठता नहीं थी और उनके आध्यात्मिक जीवन या आध्यात्मिक प्राप्तियोंके सम्बन्धमें मुझे कुछ भी पता नहीं था — सिवा इसके कि वे विजय गोस्वामीके शिष्य हैं, जैसे कि विपिन पाल और मनोरञ्जन गुहु जैसे हमारे अन्य राजनीतिक सहकर्मी एवं नेता भी उनके शिष्य थे। मैं सतीश मुखर्जीके विषयमें केवल इतना ही जानता था — इससे अधिक कुछ नहीं — कि वे शिक्षाके क्षेत्रमें एक अत्यन्त कुशल और कर्मठ संगठनकर्ता हैं — मुझे बताया गया था कि यह जीवनव्रत उन्हें उनके गुरुने भविष्यद्रष्टा-की भांति सौंपा था।

> बंगाल राष्ट्रीय कालिजसे पद-त्याग करनेके बाद श्रीअरविन्द राष्ट्र-वादी दल तथा उसके मुखपत्र "वन्दे मातरम्" के साथ सक्रिय संबंध स्थापित करनेके लिये स्वतंत्र हो गये।

जैसा कि ऊपरके वर्णनसे स्पष्ट है, यह संबंध पद-त्यागसे बहुत पहले ही स्थापित हो चुका था।

"वन्दे मातरम्" के लेखोंमें श्रीअरविन्दका राजनीतिक दृष्टिकोण

एक राजनीतिज्ञके नाते श्रीअरविन्दके सिद्धांतोंका एक अंग यह था कि ब्रिटिश लोगोंसे कभी कोई प्रार्थना न की जाय; इसे वे भिक्षा-नीतिका अंग समझते थे। 'वन्दे मातरम्' के ये लेख तथा अन्य रचनाएं (निश्चय ही 'विदुला' और 'परसिउस' नहीं बल्कि व्यंग्य-काव्य, अनुकरण-काव्य आदि) जिनका इन पृष्ठोंमें उल्लेख किया गया है, श्यामसुन्दर चक्रवर्तीकी कृतियां थीं, श्रीअरविन्दकी नहीं। श्यामसुन्दर व्यङ्ग्यपूर्ण-अनुकरण-काव्य लिखनेमें सिद्धहस्त थे। जहां वे हास्य-रससे पूर्ण रचना लिख सकते थे वहां अलंकारोंकी मोहक छटासे मुग्ध भी

कर सकते थे। उन्होंने श्रीअरविन्दकी शैली कुछ-कुछ पकड़ ली और वैसी ही शैलीमें लिखने लगे, यहांतक कि बहुतसे लोग उन दोनोंके लेखोंमें भेद नहीं कर पाते थे। श्रीअरविन्दके कलकत्तासे बाहर जानेपर 'वन्दे मातरम्'के संपादकीय लेख अधिकतर श्यामसुन्दर ही लिखते रहे; हां, कुछ एक लेख श्रीअरविन्दके भी निकले जो उन्होंने देवघरसे भेजे थे।

* * *

अपनी राजनीतिमें श्रीअरविन्दने किसी प्रकारके विद्वेषको कभी स्थान नहीं दिया। उनके मनमें इंग्लैण्ड या अंग्रेजोंके प्रति घृणा कभी नहीं रही; भारतीय स्वतंत्रता प्राप्त करनेके लिये उन्होंने सरकारपर कुप्रबन्ध या अत्याचार का दोष नहीं लगाया, अपितु स्वराज्यके जन्मसिद्ध अधिकार होनेके नाते स्वराज्यका दावा किया। व्यक्तियोंपर भी यदि उन्होंने कभी तीक्ष्ण प्रहार किया तो वह केवल उनके विचारों या राजनीतिक कार्रवाईके लिये ही, किसी अन्य हेतुसे नहीं।

> बहुत पहले सन् १९०७में 'वन्दे मातरम्'के संपादकके नाते तथा उसमें लिखी हुई "नया पथ" शीर्षक लेखमालाके कारण उनपर मुकदमा चलाया गया था।

नहीं,—मुकदमा एक पत्रके कारण चलाया गया था जो किसी व्यक्तिने संपादकके नाम लिखा था। इसका दूसरा कारण उन लेखोंका प्रकाशन भी था जो 'युगांतर' के मामलेके अन्तर्गत थे पर जिनका वास्तवमें मुकदमेके लिये प्रयोग नहीं किया गया। 'वन्दे मातरम्' पर संपादकीय लेखोंके लिये मुकदमा कभी नहीं चला। 'स्टेट्समैन' के संपादककी यह शिकायत थी कि ये अत्यधिक दानवी चतुराईके साथ लिखे जाते हैं, इनकी पंक्ति-पंक्तिमें राजद्रोह कूट-कूटकर भरा रहता है पर भाषाकी चतुरताके कारण इनपर कोई कानूनी कार्रवाई नहीं की जा सकती। अवश्य ही सरकारका भी यही विचार रहा होगा, क्योंकि उसने संपादकीय या अन्य लेखोंके कारण, वे चाहे श्रीअरविन्दके हों या उनके तीन सहकारियोंके, पत्र पर प्रहार करनेका कभी साहस नहीं किया। साथ ही एक कारण यह भी है कि श्रीअरविन्दने स्वतंत्रताका समर्थन जातीय घृणा या अत्याचार किंवा कुशासनके अभियोगोंके आधारपर कभी नहीं किया, बल्कि सदा स्वतंत्रताके प्रति राष्ट्रके स्वतःसिद्ध अधिकारके बलपर ही इसके लिये आवाज उठाई। उनकी स्थापना यह थी कि उत्तमसे उत्तम शासन भी राष्ट्रीय

शासन या स्वराज्यका स्थान कभी नहीं ले सकता।

> मुकदमा असफल रहा और वे छूट गये, हां, इसे यदि कोई सफलता मिली तो यह कि श्रीअरविन्द पर्देके पीछेसे जनताके सामने आ गये और भारतका शिक्षित वर्ग "वन्दे मातरम्" को पढ़नेके लिये पहलेसे अधिक उत्सुक हो उठा।

श्रीअरविन्द पर्देकी ओटमें रहकर ही लेख लिखते तथा जनताका नेतृत्व करते थे। अपना विज्ञापन करने या अपने-आपको सामने ले आनेकी उन्होंने कभी परवाह न की। परन्तु क्योंकि अन्य नेता या तो जेलमें बन्द थे या उन्हें देशसे निर्वासित कर दिया गया था, और फिर उक्त मुकदमेके सिलसिलेमें उनका नाम भी देशमें सर्वत्र फैल गया था, अतः श्रीअरविन्दको जनताके सामने आना और खुले रूपमें नेतृत्व करना पड़ा।

> १९०४ से कांग्रेसमें एक उग्र दल बन चुका था और इसके सदस्य इस बातकी प्रतीक्षामें थे कि कांग्रेसका बंबई अधिवेशन आरंभ हो और वे जनताको अपनी शक्तिका अनुभव करायें।

इस कथनका संकेत किस बातकी ओर है यह स्पष्ट नहीं है। १९०४ में चरम-पंथी दल सार्वजनिक रूपसे संगठित नहीं हुआ था, यद्यपि कांग्रेसमें एक प्रगतिशील दल अवश्य था जो महाराष्ट्रमें तो खूब सबल था पर और प्रांतोंमें अभी अल्पसंख्यक और शक्तिहीन ही था और उसके अधिकतर सदस्य युवक ही थे। कभी-कभी इस दलका अन्य दलोंके साथ पर्देकी ओटमें संघर्ष भी चलता था, पर जनताके सामने कोई भी बात प्रकाशमें नहीं आई थी। उग्रतर विचारों-वाले ये व्यक्ति अभी एक दलके रूपमें संगठित भी नहीं हुए थे; श्रीअरविन्दने ही १९०६ में बंगालके चरमपंथियोंको यह प्रेरणा की कि वे एक दलके रूपमें जनताके सामने आवें, तिलकको अपना नेता घोषित करें और कांग्रेस और जनमतपर अपना अधिकार स्थापित करने तथा देशके आंदोलनकी बागडोर अपने हाथमें लेनेके लिये नरमदलके नेताओंके विरुद्ध संघर्ष करें। दोनों पार्टि-योंमें पहला बड़ा सार्वजनिक संघर्ष कलकत्ता-कांग्रेसके अधिवेशनमें हुआ जहां श्रीअरविन्द भी उपस्थित थे पर अभी पर्देकी ओट ही कार्य कर रहे थे, दूसरा मिदनापुरके बंगाल प्रांतीय सम्मेलनमें हुआ जहां पहली बार उन्होंने खुले रूपमें बंगालके राष्ट्रवादियोंका नेतृत्व किया। सन् १९०७में सूरतके अधिवेशनमें दोनों

पार्टियां अंतिम रूपसे अलग-अलग हो गईं।

मुसलमानोंने, जो विदेशियोंके वंशज हैं, बंगभंगका समर्थन किया।

यह इस ओर इंगित करता प्रतीत होता है कि भारतके सभी मुसलमान विदेशियोंके वंशज हैं, परन्तु भारतमें दो जातीयताओंका विचार केवल एक नवकल्पित धारणा है जिसका जिन्नाने अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये आविष्कार किया है। पर वास्तवमें यह तथ्योंके विपरीत है। भारतके ९० प्रतिशतसे अधिक मुसलमान उन हिन्दुओंके ही वंशज हैं जिन्होंने धर्म-परिवर्तन कर लिया था और वे भी हिन्दुओंके समान भारत-राष्ट्रके अंग हैं। धर्म-परिवर्तनका यह क्रम बराबर जारी रहा है; जिन्ना स्वयं एक हिन्दू भीणाभाईके वंशज हैं जिन्होंने काफी हालमें इस्लाम धर्म स्वीकार किया। इसी प्रकार, और भी बहुतेरे अत्यन्त प्रसिद्ध मुस्लिम नेताओंकी यही कहानी है।

आसाममें अधिकतर जनसंख्या मुसलमानोंकी थी।

आसामकी अधिकतर जनसंख्या हिन्दुओं और अन्यान्य छोटी-छोटी जातियोंकी है। असली आसाममें मुसलमानोंकी आबादी केवल बीस प्रति सैकड़ा है। बंगालका सिलहट जिला आसाममें मिल जानेके कारण हिन्दुओंका प्रतिशत कुछ कम हो गया है, परन्तु फिर भी वहां गैर-मुस्लिम जनता ही अधिक संख्यामें है। इस समय आसाममें कांग्रेसी सरकारका राज्य है जो भारी बहुमतसे निर्वाचित हुई है और आसाम नये संविधानमें मुस्लिम बंगालके साथ संबद्ध किये जानेका पूरे बलसे विरोध कर रहा है।

सन् १९०६में बारीसालके सम्मेलनमें श्रीअरविन्दका योगदान

बारीसाल सम्मेलनमें श्रीअरविन्दने भाग लिया और वे उस जलूस का नेतृत्व करनेवाले तीन व्यक्तियोंमें थे जिसे पुलिसने लाठी चलाकर तितर-बितर कर दिया। सम्मेलन भंग होनेके बाद उन्होंने विपिन पालके साथ पूर्वी बंगालका दौरा किया और वहां विशाल जनसमूहोंके सामने भाषण दिये,—एक जिलेमें तो मैजिस्ट्रेटके मना करनेपर भी सभा की गई।

दिसम्बर १९०७की सूरत कांग्रेस

इस वर्णनमें घटनाओंको ठीक वैसे ही रूपमें नहीं उपस्थित किया गया है जैसी कि वे श्रीअरविन्दको याद हैं। जहांतक उन्हें मालूम है वहां आग लगानेका कोई प्रयत्न नहीं किया गया। पहले कांग्रेसका अधिवेशन नागपुरमें करनेका निश्चय किया गया था, परन्तु नागपुर मुख्य रूपसे मराठों एवं उग्र चरम-पंथियोंका नगर था। गुजरातमें उन दिनों नरमदलवालोंकी प्रधानता थी, राष्ट्र-वादी वहां बहुत ही थोड़ी संख्यामें थे और सूरत नरम-पंथियोंका गढ़ था, यद्यपि आगे चलकर, विशेषकर देशकी बागडोर गांधीजीके हाथमें आनेके बाद, गुजरात अत्यन्त क्रांतिकारी प्रांतोंकी श्रेणीमें आ गया। इसलिये नरमदलके नेताओंने सूरतमें कांग्रेस करनेका निर्णय किया। परन्तु राष्ट्रवादी वहां देशके सभी भागों-से काफी संख्यामें आये, उन्होंने श्रीअरविन्दकी अध्यक्षतामें एक सार्वजनिक सभा भी की और कुछ समयके लिये यह निर्णय करना कठिन हो गया कि किस पक्षको अधिक मत प्राप्त होंगे, पर अन्तमें अपने इस नगरमें नरमदलवाले लगभग १३०० तथाकथित प्रतिनिधि जमा करनेमें सफल हो गये, जब कि राष्ट्रवादी उसी ढंगसे ११००से कुछ ऊपर प्रतिनिधि ही इकट्ठे कर सके। यह जानी हुई बात थी कि नरम दलके नेताओंने कांग्रेसके लिये एक नया संवि-धान तैयार किया था जिससे कि बरसोंतक उग्र दलके लिये वार्षिक अधिवेशनों-में बहुमत प्राप्त करना असंभव हो जाय। तरुण राष्ट्रवादी, विशेषकर वे जो महाराष्ट्रसे आये थे, उस संविधानको चाहे जैसे भी हो रद्द करानेके लिये तुल गये और निश्चय किया कि यदि वे कांग्रेसको व्यर्थ न कर सके तो भंग ही कर देंगे। तिलक तथा अन्य वयोवृद्ध नेताओंको इस निश्चयका पता नहीं था, परन्तु श्रीअरविन्द इसे जानते थे। अधिवेशनमें तिलक कांग्रेसके सभापति-पदके संबंधमें प्रस्ताव रखनेके लिये मंचपर गये; किंतु नरम दलके द्वारा निर्वाचित सभापतिने उन्हें भाषण देनेकी अनुमति नहीं दी, पर वे अपने अधिकारके लिये डटे रहे, अपना प्रस्ताव पढ़ने और भाषण देने लगे। इससे बड़ी भारी खलबली मच गई, युवक गुजराती स्वयंसेवकोंने तिलकको पीटनेके लिये उनके सिरपर कुरसियां उठा लीं। इसपर मराठे लाल-पीले हो गये, किसी मराठेका जूता, सभापति डा० रासबिहारी घोषको निशाना बनाकर तेजीसे मंडप पार करता हुआ आया और वह सुरेन्द्रनाथ बनर्जीके कन्धेपर लगा। तरुण मराठोंने एक साथ मंचकी ओर धावा किया, नरमदली नेता भाग खड़े हुए; मंचपर कुछ देर कुरसियों द्वारा लड़ाई होनेके बाद अधिवेशन भंग हो गया और फिर हुआ ही नहीं। नरम दलके नेताओंने निश्चय किया कि कांग्रेसको स्थगित करके उसके स्थानपर

एक राष्ट्रीय सम्मेलन किया जाय जिसकी विधि-व्यवस्था ऐसी हो कि उनके दलपर किसी प्रकारकी आंच न आवे। इसी बीच लाजपतराय तिलकके पास आये और उन्हें सूचना दी कि सरकारने निश्चय कर रखा है कि यदि कांग्रेसमें फूट पड़ गई तो वह उग्र दलवालोंको अत्यन्त क्रूर दमनके द्वारा कुचल देगी। तिलकने सोचा, और घटनाओंने भी दिखा दिया कि उनका विचार ठीक था, कि देश अभी ऐसे दमनका सफलतापूर्वक सामना करनेके लिये तैयार नहीं है; इसलिये उन्होंने प्रस्ताव रखा कि नरम दल तथा सरकार दोनोंकी योजनाओंको धप्पा दिया जाय और इसके लिये राष्ट्रवादियोंको चाहिये कि वे सम्मेलनमें भाग लें और नरमपंथियोंकी इच्छाके अनुसार नये संविधानको मानकर चलनेके प्रतिज्ञा-पत्रपर हस्ताक्षर कर दें। श्रीअरविन्द तथा अन्य कई नेता इस प्रकार झुकनेके पक्षमें नहीं थे; उनका विश्वास था कि नरमपंथी लोग एक भी राष्ट्रवादीको अपने सम्मेलनमें नहीं आने देंगे (और वास्तवमें हुआ भी यही) और वे चाहते थे कि देशको दमनका सामना करनेके लिये कहा जाय। इस प्रकार कुछ समयके लिये कांग्रेसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया; परन्तु नरमदली सम्मेलनको भी सफलता नहीं प्राप्त हुई; उसमें थोड़े-से लोग ही सम्मिलित हुए और उनकी संख्या निरंतर घटती गई। श्रीअरविन्दको आशा थी कि देश, कम-से-कम बंगाल और महाराष्ट्र, जहां उत्साह प्रायः सर्वत्र तीव्र रूपमें फैला हुआ है, दमनका सामना करनेके लिये पर्याप्त समर्थ सिद्ध होगा; परंतु उन्होंने यह भी सोचा कि चाहे कुछ समयके लिये देश अवसादके गर्तमें गिर भी जाय, फिर भी दमनसे जनताके हृदय और मनमें गहरा परिवर्तन आ जायगा और सारेका सारा देश राष्ट्रवाद तथा स्वराज्यके आदर्शकी ओर झुक जायगा। सचमुच हुआ भी ऐसा ही; जब तिलक बर्मामें :छः वर्षकी जेल काटकर वहांसे वापस आये तो वे श्रीमती बेसेण्टके साथ मिलकर केवल कांग्रेसको पुनर्जीवित करनेमें ही कृतकार्य नहीं हुए, बल्कि उन्होंने उसे एक ऐसे देशकी, जिसने राष्ट्रवादी ध्येयका व्रत ले लिया था, प्रतिनिधि-संस्था बनानेमें भी सफलता प्राप्त की। नरम दल उदारपंथियोंका एक छोटा-सा गुटमात्र रह गया और अन्तमें उन्होंने भी पूर्ण स्वराज्यके आदर्शको ग्रहण कर लिया।

* * *

राष्ट्रवादी नेता प्रधानके रूपमें लाजपतरायका नाम प्रस्तावित करना चाहते थे, तिलकका नहीं।

मंचपर कोई राष्ट्रवादी नेता बैठा हुआ ही नहीं था।

इतिहास उन घटनाओंका उल्लेख कदाचित् ही करता है जो होती तो हैं निर्णायक पर घटित होती हैं पर्देकी ओटमें; वह पर्देके सामनेके चमकीले भागका ही वर्णन करता है। बहुत ही कम लोग जानते हैं कि मैंने ही (तिलकसे सलाह किये बिना) आज्ञा दी थी जिसके परिणामस्वरूप कांग्रेस भंग हो गई, और मेरे ही कारण राष्ट्रवादियोंने नव-कल्पित नरमदलीय सम्मेलनमें भाग लेनेसे इन्कार कर दिया और सूरत अधिवेशनकी ये ही दो निर्णायक घटनाएं थीं। फिर बंगालमें राष्ट्रीय आन्दोलनमें युद्ध की भावना भरने या क्रांतिके आन्दोलन-की नींव डालनेके लिये मैंने जो कार्य किया उसे भी इने-गिने लोग ही जानते हैं।

गोखलेके विषयमें श्रीअरविन्दकी धारणा

अहमदाबादसे बड़ौदेके बीच गाड़ीमें गोखलेके साथ घण्टा भर बातचीत करनेके बाद श्रीअरविन्दके लिये यह संभव नहीं रहा कि वे एक राजनीतिज्ञके रूपमें गोखलेके प्रति कोई विशेष सम्मान रखें, चाहे मनुष्यके रूपमें उनके अन्दर जो भी गुण रहे हों।

सूरत-कांग्रेसके बाद कलकत्ता लौटते हुए "राजनीतिक दौरा"।

श्रीअरविन्दने कोई दौरा नहीं किया। वे लेलेके साथ पूना गये और उनके बंबई लौट जानेके बाद वे कलकत्ते चले गये। उनके सभी भाषण (बंबई और बड़ौदेमें दिये भाषणोंको छोड़कर) इसी समयके हैं। अपने रास्तेमें वे जिन-जिन स्थानोंपर दो-एक दिनके लिये ठहरे वहां-वहां भाषण दिये।

१६-१-१६०८को बंबईमें भाषण देनेसे पहले श्रीअरविन्दकी "अनिर्वचनीय स्थिरताकी अवस्था"।

निश्चय ही वह अनिर्वचनीय नहीं थी; बड़ौदेमें लेलेके साथ ३ दिन ध्यान करनेसे उन्हें जो स्थिति प्राप्त हुई वह मनकी नीरवताकी स्थिति थी। वह अवस्था कितने ही महीनोंतक और सच पूछिये तो उस समयके बाद सदा ही बनी रही; उनका सब काम-काज ऊपरी सतहपर स्वयमेव चलता रहता था; परन्तु उन दिनों वे कोई बाहरी काम-काज करते ही नहीं थे। लेलेने उनसे कहा कि वे जनताको नमस्कार करके प्रतीक्षा करें और भाषण की प्रेरणा

उन्हें मनसे भिन्न किसी अन्य स्रोतसे प्राप्त होगी। सचमुच ही उन्हें अपना भाषण इसी प्रकार प्राप्त हुआ और तबसे उन्हें अपने प्रत्येक भाषण, लेख, विचार तथा बाह्य कार्यकी प्रेरणा सदा इसी प्रकार मस्तिष्कसे ऊपरके उसी स्रोतसे आती रही।

* * *

यह टिप्पणी निकाल देनी चाहिये। इससे श्रीअरविन्दके योगके स्वरूप तथा उन दिनों उनके अन्दर जो कुछ घटित हो रहा था उसके विषयमें गलत धारणा उत्पन्न होती है। योग उनके अन्दर सब समय, यहांतक कि बाहरी काम-धन्धा करते हुए भी, बराबर चलता रहता था, परन्तु वे अपने अन्दर डूब नहीं गये थे और न 'निष्पन्द' हो गये थे जैसा कि उनके कुछ मित्रोंका ख्याल था। यदि वे प्रश्नों या सुझावोंके संबंधमें कुछ उत्तर नहीं देते थे तो उसका कारण यह था कि वे उत्तर देना ही नहीं चाहते थे और इसलिये मौनकी शरण लेते थे।

लेलेसे भेंट होनेके पहलेके आध्यात्मिक अनुभव

लेलेने उनसे जो प्रश्न किया वह यह था कि: "क्या आप अपने-आपको अपने भीतरके 'अन्तरस्थ मार्गदर्शक' के प्रति पूर्ण रूपसे समर्पित कर सकते हैं और क्या आप वैसे चलनेको तैयार हैं जैसे वे आपको चलाएँ?" यदि ऐसा है तो आपको लेले या और किसी व्यक्तिसे शिक्षा लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं। यह बात श्रीअरविन्दने स्वीकार कर ली और इसे अपनी साधना एवं जीवनका नियम बना लिया। लेलेसे भेंट होनेके पूर्व भी उन्हें कुछ आध्यात्मिक अनुभव हो चुके थे, परन्तु यह उस समयकी बात है जब कि उन्हें योगके विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं था, यहांतक कि वे यह भी नहीं जानते थे कि योग क्या है,— उदाहरणार्थ, दीर्घकालीन प्रवासके बाद जब उन्होंने पहले-पहल भारतकी भूमिपर पदार्पण किया, सच पूछिये तो ज्यों ही उन्होंने बंबईमें अपोलो बदरपर प्रथम चरण रखा, उनके भीतर एक विशाल शांतिका अवतरण हुआ; (इस शांतिने उन्हें सब ओरसे व्याप्त कर लिया और बादमें भी कई महीनोंतक बनी रही); काश्मीर में तख्त-ए-सुलेमान-नामक पर्वत श्रृंखलापर भ्रमण करते हुए शून्य अनन्तकी उपलब्धि; नर्मदाके तटपर एक मंदिरमें कालीकी जीवंत उपस्थितिका अनुभव; बड़ौदेमें अपने निवासके प्रथम वर्ष ही गाड़ी-दुर्घटनाके

खतरेके समय अपने भीतरसे प्रकट हुए ईश्वरका साक्षात्कार आदि आदि। परन्तु ये आंतरिक अनुभव थे जो एकाएक, अप्रत्याशित रूपमें तथा स्वयमेव प्राप्त हुए, ये साधनाके अंग नहीं थे। उन्होंने योग अपने-आप बिना किसी गुरु के ही शुरू किया था; हां, उन्हें अपने एक मित्र, गंगामठके ब्रह्मानन्दके शिष्य, से एक नियम अवश्य उपलब्ध हुआ। प्रारंभमें उनका योग प्राणयाम-की कृच्छ्र क्रिया तक ही सीमित रहा (एक समय तो वे प्रतिदिन छः या इससे भी अधिक घंटे प्राणयाम किया करते थे)। उनके अन्दर योग और राजनीतिके संबंधमें कोई संघर्ष या द्वंद्व नहीं चलता था; जब उन्होंने योग आरंभ किया, वे दोनोंको साथ-साथ चलाते रहे और इनके पारस्परिक विरोधका विचार तक उनके मनमें नहीं आया। तथापि वे एक गुरुकी खोजमें थे। खोजते-खोजते वे एक नागा संन्यासीसे मिले, किंतु उन्हें गुरुके रूपमें वरण नहीं किया। तथापि उनके द्वारा योग-शक्तिमें उनका विश्वास और भी दृढ़ हो गया, क्योंकि उन्होंने देखा कि उन्होंने बारीनको प्रायः पल भरमें ही एक भयंकर और दुःसाध्य पहाड़ी ज्वरसे मुक्त कर दिया। वह केवल इस प्रकार कि उन्होंने एक गिलास भर जल लेकर उसे, मन-ही-मन एक मंत्र जपते हुए, चाकूसे आड़े बल चीरा और फिर बारीनसे उसे पी जानेको कहा। बारीन उसे पीते ही अच्छे हो गये। वे ब्रह्मानन्दजीसे भी मिले और उनसे बहुत अधिक प्रभावित हुए; परन्तु लेलेसे मिलनेके पहले तक योगमें उनका कोई सहायक या गुरु नहीं था। लेलेके साथ भी उनका संपर्क थोड़े समयतक ही रहा।

भवानी—मंदिर—उन क्रांतिपूर्ण दिनोंमें......

'भवानी-मंदिर' पुस्तक श्रीअरविन्दने लिखी थी परन्तु इसका आधारभूत विचार उनकी अपेक्षा बारीनका ही अधिक था। इसका उद्देश्य लोगोंको हत्या करनेकी शिक्षा देना नहीं बल्कि यह सिखाना था कि देशको क्रांतिके लिये कैसे तैयार किया जाय। श्रीअरविन्दने तो भवानी-मंदिरका विचार शीघ्र ही छोड़ दिया, परन्तु बारीनने मानिकतल्ला बागमें इस प्रकारके उद्देश्यके लिये कुछ प्रयत्न किया और, स्पष्ट ही, हेमचन्द्रका संकेत इसी ओर है।

श्रीअरविन्दको ऐसी कोई बात स्मरण नहीं है, न यही याद है कि उन्होंने भवानी-मंदिर-योजनाको त्यागनेका बाकायदा कोई निश्चय किया था। मंदिर के लिये स्थान तथा महंतके चुनावका विचार निश्चय ही बारीनके मनकी उपज था। उपयुक्त स्थानकी खोजके लिये उन्होंने पहाड़ोंकी यात्रा की, परन्तु पहाड़ी ज्वरसे आक्रांत हो जानेके कारण उन्हें अपनी खोज छोड़ देनी पड़ी और वे

बड़ौदे वापस आ गये। उसके बाद वे बंगाल लौट गये, परन्तु मंदिरके लिये उपयुक्त स्थान मिल जानेकी बात श्रीअरविन्दके सुननेमें कभी नहीं आई। साकरिया स्वामी बारीनके गुरु थे: गदरके समय वे विद्रोही पक्षके एक योद्धा थे और सूरत कांग्रेसके भंग होनेपर देशभक्तिके जोशमें उनका खून खौल उठा जो उनकी मृत्युका कारण बना, क्योंकि इससे एक पागल कुत्तेके कांटनेका विष फिरसे उनपर चढ़ गया जिसे उन्होंने अपनी यौगिक संकल्प-शक्तिके कार्य द्वारा निष्प्रभाव कर रखा था। परन्तु श्रीअरविन्द इन्हें ऐसी संस्थाके राजनीतिक अंग या कार्यका संचालक बनानेके लिये कभी न चुनते। भवानी-मंदिरका विचार स्वयमेव विनष्ट हो गया। श्रीअरविन्दने फिर इसके बारेमें नहीं सोचा, किंतु बारीनने, जो इस विचारसे चिपके हुए थे, मानिकतल्ला बागमें छोटे पैमानेपर ऐसी एक संस्था स्थापित करनेका यत्न किया।

> ५-५-१९०८ को जब पुलिसने उन्हें गिरफ्तार किया तो उनके हाथोंमें "हथकड़ी डाल दी गई"।

"हथकड़ी डाल दी गई"—नहीं, उन्हें रस्सीसे बांध दिया गया, कांग्रेसके नरमपंथी नेता भूपेन बोसके विरोध करनेपर रस्सी खोल दी गई।

* * *

उनके हाथ नहीं बांधे गये थे, उनकी कमरमें रस्सी बांधी गई थी। परन्तु घरसे निकलनेसे पहले ही नरमदलके नेता भूपेन्द्रनाथ वसुके प्रतिवाद करनेपर रस्सी निकाल दी गई। भूपेन्द्र वसु गिरफ्तारीकी खबर सुनते ही पुलिससे इसका कारण पूछनेके लिये वहां पहुँचे थे।

> अलीपुर जेलमें श्रीअरविन्दने गीता पढ़ना तथा उसकी साधनाके अनुसार जीवन बिताना आरंभ किया; वहां उन्हें "सनातन धर्म" के सच्चे आंतरिक स्वरूप एवं माहात्म्यका पूर्ण रूपसे अनुभव हुआ था।

वास्तवमें कहना यों चाहिये कि भारतकी धार्मिक और आध्यात्मिक परंपरा,

अर्थात् उसके सनातन धर्मका सच्चा आंतरिक स्वरूप और माहात्म्य समझने तथा उसे पूर्ण रूपसे स्वीकार करनेके प्रयत्नमें वे दीर्घकालसे लगे हुए थे।

> मुकदमा अलीपुरके मैजिस्ट्रेटकी कचहरीमें १९ मई १९०८को आरंभ हुआ और रुक-रुककर वर्ष भर चलता रहा। मैजिस्ट्रेट मिस्टर बीचक्राफ्ट श्रीअरविन्दके कैम्ब्रिजके साथी थे......मुकदमा यथासमय ऊपर सेशन्स अदालतमें भेज दिया गया और वहां अक्तूबर १९०८ को मुकदमेकी सुनवाई शुरू हुई।

अंतिम वाक्य: "मुकदमा यथासमय......मुकदमेकी सुनवाई शुरू हुई" पहले वाक्यके अन्तमें 'चलता रहा' के बाद आना चाहिये। प्रारंभिक सुनवाई (जो बहुत लम्बी चली) बिरले (Birley) के सामने हुई थी जो एक युवक थे और श्रीअरविन्दके परिचित नहीं थे। बीचक्राफ्ट 'मैजिस्ट्रेट' नहीं वरन् सेशन्स कोर्टके जज थे।

अलीपुरकी अदालतमें वक्तव्य

श्रीअरविन्दने अदालतमें सार्वजनिक वक्तव्य कभी नहीं दिया। जजके पूछनेपर उन्होंने उत्तर दिया कि वे अपना अभियोग अपने वकीलोंके ऊपर छोड़ना चाहते हैं, उनकी ओरसे सब बात वकील ही कहेंगे। वे स्वयं न तो कोई वक्तव्य देना चाहते थे और न अदालतके प्रश्नोंका उत्तर ही। जिस वक्तव्यकी बात यहां कही गई है वह या वैसा कोई भी वक्तव्य यदि दिया भी गया हो तो वह, निःसंदेह, उन्होंने नहीं बल्कि उनकी ओरसे उनके वकीलोंने तैयार किया होगा।

> अलीपुर जेलमें श्रीअरविन्द बीमार पड़ गये।

जेलमें श्रीअरविन्द बीमार नहीं पड़े। वे साधारणतया स्वस्थ ही रहे, हां, कुछ समयके लिये उन्हें कोई मामूली शिकायत हुई थी जिसका कोई असर नहीं पड़ा था।

> अलीपुर जेलमें एक वर्षके एकांतवास और ध्यानके फलस्वरूप श्री-अरविन्दमें एक महान् परिवर्तन आ गया......सदाकी भांति एक बार

फिर "सेवा-भाव"ने उन्हें कार्यके लिये प्रेरित किया।

सेवाके आदर्शकी अपेक्षा देश एवं जगत्के लिये और अंततः भगवान्के लिये "कर्म" करने, अर्थात् निष्काम कर्म करनेका विचार ही उनके सामने अधिक था।

श्रीअरविन्दकी जुलाई १९०९की "अपनी देशवासियोंके नाम एक खुली चिट्ठी" और दिसम्बर १९०९ की दूसरी चिट्ठी।

यहांपर कुछ गड़बड़ है और साधारणतया दो चिट्ठियोंके बारेमें कुछ भ्रमात्मक बातें फैली हुई हैं। श्रीअरविन्द यह विश्वास नहीं किये बैठे थे कि पहली चिट्ठी के परिणामस्वरूप सरकारकी नीतिमें कुछ परिवर्तन आ जायगा। वे स्पष्ट रूपमें लिख़ते हैं कि प्रस्तावित सुधार मिथ्या, अवास्तविक एवं अस्वीकार्य हैं। इस विषयमें वे जो कुछ कहते हैं वह इतना ही है कि यदि वास्तविक शक्ति या अधिकार देनेवाले सच्चे सुधार दिये जायँ, भले ही उनसे केवल आंशिक एवं अपूर्ण स्वराज्य ही क्यों न मिले, तो भी राष्ट्रवादी दल उन्हें पूर्ण स्वराज्यके एक साधनके रूपमें स्वीकार कर सकता है। जबतक ऐसा नहीं होता, राष्ट्रवादी अपना स्वातंत्र्य-संग्राम तथा अपनी असहयोग और निष्क्रिय प्रतिरोधकी नीति जारी रखेंगे। श्रीअरविन्द इस बातके भरोसे नहीं बैठे थे कि सरकार अपनी नीति बदल लेगी बल्कि उन्हें अंतर्ज्ञान द्वारा यह पता चल गया था कि यदि वे देशके लिये कोई ऐसा कार्यक्रम छोड़ जायँ जिसे दूसरे नेता उनकी अनुपस्थिति-में भी कार्यान्वित कर सकें तो सरकार उन्हें देशनिर्वासनका दंड देना नीतिपूर्ण किंवा लाभदायक नहीं समझेगी। इसके अतिरिक्त 'होम रूल' तथा पूर्ण निष्क्रिय प्रतिरोध-विषयक विचारका भी पहली चिट्ठीके साथ कोई संबंध नहीं था, क्योंकि वह उस समय तक श्रीअरविन्दके मनमें आया ही नहीं था। बादमें अपने हस्ताक्षर-सहित दूसरी चिट्ठी लिखते समय उन्होंने देशकी परिस्थितिकी माप-तोल की और सोचा कि क्या कुछ समयके लिये कुछ पीछे हटना ज्यादा अच्छा न होगा, ताकि राजनीतिक कार्यको समुचित रूपसे चला सकना संभव हो सके, ठीक वैसे ही जैसे अच्छी तरह कूदनेके लिये कुछ पीछे हटना जरूरी होता है। यह डर था कि इसके बिना कहीं राष्ट्रीय आन्दोलन बैठ न जाय। 'होम रूल'-आन्दोलन या दक्षिणी अफ्रीकाके जैसे आन्दोलनका विचार भी उनके मनमें आया और उन्होंने यह उसी समय देख लिया कि निकट भविष्यमें इनका

आश्रय लिया जा सकता है। परन्तु उन्होंने निश्चय किया कि ऐसे आंदोलनोंका नेतृत्व करना उनका काम नहीं है और स्वराज्य का जैसा आन्दोलन इस समय चल रहा है उसीको उन्हें जारी रखना होगा। दूसरी चिट्ठीमें भी सुधारोंको अपर्याप्त बताकर उनको अस्वीकार करते हुए उन्होंने राष्ट्रवादी आन्दोलनको जारी रखने तथा पुनः संगठित करनेका समर्थन किया*। यह पहली चिट्ठीके पांच महीने बाद, २५ दिसम्बरकी बात है । किस आकस्मिक आक्रमण और युद्ध-कौशलकी ओर यहां संकेत किया गया है यह श्रीअरविन्द नहीं समझ पाये हैं: यदि आकस्मिक आक्रमणसे अभिप्राय प्रस्तावित तलाशी तथा गिरफ्तारीसे है तो वह दूसरी चिट्ठीके सिलसिलेमें तथा उसके परिणामस्वरूप की गई थी। उसीके विषयको लेकर मुकदमा चलाया जानेवाला था। चूंकि श्रीअरविन्द चन्दननगर चले गये और आंखोंसे ओझल हो गये इसलिये तलाशी नहीं हुई, वारण्ट रोक लिया गया तथा मुकदमा भी तबतकके लिये स्थगित कर दिया गया जबतक कि वे फिरसे वापिस न आ जायँ। यह घटना दूसरी चिट्ठीके प्रकाशित होनेके एक महीने या कुछ अधिक समय बाद, फरवरीमें हुई। श्रीअरविन्द चाहते थे कि पुलिस अपने हथकंडे प्रकट करे, और युद्धके कौशलके बारेमें जो उन्होंने लिखा वह एक पत्रका उत्तर था जो उनके पास चन्दननगर भेजा गया था और जिसके विषयमें उन्हें यह मालूम हो गया था कि वह पुलिसके किसी गुप्तचरका लिखा हुआ है। उसमें कहा गया था कि आप सामने प्रकट हों और अभियोगका सामना करें। उन्होंने उत्तर दिया कि ऐसा करनेका कोई कारण वे नहीं देखते, क्योंकि उनके नाम कोई खुला वारण्ट नहीं है और न मुकदमेकी ही घोषणा की गई है। उनका ख्याल था कि इस उत्तरके परिणामस्वरूप पुलिस वारण्ट और अभियोग लेकर खुले तौरपर मैदानमें आ जायगी और सचमुच इसका परिणाम हुआ भी यही।

*श्रीअरविन्द द्विदल-शासन (Diarchy) को भी एक कदमके रूपमें स्वीकार कर लेते यदि इससे वास्तविक अधिकार प्राप्त होता। उन्होंने तबतक यह विश्वास नहीं किया कि ब्रिटिश सरकारकी मनोवृत्तिमें सच्चा परिवर्तन प्रारम्भ हो गया है जबतक कि उसने प्रांतीय स्वायत्त शासन देना स्वीकार नहीं कर लिया। क्रिप्सके प्रस्तावोंको उन्होंने उक्त परिवर्तनके ही एक अगले कदमके रूपमें स्वीकार किया था और इसके अंतिम फलस्वरूप जब मजदूरदलकी सरकारकी नई नीति सामने आयी तो उन्होंने स्वीकार किया कि उसकी मनोवृत्ति पूर्ण रूपसे बदल गई है।

राजनीति छोड़नेका कारण

मैं यह भी कह सकता हूँ कि मैंने राजनीति इसलिये नहीं छोड़ी कि मुझे यह अनुभव हुआ कि वहां मैं अब अधिक कुछ नहीं कर सकता; ऐसा विचार मुझसे कोसों दूर थां। मैं इसलिये चला आया कि मैं नहीं चाहता था कि कोई भी चीज मेरी योगसाधनामें हस्तक्षेप करे और इसलिये भी कि इस विषयमें मुझे अत्यन्त सुस्पष्ट आदेश मिला था। मैंने राजनीतिसे पूर्णतया संबन्ध-विच्छेद कर लिया है, किन्तु ऐसा करनेसे पहले मुझे अन्दरसे पता चल गया था कि जो काम मैंने वहां शुरू किया था उसे दूसरे लोग मेरे द्वारा भाविदृष्टिसे देखी गई पद्धतियोंके अनुसार आगे बढ़ायेंगे यह बात देव-निर्दिष्ट है, और कि जो आन्दोलन मैंने शुरू किया था उसकी अन्तिम विजय मेरी व्यक्तिगत क्रिया-चेष्टा या उपस्थितिके बिना भी निश्चित है। मेरे वहांसे चले आनेके मूलमें निराशाका प्रेरकभाव या निरर्थकता की भावना लेशमात्र भी नहीं थी। शेष, मेरे देखनेमें यह कमी नहीं आया कि जगद्व्यापारके संचालनमें किसी प्रधान घटनाके लिये मेरा कोई संकल्प अन्तमें असफल हुआ हो, भले उसे पूरा करनेमें विश्व-शक्तियोंको लंबा समय क्यों न लगा हो। यह जो प्रश्न है कि मेरे आध्यात्मिक कार्यके विफल होनेकी संभावना है इसपर मैं किसी और समय विचार करूँगा। उसमें कठिनाइयां अवश्य हैं, पर मैं निराशाके लिये या असफलताका प्रमाणपत्र देनेके लिये कोई कारण नहीं देखता।

अक्तूबर, १९३२

IV

प्रेसके अशुद्ध वक्तव्योंके संशोधन

तुम्हारे पत्रसे जो प्रश्न उपस्थित होते हैं उनके विषयमें मेरा उत्तर यह है।* एक बातको छोड़कर जिसे कुछ खोलकर समझानेकी जरूरत है, अन्य बातोंमें मैं अपनेको केवल घटनाओंतक ही सीमित रखूँगा।

1. अप्रैल १९०७में "निष्क्रिय प्रतिरोध" शीर्षक से प्रकाशित जिस लेख-मालाका जिक्र तुमने किया है उसका लेखक मैं ही था; विपिन पालका इससे कुछ भी संबंध नहीं था। १९०६के अन्तमें उन्होंने पत्रसे संबंध तोड़ लिया था और उसके बादसे वे इसके लिये कोई संपादकीय या अन्य लेख नहीं लिखते थे। मेरे मनमें 'वन्दे मातरम्' के लिये ऐसी कई लेखमालाएं लिखनेकी योजना थी और उनमेंसे कम-से-कम तीन प्रकाशित हुईं। "निष्क्रिय प्रतिरोध" उन्ही मेंसे एक थी।

2. फरवरी और मार्च १९१० के बीच "धर्म" में जो लेख प्रकाशित हुए वे मेरे लिखे हुए नहीं थे। उनका असली लेखक पत्रके संपादकीय विभागमें काम करनेवाला एक युवक था। यह उन सब लोगोंको भलीभांति विदित है जो उस समय कार्यालयमें काम करते या उसके साथ संबद्ध थे, उदाहरणार्थ, नलिनीकांत गुप्तको जो उन दिनोंमें भी मेरे साथ थे जैसे अब यहां भी मेरे साथ रहते हैं।

3. चन्दननगर जाते समय मैं रास्तेमें बागबाजार मठ नहीं गया न श्री शारदेश्वरी देवीको प्रणाम ही किया। सच तो यह है कि अपने जीवनमें मैं उनसे कभी नहीं मिला न कभी उनके दर्शन ही किये। बागबाजारके घाटसे

*बंगालके एक साहित्य-समालोचक, गिरिजाशंकर राय चौधरीने बंगला पत्र "उद्बोधन" में श्रीअरविन्दपर एक लेखमाला लिखी। एक अंक (आषाढ़ १३५१ बंग संवत्, तदनुसार जून १९४४के अंक) में विशेष रूपसे अनेक अशुद्ध वक्तव्य थे। इस लेखकी कुछ बातोंकी सत्यता जाननेके लिये स्वर्गीय श्रीचारुचन्द्र दत्तने श्रीअरविन्दसे पूछा। निम्नलिखित पत्र श्रीअरविन्दका उत्तर है जो इन बातोंके संबंधमें यथार्थ तथ्यात्मक सूचना देता है। गिरिजाशंकरका भी लेख उन्हें सुनाया गया जिसपर उन्होंने कई अशुद्ध वक्तव्योंके संशो-धनके रूपमें कुछ टिप्पणियां लिखायीं। ये टिप्पणियां अशुद्ध वक्तव्योंके सहित (जो कोष्ठकोंके अन्तर्गत हैं) उक्त पत्रके बाद दी गई हैं।

नहीं बल्कि एक दूसरे घाट (गंगा-घाट) से ही मैं नौका में बैठकर सीधे चन्दन-नगर गया था।

4. न तो गणेन्द्र महाराज, न निवेदिता ही घाटपर मुझे विदा देने आयी थीं। उनमेंसे किसीको भी मेरे जानेका कुछ पता नहीं था: निवेदिताको बादमें ही इसका पता चला जब कि मैंने उनके नाम एक संदेश भेजा कि मेरी अनुपस्थितिमें वे 'कर्मयोगिन्' का संचालन करती रहें। वे सहमत हो गईं और उस समयसे लेकर पत्रके प्रकाशनके अन्तिम दिनतक उसका संचालन उन्हींके हाथमें रहा। उस समयके संपादकीय उन्हींके लिखे हुए हैं।

5. अपनी पत्नीको मैं दीक्षा के लिये श्री शारदा देवीके पास नहीं ले गया; हां, मुझे पता लगा था कि देवव्रतकी बहिन सुधीरा वसु उसे वहां ले गई थीं। यह बात मैंने बहुत दिनों बाद पांडिचेरीमें सुनी थी। यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई थी कि उसे इतने महान् आध्यात्मिक गुरुका आश्रय मिला, परन्तु इस कार्यमें मेरा कुछ हाथ नहीं था।

6. चन्दननगर मैं बहन निवेदिताकी सलाहसे नहीं गया। इससे पहले एक अवसरपर जब उन्होंने मुझे सूचना दी कि सरकारने मुझे देश-निकाला देनेका निश्चय कर लिया है, तब उन्होंने अवश्य मुझसे आग्रह किया था कि आप ब्रिटिश भारतसे बाहर चले जायं और बाहरसे ही अपना कार्य करें। परन्तु मैंने उनसे कहा कि मेरी समझमें ऐसा करना आवश्यक नहीं है, मैं एक ऐसा लेख लिखूंगा जिससे यह योजना स्थगित हो जायगी। इन्हीं परिस्थितियोंमें मैंने "मेरा अंतिम इच्छापत्र" शीर्षकसे अपने हस्ताक्षर-सहित एक लेख लिखा था। निवेदिताने बादमें मुझे बताया था कि वह लेख अपने उद्देश्यमें सफल हुआ है, सरकारने देश-निर्वासनका विचार त्याग दिया है। दुबारा वैसी सलाह देनेका कोई मौका ही उनके सामने नहीं आया और न यह संभावना ही थी कि मैं उनकी सलाहका अनुसरण करता: जिस परिस्थितिके परिणामस्वरूप मैंने चन्दननगरके लिये प्रस्थान किया उसका उन्हें पहलेसे कुछ पता नहीं था।

7. उस प्रस्थानसे संबंध रखनेवाली सच्ची बातें ये हैं। मैं 'कर्मयोगिन्' के दफ्तरमें बैठा था जब कि मुझे पुलिसके एक उच्च अधिकारीसे प्राप्त एक सूचनाके आधारपर यह सन्देश मिला कि कल दफ्तरकी तलाशी होगी और मुझे गिरफ्तार कर लिया जायगा। (दफ्तरकी सचमुच तलाशी ली गई थी परन्तु मेरे विरुद्ध कोई वारण्ट नहीं पेश किया गया; इसके बारेमें फिर कोई बात मेरे सुननेमें नहीं आई जबतक कि कुछ कालके बाद पत्रपर मुकदमा नहीं शुरू हो गया, किंतु तबतक मैं चन्दननगर भी छोड़कर पांडिचेरीके लिये प्रस्थान कर चुका था।) जब मैं इस आसन्न घटनाके संबंधमें अपने आसपासके

लोगोंकी गर्मागर्म टीका-टिप्पणी सुन रहा था, तब मुझे सहसा ऊपरसे एक आदेश मिला जिसकी 'वाणी' मेरे लिये खूब परिचित थी और जिसमें कुल तीन शब्द थे : "Go to Chandernagor" अर्थात् "चन्दननगर चले जाओ"। कोई १० मिनटमें ही मैं चन्दननगर जानेके लिये नौकापर सवार हो गया। रामचंद्र मजुमदार मुझे घाटतक ले गये, एक नौका बुलाई और मैं तुरन्त अपने संबंधी वीरेन घोष तथा मणि (सुरेशचन्द्र चक्रवर्ती) के साथ उसमें बैठ गया जो चन्दननगर तक मेरे साथ गये; रास्तेमें मैं बागबाजार या और कहीं भी नहीं गया। मुँह अंधेरे ही हम अपने गंतव्य स्थानपर जा पहुँचे; वे दोनों प्रातःकाल कलकत्ते लौट गये। मैं एक गुप्त स्थानमें रहकर पूर्ण रूपसे साधनामें निमग्न हो गया। उस समयसे अपने दोनों समाचार-पत्रोंके साथ मेरा किसी प्रकारका भी सक्रिय संबंध नहीं रहा। बादमें, वैसी ही 'समुद्र-यात्रा' की आज्ञाके अनुसार मैं चंदननगरसे प्रस्थान कर ४ अप्रैल, १९१०को पांडिचेरी पहुँच गया।

स्पष्टीकरणके लिये मैं इतनी बात और कह दूँ कि सूरत-अधिवेशनके बाद बंबईमें लेलेसे विदा लेने तथा बड़ौदे, पूना और बंबईमें उनके संपर्कमें रहनेके बादसे मैंने यह नियम स्वीकार कर लिया था कि मैं निःसंदिग्ध रूपसे आंतरिक मार्गदर्शनका ही अनुसरण करूँगा और जैसे भगवान् चलायेंगे वैसे ही चलूँगा। कारावासके एक वर्षमें जो आध्यात्मिक विकास हुआ उसके परिणामस्वरूप यह नियम मेरे जीवनका परमोच्च विधान बन गया। मुझे जो आदेश मिला उसके अनुसार अविलंब कार्य कर डालनेका कारण इससे समझमें आ जायगा।

इन विषयोंपर "उद्बोधन" के संपादकको अपने वक्तव्य देते हुए तुम मेरे इस पत्रके आधारपर मेरे कथनोंको प्रमाण के रूपमें उद्धृत कर सकते हो।

५ दिसम्बर १९४४

गिरिजाशंकरकी लेखपर श्रीअरविन्दकी टिप्पणियां

> सन् १९०४ में बड़ौदेके महाराजने बहन निवेदिताको अपने यहां निमंत्रित किया था और श्रीअरविन्दने उनसे रामकृष्ण और विवेकानन्दके विषयमें बातचीत की थी।

मुझे स्मरण नहीं कि उन्हें निमंत्रित किया गया था या नहीं, पर मेरा ख्याल है कि वे वहां राज्यकी अतिथिके रूपमें ठहरी हुई थीं। खासी राव और मैं उनके स्वागतके लिये स्टेशन गये थे।

मुझे याद नहीं पड़ता कि निवेदिताने मुझसे आध्यात्मिक विषयोंकी अथवा

रामकृष्ण और विवेकानन्दकी चर्चा की हो। हमारी बातचीत राजनीति तथा अन्य विषयोंपर हुई थी। स्टेशनसे शहर आते हुए उन्होंने कालिजके भवन और उसके भारी-भरकम गुँबजकी कुरूपताकी बड़े जोरसे निन्दा की और साथ ही उसके पास बनी हुई धर्मशाला की प्रशंसा भी की। खासी रावने उनकी ओर घूरकर देखा और सोचा कि कम-से-कम ये कुछ थोड़ी सनकी अवश्य हैं, तभी तो इनके ऐसे विचार हैं। उन दिनों मैं उनकी पुस्तक "काली माता"का बड़ा अनुरक्त था और मुझे ख्याल आता है कि हमने उसके बारेमें बात की थी। उन्होंने कहा, मैंने सुन रखा है कि आप 'शक्ति' के पुजारी हैं। इससे उनका मतलब यह था कि उनकी तरह मैं भी गुप्त क्रांतिकारी दलसे संबद्ध हूँ। मैं महाराजके साथ उनकी मुलाकातके समय भी उपस्थित था। उन्होंने गुप्त क्रांतिके कार्यमें महाराजकी सहायता मांगी और कहा कि वे मेरे द्वारा उन (निवेदिता) के साथ पत्र-व्यवहार आदिका संबंध रख सकते हैं। सयाजी राव अतीव चतुर थे; वे भला ऐसे भयानक कार्यमें क्यों पड़ने लगे! उन्होंने फिर इस बारेमें मुझसे कभी बात ही नहीं की। बस, इतना ही मुझे स्मरण है।

> जब पुलिसने अप्रैल १९०८में श्रीअरविन्दके घरकी तलाशी ली तो उनके कमरेमें दक्षिणेश्वरकी मिट्टी पाई गई।

रामकृष्ण मिशनसे संबंध रखनेवाला एक युवक मेरे पास दक्षिणेश्वरकी मिट्टी लाया था और मैंने वह रख ली थी; जब पुलिस मुझे पकड़ने आई तो वह मेरे कमरेमें रखी थी।

> "वन्दे मातरम्" का प्रकाशन ७ अगस्त १९०६ को आरंभ हुआ। संयुक्त स्टाक कंपनीकी घोषणा १८ अक्तूबर १९०६ को की गई। इस प्रकार अगस्त १९०६ से अक्तूबर १९०६ तक विपिन पाल संपादक रहे।

विपिन पालने ५०० रु० की पूँजीसे "वन्दे मातरम्' चलाना आरंभ किया था। ये रुपये उन्हें हरिदास हलधरसे दानस्वरूप प्राप्त हुए थे। इसके सहकारी संपादकका कार्य करने के लिये उन्होंने मुझसे सहायता मांगी और मैं उसे मान गया। मैंने कलकत्तेके तरुण राष्ट्रवादी नेताओंकी एक खानगी सभा बुलाई और उन्होंने 'वन्दे मातरम्' को अपने दलके पत्रके रूपमें चलाना स्वीकार किया तथा उसके मुख्य आर्थिक सहायक हुए सुबोध और नीरद मल्लिक। एक कंपनी

की योजना पर भी विचार हुआ और वह बन भी गई, किंतु इस बीच सुवोधने ही आर्थिक सहायता दी और वही पत्रको चलाते रहे। संपादनका कार्य विपिन पालके ही हाथमें रहा क्योंकि सी० आर० दास तथा अन्य कई लोग उनके प्रबल समर्थक थे। हेमेन्द्रप्रसाद घोष और श्यामसुन्दर को भी संपादकीय विभागमें रखा गया पर विपिन बाबूके साथ इनकी निभ न सकी। दोनों मल्लिक इन्हीं के पक्षमें थे। अन्तमें, मुझे स्मरण नहीं नवंबर या दिसंबरमें, संभवत: दिसंबरमें, विपिन पालको पत्रसे अलग होना पड़ा। मैं स्वयं अत्यधिक रुग्ण था और सरपेण्टाइन लेनमें अपने श्वशुरके घर मरणासन्न-सा पड़ा था। मुझे पता नहीं था कि इधर क्या चल रहा था। उन्होंने मेरी स्वीकृतिके बिना ही संपादकके रूपमें पत्रपर मेरा नाम दे दिया, किन्तु इसपर मैंने मंत्रीकी कुछ कड़े शब्दोंमें भर्त्सना की और आगेसे अपना नाम देना बन्द करा दिया। इस विषयपर सुबोध को भी मैंने एक कड़ी चिट्ठी लिखी। 'वन्दे मातरम्' के साथ विपिन पालका संबंध तभीसे समाप्त हो गया था। किसीका कहना है कि अलीपुर अभियोगमें मेरे पकड़े जानेके वाद उन्होंने संपादनका कार्य फिरसे संभाल लिया। परन्तु यह बात कभी मेरे कानोंमें नहीं पड़ी। जेलसे मेरे बाहर आनेके बाद विजय चटर्जीने मुझे बताया कि वह, श्यामसुन्दर और हेमेंद्रप्रसाद जैसे-तैसे पत्र चलाते रहे, परन्तु उसका खर्च चलाना असंभव हो गया। इसलिये उन्होंने जान-बूझकर एक ऐसा लेख लिखा जिससे सरकार पत्रपर टूट पड़े तथा उसका प्रकाशन बन्द करानेको वाध्य हो जाय और फलत: 'वन्दे मातरम्' अपना जीवन कुछ गौरव और पूर्ण प्रतिष्ठाके साथ समाप्त कर सके।

* * *

श्रीअरविन्दके विषयमें गिरिजाशंकरके वक्तव्योंको ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता; बहुधा वे मिथ्या या विकृत जानकारी पर आधारित होते हैं, उनमें या तो तथ्यको गलत ढंगसे प्रस्तुत करनेकी ओर झुकाव होता है या फिर वे अनुमान वा अटकलमात्र होते हैं।

2

*आपने अपनी पत्रिकाके इस १७ वीं तारीखके अंकमें 'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड'

*मद्रासके एक साप्ताहिक पत्र द सण्डे टाइम्स (The Sunday Times) ने अपने

से जो यह वक्तव्य उद्धृत किया है कि श्रीअरविन्दने पांडिचेरी (?) के लिये प्रस्थान करनेके दिन श्री शारदामणि देवीके दर्शन किये और उनसे किसी प्रकार की दीक्षा ली उसका खण्डन करनेके लिये उन्होंने (श्रीअरविन्दने) मुझे अधिकार प्रदान किया है। कुछ समय पूर्व कलकत्तेके एक मासिकमें एक वृत्तांत प्रकाशित हुआ था कि फरवरी १९१० में चन्दननगर जानेकी रात श्रीशारदा-देवीका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये श्रीअरविन्द बागबाजार मठमें उनसे मिले थे, बहन निवेदिता और मठके एक ब्रह्मचारी उन्हें विदा देने गये थे और बहन निवेदिताके कहनेसे ही उन्होंने ब्रिटिश भारत छोड़नेका प्रबन्ध किया था। ये सब वक्तव्य तथ्य-विरुद्ध हैं और श्री चारुचंद्र दत्तने उसी मासिकमें श्रीअरविन्द-की ओरसे इनका प्रतिवाद निकलवाया था।

श्रीअरविन्दके चन्दननगर-प्रस्थानका कारण यह था कि उन्हें ऊपरसे एक आदेश प्राप्त हुआ जिसके आधारपर उन्होंने एकाएक प्रस्थानका निश्चय कर लिया और फ़िर तुरन्त ही तथा बिना किसीको बताये उसे कार्यान्वित भी कर डाला, न तो किसीसे सलाह की और न उन्हें कहींसे कोई निर्देश ही प्राप्त हुआ। वे 'धर्म' के कार्यालयसे सीधे घाटपर गये — न तो वे मठमें गये, न कोई उन्हें विदा देने ही गया। एक नौका बुलाई गई, वे दो युवकोंके साथ उसमें बैठ गये और सीधे अपने गंतव्य स्थानकी ओर चल पड़े। चन्दननगरमें उनका निवासस्थान सर्वथा गुप्त रखा गया; श्रीयुत मोतीलाल राय, जिन्होंने उनके रहनेकी व्यवस्था की थी, तथा दो-एक और लोगोंको छोड़कर और किसीको उनकी जगह मालूम नहीं थी। बहिन निवेदिताको प्रस्थान की सूचना दूसरे दिन गुप्त रूपमें दी गई और उनसे कहा गया कि वे श्रीअरविन्दके स्थानपर 'कर्मयोगिन्' का संचालन करें जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। चन्दननगरसे पांडिचेरी जाते हुए श्रीअरविन्द अपने मौसेरे भाईके यहांसे अपना ट्रंक लेनेके लिये केवल दो मिनट कालिज स्क्वेयरके बाहर रुके और केवल समुद्र-यात्रार्थ चिकित्सकका प्रमाणपत्र लेनेके लिये ब्रिटिश चिकित्साधिकारीसे मिले, अन्य किसीसे भी नहीं। वे सीधे जाकर 'डुप्ले' स्टीमरपर बैठ गये और दूसरे दिन

१७ जून १९४५ के अंकमें "हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड"(Hindustan Standard) से एक समाचार उद्धृत किया जिसमें यह कहा गया था कि श्रीअरविन्दने चन्दननगरके लिये प्रस्थान करनेसे पूर्व श्री रामकृष्णकी धर्मपत्नी श्री शारदादेवी से दीक्षा ली थी। यह एक बिलकुल मनगढ़ंत कहानी थी और "द सण्डे टाइम्स" के २४ जूनके अंकमें निम्न वक्तव्य प्रकाशित करके इसका प्रतिवाद किया गया था। यह वक्तव्य आश्रमके मंत्रीके नामसे निकला था, किंतु स्वयं श्रीअरविन्दका ही लिखाया हुआ था।

प्रातःकाल पांडिचेरीके लिये रवाना हो गये।

यह भी कह देना चाहिये कि न तो इस समय और न किसी अन्य समय श्रीअरविन्दने शारदादेवीसे किसी प्रकारकी दीक्षा ग्रहण की; और किसीसे भी कभी कोई नियमित दीक्षा नहीं ली। सन् १९०४में बड़ौदा-निवासके समय उन्होंने किसी मित्रसे प्राणायामकी एक साधारण विधि सीखकर स्वयमेव साधना आरंभ कर दी थी। तत्पश्चात् उन्हें केवल एक महाराष्ट्रीय योगी विष्णुभास्कर लेलेसे ही कुछ सहायता प्राप्त हुई जिन्होंने उन्हें मनकी पूर्ण नीरवता और संपूर्ण चेतनाकी निश्चलता प्राप्त करनेकी विधि सिखाई। श्रीअरविन्द तीन दिनमें ही इस स्थितिको प्राप्त करनेमें सफल हो गये। इसके फलस्वरूप उन्हें ऐसी महान् और स्थायी आध्यात्मिक अनुभूतियां प्राप्त हुई जिनसे योगके वृहत्तर पथ उनके सामने खुल गये। लेलेने अन्तमें उनसे यह कहा कि वे अपने आपको अंतरस्थ भगवान्के हाथोंमें पूर्ण रूपसे सौंप दें और फिर वे जैसे चलायें वैसे ही चलें; यदि वे ऐसा करेंगे तो उन्हें स्वयं लेलेसे या और किसीसे निर्देश प्राप्त करनेकी आवश्यकता न होगी। तबसे यह श्रीअरविन्दकी साधनाका संपूर्ण आधार और सिद्धांत ही बन गया। उस समयसे (अर्थात् १९०९ के आरंभसे) लेकर और पांडिचेरीमें दीर्घकालीन गुरु गंभीर अनुभवके कालमें भी उनपर बाहरसे कोई आध्यात्मिक प्रभाव नहीं पड़ा।

नवम्बर १९४५

3

*बलिहारी है! सुरेश चक्रवर्तीके लेखके उत्तरमें मेरे पुराने मित्र रामचन्द्र मजुमदारने अपने आपको बधाई दी है कि बुढ़ापेमें भी उनकी स्मरण-शक्ति

*श्रीअरविन्दके शिष्य सुरेशचन्द्र चक्रवर्तीने एक बंगला पत्र "प्रवासी" (वैशाख १३५२ बं० सं०, अप्रैल १९४५के अंक) में श्रीअरविन्दपर एक लेख लिखा था। रामचन्द्र मजुमदारने, जो "कर्मयोगिन्" के संपादकीय विभागमें कार्य करते थे, उस लेखके उत्तरमें एक लेख लिखा। उसमें उन्होंने सुरेश चक्रवर्ती के लेखके कुछ कथनोंका, जो उन्हें अशुद्ध प्रतीत होते थे, खंडन किया। मजुमदारका उत्तर केवल अशुद्धि स्मृतिपर ही आधारित नही था अपितु उसमें सर्वथा कपोलकल्पित वक्तव्योंकी भी भरमार थी। उनके भ्रांत और मनगढ़ंत कथनोंका संशोधन करनेके लिये श्रीअरविन्दने निम्न टिप्पणी लिखायी थी। नलिनीकांतगुप्तने इसका बंगलामें अनुवाद किया था और इसके साथ ही उन्होंने बंगलामें एक लेख भी लिखा था (वह लेख "प्रवासी" और "वर्तिका" में छपा था) जो वस्तुतः इस टिप्पणीका ही भाषांतर था।

इतनी अच्छी है। उनकी स्मरण-शक्ति सचमुच इतनी अच्छी है कि उन्हें न सिर्फ घटी हुई घटनाएं ही याद हैं — बिलकुल गलत ढंगसे — बल्कि जो बातें कभी नहीं हुईं उन्हें भी याद कर-करके वे मूर्त्त रूप दे सकते हैं। उनके किये वर्णनमें बड़ी-बड़ी भूलें इतनी ठूस-ठूसकर भरी हुई हैं और साथ ही उसमें उन्होंने अपनी ओरसे भी इतना नमक-मिर्च लगा दिया है कि उसके द्वारा आधुनिक शैलीसे श्रीअरविन्दकी एक काल्पनिक तथा रसपूर्ण जीवनी लिखनेके लिये भरपूर सामग्री मिल सकती है, परन्तु इसे छोड़कर उसका और कुछ भी मूल्य नहीं। खेदकी बात है कि इस मनोहर फुलवारीको हमें पैरों तले रौंदना पड़ रहा है, किंतु इतिहास तथा जीवन-चरित्र-संबंधी तथ्योंकी भी अपनी मांग है। उक्त वर्णन की कुछ अत्यन्त मारात्मक भूलोंका मैं संशोधन करूँगा।

सर्वप्रथम, सुरेश चक्रवर्तीका चन्दननगर-यात्रा-विषयक लेख केवल अशुद्ध रूपमें निरूपित तथ्योंके खंडन तक ही सीमित था। उसमें इस बातका निराकरण किया गया था कि उक्त यात्राके समय श्रीअरविन्द श्री शारदादेवीसे मिले थे। यह बात अब वास्तवमें स्वीकार कर ली गई है, क्योंकि हम देखते हैं कि इस तथोक्त भेंटकी तिथि बदलकर कुछ दिन पहले की कर दी गई है। मैं यह भी कह दूँ कि सुरेशका किया हुआ तथ्योंका वर्णन श्रीअरविन्दके सम्मुख प्रस्तुत किया गया और उन्होंने बतलाया कि यह पूरे का पूरा तथा प्रत्येक ब्योरे सहित सत्य है।

परन्तु अब एक और कहानी गढ़ी गई है जो भ्रांतियों और मिथ्या बातोंसे भरी हुई है और जो इस बातका अच्छा दृष्टांत है कि कैसे सत्यके स्थानपर झूठी कहानीकी प्रस्थापना की जा सकती है। श्रीअरविन्दने भगिनी निवेदितासे इस विषयमें कभी बात नहीं की कि शमसुल आलमकी हत्याके सिलसिलेमें सरकार उनपर मुकदमा चलाना चाहती है; इसका सीधा सा कारण यह है कि किसी भी व्यक्तिने उन्हें सरकारके ऐसे निश्चय की कभी सूचना नहीं दी। बहन निवेदिताने उन्हें गुप्त वासके लिये निर्देश या परामर्श कभी नहीं दिया। इस विषयकी वास्तविक घटनाका चन्दननगर प्रस्थानसे कुछ भी संबंध नहीं था। वह घटना इस प्रकार है: बहुत पहले एक अवसरपर बहन निवेदिताने श्रीअरविन्दको सूचना दी कि सरकार आपको देशसे निर्वासित करनेकी सोच रही है। तब उन्होंने उन्हें "गुप्तवास करनेके लिये नहीं" बल्कि ब्रिटिश भारतसे बाहर जाकर वहींसे कार्य करनेके लिये परामर्श दिया था; पर श्रीअरविन्दने वह परामर्श स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा, वे एक "खुली चिट्ठी" लिखेंगे जिससे, उनकी समझमें, सरकार अपना विचार छोड़ देगी। वह चिट्ठी "मेरा अंतिम इच्छापत्र" शीर्षकसे 'कर्मयोगिन्' में प्रकाशित हुई। पीछे बहन निवे-

दिताने उन्हें बताया कि उसका परिणाम वही निकला जो वे चाहते थे और उसके बाद तो देश-निर्वासनकी बात कभी उठी ही नहीं।

चन्दननगर जाते समय श्रीअरविन्द बहन निवेदितासे नहीं मिले। यह तो केवल उस कथाका अवशेष है जिसमें कहा गया था कि श्रीअरविन्द बारानगर मठके दर्शनके लिये गये थे और भगिनी निवेदिता उन्हें पहुँचाने घाट तक आई थीं। पर अब इस कथाको छोड़ दिया गया है। असलमें उस समय बहन निवेदिताको उनके चन्दननगर जानेके संबंधमें कुछ भी ज्ञात नहीं था। उनको तो इसका पता केवल तभी चला जब उन्होंने वहांसे उन्हें यह कहला भेजा कि उनके पीछे वे 'कर्मयोगिन्' के संपादनका कार्य संभाल लें। सारी घटना बिलकुल एकाएक ही घटित हुई। स्वयं श्रीअरविन्दने इसका वर्णन इस प्रकार किया है कि एक दिन 'कर्मयोगिन्' के दफ्तरमें बैठे हुए उन्हें यह खबर मिली कि शीघ्र ही यहांकी तलाशी ली जायगी और उन्हें गिरफ्तार कर लिया जायगा। उस स्थितिमें उन्हें सहसा यह आदेश प्राप्त हुआ कि वे चन्दननगर चले जायं और उन्होंने किसीको भी — यहांतक कि अपने सहयोगियों एवं सहकारियोंको भी सूचना दिये बिना या उनसे सलाह किये बिना ही इस आदेशको तुरन्त कार्यान्वित कर डाला। सारी चीज चुपचाप और गुप्त रूपसे हुई, सब मिलाकर शायद १५ मिनटमें। वे राम मजुमदारके पीछे-पीछे घाटतक गये, सुरेश चक्रवर्ती और बीरेन घोष भी कुछ दूरीपर उनके पीछे-पीछे आ रहे थे। आवाज लगाकर एक नौका मंगाई गई और वे तीनों उसमें सवार होकर तुरन्त ही चल दिये। चन्दननगरमें वे एक गुप्त स्थानमें रहने लगे जिसका पता केवल दो-एक आदमियोंको ही था जैसे कि बादमें उनके पांडिचेरी चले जानेकी बात भी बहुत कम लोग ही जानते थे। राम मजुमदारसे किसी गुप्त स्थानके प्रबन्धके लिये श्रीअरविन्दने कभी नहीं कहा; ऐसे किसी प्रबन्धके लिये समय ही कहां था! वे बिना सूचना दिये ही चल पड़े थे। उन्हें विश्वास था कि चन्दननगरके उनके कुछ मित्र उनके ठहरनेका प्रबन्ध कर ही देंगे। मोतीलाल रायने पहले उन्हें अपने घर ठहराया और फिर अन्यान्य स्थानोंमें उनका प्रबन्ध किया, पर दो-एकके सिवा और किसीको कुछ पता नहीं लगने दिया। श्रीअरविन्दके अपने कथनके अनुसार, सारी घटनाका यथार्थ वृतांत यही है।

एक नयी कहानी भी अब सुननेमें आती है जो कि एक और कल्पित गाथा है। वह यह कि देवव्रत बोस और श्रीअरविन्द दोनोंने रामकृष्ण मिशनमें प्रवेशके लिये प्रार्थना की और देवव्रतको तो स्वीकार कर लिया गया पर स्वामी ब्रह्मानंद ने श्रीअरविन्दको प्रवेशकी अनुमति नहीं दी। संन्यास लेने या संन्यासियोंके किसी स्थापित संघमें प्रविष्ट होनेकी बात कभी श्रीअरविन्दके स्वप्नमें भी नहीं

आई। प्रत्येक व्यक्तिको यह भलीभांति विदित होना चाहिये कि संन्यासको उन्होंने अपने योगका अंग कभी नहीं माना। उन्होंने पांडिचेरीमें एक आश्रम स्थापित किया है पर उसके सदस्य संन्यासी नहीं हैं; न वें भगवा पहनते हैं न पूर्ण संन्यास-धर्मका ही अभ्यास करते हैं, वरन् वे अध्यात्म-अनुभवपर प्रतिष्ठित जीवनके योगकी साधना करते हैं। श्रीअरविन्दका सदा यही विचार रहा है और इससे भिन्न कभी नहीं था। जब श्रीअरविन्द नौकामें बैठकर बेलूर मठ देखने गये थे तब उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्दको केवल एक बार देखा था। उस समय लगभग १५ मिनटतक स्वामी ब्रह्मानन्दसे उनकी बातचीत भी हुई थी पर बातचीत-का विषय आध्यात्मिक नहीं था। स्वामीजीके सामने सरकारके एक पत्रका उत्तर देनेकी समस्या उपस्थित थी और उन्होंने श्रीअरविन्दसे सलाह की कि इसका उत्तर देनेकी कोई आवश्यकता है या नहीं। श्रीअरविन्दने कहा, नहीं, और स्वामीजी इसपर सहमत हो गये। मठ देखकर श्रीअरविन्द वापिस चले आये और इसके सिवा और कुछ नहीं हुआ। न इसके पहले और न बादमें ही उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्दसे पत्रालाप किया न किसी और प्रकारसे ही उनके संपर्कमें आये। मठमें प्रवेश या संन्यासके लिये उन्होंने सीधे या और किसीके द्वारा कभी उनसे प्रार्थना नहीं की।

ऐसे इंगित या वक्तव्य भी देखनेमें आये हैं कि श्रीअरविन्दने इस कालके आसपास दीक्षा ग्रहण की या दीक्षा-प्रदानके लिये प्रार्थना की। जो ऐसी दंत-कथाएं फैलाते हैं वे इस बातसे अनभिज्ञ जान पड़ते हैं कि उस समय श्रीअरविन्द आध्यात्मिक नौसिखुए नहीं थे न ही उन्हें किसी व्यक्तिसे किसी प्रकारकी दीक्षा-की या आध्यात्मिक मार्गदर्शनकी आवश्यकता थी। जिन चार महान् अनु-भूतियोंपर उनका योग एवं आध्यात्मिक दर्शन प्रतिष्ठित हैं उनमेंसे दो श्रीअर-विन्द पहलेसे ही पूर्णरूपेण प्राप्त कर चुके थे। पहली उन्हें तब प्राप्त हुई थी जब वे जनवरी १९०८में बड़ौदेमें महाराष्ट्रीय योगी विष्णु भास्कर लेलेके साथ ध्यान कर रहे थे। यह देशकालातीत शांत ब्रह्मकी अनुभूति थी जो समग्र चेतनाको पूर्ण और स्थायी रूपसे निश्चल करनेके अनन्तर उपलब्ध हुई थी। प्रारंभमें इसके साथ-साथ उन्हें इस बातका भी एक प्रबल भान एवं अनुभव हुआ कि यह जगत् पूर्णतया मिथ्या है, यद्यपि दूसरी अनुभूतिके बाद वह भान लुप्त हो गया। वह दूसरी अनुभूति विश्व-चेतना की थी। उन्हें अनुभव हुआ कि सभी प्राणी और जो कुछ भी यहां है वह सब भगवान् ही है। यह घटना अलीपुर जेलकी है और इसकी चर्चा उन्होंने अपने उत्तरपाड़ाके भाषणमें की थी। शेष दो अनुभूतियां ये हैं कि एक परम सद्वस्तु है जिसके निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्म दो पक्ष हैं, और दूसरे, चेतनाके एकसे एक ऊंचे स्तर हैं जो अति-

मानसकी ओर ले जाते हैं। अलीपुर जेलमें ध्यान करते हुए वे इन दोनों अनुभवोंकी ओर बढ़ चले थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने लेलेसे अपनी साधनाका यह सिद्धांत ग्रहण किया था कि उन्हें अपने साधनाभ्यास तथा बाह्य कार्योंके लिये पूर्ण रूपसे भगवान् एवं उनके मार्गनिर्देशपर ही निर्भर करना चाहिये। इसके बाद उनके लिये असंभव था कि वे किसीके पथ-प्रदर्शनमें रहें और उनके लिये अनावश्यक था कि किसीसे सहायता मांगें। सच तो यह है कि श्रीअरविन्दने नियमित रूपसे दीक्षा कभी किसीसे ग्रहण नहीं की; उन्होंने अपनी साधना अपने ही बलपर प्राणायामके अभ्यास द्वारा आरंभ की तथा लेलेको छोड़ और किसीसे सहायता नहीं मांगी।

दो-एक कम महत्त्वपूर्ण बातोंकी चर्चा करना अभी बाकी है जिनसे पता चलेगा कि रामचन्द्रके वर्णनके ब्योरोंपर विश्वास करना कितना असंभव है। स्वयंप्रवृत्त लेखन (automatic writing) के संबन्धमें उनका कथन केवल कल्पित अनुमान है और वास्तवमें सर्वथा निर्मूल है। श्रीअरविन्द इस बातको पूर्ण रूपसे अमान्य बताते हैं कि स्वयंस्फूर्त्त लेखनका प्रयोग वे अपने आसपासके लोगोंकी किसी प्रकारकी नैतिक या अन्यविध उन्नतिके लिये करते थे; इसका अर्थ तो यह होगा कि वह एक कृत्रिम वस्तु एवं एक प्रकारकी चातुरी थी। क्योंकि ऐसा कोई भी लेख, जो लेखकके सचेतन मनके द्वारा लिखाया जाता है या वहां प्रेरित होता है, स्वयंप्रवृत्त नहीं कहा जा सकता। इस प्रकारका लेखन वे केवल परीक्षण एवं मनोरंजनके रूपमें ही करते थे और किसी हेतुसे नहीं। यहां मैं उन अवस्थाओंका निर्देश कर दूँ जिनमें पहली बार ऐसा प्रयोग किया गया। बारीनने बड़ौदेमें एक अत्यन्त असाधारण कोटिका स्वयंस्फूर्त्त लेख लिखा था जो अतीव उज्ज्वल और कमनीय अंग्रेजी शैलीमें था और उसमें कुछ ऐसी मार्केकी भविष्यवाणियां थीं जो पीछे सत्य सिद्ध हुईं, साथ ही उसमें उसी प्रकारके कुछ तथ्य-विवरण भी थे और वे भी सच्चे प्रमाणित हुए, यद्यपि उनका न तो उन व्यक्तियोंको पता था जिनसे वे संबंधित थे और न किसी अन्यको जो वहां उपस्थित था। उनमेंसे दो विशेष उल्लेखनीय हैं, एक तो लार्ड कर्जनके भारतसे सहसा प्रस्थानकी सांकेतिक भविष्यवाणी; दूसरे, राष्ट्रीय आन्दोलनका प्रथम दमन तथा उस उपप्लवके बीच तिलककी गौरवपूर्ण स्थिति। यह दूसरी भविष्योक्ति स्वयं तिलककी उपस्थितिमें की गई थी जब कि वे बड़ौदेमें श्रीअरविन्दसे मिले थे और उस लेखन-कार्यके समय संयोगवश ही वहां प्रथम प्रविष्ट हुए थे। श्रीअरविन्द इससे प्रभावित हुए और उनके अन्दर कुतूहल पैदा हुआ और उन्होंने इस प्रकारके लेखनका स्वयं अभ्यास करके इसका मूल रहस्य जाननेका निश्चय किया। कलकत्तेमें वे यही अभ्यास कर रहे थे। परन्तु इसके

परिणामोंसे उन्हें संतोष नहीं हुआ और पांडिचेरीमें कुछ बार और प्रयत्न करके उन्होंने इन परीक्षणोंको सर्वथा त्याग दिया। उनके प्रयत्नोंको जितना अधिक महत्त्व रामचन्द्रने दिया प्रतीत होता है, उतना उन्होंने स्वयं नहीं दिया, क्योंकि उनमें एक भी वैसी विशेष बात नहीं थी जैसी बारीनके लेखोंमें हुआ करती थी। अन्तमें वे इस निष्कर्षपर पहुँचे कि ऐसे लेखोंमेंसे अधिकांश अवचेतन मनके उस भागकी उपज होते हैं जो ऐसी वस्तुओंको नाटकीय रूप दे देता है और यद्यपि कभी-कभी ऐसी क्रियाएं भी देखनेमें आती हैं जो किसी अन्य स्तरकी सत्ताओंके हस्तक्षेपकी ओर इंगित करती हैं, पर वे सत्ताएं सदा या बहुधा उच्च श्रेणीकी नहीं होतीं। कभी-कभी आंतर सत्ताका कोई उज्ज्वल तार भी झंकृत हो उठता है और तब भावी घटनाओंकी भविष्यवाणियां तथा वर्तमान एवं भूतकालकी ज्ञात वस्तुओंके वर्णन स्फुरित होते हैं, पर, अन्यथा इन लेखोंका कोई अधिक मूल्य नहीं होता। मैं इतना और कह दूँ कि रामचन्द्रके दिये हुए ब्योरे अशुद्ध हैं और थेरेसा (Theresa) नामकी कोई प्रेरयित्री नहीं थी, सच पूछिये तो प्रेरयिता कोई था ही नहीं, यद्यपि थेरामिनिस (Theraminas) नामसे अपना परिचय देनेवाली कोई सत्ता यदा-कदा प्रकट होती थी। ये लेख अव्यवस्थित रूपमें आया करते थे और उनमें किसी ऐसे 'सहायक आत्मा' का हाथ न होता था जैसे आत्माकी सहायताका दावा कुछ 'माध्यम' किया करते हैं।

एक इससे छोटीपर अधिक विस्मयजनक गाथा भी है जिसमें श्रीअरविन्द को तमिलका कवि बताया गया है — और सो भी मानो कुछ ही दिन पढ़कर। तमिलमें कविता लिखनेकी बात तो दूर रही, उन्होंने कभी गद्य-रूपमें भी तमिलका एक वाक्य नहीं लिखा और न तमिल भाषामें एक भी वाक्य कभी मुँहसे निकाला। हां, कुछ दिन उन्होंने मालाबारके एक नायरसे एक तमिल समाचारपत्रके कई लेख अवश्य सुने थे। नायर महोदय उन्हें लेख पढ़कर सुनाते और समझाते जाते थे। यह बंगाल छोड़नेसे कुछ दिन पहले की बात है। पांडिचेरीमें उन्होंने तमिलका अध्ययन शुरू किया, पर कोई विशेष प्रगति नहीं की और फिर, पूर्ण एकांतवास ले लेनेके कारण, अध्ययनका वह क्रम भी टूट गया।

राजा बननेके बारेमें श्रीअरविन्दके प्रश्नपर

रामचन्द्रका सारा वर्णन प्रमादपूर्ण अशुद्धियों तथा मिथ्या विवरणोंसे ठसाठस भरा हुआ है। श्रीश गोस्वामीने एक पत्रमें संकेत किया है कि श्रीअरविन्दके

फलित ज्योतिष-विषयक जिन लेखोंकी रामचन्द्रने चर्चा की है वे केवल कुछ प्राथमिक टिप्पणियां थीं और उनका कुछ भी महत्त्व नहीं। फलित-ज्योतिषका तथ्य जाननेके लिये जब वे इस विषयका अध्ययन कर रहे थे तब याददाश्तके लिये उन्होंने बड़ौदेमें उन टिप्पणियोंको तैयार किया था। एक फलित ज्योतिषी या ज्योतिष-शास्त्रके लेखकके रूपमें प्रसिद्धि पानेका विचार उनके मनमें कभी नहीं आया। वे टिप्पणियां पुस्तक-रूपमें नहीं संकलित की गई थीं और न आर्य पब्लिशिंग हाउससे इस विषयपर श्रीअरविन्दकी कोई पुस्तक ही प्रकाशित हुई।

यह सत्य नहीं है कि श्रीअरविन्दकी पत्नी मृणालिनी देवी कालिज स्क्वेयर-में श्री के० के० मित्रके घर रहती थीं। हां, अलीपुरके मामले तथा फ्रेंच भारत-में जानेके बीचके समयमें स्वयं श्रीअरविन्द वहां रहा करते थे। परन्तु मृणा-लिनी सदा बंगवासी कालिजके प्रिंसिपल गिरीश वसुके परिवारके साथ रहीं। श्रीअरविन्दके कथनका हवाला देकर जो यह बात कही जाती है कि 'वे एक ऐसे व्यक्ति हैं जो मानवताकी ओर आरोहण कर रहे हैं' इसका अर्थ समझनेमें हम तबतक असमर्थ हैं जबतक हम यह न मान लें कि वे केवल एक पशुस्तरीय मनुष्य हैं और विचारशील प्राणीके स्तरकी ओर आरोहण कर रहे हैं। निःसंदेह श्रीअरविन्दने निरर्थक और शब्दाडंबरयुक्त ऐसा चुटकुला कभी नहीं बनाया। यदि यह कहा जाता कि वे दिव्य मानवताकी ओर आरोहण कर रहे हैं तब तो इसका कुछ अर्थ हो सकता था, परन्तु यह सारी बात ही श्रीअरविन्दकी शैलीसे एकदम भिन्न है। सच पूछिये तो रामचन्द्रने श्रीअरविन्दके मुखसे जो-जो बातें कहलवायी हैं वे सब श्रीअरविन्दके बोलनेके ढंगसे सर्वथा विपरीत है। उदाहरणार्थ, उसने कहा है कि चन्दननगर जाते समय श्रीअरविन्दने शेक्सपीयर और पोलो-नियसकी-सी शैलीमें उससे एक अनुरोध किया। उन्होंने रामचन्द्रको मौन रहने-का आदेश दिया होगा पर वैसी आलंकारिक भाषामें नहीं।

इतना ही काफी होगा; सभी अशुद्धियों एवं कल्पनाओंकी चर्चा करना आवश्यक नहीं। परन्तु मैंने इतना बतला दिया है जिससे श्रीअरविन्दके बारेमें सचाई जाननेवालेको यह पता चल जायगा कि उसके लिये यह अच्छा होगा कि वह रामचन्द्रके कथानकपर जरा भी विश्वास न करे। गेटेके शब्दोंमें इसे "काव्यात्मक कल्पनाएं और सत्य" कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें सत्यका अंश अल्प और काव्य-कल्पनाका अत्यधिक है। यह बात फाल्स्टाफके सरायके बिलके समान है जिसमें रोटीका दाम बहुत कम और शराबका दाम बहुत अधिक होता था। यहां, सच पूछा जाय तो, प्रायः संपूर्ण शराब ही है।

4

*मुझे कहना पड़ेगा कि 'क्ष' को जो विवरण दिया गया है और जो उसकी पुस्तकके ३१७ से ३२४ पृष्ठोंपर दिया गया है वह एक निराधार कहानी और कपोल-कल्पनामात्र है जो वास्तविक घटनाओंपर आधारित नहीं है। अलीपुरमें अपने कारावासके प्रारम्भिक दिन मैंने एक काल-कोठरीमें बिताये और फिर नरेन गोसाईंकी हत्याके बादसे मामलेके अन्तिम दिनोंतक, जब कि अलीपुर मामलेके सभी कैदियोंको पृथक्-पृथक् कोठरियोंमें बन्द कर दिया गया था, मैं अपनी अलग कोठरीमें ही रहा। बीचमें थोड़े समयके लिये हम सबको एक साथ भी रखा गया था। इस वक्तव्यके मूलमें कुछ भी सत्य नहीं है कि जब मैं ध्यान किया करता था तब शेष सब लोग मेरे चारों ओर एकत्र हो जाते थे, मैं उनके सामने गीताका पाठ करता और वे भी गीताके श्लोक गाया करते। अथवा वे आध्यात्मिक विषयोंपर मुझसे प्रश्न पूछते और निर्देश प्राप्त करते थे; यह सारा वर्णन सर्वथा काल्पनिक है। केवल कुछ ही बंदी ऐसे थे जिन्हें मैं जेलमें मिलनेसे पहले भी जानता था। केवल थोड़ेसे लोगोंने ही, जो बारीनके साथ रह चुके थे, साधना की थी और उनका संबंध बारीनसे था, तथा वे किसी भी प्रकारकी सहायता प्राप्त करनेके लिये मेरे पास नहीं, बल्कि उनके पास ही पहुँचते थे। इन दिनों मैं अपनी योग-साधना कर रहा था, अत्यधिक हो-हल्ला और कोलाहलके बीच भी मैं अकेला मौन भावसे साधना करनेका अभ्यास कर रहा था और दूसरा कोई भी उसमें किसी प्रकारका भाग नहीं लेता था। मैंने योगाभ्यास १९०४में आरंभ किया था पर वह अलग-अलग और वैयक्तिक था। मेरे आसपास रहनेवाले लोग बस इतना ही जानते थे कि मैं एक साधक हूँ, किंतु इससे अधिक उन्हें कुछ भी पता नहीं था, क्योंकि मेरे अन्दर जो भी क्रियाएं होती थीं उन्हें मैं अपनेतक ही रखता। जेलसे बाहर आनेके बाद ही मैंने पहली बार उत्तरपाड़ामें जनताके सामने अपने आध्यात्मिक अनुभवोंकी चर्चा की। पांडिचेरी जानेसे पहलेतक मैंने किसीको शिष्य-रूपमें स्वीकार नहीं किया; जो मेरे साथ पांडिचेरी गये या वहां आकर मेरे साथ रहने लगे उनके साथ

*भारतकी आध्यात्मिकतामें रुचि रखनेवाली एक फ्रेंच महिलाने बहन निवेदिताके जीवनपर फ्रेंच में 'भारतकी पुत्री — निवेदिता' (Nivedita, fille de l'Inde) नामसे एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उसने श्रीअरविन्द तथा बहन निवेदिताके साथ उनके सम्बन्धके बारेमें कुछ बातें लिखी हैं। श्रीअरविन्दके एक फ्रांसीसी शिष्यने इन बातोंकी ओर उनका ध्यान खींचा और उसे इस सम्बन्धमें निम्न उत्तर मिला।

प्रारम्भमें मेरा संबंध गुरु-शिष्यकी अपेक्षा कहीं अधिक मित्रों एवं साथियोंका था। उनसे मेरा प्रथम परिचय भी आध्यात्मिक क्षेत्रमें नहीं वरन् राजनीतिक क्षेत्रमें ही हुआ था। आगे जाकर ही, जब माताजी जापानसे वापस आईं और आश्रमकी स्थापना सन् १९२६में की गई अथवा यों कहें कि वह स्वयमेव हो गई, तब आध्यात्मिक संबंधोंका शनैः-शनैः विकास होने लगा। मैंने १९०४ में बिना किसी गुरुके योग आरंभ किया; १९०८में मुझे एक महाराष्ट्रीय योगीसे महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त हुई और मैंने अपनी साधनाका आधार पा लिया। परन्तु तबसे लेकर माताजीके भारत आनेतक मुझे और किसीसे किसी प्रकारकी आध्यात्मिक सहायता प्राप्त नहीं हुई। उसके पूर्व और अनन्तर भी मेरी साधना किन्हीं पुस्तकोंपर नहीं बल्कि उन व्यक्तिगत अनुभवोंपर आधारित रही जो मेरे अन्तरसे उमड़े पड़ते थे। परन्तु जेलमें गीता और उपनिषदें मेरे संग थीं, मैं गीताके योगका अभ्यास करता और उपनिषदोंकी सहायतासे ध्यान-चिंतन करता। जिन पुस्तकोंसे मुझे मार्गदर्शन मिला वे केवल यही थीं। वेदोंने तो, जिन्हें मैंने बहुत पीछे पांडिचेरीमें पहले-पहल पढ़ना शुरू किया, मेरी साधनाका मार्ग-निर्देश करनेकी अपेक्षा मेरे पूर्व-प्राप्त अनुभवोंको ही पुष्ट किया। कभी-कभी, जब कोई प्रश्न या कठिनाई उपस्थित होती मैं प्रकाशके लिये गीताकी शरण लेता और प्रायः ही मुझे उससे साहाय्य या उत्तर प्राप्त होता। किंतु गीताके संबंधमें जैसी घटनाएं उक्त पुस्तकमें वर्णित हैं वैसी कोई भी घटना कभी नहीं हुई। यह सत्य है कि जेलमें अपने एकांत ध्यानके समय मुझे एक पखवाड़ेतक प्रतिदिन मुझसे बातें करते हुए विवेकानन्दकी वाणी सुनाई देती रही और साथ ही उनकी उपस्थितिका भी अनुभव होता रहा। परन्तु उक्त पुस्तकमें जिन तथाकथित घटनाओंका वर्णन है, जो कभी हुई ही नहीं,—उनके साथ इसका कुछ संबंध नहीं था और न गीतासे ही इसका कुछ सरोकार था। वह वाणी आध्यात्मिक अनुभवके एक विशिष्ट एवं सीमित पर अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण विषयपर ही बोली और उस विषयपर उसे जो कुछ कहना था उसके समाप्त होते ही वह बन्द हो गयी।

अब बहन निवेदिताके साथ मेरे संबंधके विषयमें — यह संबंध केवल राजनीतिक क्षेत्रमें था। आध्यात्मिकता या आध्यात्मिक विषय इसमें प्रविष्ट नहीं हुए थे और मुझे स्मरण नहीं कि जब मैं उनके साथ था तब हममें इन विषयोंपर कोई बातचीत हुई हो। एकाध बार उन्होंने अपना आध्यात्मिक स्वरूप अवश्य प्रकट किया परन्तु तब वह किसी और व्यक्तिसे, जो उनसे मिलने आया था, बात कर रही थीं और मैं भी वहां उपस्थित था। उनके साथ मेरे २४ घंटे रहनेकी बात और उस समय हमारे बीच जो तथाकथित बातचीत हुई

उसका सारा वर्णन केवल एक अद्भुत कहानी है जिसमें लेशमात्र भी सत्य नहीं है। वहन निवेदितासे पहली बार मैं बड़ौदेमें मिला जब वे वहां कुछ व्याख्यान देने आयी थीं। उनके स्वागतार्थ मैं स्टेशनपर गया था और फिर उनके लिये नियत गृहमें उन्हें पहुँचानेतक उनके साथ रहा। बड़ौदेके महाराजके साथ उन्होंने जो भेंट की थी उसमें भी मैं उनके साथ गया था। उन्होंने मेरे वारेमें सुन रखा था कि मैं "शक्तिमें विश्वास रखनेवाला तथा कालीका उपासक हूं" जिससे उनका अभिप्राय यह था कि उन्होंने मेरे क्रांतिकारी होनेकी बात सुन रखी थी। मैं उन्हें पहलेसे ही जानता था, क्योंकि मैंने उनकी पुस्तक "काली माता" पढ़ रखी थी और उसका प्रशंसक भी था। हमारी मैत्री इन्हीं दिनों स्थापित हुई। बंगालमें अपने कुछ गुप्तचरों द्वारा अपना क्रांतिकार्य आरंभ करनेके बाद मैं सब कार्यकी देख-रेख और व्यवस्था करनेके लिये स्वयं वहां गया। मैंने देखा कि वहां कई छोटे-छोटे क्रांतिकारी दल हैं जिनका हाल ही मे जन्म हुआ है, किंतु वे सभी बिखरे हुए हैं और एक दूसरेसे अलग रहकर कार्य कर रहे हैं। बंगालमें बारिस्टर पी० मित्रको क्रांतिका नायक नियुक्त करके तथा पांच व्यक्तियोंकी, जिनमें एक निवेदिता भी थीं, एक केंद्रीय समिति बनाकर मैंने उन सब दलोंको एक ही संगठनमें संयुक्त करनेका यत्न किया। पी० मित्रके नेतृत्वमें कार्यका खूब प्रसार हुआ और अन्तमें तो इसमें सम्मिलित होनेवालोंकी संख्या सहस्रोंतक पहुँच गई तथा बारीनके पत्र 'युगांतर' ने क्रांतिकी जो भावना प्रसारित की वह नई पीढ़ीमें व्यापक रूपसे फैल गई। परन्तु मेरे बड़ौदे चले जानेपर उक्त समिति भंग हो गई, क्योंकि उसके बाद नाना दलोंमें मेल-मिलाप बनाये रखना असंभव हो गया। उसके बाद जबतक मैं नेशनल कालिजके प्रिंसिपल तथा 'वन्दे मातरम' के मुख्य सम्पादकीय लेखकके रूपमें स्थिर रूपसे बंगालमें ही नहीं रहने लगा तबतक निवेदितासे मिलनेका मुझे कोई मौका नहीं मिला। इस समयतक मैं सार्वजनिक आन्दोलनका,—जो पहले चरम पंथ और फिर राष्ट्रवादका आन्दोलन कहलाता था,—नेता बन चुका था। किन्तु इससे मुझे, कांग्रेसके दो-एक अधिवेशनोंको छोड़कर और कभी, उनसे मिलनेका अवसर नहीं प्राप्त हुआ, क्योंकि मैं केवल गुप्त क्रांति-क्षेत्रमें ही उनका सहयोगी था। मैं अपने कार्यमें व्यस्त था और वे अपनेमें, और क्रांति-आंदोलनके संचालनके विषयमें परामर्श या निर्णय करनेका कभी कोई अवसर ही उपस्थित नहीं हुआ। कालान्तरमें मैं कभी कभी बागबाजार जाकर उनसे मिलनेके लिये समय निकालने लगा।

इन दिनोंकी भेंटोंमें एक बार उन्होंने मुझे सूचना दी कि सरकार मुझे देशसे निर्वासित करनेका निश्चय कर चुकी है। वे चाहती थीं कि मैं किसी

गुप्त स्थानमें अथवा ब्रिटिश भारतसे बाहर चला जाऊँ और वहींसे कार्य करूँ जिससे कि मेरे कार्यमें बाधा न पड़े। उस समय उनपर किसी प्रकारके संकटका कोई प्रश्न ही नहीं था। अपने राजनीतिक विचारोंके होते हुए भी, बड़े-बड़े सरकारी अफसरोंसे उनकी मित्रता थी और इसलिये उनकी गिरफ्तारीका तो कोई सवाल ही नहीं था। अपने बारेमें मैंने उन्हें उत्तर दिया कि उनके प्रस्तावके अनुसार कार्य करना मैं आवश्यक नहीं समझता; हां, मैं 'कर्मयोगिन्' में एक खुली चिट्ठी लिखूंगा जिसके परिणामस्वरूप, मेरी समझमें, सरकार इस कार्रवाईका विचार छोड़ देगी। मैंने यही किया और अगली बार जब मैं उनसे मिलने गया तो उन्होंने मुझे बताया कि मेरी युक्ति पूर्ण रूपसे सफल हुई है और सरकारने देश-निर्वासनका विचार त्याग दिया है। चन्दननगर-प्रस्थानकी घटना तो इसके काफी बादकी है और इन दोनों घटनाओंमें कुछ भी संबंध नहीं था। तथापि उक्त पुस्तकमें इनका वर्णन करते हुए इन्हें एक दूसरेके साथ बुरी तरहसे उलझा दिया गया है। वहां जिन घटनाओंका वर्णन किया गया है, वे वास्तवमें सब निराधार हैं। शीघ्र ही होनेवाली तलाशी और गिरफ्तारीकी सूचना मुझे गणेंद्र महाराजने नहीं, वरन् 'कर्मयोगिन्' के एक युवक कार्यकर्त्ता रामचन्द्र मजुमदारने दी थी जिसके पिताको चेतावनी दी गई थी कि एक-दो दिनमें 'कर्मयोगिन्' के कार्यालयकी तलाशी ली जायगी और मुझे पकड़ लिया जायगा। इस विषयमें कितनी ही किंवदन्तियां फैली हुई हैं। किसीने तो यहांतक खबर उड़ा दी थी कि हाईकोर्टमें खुफिया विभागके एक प्रमुख कर्मचारी शमसुल आलमकी हत्यामें भाग लेनेके अपराधमें मुझपर मुकदमा चलाया जानेवाला था, और बहन निवेदिताने मुझे बुलवाकर इसकी सूचना दी, हम दोनोंने इस विषयपर विचार-विमर्श किया कि ऐसी दशामें क्या करना चाहिये, और परिणामत: मैं अन्तर्धान हो गया। किसी ऐसे प्रस्तावित अभियोगकी भनक मेरे कानोंमें कभी नहीं पड़ी और न इस प्रकारका कोई विचार-विनिमय ही हुआ। जिस मुकदमेको चलानेका सरकारने निश्चय किया था और जो बादमें चलाया भी गया वह तो राजद्रोहके अपराधमें था। भगिनी निवेदिताको इन नई घटनाओंका तबतक कुछ भी पता नहीं था जबतक मैं चन्दननगर नहीं गया। न मैं उनके घर गया न उनसे मिला ही। यह बात सर्वथा मिथ्या है कि वे और गणेन्द्र महाराज मुझे घाटपर विदा देने आये थे। उन्हें सूचना देनेका समय ही कहां था; क्योंकि प्राय: जैसे ही मुझे चन्दननगर जानेके लिये ऊपरसे आदेश प्राप्त हुआ कि झटपट लगभग दस मिनटके अन्दर मैं घाटपर जा पहुँचा; एक नौका बुलाई गई और दो युवकोंके साथ मैं चन्दननगरके लिये चल पड़ा। वह गंगाकी एक साधारण नाव थी जिसे दो मल्लाह चला

रहे थे। फ्रेंच नौका तथा उसकी आंखोंसे ओझल होती हुई रोशनीका जो चित्रमय विवरण दिया गया है वह केवल भावुकतामात्र है। निवेदिताको सूचना देनेके लिये मैंने अपने कार्यालयसे एक व्यक्तिको भेजा और उसके द्वारा कहला भेजा कि मेरी अनुपस्थितिमें वे 'कर्मयोगिन्' के संपादनका कार्य अपने हाथमें ले लें। उन्होंने स्वीकार कर लिया और वास्तवमें उस समयसे लेकर पत्रके जीवनके अन्तिम दिनतक उसका संचालन पूर्ण रूपसे उन्हींके हाथमें रहा। मैं अपनी साधनामें निमग्न हो गया; न मैंने कोई लेख भेजा न ही मेरे हस्ताक्षरों-सहित कोई लेख निकले। 'कर्मयोगिन्' में दो लेखोंके सिवा और किसी पर मेरे हस्ताक्षर कभी नहीं छपे। उन दोमेंसे पिछलेको ही मुकदमेका विषय बनाया गया पर मुकदमा सफल नहीं हुआ। यह बात ठीक नहीं है कि चन्दननगरमें निवेदिताके चुने हुए स्थानपर मेरे रहनेकी व्यवस्था की गई। किसीको अपने आनेकी सूचना दिये विना ही मैं वहां चला गया और वहां पहुँचनेपर मोतीलाल रायने मेरा स्वागत किया। मेरे लिये गुप्त स्थानकी सब व्यवस्था भी उन्होंने की। उन्हें तथा कुछ मित्रोंको छोड़कर किसीको मेरे निवास-स्थानका पता नहीं था। गिरफ्तारीका वारण्ट रोक लिया गया, किंतु लगभग एक मासके पश्चात् मैंने पुलिसको खुली कार्रवाईके लिये उकसानेकी एक युक्ति बरती। फलतः, वारण्ट फिर जारी हुआ और मेरी अनुपस्थितिमें मुद्रकपर अभियोग चला, पर अन्तमें हाईकोर्टने उन्हें मुक्त कर दिया। मैं तो पहले ही पांडिचेरीके लिये चल चुका था जहां मैं ४ अप्रैलको पहुँचा। वहां भी मैं मुकदमा खारिज होनेतक एक प्रसिद्ध नागरिकके घर गुप्त रूपसे वास करता रहा। पीछे मैंने अपने फ्रेंच भारतमें होनेकी बात घोषित कर दी। प्रधान तथ्य बस यही हैं और इनके सामने उन तथाकथित घटनाओंके लिये, जिनका उक्त पुस्तकमें वर्णन किया गया है, कोई स्थान नहीं रह जाता। बहुत अच्छा होगा कि तुम मेरे सत्य घटना-संबंधी इस विवरणको 'क्ष' के पास भेज दो जिससे वह आगामी संस्करणमें आवश्यक काट-छांट कर सके और उसमें से इन अशुद्ध बातोंको निकाल दे। अन्यथा उसकी लिखी हुई निवेदिताकी जीवनीका महत्त्व बहुत ही कम हो जायगा।

१३-९-१९४६

विभाग दो

योगसाधनाका प्रारम्भ

योग साधनाका प्रारम्भ

एक प्रारम्भिक अनुभव

प्र०— क्ष व्यक्ति कहता है, कहींपर ऐसा लिखा है कि १८९०में आपको एक अनुभूति हुई थी। क्या यह सत्य है ?

उ०— १८९० में अनुभूति ? यह बात संभव नहीं दीखती। हां, जिस वर्ष इंग्लैण्डसे मैंने प्रस्थान किया उस वर्ष कुछ अनुभूति अवश्य हुई थी, यद्यपि तवतक मैंने योग आरम्भ नहीं किया था, न उसके विषयमें कुछ जानता ही था। याद नहीं वह कौन-सा वर्ष था, पर संभवतः १८९२-९३ रहा होगा। १८९० की कोई विशेष बात याद नहीं पड़ती। उसने यह कहां लिखा देखा है ?

२२-८-१९३६

आध्यात्मिक शक्यताकी झांकियां

प्र०— क्या यह ठीक है कि जिन्हें साधना आरम्भ करनेसे पूर्व भगवत्कृपा द्वारा प्राप्त एक सुनिश्चित झांकीके द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्यताका स्पष्ट ज्ञान हो चुका हो केवल वे ही अपने पथपर अन्त तक डटे रहनेमें समर्थ होते हैं, और जिन्हें ऐसी कोई झांकी प्राप्त नहीं हुई होती वे कोई अनुभव भले ही प्राप्त कर लें पर साधना-पथपर दृढ़ रहनेमें समर्थ नहीं होंगे ?

उ०— कम-से-कम मुझे तो योग आरम्भ करनेसे पूर्व ऐसी कोई भी झांकी प्राप्त नहीं हुई थी। दूसरोंके बारेमें मैं नहीं कह सकता — शायद कइयोंको यह प्राप्त हुई हो — परन्तु झांकी केवल श्रद्धा ही उत्पन्न कर सकती है, संभवतः ज्ञानको लाना उसके बस की बात नहीं है; ज्ञान तो योग करनेसे ही प्राप्त होता है, उससे पूर्व नहीं।

मैं फिर दुहरा दूं कि सिर्फ इतना ही जाननेकी जरूरत है कि व्यक्तिकी अन्तरात्मा योगकी ओर प्रेरित हो चुकी है या नहीं।

५-५-१९३३

* * *

क्या तुम यह समझते हो कि बुद्ध या कन्फ्यूशस या स्वयं मैं इस पूर्वदृष्टिको लेकर जन्मा था कि वे या मैं आध्यात्मिक जीवन अपनाऊँगा? जब तक मनुष्य साधारण चेतनामें होता है, वह साधारण जीवन बिताता है। जब जागृति और नयी चेतना आती हैं तो वह उसे छोड़ देता है — इसमें चकरानेवाली बात कोई भी नहीं।

२७-४-१९३६

*

एकमात्र सारभूत वस्तु

मुझे मालूम नहीं 'क' ने क्या कहा अथवा किस लेखमें कहा, वह लेख मेरे पास नहीं है। किंतु, उसका कहना अगर यह है कि कोई भी व्यक्ति तबतक सफलतापूर्वक ध्यान नहीं कर सकता, कोई अनुभूति नहीं प्राप्त कर सकता जब तक कि वह पवित्र और पूर्ण न हो जाय तो मैं इसे समझनेमें असमर्थ हूँ: यह मेरे अपने अनुभवके विरुद्ध है। मुझे सदा ही ध्यान द्वारा अनुभूति पहले प्राप्त हुई और शुद्धि बादमें उसके परिणामस्वरूप शुरू हुई। मैंने बहुतोंको ध्यानके द्वारा महत्वपूर्ण, यहांतक कि मूलभूत अनुभव प्राप्त करते देखा है, पर उनके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता कि उनका आंतरिक विकास बहुत हो चुका है। क्या वे सभी योगी, जिन्होंने सफल रूपमें ध्यान किया और अपनी अंतश्चेतनामें महान् अनुभव प्राप्त किये, अपनी प्रकृतिमें पूर्ण थे? मुझे तो ऐसा नहीं लगता। इस क्षेत्रके पूर्ण-सार्वभौम सिद्धांतोंपर मैं विश्वास नहीं कर सकता। कारण, अध्यात्म-चेतनाका विकास अतीव विशाल एवं जटिल कार्य है जिसमें सब प्रकारकी चीजें घटित हो सकती हैं और यहां यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्यके लिये यह विकास उसकी प्रकृतिके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है और एकमात्र आवश्यक वस्तु है — आन्तरिक पुकार, अभीप्सा तथा इसकी सिद्धिके लिये निरन्तर प्रयास करते रहना। इसकी परवाह नहीं कि इसमें कितना समय लगता है तथा क्या-क्या कठिनाइयां या बाधाएं इसके मार्गमें आती हैं, क्योंकि और किसी चीजसे हमारे अन्दरकी अन्तरात्मा संतुष्ट नहीं हो सकती।

*

यदि आरम्भसे ही पूर्ण, समर्पण, श्रद्धा इत्यादिका होना योगके लिये अनिवार्य

होता तो इसे कोई भी न कर पाता। यदि मुझसे ऐसी अवस्थाकी मांग की गयी होती तो मैं भी योग न कर पाया होता.........।

८-३-१९३५

सर्वप्रथम ठोस अनुभव

अधिक गंभीर एवं आध्यात्मिक अर्थमें ठोस अनुभव वह है जो अनुभूत वस्तुको हमारी चेतनाके सामने किसी स्थूल पदार्थकी अपेक्षा कहीं अधिक सत्य, सजीव और घनिष्ठ रूपमें उपस्थित करता है। सगुण भगवान् या निर्गुण ब्रह्म अथवा आत्माका ऐसा अनुभव साधारणतया साधनाके प्रारम्भमें या शुरूके वर्षोंमें किंवा अनेक वर्षोंतक भी नहीं प्राप्त होता। इतना शीघ्र ऐसा अनुभव विरलों-को ही प्राप्त होता है; मुझे ऐसा अनुभव लन्दनमें प्राप्त प्रथम पूर्व-यौगिक अनुभवके पन्द्रह वर्ष बाद तथा योग आरम्भ करनेके पांचवे वर्षमें उपलब्ध हुआ। इसे मैं असाधारण रूपसे तीव्र, लगभग एक्सप्रेस ट्रेनकी-सी गति समझता हूँ, यद्यपि कुछ लोगोंको, निस्सन्देह, इससे भी जल्दी उपलब्धियां हुई होंगी। परंतु इसकी इतनी शीघ्र आशा एवं मांग करना किसी अनुभवी योगी या साधककी दृष्टिमें एक अविवेकपूर्ण एवं असामान्य अधीरताका ही सूचक समझा जायगा। अधिकतर योगी यही कहेंगे कि प्रारंभिक वर्षोंमें साधक अधिक-से-अधिक एक मन्द विकासकी ही आशा कर सकता है और सुनिश्चित अनुभव तो केवल तभी प्राप्त हो सकता है जब प्रकृति तैयार हो जाय और पूर्ण रूपसे भगवान्-की ओर एकाग्र हो जाय।

जून, १९३४

भगवत्कृपा द्वारा अनुभूतिका प्रवाह

और हां, यह क्या कहानी है कि ऊपरसे कुछ प्राप्ति होनेसे पहले मैं बरसों चार-चार, पांच-पांच घण्टे रोज एकाग्रताका अभ्यास किया करता था? यदि एकाग्रतासे तुम्हारा मतलब परिश्रम करके ध्यान करना हो तो ऐसी कोई चीज तो कभी नहीं हुई। जो मैंने किया वह था चार-पांच घण्टे रोजका प्राणायाम और यह तो चीज ही कुछ और है। और, तुम किस प्रवाहकी बात कहते हो? काव्यधारा तो उन्हीं दिनों उतरी थी जिन दिनों मैं प्राणायाम किया करता था — उसके कुछ वर्षोंके बाद नहीं। अगर अनुभूतियोंके प्रवाहकी बात है तो वह कुछ वर्षोंके बाद आया था; लेकिन तब मुझे प्राणायाम छोड़े काफी

समय हो चुका था, मैं कोई भी प्रयत्न नहीं कर रहा था और न मुझे यह मालूम ही था कि अपने सारे प्रयत्नोंके असफल हो जानेके बाद अब मैं कौन-सी राह पकड़ूं और यह प्रवाह जब शुरू हुआ तो बरसोंके प्राणायाम या ध्यानके परिणामस्वरूप नहीं बल्कि मानों चुटकियोंमें, या तो एक सामयिक गुरुकी कृपासे (लेकिन वह गुरु-कृपा न थी, क्योंकि वे स्वयं ही इसे देखकर दंग रह गये थे) या पहले तो शाश्वत ब्रह्मकी कृपासे और फिर महाकाली और श्रीकृष्णकी करुणासे। अतएव, मुझे भगवान्‌के विरुद्ध किसी तर्कमें घसीटनेका प्रयत्न मत करो, वह बिलकुल बेकार होगा।

२२-१-१९३६

*

जो कुछ मैं लिखूँ उसका यदि तुम जान-बूझकर गलत अर्थ लगाओ तो कुछ भी कहनेका लाभ ही क्या? मैंने स्पष्ट रूपसे कहा था कि प्राणायामसे मुझे किसी प्रकारके आध्यात्मिक साक्षात्कारकी जरा-सी झांकी भी तो नहीं प्राप्त हुई। मैंने प्राणायाम करना बहुत पहले ही बन्द कर दिया था। ब्रह्मकी अनुभूति तब प्राप्त हुई जब मैं उसके लिये रास्ता टटोल रहा था, किसी प्रकारकी भी साधना नहीं कर रहा था, जरा भी प्रयत्न नहीं कर रहा था क्योंकि मुझे पता ही नहीं था कि क्या यत्न करूँ, पहलेके सारे प्रयत्न तो विफल ही हो चुके थे। तब तीन दिनोंमें ही मुझे एक अनुभव प्राप्त हुआ जिसे बहुतेरे योगी सुदीर्घ योगाभ्यासके अन्तमें ही प्राप्त करते हैं। वह अनुभव मुझे बिना चाहे या बिना यत्न किये ही प्राप्त हो गया। मेरे उसे पानेपर लेले भी आश्चर्यचकित रह गये क्योंकि वे मुझे एक बिलकुल भिन्न चीज प्राप्त करानेके लिये यत्न कर रहे थे। पर मेरी समझमें तुम यह सब नहीं समझ सकते, अतः मैं अधिक कुछ नहीं कहता।

२४-१-१९३६

*

क्यों मेरे अन्दर सब कुछ चित्रकारी-संबन्धी अन्तर्दर्शन तथा अन्य कई वस्तुओंकी तरह नहीं खुल पड़ा? सब चीजें इस प्रकार नहीं खुलीं। जैसा मैंने तुमसे कहा था, बहुतसी चीजोंमें मुझे घिसट-घिसटकर चलना पड़ा। अन्यथा इस काममें इतने सारे साल (३०) न लगते। इस योगमें मनुष्य प्रत्येक चीजमें

पगडंडी नहीं पकड़ सकता। मुझे प्रत्येक समस्यापर और चेतनाके प्रत्येक स्तर-पर कार्य करना पड़ा जिससे उसका समाधान या रूपांतर किया जा सके और प्रत्येक-में मुझे प्रभु-प्रदत्त अवस्थाओंको, जैसी कि वे थीं, स्वीकार करके, चमत्कारोंका आश्रय लिये बिना सच्चाई से कार्य करना पड़ा। निःसंदेह, यदि चेतना बिलकुल आप-से-आप विकसित हो तब तो सब कुछ ठीक ही होगा, सब वस्तुएं उस विकासके साथ-साथ ही प्राप्त हो जायंगी, पर तब भी एक आसान छलांगमें, अस्तव्यस्त ढंगसे नहीं।

४-४-१९३५

*

इन कठिनाइयोंमें ऐसी कोई निराली बात नहीं है जो केवल तुम्हारे ही अन्दर हो; इस पथमें आनेवाले प्रत्येक साधकको ऐसी विघ्न-बाधाएं पार करनी पड़ती हैं। मुझे सच्चा मार्ग प्राप्त करनेके लिये चार वर्षोंतक आन्तरिक प्रयास करना पड़ा, यद्यपि दिव्य सहायता सब समय ही मेरे साथ थी, और इसके बाद भी ऐसा जान पड़ा मानों यह अचानक ही मिल गया हो। उसके बाद उसका ठीक-ठीक अनुसरण करनेमें मुझे और दस वर्षोंतक एक परम आन्तर पथप्रदर्शन के अनुसार उत्कट योगाभ्यास करना पड़ा। इसका कारण यह था कि भविष्य को पा सकने या पा लेनेसे पहले मुझे अपने अतीत तथा संसारके अतीतको आत्मसात् करके उन्हें अतिक्रांत करना था।

५-५-१९३२

* * *

मैं समझता हूँ तुमने मेरे "accident" अर्थात् "दैवयोग" शब्दके साथ अत्यधिक खिलवाड़ किया है तथा इस महत्त्वपूर्ण विशेषण की उपेक्षा कर दी है कि "ऐसा 'प्रतीत हुआ' कि वह दैवयोगसे प्राप्त हुआ।" स्वयं अपने-आप चार वर्षतक प्राणायाम तथा अन्य साधनाभ्यास करनेका परिणाम स्वास्थ्य-वृद्धि, प्राण-शक्तिके प्रबल प्रवाह, कुछ एक मानस-भौतिक व्यापार, काव्य-सृष्टिकी बाढ़, अधिकतर खुले नेत्रोंसे (उज्ज्वल प्रतिरूपों एवं प्रतिमाओं आदिके) सूक्ष्म दर्शनकी सीमित शक्तिके विकासके सिवा कुछ नहीं हुआ। इसके बाद मेरी साधनाकी गति सर्वथा रुक गयी और मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया। इसी संधिक्षणमें मुझे एक ऐसे व्यक्तिसे मिलनेके लिये प्रेरित किया गया जो न तो ख्याति-प्राप्त थे न मैं जिन्हें

जानता ही था। वे एक भक्त थे; उनका मानसिक विकास सीमित होनेपर भी, उन्हें कुछ अनुभूति तथा उद्बोधन-शक्ति प्राप्त थी। हम दोनों एक साथ बैठे और उन्होंने मुझे जैसा करनेको कहा, मैंने पूर्ण निष्ठा के साथ वैसा ही किया, मुझे स्वयं तनिक भी समझमें नहीं आ रहा था कि वे मुझे कहां ले जा रहे हैं अथवा मैं अपनेसे ही किधर जा रहा हूँ। इसका प्रथम परिणाम यह हुआ कि अतीव शक्तिशाली अनुभवोंका तांता लग गया और चेतनामें आमूल परिवर्तन होने लगे जो उन्हें कभी अभिमत नहीं थे —— क्योंकि ये सब अद्वैत और वेदांतसे संबंध रखते थे और वे अद्वैत वेदांतके विरुद्ध थे। साथ ही, ये मेरे अपने विचारोंके भी सर्वथा प्रतिकूल थे, क्योंकि इन्होंने मुझे अत्यन्त तीव्र रूपमें यह दिखाया कि यह जगत् परब्रह्मकी निराकार विश्वव्यापकताके ऊपर चल-चित्र के निःसार आकारोंकी भांति चल रहा है। इसकी अन्तिम परिणति यों हुई कि उन्होंने अपने अन्तरकी 'वाणी' से प्रेरित होकर मुझे मेरे अन्तर्यामी भगवान्के हाथोंमें सौंप दिया और उन्हींकी इच्छाके प्रति पूर्ण समर्पण करनेका आदेश किया। यह एक ऐसा सिद्धांत या एक ऐसी बीजभूत शक्ति थी जिसे मैंने अडिग रूपसे तथा अधिकाधिक निष्ठाके साथ पकड़े रखा जबतक कि यह मुझे एक ऐसे अपरिमेय यौगिक विकासके चक्रोंमेंसे गुजारती हुई, जो किसी एक ही विधि-विधान या पद्धति या मत-मतांतर या शास्त्र-परम्परासे बंधा हुआ नहीं था, वहांतक नहीं ले आई जहां और जो कुछ भी मैं आज हूँ और साथ ही उसकी ओर भी नहीं ले गई जो कि अभी आगे मैं होऊँगा। तथापि जो कुछ वे कर रहे थे उसे वे स्वयं इतना कम समझते थे कि एक-दो महीने बाद जब वे मुझसे मिले तो वे भौचक्के रह गये और जो कुछ उन्होंने किया था उसे मिटा देनेका यत्न किया तथा मुझसे कहा कि आपको भगवान्ने नहीं, बल्कि शैतानने अपने अधिकारमें कर लिया है। क्या यह सब मेरे इन शब्दोंको न्यायसंगत सिद्ध नहीं करता कि ऐसा प्रतीत हुआ कि "वह दैवयोगसे प्राप्त हुआ"? परन्तु मेरे कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान्की शैलियां मानव मनकी शैलियों जैसी नहीं हैं, न वे हमारे आदर्श रूपोंके ही अनुकूल हैं। अतएव, उनकी शैलियों-की जांच करना संभव नहीं है, न ही हम उनके लिये यह निर्धारित कर सकते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिये और क्या नहीं; क्योंकि हम जो कुछ जान सकते हैं उससे कहीं अच्छा भगवान् जानते हैं। यदि हम भगवान्को स्वीकार करें तो मुझे लगता है कि सच्चा तर्क और सच्ची भक्ति दोनों एक स्वरसे पूर्ण श्रद्धा एवं समर्पणकी मांग करते हैं। मेरी समझमें नहीं आता कि इनके बिना अव्यभिचारिणी भक्ति भला कैसे संभव हो सकती है।

मई, १९३२

मानव गुरुकी त्रुटियां

जब चैत्य पुरुषका उद्घाटन, विश्वास और समर्पण उपस्थित हों तो गुरुके मानवीय दोष साधकके मार्गमें बाधा नहीं दे सकते। गुरु अपने व्यक्तित्व या अपनी उपलब्धिकी कोटिके अनुसार भगवान्की प्रणालिका, प्रतिरूप या अभिव्यक्ति होता है; परन्तु वह जो भी हो, उसकी ओर उद्घाटित होते हुए मनुष्य भगवान्की ओर ही उद्घाटित होता है। और जहां थोड़ा कुछ प्रणालिकाकी शक्तिसे निर्धारित होता है वहां उससे अधिक ग्रहण करनेवाली चेतनाकी स्वभावसिद्ध एवं आभ्यन्तरिक वृत्तिसे ही निर्धारित होता है। यह एक ऐसा तत्त्व है जो स्थूल मनमें सरल विश्वास या सीधे एवं शर्तरहित आत्मादान के रूपमें प्रकट होता है और एक बार जब यह प्रकट हो जाता है तब एक ऐसे व्यक्तिसे भी सभी सारभूत वस्तुएं प्राप्त हो सकती हैं जो शिष्यसे इतर लोगोंको एक नीची कोटिका आध्यात्मिक स्रोत प्रतीत होता है। फिर शेष सब वस्तुएं साधकमें स्वयमेव विकसित हो जायेंगी — यदि गुरुके अन्दरकी मानवीय सत्ता उन्हें प्रदान न कर सके तो भी वे भगवान्की कृपासे प्राप्त होकर ही रहेंगी। 'क' व्यक्तिने संभवतः आरम्भसे ही यही किया प्रतीत होता है; किंतु आजकल अधिकतर लोगोंमें यह भाव कठिनतासे एवं अत्यधिक हिचकिचाहट और कष्टके साथ ही उत्पन्न होता दीखता है। मेरा ही उदाहरण लो। मेरे अन्तर्जीवनको सबसे पहले एक निश्चित दिशामें मोड़नेका श्रेय एक ऐसे व्यक्तिको है जो बुद्धि, शिक्षा एवं क्षमतामें मुझसे अनन्त रूपमें हीन कक्षाके थे, और आध्यात्मिक दृष्टिसे किसी प्रकार पूर्ण या सर्वश्रेष्ठ नहीं थे। परन्तु जब मैंने देखा कि उनके पीछे एक शक्ति विद्यमान है और मैंने सहायताके लिये उनकी ओर मुड़नेका निश्चय किया तब मैंने अपनेको पूर्ण रूपसे उनके हाथोंमें सौंप दिया तथा यांत्रिक निष्क्रियताके साथ उनके मार्गदर्शनका अनुसरण किया। वे स्वयं चकित हो गये और दूसरोंसे बोले कि इससे पहले मुझे कभी कोई ऐसा साधक नहीं मिला जो इतने समग्र एवं निःशेष रूपमें तथा बिना ननुनचके अपने-आपको सहायकके मार्ग-निर्देशके प्रति समर्पित कर सके। फलस्वरूप, मेरे अन्दर एकके बाद एक मौलिक ढंगके रूपांतरकारी परिवर्तन होने लगे कि उन्हें समझना उनकी सामर्थ्य से बाहर हो गया और उन्होंने विवश होकर मुझसे कहा कि आगेके लिये मैं, वैसे ही पूर्ण समर्पणके साथ जैसा मैंने मानवीय माध्यमके निकट प्रदर्शित किया है, अपने-आपको अपने अन्तरस्थ गुरुके प्रति समर्पित कर दूं। यह उदाहरण मैंने इस बातको दिखानेके लिये दिया है कि किस तरह ये चीजें काम करती हैं। मानव बुद्धि इनके लिये जो नपा-तुला ढंग निश्चित करना चाहती है

उससे नहीं बल्कि एक अधिक रहस्यमय एवं महत्तर नियमके द्वारा ही ये अपना कार्य करती हैं।

२३-३-१९३२

अद्वैतमय आत्माकी अनुभूति

प्र०– आपको परम आत्माकी जिस ढंगसे अनुभूति हुई उसके संबंधमें आपने 'क्ष' को परले दिन जो लिखा था वह मैंने पढ़ा है। मुझे तो यह बात लगभग विचारसे परेकी लगती है कि कोई ऐसी चीज भी हुई होगी!

उ०– यह मेरे वसकी वात नहीं। यह चीज घटित हुई। 'तर्कसंगत' और 'संभव' के विषयमें मनके सिद्धांतोंसे आध्यात्मिक जीवन एवं अनुभव नहीं प्राप्त होते।

प्र०–किन्तु क्या आप हमें यह नहीं वता सकते कि अनुभूति कैसी थी? क्या यह किसी भी प्रकार उस-जैसी था जिसका वर्णन आपने अपने उत्तरपाड़ा भाषणमें किया है — वासुदेवकी अनुभूति जैसी?

उ०– वहुत वड़ा गड़वड़झाला! वासुदेवका इससे क्या वास्ता? वासुदेव तो श्रीकृष्णका नाम है; मेहरवानी करें, उत्तरपाड़ामें मै श्रीकृष्णकी बात कह रहा था।

प्र०–मेरी समझमें आत्मासे आपका अभिप्राय वैयक्तिक आत्मासे है?

उ०– राम राम, नहीं। मेरा मतलव है आत्मा, श्रीमान्‌जी, आत्मा, अद्वैत, वैदांतिक, शाङ्कर आत्मा। आत्मन्, आत्मन्! ऐसी वस्तु जिसके बारेमें मुझे कुछ पता ही नहीं था, जिसका मैंने कभी सौदा नहीं किया, और न जिसके बारेमें मैं कुछ जानता-समझता ही था।

प्र०– पर क्या आपने योग पीछे गुजरात जाकर नहीं शुरू किया?

उ०– हां। पर यह शुरू हुआ लन्दनमें, ज्यों ही मैंने अपोलो बन्दरपर पग रखा, भारत भूमिका स्पर्श किया, यह प्रस्फुटित हो उठा, मेरे बड़ौदा-निवासके पहले वर्ष एक दिन एक ऐसे क्षण जब मेरी गाड़ीके साथ दुर्घटना होनेकी भीषण आशङ्का थी, यह पनप उठा। काफी स्पष्ट है न?

३१-१०-१९३५

आत्म-साक्षात्कार और भगवत्प्रेम

प्र०– क्या, आपके विचारमें, आपके आत्म-साक्षात्कारने आपकी विकट एवं निर्णायक घड़ियोंमें सहायता नहीं की, आपकी श्रद्धा और प्रेम-को नहीं वनाये रखा?

उ०– इसका प्रेमसे कोई सरोकार नही। आत्म-साक्षात्कार और सगुण (वैयक्तिक) भगवान्से प्रेम दो भिन्न-भिन्न क्रियाएं हैं।

मेरा संघर्ष आत्माके निमित्त कभी नहीं रहा। तुम्हारे प्रश्नका संबंध है भक्तके भगवत्प्रेमसे। और इन सब चीजोंका इस प्रश्नसे कतई संबन्ध नहीं।

प्र०– किन्तु आत्माकी उस अनुभूतिकी मधुर स्मृतिने आपको सहारा अवश्य दिया होगा।

उ०– इसमें गुड़-शक्कर-सा कतई कुछ भी नहीं था। और मुझे इसकी किसी प्रकारकी याद करनेकी जरूरत ही नहीं थी, क्योंकि यह मेरे साथ महीनों और बरसों रही और अब भी है, यद्यपि है अन्य अनुभूतियोंके साथ घुली-मिली। मेरा कथ्य यह है कि ऐसे सैंकड़ों भक्त हैं जिनमें प्रेम और चाह है पर भगवान्-का कोई ठोस अनुभव नहीं जो उन्हें सहारा दे, सहारेके नामपर होती है केवल भगवद्विषयक मानसिक धारणा या भाविक विश्वास। सारी बात यह है कि ऐसा कहना ठीक नहीं कि पहले व्यक्तिको निर्णयात्मक या ठोस अनुभूति प्राप्त कर लेनी होगी और उसके बाद ही कहीं उसमें भगवान्के प्रति प्रेम उत्पन्न हो सकता है। यह बात आध्यात्मिक अनुभवके तथ्योंके विपरीत है, और-तो-और उसके बिलकुल साधारण तथ्योंके भी।

१४.३.१९३६

निर्वाणका अनुभव

मैंने यह कभी नहीं कहा है कि (मानवजीवनसे संबंधित) वस्तुएं आज सामंजस्य-पूर्ण हैं — प्रत्युत, मानव चेतना जैसी है उसके रहते सामंजस्य का प्रतिष्ठित होना असंभव है। मैंने तुमसे सदा यही कहा है कि मानव चेतना दोषपूर्ण है और एकदम असाध्य है — और यही कारण है कि मैं यह प्रयत्न करता हूँ कि एक उच्चतर चेतनाका अवतरण हो और वह बिगड़े संतुलनको ठीक कर दे। मैं तुम्हें तत्क्षण निर्वाण (जो वास्तविक नहीं होगा) नहीं देना चाहता, क्योंकि मेरे अनुभव-क्रममें तो निर्वाण सामंजस्यकी ओर ले जानेवाला एक सोपानमात्र है। हर्षकी बात है कि तुम नीरवतामें दीक्षित हो रहे हो। और निर्वाण भी अनुपयोगी नहीं है — मेरे जीवनमें तो यह सबसे भावात्मक आध्यात्मिक अनुभव था और इसीने शेष सारी साधनाको संभव बनाया। किन्तु जहांतक इन चीजोंको प्राप्त करनेके निश्चयात्मक उपायका प्रश्न है, मैं नहीं जानता कि तुम्हारा मन उसका अनुसरण करनेके लिये पूर्ण रूपसे तैयार है या नहीं। वास्तवमें विधियां अनेक हैं। स्वयं मैंने विचारके त्यागकी विधि द्वारा इन्हें प्राप्त किया। "बैठ जाओ", मुझसे कहा गया, "देखो, और तुम्हें पता चलेगा कि तुम्हारे विचार बाहरसे तुम्हारे भीतर आते हैं। उनके घुसनेसे पहले ही उन्हें दूर फेंक दो।" मैं बैठ गया, देखा और यह जानकर चकित रह गया कि सचमुच बात ऐसी ही है; मैंने स्पष्ट रूपमें देखा एवं अनुभव किया कि विचार पास आ रहा है, मानों सिरके भीतरसे या ऊपरसे घुसना चाहता हो और उसके भीतर आनेके पूर्व ही मैं स्पष्ट रूपमें उसे पीछे धकेल देनेमें सफल हुआ।

तीन दिनमें, वस्तुतः एक ही दिनमें, मेरा मन शाश्वत शांतिसे परिपूरित हो गया — वह शांति अभीतक विद्यमान है। परन्तु मालूम नहीं कितने लोग ऐसा कर सकते हैं। एक व्यक्तिने (शिष्यने नहीं — उन दिनों मेरे कोई शिष्य नहीं थे) मुझसे योगकी विधि पूछी। मैंने कहा: "सबसे पहले अपने मनको शांत करो।" उसने किया और उसका मन पूर्ण रूपसे शांत एवं रिक्त हो गया। तब वह भागा-भागा मेरे पास आया और कहने लगा: "मेरा मस्तिष्क विचार-शून्य है, मैं कुछ नहीं सोच सकता। मैं मूढ़ हुआ जा रहा हूँ।" उसने इतना देखने और जाननेके लिये भी प्रतिक्षा नहीं की जिन विचारोंको वह इस समय वाणीसे प्रकट कर रहा है वे कहांसे आ रहे हैं! न यही उसकी समझमें आया कि जो पहलेसे मूढ़ है ही वह और क्या मूढ़ बनेगा! पर जो हो, उन दिनों मेरे अन्दर इतना धैर्य नहीं था और मैंने उसे यों ही छोड़ दिया जिससे

वह अपनी अद्भुत ढंगसे प्राप्त नीरवताको खो बैठा।

इसकी सामान्य विधि यह है कि व्यक्ति अपने मस्तिष्क, मन और शरीरमें ऊर्ध्वसे नीरवताका 'आवाहन करे'। यदि कोई इसका प्रयोग कर सके तो यह सबसे सुगम विधि है।

मनकी स्वतन्त्रता और प्रभुता

जिन मनुष्योंका मानसिक विकास हो चुका है, जो साधारण मनुष्योंसे ऊपर उठ चुके हैं, उन्हें किसी-न-किसी तरह अथवा कम-से-कम किसी विशेष समयपर और किसी विशेष प्रयोजनके लिये अपने मनके दो भागोंको अलग-अलग करना ही पड़ता है — एक भाग है सक्रिय, जो विचारोंका कारखाना है और दूसरा है प्रशांत और प्रभुत्वपूर्ण, जो एक साथ ही साक्षी भी है और संकल्पकर्त्ता भी, जो विचारोंको देखता है, जांचता है, उनका त्याग एवं बहिष्कार करता है अथवा उन्हें स्वीकार करता है, उनके संशोधन और परिवर्तनकी आज्ञा देता है, मनोमय गृहका स्वामी है, 'साम्राज्य' का अधिकारी है।

योगी इससे भी आगे जाता है; वह केवल मनके अन्दर ही स्वामी नहीं होता, बल्कि एक प्रकारसे मनमें रहते हुए ही वह मानों उससे बाहर चला जाता है और उससे ऊपर या उसके एकदम पीछे अवस्थित होकर उससे मुक्त रहता है। उसके विषयमें अब विचारोंके कारखानेकी उपमा उतनी लागू नहीं होती; क्योंकि वह देखता है कि विचार बाहरसे, विश्वमानस या विश्वप्रकृतिसे आते हैं, कभी-कभी तो उनका निर्दिष्ट और स्पष्ट रूप होता है और कभी-कभी कोई रूप नहीं होता और जब उनका कोई रूप नहीं होता तब उन्हें हमारे अन्दर ही कहीं रूप प्राप्त होता है। हमारे मनका प्रधान कार्य यह है कि वह इन विचार-तरंगोंको (साथ-ही-साथ प्राणकी लहरों तथा सूक्ष्म भौतिक शक्तिकी लहरोंको भी) या तो स्वीकार करता है या त्याग देता है अथवा चारों ओरकी प्रकृति-शक्तिसे आनेवाली विचार-सामग्रीको (अथवा प्राणकी गतियोंको) एक व्यक्तिगत मनोमय आकार प्रदान करता है। इसके लिये मैं लेलेका अत्यधिक ऋणी हूँ कि उन्होंने मुझे इस तथ्यका साक्षात्कार कराया। "ध्यानके लिये बैठ जाओ", उन्होंने कहा, "परन्तु कुछ भी सोचो नहीं, केवल अपने मनका निरीक्षण करो; तुम विचारोंको 'उसके अन्दर आते' देखोगे; उनके प्रवेश कर सकनेके पूर्व उन्हें अपने मनसे तबतक दूर फेंकते रहो जबतक तुम्हारा मन पूर्ण नीरवता प्राप्त करनेमें समर्थ न हो जाय।" मैंने यह पहले कभी नहीं सुना था कि विचार प्रत्यक्ष रूपमें बाहरसे हमारे मनके भीतर आते हैं, परन्तु इस

सत्य या इसकी संभावनापर शंका करनेकी बात भी मेरे मनमें नहीं आई, बस मैं बैठ गया और वैसा ही किया। क्षण-भरमें मेरा मन उच्च पर्वत शिखरके निर्वात आकाशकी भांति शांत हो गया और तब मैंने देखा कि एक विचार, फिर दूसरा विचार बाहरसे स्पष्ट रूपमें आ रहा है। इसके पूर्व कि वे मेरे मस्तिष्कमें घुसकर उसे अपने अधिकारमें कर सकें मैंने उन्हें झट दूर फेंक दिया और तीन दिनोंमें ही मैं उनसे मुक्त हो गया। उसी क्षणसे, सिद्धांततः, मेरे अन्दरका मनोमय पुरुष एक स्वतंत्र 'प्रज्ञा' किंवा विराट् 'मन' वन गया जो विचारोंके कारखानेके एक मजदूरकी भांति वैयक्तिक विचारके संकुचित घेरेमें बंधा नहीं था, बल्कि सत्ता के सैंकड़ों स्तरोंसे ज्ञान ग्रहण करने लगा तथा इस विशाल दर्शन-साम्राज्य एवं विचार-साम्राज्यमेंसे अपनी इच्छाके अनुसार विषयों और विचारोंका चुनाव करनेमें स्वतंत्र था। यह सब मैंने केवल इस बातपर बल देनेके लिये बतलाया है कि हमारे मनोमय पुरुषकी शक्यताओंकी सीमा नहीं बांधी जा सकती और यह स्वतंत्र साक्षी तथा अपने गृहका स्वामी बन सकता है। मेरे कहनेका यह मतलब नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति इसे मेरी ही तरह और उसी वेगके साथ निश्चित रूपमें कर सकता है (क्योंकि, इस नई अव्याहत मानसिक शक्तिकी पीछेकी पूर्ण-विकसित अवस्थाओंको प्राप्त करनेमें मुझे अवश्य ही समय लगा, अनेक वर्ष लग गये) किन्तु अपने मनकी एक प्रकारकी बढ़ती हुई स्वतंत्रता और प्रभुता प्राप्त करना किसी भी साधकके लिये पूर्ण रूपसे संभव है यदि उसमें इस कार्यको करनेके लिये श्रद्धा तथा संकल्प विद्यमान हों।

५-८-१९३२

स्थिरताके अवतरण द्वारा मनकी नीरवता

स्थिर, उज्ज्वल और सुस्पष्ट मनके विषयमें प्रो० सोरले (Prof. Sorley) ने जो टिप्पणी लिखी है उसमें मुझे कोई भी आपत्तिजनक बात नहीं प्रतीत होती, क्योंकि यह उस प्रक्रियाको यथोचित रूपमें सूचित करती है जिसके द्वारा मन अपनी शांत सतहपर या अपने सारतत्त्वमें उच्चतर सत्यको प्रतिबिंबित करने के लिये अपने-आपको तैयार करता है। संभवतः एक बात ध्यानमें रखना आवश्यक है — मनकी यह शुद्ध स्थिरता सदा ही एक आवश्यक अवस्था या अत्यन्त वांछनीय वस्तु है, परन्तु इसे प्राप्त करनेका साधन एक नहीं, अनेक हैं। उदाहरणके लिये, इसे साधित करनेका तरीका केवल यह नहीं कि मन स्वयं अपने प्रयासके द्वारा अपने अन्दर घुस आनेवाले भावावेशों या आवेगों या अपने

स्वभावगत स्पंदनों या भौतिक तमस्के अन्ध बनानेवाले उस धुंएंसे जो मनकी जाग्रत् नीरवताके स्थानपर उसकी निद्रा या जड़ता ही लाता है, अपनेको मुक्त कर ले, क्योंकि यह तो केवल ज्ञानयोगके पथकी साधारण पद्धति है। यह इस प्रकार भी प्राप्त हो सकती है कि ऊपरसे एक ऐसी महान् आध्यात्मिक स्थिरताका अवतरण हो जो मन, हृदय, प्राणिक उत्तेजनाओं और भौतिक प्रतिक्रियाओंपर बलपूर्वक नीरवता स्थापित करे। इस प्रकारका आकस्मिक अवतरण या बढ़ते हुए बल एवं प्रभावसे युक्त ऐसे अनेक अवतरणोंका प्रवाह अध्यात्म-अनुभवकी सुप्रसिद्ध घटना है। अथवा इस उद्देश्यके लिये साधक चाहे जिस पद्धतिका अवलम्बन कर सकता है। यद्यपि वह पद्धति साधारण रूपमें तो एक लम्बे प्रयासके समान हो सकती है परन्तु नीरवताका तेजीके साथ हस्तक्षेप या उसका आविर्भाव शुरूसे भी उस पद्धतिपर अपना अधिकार कर सकता है और तब उसके द्वारा साधकको शुरूमें किये गये साधनोंके अनुपातसे कहीं अधिक फल प्राप्त हो सकता है। मनुष्य किसी भी विधिसे आरम्भ करता है, पर ऊपरकी कृपा-शक्ति, जिस 'तत्' के लिये मनुष्य अभीप्सा करता है उस 'तत्' की कृपा-शक्ति अथवा आत्माकी अनन्तताओंका प्रवाह उस कार्यको अपने हाथमें ले लेता है। स्वयं मैंने इस अन्तिम विधिसे ही मनकी परम नीरवता प्राप्त की थी जिसकी वास्तविक अनुभूतिसे पहले कल्पना करना भी मेरे लिये असम्भव था।

वास्तविक कठिनाई*

श्रीअरविन्द हक्सलेकी टिप्पणीसे पूर्णतः सहमत हैं और उन्हें उसपर कुछ भी नहीं कहना है। परन्तु यह सर्वथा स्पष्ट है कि "उसके शिखरपर हम सदैव पहुँच सकते हैं" इस वाक्यमें "हम" शब्द संपूर्ण मानवजातिकी ओर नहीं बल्कि

*आल्डस हक्सलेने (Aldous Huxley) अपनी पुस्तक The Perenial Philosophy में (पृ० ७४ पर) The Life Divine (लाईफ डिवाइन) का एक संदर्भ उद्धृत किया तथा उसपर टिप्पणीकी है। उसके एक वाक्य "To its heights we can always reach" (उसके शिखरोंतक हम सदा ही पहुँच सकते हैं) के स्पष्टीकरणके प्रसंगमें श्री अरविन्दने जो टिप्पणियां लिखाई वे यहां दी जा रही हैं। 'लाइफ डिवाइन' का वह संदर्भ निम्नलिखित हैः— "पृथ्वीके पुत्रके लिये पृथ्वीका स्पर्श हमेशा एक नया प्राण देनेवाला होता है, तब भी जब कि वह अतिभौतिक ज्ञानकी खोज कर रहा हो। यहा तक कहा जा सकता है कि 'अतिभौतिक' की ऊंचाइयोंपर तो हम सदा ही पहुंच सकते हैं लेकिन वास्तवमें उसपर पूरा-पूरा अधिकार तो केवल तभी प्राप्त हो सकता है

केवल उनकी ओर संकेत करता है जिनका आन्तरिक अध्यात्म-जीवन पर्याप्त विकसित हो चुका है। बहुत संभव है कि इसे लिखते हुए श्रीअरविन्दके मनमें अपने अनुभवकी बात उपस्थित हो। तीन वर्षके आध्यात्मिक प्रयाससे केवल छोटे-मोटे फल प्राप्त होनेके बाद उन्हें एक योगीने मनको शांत करनेकी विधि बताई। उस विधिका अनुसरण करके वे दो-तीन दिनमें ही अपने मनको पूर्ण रूपसे नीरव करनेमें सफल हुए। विचार, भाव तथा चेतनाके सभी साधारण व्यापार पूर्ण रूपसे शांत हो गये, रह गया केवल चारों ओरकी वस्तुओंका बोध एवं उनकी पहचान जिसके साथ न तो कोई भाव उत्पन्न होता था और न ही कोई अन्य प्रतिक्रिया। अहम्भावना लुप्त हो गई थी और साधारण जीवन-की सभी चेष्टाएं — गतियां, वातचीत और काम-काज — प्रकृतिकी किसी ऐसी स्वभावगत क्रियाके द्वारा ही चलते रहे जो अपनी नहीं अनुभव होती थी। परन्तु उसके वाद जो बोध बच रहा उसे सभी वस्तुएं पूर्णतः मिथ्या प्रतीत होती थी; मिथ्यात्वकी यह अनुभूति वहुत जोरकी तथा व्यापक थी। हां, इसके साथ केवल एक अनिर्वचनीय सद्वस्तु ही सत्य दिखायी देती थी जो देश-कालसे परे तथा समस्त विश्व-व्यापारसे अलग थी पर जहां भी दृष्टि डालो वहां ही उससे भेंट होती थी। यह अवस्था कई मासतक ज्यों-की-त्यों वनी रही और फिर जब मिथ्यात्वकी भावना लुप्त हो गई तथा वे विश्व-चैतन्यमें पुनः भाग लेने लगे, तब भी उक्त उपलब्धिसे उत्पन्न आन्तरिक शांति एवं स्वातन्त्र्य सभी ऊपरी चेष्टाओंके पीछे स्थिर रूपसे रहे और उक्त उपलब्धिका सारतत्त्व भी नष्ट नहीं हुआ। साथ ही इस बीच एक और अनुभव भी हुआ; उनसे भिन्न और किसी सत्ताने उनकी क्रियाशील प्रवृत्तियोंको अपने हाथमें ले लिया और वही उनके द्वारा बोलती तथा कार्य करती थी किंतु उनके अन्दर न किसी प्रकारका वैयक्तिक विचार उत्पन्न होता था न ही वे स्वयं अपनी क्रियाओंका आरम्भ करते थे। वह सत्ता क्या थी इसका श्रीअरविन्दको तबतक पता नहीं चला जवतक उन्हें ब्रह्मके सक्रिय पक्ष अर्थात् ईश्वरकी उपलब्धि नहीं हुई और यह अनुभव नहीं हुआ कि वही उनकी समस्त साधना एवं कर्मका परिचालन करते हैं। ये अनुभूतियां तथा अन्य भी जो इनके बाद हुईं, जैसे यह कि आत्मा सबमें हैं और सब आत्मामें हैं तथा सब कुछ आत्मा ही है, भगवान् सबमें हैं और सब भगवान्में हैं,—यही वे शिखर हैं जिनकी ओर श्रीअरविन्दने संकेत किया

जब हम 'भौतिक' पर अपने पैर मजबूतीसे जमा सकें। छांदोग्य उपनिषद् जब-जब विश्वमें प्रकट होनेवाली आत्माका चित्रण करती है, तब-तब वह पृथ्वीको ही 'उसका' आधार बताती है।"

है और जिनकी ओर, वे कहते हैं कि, हम हमेशा ही उठ सकते हैं; क्योंकि उनकी प्राप्तिमें उनके सामने कोई लम्बी या डटी रहनेवाली कठिनाई नहीं उपस्थित हुई। एकमात्र सच्ची कठिनाई, जिसे पूर्ण रूपसे कार्यान्वित करनेमें उन्हें दशाब्दियोंतक आध्यात्मिक पुरुषार्थ करना पड़ा, वह थी — आध्यात्मिक ज्ञानको इस जगत् तथा ऊपरी मानस-क्षेत्र एवं बाह्य जीवनपर सर्वांगीण रूपसे प्रयुक्त करना और इसे (जीवनको) प्रकृतिके उच्चतर स्तरों तथा साधारण मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक स्तरोंपर, नीचे अवचेतना एवं मूल निश्चेतना-पर्यंत, रूपांतरित करना और साथ ही ऊपरके उस परम सत्य-चेतना या अति-मानसके स्तर पर्यंत भी इसका रूपांतर करना जिसमें पहुँचनेपर ही सक्रिय रूपांतर पूर्ण रूपसे अपनी सर्वांगीण एवं चरम-परम अवस्थाको प्राप्त कर सकता है।

४-११-१९४६

आध्यात्मिक अनुभवका बौद्धिक निरूपण

तथापि, मैं नहीं समझता कि अति-बौद्धिक वस्तुओंके प्रतिपादनमें, बुद्धि की परिभाषाओंके अनुसार भेद-प्रभेद करनेकी क्रिया आवश्यक रूपसे अन्तर्निहित है। क्योंकि, मूलतः यह अनुमानमूलक चिन्तनसे प्राप्त विचारोंकी अभिव्यक्ति नहीं होता। आध्यात्मिक ज्ञानकी प्राप्ति मनुष्यको अनुभवके द्वारा और वस्तु-विषयक एक ऐसी चेतनाके द्वारा करनी होती है जो उस अनुभवसे सीधे ही उद्भुत होती है या फिर उसके मूलमें स्थित होती या उसमें अवगुण्ठित होती है। सो, इस प्रकारका ज्ञान मूलतः एक चेतना होता है न कि विचार या सूत्र-बद्ध भाव। उदाहरणार्थ, मेरा पहला प्रधान अनुभव मूलगामी और अभिभूत-कारी, अन्तिम और सर्वाङ्गपूर्ण न सही, जैसा कि वह बादमें सिद्ध हुआ — विचारमात्रको बाहर निकालने और नीरव करनेके बाद और उसके द्वारा ही प्राप्त हुआ। पहले-पहल एक ऐसी चेतना प्राप्त हुई जिसे निश्चलता और नीरवताकी अध्यात्म-सारयुक्त या ठोस चेतना कह सकते हैं, फिर आई किसी अद्वितीय और परम सद्वस्तुकी चेतना जिसके सामने सब पदार्थ केवल आकारोंके रूपमें ही अस्तित्व रखते थे, पर वे आकार जरा भी सारमय या सच्चे या ठोस नहीं थे। किन्तु यह सब एक आध्यात्मिक प्रत्यक्ष-अनुभव तथा सारभूत और निर्वैयक्तिक बोधको ही गोचर हो रहा था और वहां न तो सद्वस्तु या अ-सद्वस्तुका लेशभर भी प्रत्यय या विचार था और न अन्य कोई धारणा, क्योंकि समस्त प्रत्यय या विचार शान्त हो गया था, वरच, यूँ कहें कि उस चरम

निस्तब्धतामें उसका अस्तित्व बिलकुल था ही नहीं। ये वस्तुएं सीधे शुद्ध चेतना द्वारा जानी गई थीं न कि मन द्वारा, इसलिये प्रत्ययों या शब्दों या नामों-की कोई जरूरत ही नहीं थी। तथापि, आध्यात्मिक अनुभवका यह मूलभूत स्वरूप नितींत सीमाकारी नहीं; यह विचारके विना अपना काम चला सकता है, पर यह विचारसे भी काम चला सकता है। निःसन्देह, मनका पहला विचार यह होगा कि विचारका आश्रय मनुष्यको तुरन्त बुद्धिके क्षेत्रमें वापिस ले आता है — और शुरू-शुरूमें तथा दीर्घकालतक यह बात ऐसी ही हो सकती है; पर मेरा अनुभव यह नहीं कि ऐसा होना अनिवार्य है। ऐसा तब होता है जब व्यक्ति अनुभूत वस्तुका बौद्धिक प्रतिपादन करनेकी चेष्टा करता है; पर एक और प्रकारका विचार भी है जो ऐसे उद्भूत होता है मानों वह अनुभवका या उसमें अन्तर्लीन चेतनाका — या उस चेतनाके किसी भागका — देह या रूप हो, पर यह विचार मुझे अपने स्वरूपमें बौद्धिक नहीं प्रतीत होता। इसमें है एक और ही प्रकाश, एक और शक्ति, बोधके अन्दर एक बोध। यह बात उन विचारों-के बारेमें तो अत्यन्त स्पष्ट रूपसे ठीक है जो ऐसे आते हैं कि उन्हें अपनेको रूप देनेवाले शब्दोंकी जरूरत ही नहीं होती, जिनका स्वरूप ही होता है चेतनामें एक प्रत्यक्ष दर्शन, यहांतक कि एक प्रकारका घनिष्ठ बोध या संपर्क जो अपनेको अपनी समानताकी ठीक-ठीक अभिव्यक्तिका, सूत्रबद्ध रूप दे देता है (मुझे आशा है कि यह बात अतीव गुप्त या दुर्बोध नहीं); पर यह कहा जा सकता है कि ज्यों ही विचार शब्दोंमें बदलते हैं त्यों ही वे बुद्धिके राज्यके अन्दर आ जाते हैं — क्योंकि शब्द हैं ही बुद्धिके घड़े सिक्के। परन्तु क्या बात सचमुचमें ऐसी ही है अथवा क्या ऐसा होना अवश्यम्भावी है? मुझे तो सदा ही ऐसा लगा है कि शब्द मूलतः चिन्तक मनकी अपेक्षा कहीं औरसे आये, भले ही चिन्तक मनने उनपर अपना कब्जा कर लिया, उन्हें अपने काममें लगा लिया और अपने प्रयोजनोंके लिये उन्हें जी खोलकर गढ़ा। पर यदि बात ऐसी न हो तो भी क्या शब्दोंको किसी ऐसी वस्तुको प्रकट करनेके लिये प्रयोगमें लाना संभव नहीं जो बौद्धिक न हो? हौसमैनका दावा है कि काव्य पूर्ण रूपसे काव्या-त्मक तभी होता है जब वह अ-बौद्धिक हो, जब वह अनापशनाप हो। यह तो अत्यंत विरोधाभासी कथन है, पर मेरी समझमें उसके कहनेका मतलब है कि यदि काव्यको बुद्धिकी कड़ी कसौटीपर कसा जाय तो वह निरंकुश प्रतीत होता है, क्योंकि वह एक ऐसी वस्तुको प्रकाशित करता है जो बौद्धिक विचार द्वारा हमारे सामने प्रस्तुत प्रत्यक्ष बोधसे भिन्न किसी अन्य प्रकारके प्रत्यक्षको प्रकट करती है तथा उसीके प्रति सच्ची होती है। क्या यह सम्भव नहीं कि शब्द —कम-से-कम कुछ हदतक और एक विशेष ढंगसे — उस अतिबौद्धिक चेतनासे

उद्भूत हो, और भाषा उस अतिबौद्धिक चेतनाको व्यक्त करनेके लिये प्रयुक्त हो जो आध्यात्मिक अनुभवकी सारभूत शक्ति है? किन्तु यह बात तो प्रसंगवश कह दी गई — जब व्यक्ति स्वयं बुद्धिके सामने आध्यात्मिक अनुभवकी व्याख्या करनेका यत्न करता है तो वह अलग बात होती है।

१४-१-१९३४

* * *

नीरवता और क्रिया

सन् १९०८से, जब कि मैंने नीरवता प्राप्त की, मैं अपने सिर या मस्तिष्कसे कभी नहीं सोचता — विचार सदा, सामान्यतया सिरसे ऊपरकी विशालतामें ही आते हैं।

१७-१०-१९३३

* * *

जिसका तुमने वर्णन किया है वह प्राण-शक्तिका हटना बिलकुल नहीं है; वह तो चेतनाके ऊर्ध्वमें स्थित हो जानेके कारण अंगोंमें उत्पन्न शून्यता एवं स्तब्धता-का परिणाममात्र है। वह कर्मके साथ सर्वथा संगत है; हां, मनुष्य को इस विचारका अभ्यस्त होना होगा कि इन अवस्थाओंमें भी कार्य करना संभव है। रिक्तताकी इससे भी महत्तर अवस्थामें मैं एक दैनिक पत्र चलाता रहा और तीन-चार दिनोंमें एक दर्जन भाषण दिये — परन्तु उस सबके लिये मैंने किसी प्रकारका यत्न नहीं किया, वह सब स्वयमेव हुआ। अन्तरमें कोई भी क्रिया हुए बिना शक्तिने शरीरसे काम करा लिया। प्राण-शक्ति अगर हट जाय तो शरीर निर्जीव, असहाय, रिक्त एवं निःशक्त बन जाता है और उसमें तीव्र वेदनाके सिवा और कोई अनुभव नहीं होता।

१३-५-१९३६

* * *

इस प्रकार पढ़ना संभव होना चाहिये कि अन्तश्चेतना पढ़नेकी क्रियाको केवल देखती रहे, मानों उसका निरीक्षण कर रही हो। पूर्ण आंतरिक नीरवताकी

अवस्थामें मैं भाषण करता और समाचार-पत्र चलाता था, परन्तु वह सब इस प्रकार चलता रहता कि मेरे मनमें एक भी विचार प्रवेश नहीं कर पाता था, न तो नीरवतामें कोई बाधा पड़ती थी, न उसमें किसी प्रकारकी कमी ही आती थी।

२७-१०-१९३४

* * *

जब मैंने रिक्तताकी अवस्था प्राप्त की तो वह बरसों बनी रही। और जो कुछ भी आया, उसी रिक्ततामें आया, और मैं किसी समय भी क्रिया-व्यापारसे पीछे हट शुद्ध निश्चल-नीरव शांतिमें लौट सकता था।

२१-९-१९३४

आत्म-साक्षात्कार और देह- बोध

प्र०— आत्म-साक्षात्कारकी अवस्थामें मुझे अपनी देहका बोध बहुत ही कम रहता है। मुझे पता नहीं रहता कि तब वह क्या करता-धरता है, यहांतक कि वह कहां होता है।

उ०— ऐसा प्रायः ही होता है। मैं अनेक वर्ष अपने शरीरसे इसी प्रकार अचेतन रहा।

१५-१०-१९३४

योगिक अनुभव और भौतिक विज्ञानके आक्षेप

तुमने जिन घंटे-घड़ियाल आदिका उल्लेख नई अनुभूतियोंके रूपमें किया है वे बहुत पुराने हैं, यहांतक कि उपनिषत-कालमें भी बृहत्तर चेतनाकी ओर खुलने के चिह्नोंमें उनकी गिनती की जाती थी — ब्रह्मणोऽभिव्यक्तिकराणि योगे यदि मुझे ठीक-ठीक स्मरण हो तो तुम्हारी चिनगारियां भी उसी सूचीमें आती है। योग-साहित्यमें इस तथ्यका बारंबार उल्लेख किया गया है। अपनी साधना के आरम्भिक कालमें मुझे भी ऐसा अनुभव सैकड़ों बार हुआ। इस प्रकार तुम देखते हो कि इस विषयमें अत्यन्त मान्य व्यक्ति भी तुम्हारे साथ हैं और इसलिये

तुम्हें भौतिक विज्ञानके आक्षेपोंसे घबड़ानेकी आवश्यकता नहीं।

१३-३-१९३१

* * *

मुझे स्मरण है कि जब मैंने प्रथम बार अन्तर्जगत्की वस्तुओंको अन्तर्मुखी होकर (और खुली आंखोंके द्वारा बाह्यतः भी) देखना आरम्भ किया तो, मेरे एक वैज्ञानिक मित्र अनु-प्रतिबिंबों (after-images) की बात करने लगे और बोले — "ये तो केवल अनु-प्रतिबिंब हैं"! मैंने उनसे पूछा — क्या अनु-प्रतिबिंब एक साथ दो मिनटतक आंखोंके सामने रहते हैं? उन्होंने कहा — "नहीं, जहां तक मुझे ज्ञात है, वे केवल कुछ क्षण ही रहते हैं।" मैंने उनसे यह भी पूछा कि क्या मनुष्य ऐसी चीजोंके अनु-प्रतिबिंब भी प्राप्त कर सकता है जो न तो उसके आसपास कहीं विद्यमान हों और न ही इस भूतलपर कहीं अस्तित्व रखती हों, क्योंकि इनकी और ही रूप-रेखा, और ही स्वभाव, और ही रूप-रंग एवं परिधियां होती हैं और साथ ही इनकी क्रिया-शक्ति, जीवन-गतियां तथा मूल्य बिलकुल भिन्न प्रकारके होते हैं। इसका उत्तर भी वह 'हां' में नहीं दे सके। ये सब तथाकथित मानसिक व्याख्याएं जब अपने मानसिक सिद्धांतोंके मेघाच्छन्न लोकसे खींचकर वास्तविक अद्भुत घटनाओंके सामने — जिन्हें वे समझानेका दावा करती हैं — लाई जाती हैं तो वे इसी तरह भंग हो जाती हैं।

१९-२-१९३२

* * *

मेरी समझमें स्वयं मैंने तुम्हारी अपेक्षा भी अधिक पूर्ण रूपसे यूरोपीय शिक्षा प्राप्त की है, और मैं भी अज्ञेयवादी निषेध वा नास्तिकताके कालमेंसे गुजरा हूँ। परन्तु जिस क्षणसे मैंने इन चीजोंपर दृष्टि डाली तबसे मैंने कभी सन्देह और अविश्वासका भाव नहीं ग्रहण किया जो यूरोपमें इतने लंबे अर्सेसे प्रचलित था। असामान्य अथवा अतिभौतिक अनुभव तथा शक्तियां, गुह्य हों चाहे यौगिक, मुझे सदा ही सर्वथा स्वाभाविक एवं विश्वसनीय प्रतीत हुई हैं। चेतना, अपने निज स्वभावसे ही, साधारण भौतिक मानव-पाशविक चेतनासे सीमित नहीं हो सकती, इसके अन्य स्तर भी अवश्य होने चाहियें। जिस प्रकार महान् काव्य लिखने या महान् संगीत रचनेकी शक्ति अलौकिक या अविश्वसनीय

नहीं है ठीक उसी प्रकार यौगिक या गुह्य शक्तियां भी अलौकिक या अविश्वस-नीय नहीं हैं। परन्तु जैसी कि वस्तुस्थिति है, विरले ही लोग काव्य या संगीत रच सकते हैं,—लाखोंमें एक भी नहीं; क्योंकि काव्य और संगीत आंतर सत्तासे आते हैं और सच्ची तथा महान् चीजें लिखने या रचनेके लिये मनुष्यको आंतर सत्ताके एक तत्त्व-विशेष तथा बाह्य मनके बीचका रास्ता साफ रखना होता है। यही कारण है कि ज्यों ही तुमने योग शुरू किया त्यों ही तुम्हें कवित्व-शक्ति प्राप्त हुई,—योग-शक्तिने रास्ता साफ कर दिया। यौगिक चेतना तथा उसकी शक्तियोंके बारेमें भी ऐसी ही बात है। आवश्यकता इस बातकी है कि रास्ता साफ कर लिया जाय,—क्योंकि वे चीजें तो पहलेसे ही तुम्हारे भीतर निहित हैं। निःसंदेह सबसे पहली बात है श्रद्धा रखना, अभीप्सा करना और अन्तरकी सच्ची प्रेरणाके साथ प्रयत्न करना।

* * *

तुमने मुझसे पूछा है कि क्या तुम्हें स्वीकार करनेसे पहले जांचनेकी प्रवृत्तिका परित्याग कर देना चाहिये और योगमें प्रत्येक चीजको स्वयंसिद्ध मानकर स्वी-कार कर लेना चाहिये — और 'जांचने' से तुम्हारा अभिप्राय साधारण तर्क-बुद्धि द्वारा जांचना है! मैं इसका बस एक ही उत्तर दे सकता हूँ और वह यह कि योगके अनुभव अन्तर्जगत् की चीजें हैं और वे अपने निजी विधि-विधानके अनुसार चलते हैं; इनकी अपनी ही दृष्टि-शैली है, विचार करनेका अपना निजी मानदंड है और सब कुछ अपना और अलग है और ये सब चीजें न तो स्थूल इंद्रियोंके क्षेत्रकी हैं और न बौद्धिक या वैज्ञानिक अनुसंधानके जगत्की। जिस प्रकार वैज्ञानिक अनुसंधान स्थूल इंद्रियोंके क्षेत्रको अतिक्रांत कर जाता है और अनन्त तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्मके क्षेत्रमें प्रविष्ट हो जाता है, जिसके विषयमें इंद्रियां कुछ कह नहीं सकतीं, कुछ परीक्षण नहीं कर सकतीं — क्योंकि हम परमाणुको देख या छू नहीं सकते, इंद्रिय-मनकी गवाहीके द्वारा यह नहीं जान सकते कि परमाणुकी सत्ता है या नहीं या उसकी गवाहीके आधारपर यह निश्चय नहीं कर सकते कि वास्तवमें पृथ्वी सूर्यके चारों ओर परिक्रमा करती है या सूर्य पृथ्वीके चारों ओर, जैसा कि नित्य-निरंतर हमारी इंद्रियां और हमारा समस्त स्थूल अनुभव हमें बताया करते हैं,—उसी प्रकार आध्यात्मिक जिज्ञासा भी वैज्ञानिक या बौद्धिक अनुसंधानके जगत्से परेकी वस्तु है और आध्यात्मिक अनुभवोंसे अवगत तत्त्वोंकी जांच साधारण प्रत्यक्षमूलक बुद्धि द्वारा नही हो सकती और न यह निर्णय ही हो सकता है कि ये तत्त्व वास्तवमें हैं या नहीं

और इनका नियम क्या है, स्वरूप क्या है। जैसे विज्ञानमें, ठीक वैसे ही योगमें भी अनुभव पर अनुभव प्राप्त करने होते हैं, गुरु द्वारा उपदिष्ट या प्राचीन शास्त्रों द्वारा निर्धारित मार्गोंका निष्ठापूर्वक अनुसरण करके हमें अपने अन्दर एक संबोधिमूलक विवेक-शक्ति विकसित करनी होती है जो विभिन्न अनुभवोंको परस्पर मिलाकर देखती है कि उनका अभिप्राय क्या है, उनमेंसे प्रत्येक कहांतक और किस क्षेत्रमें ठीक है, पूर्णके अन्दर प्रत्येकका क्या स्थान है, आपाततः विरोधी प्रतीत होनेवाले अन्य अनुभवोंके साथ उसे कैसे समन्वित या संबद्ध किया जा सकता है इत्यादि-इत्यादि, और यह विकास तबतक करते जाना होता है जबतक कि हम आध्यात्मिक व्यापारोंके विशाल क्षेत्रमें एक सुदृढ़ ज्ञानके साथ संचरण न करने लगें। आध्यात्मिक अनुभवको जांचनेकी सच्ची कसौटी बस यही है। स्वयं मैंने दूसरे प्रकारकी प्रक्रियाका भी प्रयोग करके देखा है और उसे सर्वथा असमर्थ और अनुपयुक्त पाया है। किंतु यदि तुम स्वयं इन अनुभवोंमेंसे गुजरनेको उद्यत न हो,—क्योंकि विशिष्ट-आध्यात्मिक-शक्ति-संपन्न पुरुष ही ऐसा साहस कर सकते हैं,—तो तुम्हें गुरुके बताये मार्गका अनुसरण करना ही होगा, जैसे विज्ञानमें भी, उसके संपूर्ण क्षेत्रमेंसे गुजरने और उसका स्वयं प्रयोग करनेके बदले तुम एक अध्यापकका आश्रय लेते हो — कम-से-कम तबतक तो अवश्य ही जबतक तुम पर्याप्त ज्ञान और अनुभव प्राप्त नहीं कर लेते। यदि इस प्रकारके मार्गानुसरणको स्वयंसिद्ध मानकर स्वीकार करना कहा जाय तो, तुम्हें इसी प्रकार स्वीकार करना होगा। कारण, मेरी तो समझमें ही नहीं आता कि किन युक्ति-युक्त कसौटियोंके आधारपर तुम साधारण बुद्धिको उससे परेकी वस्तुओंका निर्णायक बनाना चाहते हो।

तुमने 'व' या 'स' के हवाले दिये हैं। उनके वचनोंको मूल्य देनेसे पहले मैं यह जानना चाहूँगा कि उन्होंने अपने आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभवोंको जांचनेके लिये वस्तुतः क्या-क्या किया? 'व' ने अपने आध्यात्मिक अनुभवोंके मूल्यकी जांच कैसे की — इनमेंसे कुछ तो साधारण प्रत्यक्षमूलक मनके लिये उन चमत्कारोंसे अधिक सुविश्वसनीय नहीं हैं जो कुछ प्रसिद्ध योगियोंके नामके साथ जुड़े हुए हैं। मैं 'स' के संबन्धमें कुछ नहीं जानता, परन्तु उसकी कसौटियां क्या थीं और उसने उनका प्रयोग कैसे किया? उसकी प्रणालियां क्या हैं, उसका मानदंड क्या है? मैं तो समझता हूँ कि कोई भी साधारण व्यक्ति दीवालमेंसे बुद्धकी छाया निकलनेको या हयग्रीवके साथ आध घंटेतक वार्तालाप करनेको किसी प्रकार परीक्षा करनेपर भी सच्ची बात स्वीकार नहीं करेगा। ये तथ्य उसे या तो स्वतः-प्रमाणके रूपमें या एकमात्र 'व' के कथनप्रमाणके रूपमें स्वीकार करने होंगे। दोनोंका एक ही अर्थ हुआ। नहीं तो स्वयं-प्रमाणके आधार

पर, इन्हें ऐसी भ्रांतियां या कोरी मानसिक मूर्तियां समझकर त्याग देना होगा, जिनमेंसे एकके साथ श्रवण-भ्रम भी जुड़ा हुआ है। मैं नही समझ पाता कि वह इनकी "परीक्षा" कर ही कैसे सकता है अथवा कैसे मैं 'निर्वाण' के अपने अनुभवको साधारण बुद्धिकी कसौटीपर कसता। भला साधारण प्रत्यक्षमूलक बुद्धिका आश्रय लेकर निर्वाणके संबन्धमें मैं किस निर्णयपर पहुँच सकता था? इसकी सत्यताकी परीक्षा मैं कैसे ले सकता था? मैं तो उसकी कल्पना करनेमें भी असमर्थ हूँ। मैं एक ही बात कर सकता था और वही मैंने की भी, वह यह कि इसे अनुभवके प्रबल एवं उपपन्न सत्यके रूपमें स्वीकार किया, इसे पूरा-पूरा कार्य करनेको छोड़ दिया जिससे यह पूरे प्रयोगात्मक परिणामोंको प्रकट करता गया, जबतक कि मुझे इतना पर्याप्त यौगिक ज्ञान नहीं हो गया कि मैं इसको इसके योग्य स्थानपर स्थापित कर सकूँ। आखिर, आंतरिक ज्ञान या अनुभूतिके बिना तुम या कोई और दूसरोंके आंतरिक ज्ञान और अनुभूतिको कैसे जांच सकेगा?

१८-११-१९३४

विभाग तीन

उनका पथ तथा अन्य पथ

उनका पथ तथा अन्य पथ

श्रीअरविन्दकी शिक्षा और साधनाशैली

श्रीअरविन्दकी शिक्षा भारतके प्राचीन ऋषियोंकी इस शिक्षासे आरम्भ होती है कि विश्वब्रह्माण्डके दिखाई देनेवाले रूपके पीछे एक सत्ता और चेतनाका सत्य-स्वरूप है, सब वस्तुओंकी एक अद्वितीय और शाश्वत आत्मा है। सभी सत्ताएं उस एक आत्माके अन्दर युक्त हैं, परन्तु चेतनाकी एक प्रकारकी पृथक्ता के कारण, मन, प्राण और शरीरमें अपनी सत्य आत्मा और सत्य-स्वरूपके विषयका ज्ञान न होनेके कारण विभक्त हैं। परन्तु एक मनौवैज्ञानिक साधनाके द्वारा भेदात्मक चेतनाके इस पर्देको दूर किया जा सकता है और अपने सच्चे आत्म-स्वरूपको, अपने अन्दर तथा सबके अन्दर विद्यमान भगवान्‌को जाना जा सकता है।

श्रीअरविन्दकी शिक्षा यह कहती है कि 'एक' सत्ता और चेतना यहां जड़तत्त्वमें अन्तर्निहित है और विकासकी प्रक्रियाके द्वारा वह अपने आपको मुक्त करती है। जो कुछ निश्चेतन प्रतीत होता है उसीमें चेतना दिखाई देती है और जब एक बार चेतना प्रकट हो जाती है तो उसके बाद वह अपने आप ही क्रमशः ऊंची होती और साथ ही बड़ीसे बड़ी पूर्णताकी ओर बढ़ती और विकसित होती है। चेतनाकी इस उन्मुक्तिकी प्रथम अवस्था है प्राण; दूसरी अवस्था है मन; परन्तु मनतक आकर ही चेतनाका क्रमविकास समाप्त नहीं हो जाता, वह किसी और बड़ी चीजके अन्दर, एक आध्यात्मिक और अतिमानसिक चेतनाके अन्दर जा मिलनेके लिये प्रतीक्षा कर रहा है। अतएव क्रमविकासका अगला कदम होगा सचेतन सत्तामें अतिमानस और आत्माके सर्वोपरि शक्ति बननेकी ओर प्रगति करना, और केवल उसी अवस्थामें सभी वस्तुओंमें अन्तर्लीन भगवान् अपनेको पूरी तरह मुक्त करेंगे और जीवन पूर्णताको व्यक्त करनेमें समर्थ होगा।

परन्तु जहां प्रकृतिने विकासके पहले कदम पौधे और पशुओंमें कोई सचेतन इच्छा हुए बिना ही आगे बढ़ाये थे, वहां मनुष्यमें आकर वह अपने यंत्रकी सचेतन इच्छाशक्तिकी सहायतासे विकसित होनेके योग्य हो जाती है। परन्तु मनुष्यकी केवल मानसिक इच्छाशक्तिकी सहायतासे ही पूर्ण रूपसे यह कार्य संपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि मन कुछ दूर तक ही जाता है, और उसके बाद केवल गोल-गोल चक्कर काट सकता है। एक बड़े परिवर्तनका होना, चेतनाका पलट जाना अत्यन्त आवश्यक होता है जिससे कि मन एक उच्चतर तत्त्वमें

बदल जाय। इसकी पद्धति हमें योगके प्राचीन मनोवैज्ञानिक अनुशासन और साधनामें मिलती है। प्राचीन कालमें इस संसारसे अलग होकर तथा आत्मा या आत्मतत्त्व की उच्चतामें विलीन होकर इसे साधित करनेकी चेष्टा की जाती थी। परन्तु श्रीअरविन्दकी शिक्षा यह है कि एक उच्चतर तत्त्वका अवतरण संभव है और वह अवतरण हमारे आध्यात्मिक आत्मस्वरूपको केवल जगत्से बाहर ले जाकर ही मुक्त नहीं करेगा, बल्कि इस जगत्के अन्दर भी मुक्त करेगा, मनके अज्ञान या इसके अत्यन्त सीमित ज्ञानके स्थानपर अतिमानसिक सत्य-चेतनाको स्थापित करेगा जो आंतरिक आत्माका ठीक यंत्र होगी और इसीकी सहायतासे मनुष्य अन्तर्मुख और क्रियाशील दोनों भावोंमें अपने आपको प्राप्त करेगा और अपनी पशुतासे भरी मनुष्यतासे निकलकर एक दिव्य जातिमें परि-णत होगा। इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये योग और साधनाका उपयोग किया जा सकता है — अपनी सत्ताके सभी अंगोंको खोलकर और उच्चतर तथा अब तक छिपे हुए अतिमानस-तत्त्वके अवतरण तथा उसकी क्रियाकी सहायतासे परिवर्तन या रूपांतर लाकर इस उद्देश्यको सिद्ध किया जा सकता है।

पर यह कार्य एकदम या थोड़ेसे समयमें अथवा किसी तेज या चमत्कार-पूर्ण रूपांतरके द्वारा नहीं पूरा किया जा सकता। साधकको बहुतसे स्तर पार करने होते हैं और तब कहीं अतिमानसका अवतरण संभव होता है। साधारण तौरपर मनुष्य अधिकांशमें अपने ऊपरी मन, प्राण और शरीरमें ही रहता है, पर उसके अन्दर एक आंतर सत्ता भी है जिसमें बहुतसी महत्तर संभावनाएं हैं और अपनी इस आंतर सत्ताके विषयमें उसे सचेतन होना है। अभी उस सत्ताका एक अत्यन्त सीमित प्रभावमात्र ही मनुष्य ग्रहण करता है और वही उसे सदा एक महत्तर सौंदर्य, सामंजस्य, शक्ति और ज्ञानकी खोजमें लगाये रहता है। अतएव योगकी सबसे पहली प्रक्रिया है इस आंतर सत्ताके सभी क्षेत्रोंको खोल देना और वहां रहते हुए बाहरी जीवन बिताना, एक आंतरिक ज्योति और शक्तिकी सहायतासे अपने बाहरी जीवनको नियंत्रित करना। जब मनुष्य ऐसा करता है तब वह उसके फलस्वरूप अपने अन्दर अपनी सच्ची अन्तरात्माका पता पा लेता है जो केवल मन, प्राण और शरीररूपी तत्त्वोंका बाहरी संमिश्रण ही नहीं है, बल्कि इन सबके पीछे विद्यमान परम सद्वस्तुका एक अंश है, अद्वितीय भागवत अग्निकी एक चिनगारी है। मनुष्यको अपनी इस अन्तरात्मामें निवास करना सीखना होगा और अन्तरात्मा का जो सत्यकी ओर एक प्रवेग है उसके द्वारा अपनी बाकी प्रकृतिको शुद्ध करना तथा उसे भी लक्ष्यकी ओर मोड़ना होगा। उसके बाद फिर हमारा आधार ऊपरकी ओर खुल सकता है और उसके अन्दर दिव्य सत्ताका एक उच्चतर तत्त्व अवतरित हो सकता है। परन्तु इतना

होनेपर भी एकाएक पूर्ण अतिमानसिक ज्योति और शक्तिका अवतरण नहीं होता; क्योंकि साधारण मानव मन और अतिमानसिक सत्य-चेतनाके बीच चेतनाकी बहुतसी भूमिकाएं हैं। इन मध्यवर्ती भूमिकाओंको भी खोलना होगा और उनकी शक्तिको मन, प्राण और शरीरमें उतारना होगा और ऐसा कर लेनेके बाद ही अतिमानसिक सत्य-चेतनाकी पूर्ण शक्ति मनुष्यकी प्रकृतिके अन्दर कार्य कर सकती है। अतएव इस आत्मानुशासन या साधनाकी प्रक्रिया लम्बी और कठिन है, परन्तु इसका थोड़ा-सा भी अंश यदि जीवनमें उतारा जाय तो वह भी लाभ ही है, क्योंकि उससे अन्तिम मुक्ति और सिद्धि प्राप्त करना अधिक संभव हो जाता है।

प्राचीन योगपद्धतियोंमें ऐसी बहुतसी चीजें हैं जिनकी इस पथमें भी आवश्यकता होती है — जैसे, एक महत्तर विशालताकी ओर तथा आत्मा और अनन्तकी अनुभूतिकी ओर अपने मनको खोलना, जिसे विश्वचेतना कहा जाता है उसमें प्रवेश, वासनाओं और षड्रिपुओंपर प्रभुत्व स्थापित करना। बाह्य तपस्या आवश्यक नहीं है, परन्तु कामना-वासना और आसक्तिपर विजय प्राप्त करना तथा शरीर और उसकी आवश्यकताओंको, उसकी लालसाओं और अंध-प्रेरणाओंको संयमित करना आवश्यक है। इस मार्गमें प्राचीन योगपद्धतियोंकी सभी मूल बातोंका समावेश किया गया है — जैसे, ज्ञानमार्गका मनके द्वारा सद्वस्तु और बाह्य रूपके बीच विवेक करना, हृदयमार्गका भक्ति, प्रेम और आत्मसमर्पण करना, कर्ममार्गका अपनी इच्छाशक्तिको स्वार्थपूर्ण उद्देश्योंसे हटाकर सत्यकी ओर लगाना, अपने अहंसे बड़ी दिव्य सद्वस्तुकी सेवामें लगाना इत्यादि। इस मार्गमें सारी सत्ताको इस प्रकार तैयार करना है कि जब महत्तर ज्योति और शक्तिके लिये हमारी प्रकृतिके अन्दर क्रिया करना संभव हो तब हमारी सारी सत्ता उनकी क्रियाको प्रत्युत्तर दे सके तथा रूपांतरित हो सके।

इस साधनामें गुरुकी प्रेरणा तथा कठिन अवस्थाओंमें उनका नियंत्रण और उनकी उपस्थिति आवश्यक है। इनके अभावमें इस पथपर बहुत ठोकरें खाये बिना और भूलें किये बिना नहीं चला जा सकता; यहांतक कि इनके कारण सफलताकी सारी संभावना ही नष्ट हो सकती है। गुरु वे हैं जो उच्चतर चेतना और सत्ताको प्राप्त हो चुके हैं। उन्हें बहुधा उस चेतना और सत्ताका व्यक्त रूप या प्रतिनिधि माना जाता है। वह केवल अपनी शिक्षा द्वारा और उससे भी अधिक अपने प्रभाव तथा उदाहरणके द्वारा ही नहीं, बल्कि अपनी अनुभूतिको दूसरोंतक पहुँचा सकनेके द्वारा भी सहायता करते हैं।

यही श्रीअरविन्दकी शिक्षा तथा उनकी साधनापद्धति है। किसी एक धर्म-विशेषको उन्नत करना, अथवा प्राचीन धर्मोंको एक साथ मिला देना या कोई

नया धर्म प्रचलित करना उनका उद्देश्य नहीं है, क्योंकि इनमेंसे प्रत्येक चीज उनके मुख्य उद्देश्यसे दूर हटा ले जायगी। उनके योगका एकमात्र उद्देश्य है आंतरिक आत्म-विकास जिसके द्वारा इस योगका प्रत्येक साधक यथासमय सर्व भूतोंमें स्थित अद्वितीय आत्माको प्राप्त कर सके तथा अपने अन्दर मानसिक चेतनासे उच्चतर एक ऐसी चेतनाको, एक ऐसी आध्यात्मिक और अतिमानसिक चेतनाको विकसित कर सके जो मानव-प्रकृतिको रूपांतरित करके दिव्य बना दे।

अगस्त, १९३४

ऐहलौकिकता, पारलौकिकता और श्रीअरविन्दका योग

भारतकी आत्मापर तुमने जो टिप्पणी लिखी है तथा "पारलौकिकताका वर्जन करके ऐहलौकिकतापर इस प्रकार बल देने" के विषयपर 'क्ष' ने जो आलोचना की है उनके संबन्धमें मैं एक बात कहनेकी आवश्यकता अनुभव करता हूँ। मुझे ठीक समझमें नहीं आता कि यह आलोचना उसने किस प्रसंगमें की अथवा ऐहलौकिकतासे उसका क्या अभिप्राय था, किन्तु इस विषयमें मैं अपना विचार स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ। भारत आनेके समयसे मेरा अपना जीवन और योग सदा ही ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों रहे हैं तथा इन दोनों पक्षोंमेंसे किसी पर भी मैंने ऐकांतिक बल कभी नहीं दिया। मेरी समझमें सभी मानवीय विषय ऐहलौकिक हैं और उनमेंसे अधिकतरने मेरे मानसिक क्षेत्रमें प्रवेश पाया है तथा राजनीति जैसे कुछ एक विषय तो मेरे जीवनके अंग भी बने हैं। पर साथ ही, जबसे मैं बंबईके अपोलो बन्दरपर उतरा और भारतकी भूमिपर पग रखा, मुझे आध्यात्मिक अनुभूतियां होने लगीं जो इस जगत्‌से अलग नहीं थीं बल्कि इसके साथ आंतर एवं असीम संबंध रखती थीं। उदाहरणार्थ, मुझे 'अनन्त' का अनुभव हुआ, जो भौतिक देशमें रमा हुआ है, तथा अन्तर्यामीका भी जो भौतिक पदार्थोंमें, घट-घटमें, वास कर रहा है। साथ ही मैंने अपनेको उन अतिभौतिक लोकों एवं स्तरोंमें प्रवेश करते अनुभव किया जिनका जड़ स्तर पर अनेकविध प्रभाव पड़ता है तथा जो यहां परिणाम उत्पन्न करते हैं। अतएव, जिन्हें मैं सत्ताके दो ध्रुव कहता हूँ उनमें तथा उनके बीच जो कुछ है उसमें कोई तीव्र विभेद या असमाधेय विरोध नहीं अनुभव कर सका! मेरे लिये तो सब कुछ ब्रह्म ही है और मैं सर्वत्र भगवान्‌को ही देखता हूँ। प्रत्येक व्यक्तिको यह अधिकार है कि वह ऐहलौकिकताको त्याग कर केवल पारलौकिकताको ही वरण करे, और यदि उसे इस चुनावसे शांति प्राप्त होती हो तो वह बड़ा ही सौभाग्यशाली है। हां, स्वयं मुझे शांति प्राप्त

करनेके लिये ऐसा करनेकी आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। अपने योगमें भी मुझे अपने दृष्टि-क्षेत्रके भीतर आध्यात्मिक और भौतिक दोनों लोकोंको समाविष्ट करने तथा केवल निजी मोक्षके लिये नहीं, बल्कि भूतलपर दिव्य जीवनकी स्थापनाके लिये मनुष्योंके हृदयों एवं इहलोकके जीवनमें भागवत चेतना तथा भागवत शक्तिके प्रतिष्ठार्थ यत्न करनेकी प्रेरणा अनुभव हुई। यह लक्ष्य मुझे अन्य किसी भी लक्ष्यसे कम आध्यात्मिक नही प्रतीत होता और मेरे विचारमें यह तथ्य कि यह जीवन अपने क्षेत्रमें पार्थिव कार्यों और पार्थिव वस्तुओंको ग्रहण करता है, इसकी आध्यात्मिकताको कलुषित नहीं कर सकता और न यह इसके भारतीय स्वरूपमें कोई हेर-फेर कर सकता है। जगत् भूतमात्र और भगवान्के सत्य स्वरूप एवं स्वभावके सम्बन्धमें कम-से-कम मेरा विचार और अनुभव तो सदासे यही रहा है। यह मुझे उनका यथासम्भव निकटतर सर्वांग-सत्य प्रतीत हुआ और इसलिये मैंने इसकी खोज को सर्वांगीण योगके नामसे पुकारा है। निःसंदेह प्रत्येक मनुष्यको यह स्वतंत्रता है कि वह इस प्रकारकी सर्वांगपूर्णतामें अविश्वास करे एवं इसका त्याग कर दे अथवा सम्पूर्ण पार-लौकिकताकी आध्यात्मिक आवश्यकतामें ही एकदम विश्वास करे, परन्तु इससे मेरे योगका अभ्यास करना असम्भव हो जायगा। निःसंदेह, मेरे योगमें अन्य सभी लोकोंके अनुभवका, परमोच्च आत्माके स्तर तथा बीचके और सब लोकोंके अनुभवका तथा पार्थिव जगत् और हमारे जीवनपर पड़नेवाले उनके प्रभावका समावेश हो सकता है। किंतु यह भी सर्वथा सम्भव हो सकता है कि परम पुरुष या ईश्वरके किसी एक ही स्वरूपकी, जगत्के अधीश्वर और हमारे एवं हमारे कर्मोंके प्रभुके रूपमें शिव, कृष्णकी अथवा विश्वव्यापी सच्चिदानन्दकी उपलब्धिपर ही कोई आग्रह करे तथा इस योगके सारभूत परिणामोंको प्राप्त कर ले और फिर, यदि वह इस जड़ जगत्पर आत्माकी विजय एवं दिव्य जीवन-के आदर्शको स्वीकार करे तो इन परिणामोंसे भी और आगे सर्वांगपूर्ण परिणाम-की ओर बढ़े। इसी दृष्टि और वस्तुओं तथा सत्ताके सत्यविषयक अनुभवने ही मुझे 'दिव्य जीवन' (The Life Divine) और 'सावित्री' (Savitri) लिखनेके योग्य बनाया। निश्चय ही परात्पर पुरुष, ईश्वरका साक्षात्कार मुख्य वस्तु है, किंतु प्रेम, आराधना एवं भक्तिके द्वारा उनके पास जाना, अपने कर्मोंके द्वारा उनकी सेवा करना, और उनको जानना — निश्चय ही बौद्धिक ज्ञानके द्वारा नहीं बल्कि आध्यात्मिक अनुभूतिके द्वारा जानना — भी पूर्णयोगके मार्गके लिये आवश्यक है।

२८-४-१९४९

दिव्य जीवनका योग

तुम्हारे अन्दर पुकार मालूम होती है और हो सकता है कि तुम योगके अधिकारी हो, किंतु बहुतसे मार्ग हैं और प्रत्येकका लक्ष्य और ध्येय अलग है। कामनाओं-को जीतना, जीवनके साधारण सम्बन्धोंको त्यागना और अनिश्चयतासे ध्रुव निश्चयताकी ओर जानेका यत्न करना — ये बातें सब मार्गोंमें एक-सी हैं। मनुष्य स्वप्न और निद्रा तथा भूख-प्यास आदिको जीतनेका भी यत्न कर सकता है। परन्तु जगत् या जीवनसे कुछ भी सरोकार न रखना अथवा इंद्रियोंको मार डालना या उनकी क्रियाको पूर्ण रूपसे दबा देना मेरे योगका अंग नहीं है। मेरे योगका उद्देश्य भागवत सत्यके प्रकाश, शक्ति एवं आनन्द तथा उसकी क्रियाशील निश्चयताको जीवनमें उतारकर उनके द्वारा इसे रूपांतरित करना है। यह योग संसारसे कतरानेवाले संन्यासका नहीं वरन् दिव्य जीवनका योग है। इसके विपरीत, तुम्हारा उद्देश्य समाधिमें प्रवेश करने तथा उसमें रहते हुए जगत्-सत्ताके साथके समस्त सम्बन्धोंसे विरत होनेपर ही उपलब्ध हो सकता है।

निष्क्रमणका मार्ग और विजयका मार्ग

देखनेमें यह विश्व निश्चय ही एक भद्दा एवं फजूलखर्चीसे भरा खेल है अथवा अबतक यह ऐसा ही रहा है। इस खेलके पासे हमेशा अन्धकारकी शक्तियों, अज्ञान, असत्य, मृत्यु और दुःखके अधिपतियोंके पक्षमें ही पड़ते हैं। परन्तु यह जैसा है वैसा ही इसे स्वीकार करना होगा और, यदि हम पुराने ऋषियोंके बाहर निकल जानेके पथको त्याग दें तो, हमें विजय प्राप्त करनेका पथ ढूंढ़ निकालना होगा। आध्यात्मिक अनुभव बताता है कि इस सबके पीछे समता, शांति, स्थिरता और स्वतंत्रताकी एक विस्तृत भूमि है, और उसमें प्रवेश करने पर ही हम देखनेवाली आंख प्राप्त कर सकते और उस शक्तिको पानेकी आशा कर सकते हैं जो विजयी होती है।

मायावाद, निर्वाण और श्रीअरविन्दका योग

निर्वाणके विषयमें

जब मैं 'आर्य' के लिये लिखा करता था, मैं मनके लिये जगत्-विषयक अधिमानसिक विचार प्रस्तुत कर रहा था और इसे मानसिक परिभाषाओंमें प्रकट करता था। इसीलिये मुझे कभी-कभी तर्कका प्रयोग करना पड़ता था।

कारण, ऐसी रचनामें — जो बुद्धि तथा अतिबौद्धिक स्तरके बीचकी है — तर्क अपना स्थान रखता है, यद्यपि यह ठीक है कि शुद्ध मानसिक दर्शन-शास्त्रोंमें इसे जो मुख्य स्थान प्राप्त है वह इसे यहां नहीं प्राप्त हो सकता। स्वयं मायावादी भी एक कठोर न्यायिक तर्कणाके द्वारा अपना दृष्टिकोण या अपना अनुभव स्थापित करनेकी चेष्टा करता है। हां, जब मायाकी व्याख्या का प्रसंग आता है, वह प्रकृतिकी गवेषणा करनेवाले वैज्ञानिककी भांति इस विश्वकी रहस्यमयी रचनाकी प्रक्रिया-विषयक अपने विचारोंको क्रमवद्ध तथा संगठित करनेसे अधिक कुछ नहीं कर सकता। वह नहीं बता सकता कि उसकी यह भ्रमात्मक रहस्य-मयी माया क्यों या कैसे उत्पन्न हुई। वह बस इतना ही कह सकता है, "हां, पर यह माया तो यहां है ही।"

निःसन्देह, यह है तो सही; किंतु सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि यह है क्या? क्या यह सचमुच ही एक भ्रमात्मक शक्तिके सिवा और कुछ नहीं है, अथवा मायावादीका विचार केवल एक भ्रांत प्रथम धारणा एवं अपूर्ण मानसिक अध्ययन है, यहां तक कि शायद यह स्वयं भी एक भ्रम है? और फिर, "क्या भ्रम ही एकमात्र या सर्वोच्च शक्ति है जो भागवत चेतना या अतिचेतनाके अन्दर विद्यमान है?" निरपेक्ष ब्रह्म मायासे मुक्त एक निरपेक्ष सत्य है, अन्यथा मोक्ष-प्राप्ति संभव नहीं हो सकती। तो क्या मिथ्यात्वकी शक्ति और निःसंदेह इसके साथ ही सदा रहनेवाली, मिथ्यात्वको विघटित या अस्वीकृत करनेकी शक्ति,—जिसके रहते भी मिथ्यात्व सदासे विद्यमान है,—इन दो शक्तियोंको छोड़कर और कोई भी सक्रिय शक्ति परम एवं निरपेक्ष सत्यमें नहीं है? मेरा कहना है कि यह बात कुछ विचित्र-सी लगती है। पर विचित्र हो या न हो, यदि यह ऐसी है, तो ऐसी ही है — क्योंकि जैसा तुमने निर्देश किया है, अनिर्वच-नीयको न्यायशास्त्रके नियमोंसे नहीं बांधा जा सकता। परन्तु इसका निर्णय कौन करेगा कि यह बात ऐसी ही है? तुम कहोगे, वे लोग जो वहांतक पहुँचते हैं। परन्तु कहां पहुँचते हैं? पूर्ण और परम ब्रह्मतक (पूर्ण परम्)? क्या मायावादीका निराकार ब्रह्म ही वह सर्वांगपूर्ण है — क्या वही परतम है? क्या उस परतमसे परे — परात् परम् — कोई नहीं है या कोई नहीं हो सकता? यह कोई तर्क-शास्त्रका प्रश्न नहीं, बल्कि आध्यात्मिक तथ्य तथा पूर्ण एवं परम अनुभवका प्रश्न है। निश्चय ही, इस विषयका समाधान तर्कपर नहीं, वरन् एक विकसनशील अर्थात् सदा अधिकाधिक उच्च और विशाल होनेवाले आध्या-त्मिक अनुभवपर निर्भर होना चाहिये — ऐसे अनुभवपर जो निःसंदेह अपनेमें निर्वाण और मायाके अनुभवको भी अन्तर्भुक्त करे या उसमें से गुजर चुका हो, अन्यथा न तो वह पूर्ण होगा और न वह कोई निर्णय ही कर सकेगा।

अब, मेरे अपने योगका पहला मौलिक परिणाम था निर्वाण-प्राप्ति। उसने मुझे सहसा एक ऐसी स्थितिमें पहुँचा दिया जो विचारसे ऊपर एवं विचारसे खाली थी तथा किसी भी मानसिक या प्राणिक गतिसे कलुषित नहीं थी। वहां कोई अहं नहीं था, कोई वास्तविक जगत् नहीं था — हां, इतना अवश्य था कि यदि अचल इंद्रियोंके द्वारा कोई देखता तो कोई सत्ता खोखले आकारों, अर्थात् सच्चे सारतत्त्वसे रहित मूर्त्त-भूत प्रतिविंबोंके जगत्का अवलोकन करती या उसे अपनी विशुद्ध नीरवतापर वहन करती अनुभूत होती। यहांतक कि वहां न 'एक' था न 'वहु', था केवल एकदम पूर्ण 'तत्', निराकार निःसंवंध, केवल, अकथ, अचिन्त्य, निरपेक्ष और फिर भी परम सत्य एवं एकमात्र सत्य। वह कोई मानसिक अनुभव नहीं था न ही वह कहीं ऊर्ध्वमें दृष्ट कोई वस्तु किंवा कोई अमूर्त भाव था,—वह तो भावात्मक, एकमात्र भावात्मक सद्वस्तु थी — यद्यपि वह देशगत भौतिक जगत् नहीं थी, वल्कि एक ऐसी वस्तु थी जिसने भौतिक जगत्के इस आकारको व्याप्त, अधिकृत वरंच आप्लावित एवं निमज्जित कर रखा था, अपने सिवा और किसीके लिए किंचित् भी यथार्थ, भावात्मक या सारभूत प्रतीत होनेका अवसर नहीं रखा था। मैं नहीं कह सकता कि जिस रूपमें वह अनुभव उस समय मुझे प्राप्त हुआ उसमें कोई आनन्द या हर्षावेश पैदा करनेवाली वस्तु थी,—(अनिर्वचनीय आनन्द तो मुझे वर्षों वाद ही प्राप्त हुआ),—किन्तु वह अपने संग अवर्णनीय शांति, विशाल नीरवता तथा अनन्त मुक्ति एवं स्वतंत्रता अवश्य ले आया। मैं दिन-रात उस निर्वाणकी स्थितिमें वना रहा जवतक कि उसने अपने अन्दर अन्य वस्तुओंको स्थान देना अथवा अपनेको परिवर्तित करना आरम्भ नहीं किया, और अनुभवका आंतरिक सार, उसकी अविच्छिन्न स्मृति तथा उसके पुनः लौटनेका सामर्थ्य तो तबतक बने रहे जबतक कि वह अन्तमें ऊर्ध्वकी एक बृहत्तर अतिचेतनामें विलीन होना आरम्भ नहीं हो गया। परन्तु इस बीच अनुभव एकके बाद एक बढ़ने लगे और वे इस मूल अनुभवमें घुल-मिलकर एक हो गये। आरंभिक अवस्थामें ही भ्रमात्मक जगत्के रूपने एक ऐसे रूपको स्थान दे दिया जिसके अन्दर भ्रम* तो केवल बाह्य तुच्छ व्यापार था और उसके पीछे एक विशाल दिव्य सद्वस्तु तथा उसके ऊपर एक चरम दिव्य सद्वस्तु थी और आरम्भमें केवल सिनेमाका आकार या छाया प्रतीत होनेवाली प्रत्येक चीजके हृदयमें एक घनीभूत दिव्य

* वास्तवमें यह वैसा भ्रम नहीं है जैसा चेतनापर किसी मिथ्या एवं निराधार वस्तुका अध्यारोप होता है, वरन् यह चेतन मन और इन्द्रियानुभवके द्वारा जगत्की अशुद्ध व्याख्या है और है व्यक्त सत्ताका मिथ्याकारी दुरुपयोग।

सद्वस्तु थी। यह अनुभव न तो फिरसे इन्द्रियोंमें कैद होना था और न परम अनुभूतिका ह्रास या उससे पतन ही था, वरंच यह सत्य के निरन्तर उच्च उच्च और विशाल होनेके अनुभवके रूपमें प्राप्त हुआ था; उस समय आत्मा ही सब पदार्थोंको देखती थी, इन्द्रियां नहीं; और शांति, नीरवता और साथ ही अनन्तताके अन्दर स्वातंत्र्यकी भावना सदा बनी हुई थी और यह लोक या सभी लोक-लोकान्तर भगवान्‌की कालातीत नित्यताके भीतर एक अविच्छिन्न घटनामात्र प्रतीत होते थे।

अब, मयावादके प्रति मेरे दृष्टिकोणमें सारी कठिनाई तो यही है। मेरी मुक्त चेतनामें निर्वाण मेरी अनुभूतिका आरम्भ और पूरी चीजकी तरफ पहला कदम निकला, वह एकमात्र प्राप्त हो सकनेवाली चीज या अंतिम प्राप्तिके रूपमें न था। वह मेरे बिना मांगे और बिना खोजे यों ही आ गया, फिर भी आनेपर वह स्वागतके योग्य ही था। प्राप्तिसे पहले मेरे मनमें इसके विषयमें कोई ख्याल तक न था, न इसके लिये कोई अभीप्सा ही थी। सच तो यह है कि मेरी अभीप्सा ठीक इसके विपरीत, संसारकी सहायता करने तथा इसमें रहते हुए अपना कार्य करनेके हित आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करनेके लिये थी। तथापि निर्वाण आ ही धमका — उसने यह भी नहीं पूछा कि "क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ?" या "आज्ञा है क्या?" बस वह आ पहुँचा और मेरे अन्दर ऐसे प्रतिष्ठित हो गया मानों सदा-सर्वदाके लिये आया हो या मानों वास्तवमें वह सदासे ही वहां विद्यमान रहा हो। तदनन्तर वह क्रमशः एक ऐसी वस्तुमें विकसित होता गया जो उसके पहले स्वरूपसे हीन नहीं, वरन् महत्तर थी। तब भला कैसे मैं मायावादको स्वीकार कर सकता था अथवा उस सत्यके विरुद्ध खड़ा होनेके लिये ही उद्यत हो सकता था जो शंकरके तर्ककी अपेक्षा ऊंचे स्तरसे मुझे दिया गया था।

परन्तु मेरा यह आग्रह नहीं कि प्रत्येक मनुष्य मेरे अनुभवमेंसे गुजरे अथवा इसके परिणामभूत सत्यका अनुसरण करे। मुझे इसमें कुछ आपत्ति नहीं कि कोई मायावादको अपनी आत्मा या मनका सत्य अथवा विश्वकी समस्यासे निस्तार पानेके लिये आत्मा या मनका साधन स्वीकार करे। मुझे इसपर तभी आपत्ति होती है जब कोई इसे मेरे या संसारके गले उतारनेका यत्न करता है यों कहकर कि यह जगत्‌का एकमात्र संभवनीय संतोष-कारक तथा सर्वग्राही समाधान है। यह ऐसा बिलकुल नहीं है। अन्य भी बहुतसे समाधान संभव हैं; और फिर यह जरा भी संतोषजनक नहीं है, क्योंकि अन्ततः यह किसी चीजका भी समाधान नहीं करता। यह पूर्णतः ऐकांतिक है, नाममात्र भी सर्वग्राही नहीं है, और जब तक यह अपने तर्कसे अलग नहीं होता तबतक

निःसन्देह यह ऐसा ही रहेगा। परन्तु यह कोई महत्त्वकी बात नहीं है। क्योंकि कोई सिद्धांत अशुद्ध या कम-से-कम एकांगी एवं अपूर्ण होता हुआ भी अत्यन्त व्यवहार्य एवं उपयोगी हो सकता है। विज्ञानके इतिहासमें इसके यथेष्ट प्रमाण पाये जाते हैं। सच पूछो तो, कोई भी सिद्धांत, वह चाहे दर्शनका हो या विज्ञान का, मनके अवलंबके अतिरिक्त कुछ नहीं होता। वह एक ऐसा क्रियात्मक साधन होता है जिससे मनको अपने विषयका विवेचन करनेमें सहायता मिलती है; वह एक ऐसी लाठीका काम करता है जिसका आश्रय लेकर मन अपनी कठिन यात्रामें अधिक विश्वासपूर्वक पग रखने एवं आगे बढ़नेमें समर्थ होता है। मायावादका सब कुछ छोड़कर एक ही दिशामें लग जाना उसे एक ऐसे आध्यात्मिक प्रयासके लिये सबल आश्रय अथवा शक्तिशाली प्रेरक बना देता है जो एकपक्षीय, मौलिक और एकमुखी होता है। मायावाद 'मन' को एक निकटतर पथसे अपने-आप तथा 'प्राण' से निकलकर अतिचेतनामें प्रवेश करनेका प्रयास करनेमें सहायता देता है। अथवा यों कहें कि 'मन' में अवस्थित पुरुष ही 'मन' और 'प्राण' की सीमाओंसे निकलकर अतिचेतन अनन्तमें प्रवेश करना चाहता है। सिद्धांत-रूपमें, इसका उपाय यह है कि मन अपने सब बोधों तथा प्राणकी सभी प्रवृत्तियोंका परित्याग कर दे और उन्हें भ्रम समझे तथा उनके साथ इसी रूपमें व्यवहार करे। कार्य-रूपमें, जब मन प्रत्याहार करता है (अपने-आपसे पीछे हटकर अन्तरमें स्थित होता है) तो वह सहज ही एक सगरहित शान्तिमें प्रवेश करता है जिसमें किसी चीजका कुछ महत्त्व नहीं रह जाता — क्योंकि उस अवस्थाकी निरपेक्षतामें मानसिक या प्राणिक मूल्योंका अस्तित्व ही नहीं होता। फिर उस शान्तिमें मन अतिचेतनाकी और ले जानेवाली उस महान् पगडंडी अर्थात् मनोतीत समाधि या सुषुप्तिकी ओर वेगपूर्वक प्रगति कर सकता है। उस प्रगतिकी पूर्णताके अनुपातमें वे सभी बोध, जिन्हें उसने कभी स्वीकार किया था, उसके निकट मिथ्या — भ्रम या माया — बन जाते हैं। वह लयके पथपर चला जाता है।

अतएव, मायावाद जगत्संबंधी अपने मानसिक सिद्धांतके कारण दोषपूर्ण होनेपर भी, निर्वाण पर अनन्य बल देनेसे एक महान् आध्यात्मिक उद्देश्यको सिद्ध करता है और, एक पथके रूपमें, बहुत ऊंचे तथा दूर ले जानेवाला है। यहांतक कि, यदि मन अन्तिम तत्त्व होता तथा उसके परे शुद्ध आत्माके सिवा और कुछ न होता तो मैं इसे (मायावादको) छुटकारेका एकमात्र पथ स्वीकार करनेके विरुद्ध न होता। कारण, मनने अपने बोधों तथा प्राणने अपनी कामनाओंके द्वारा इस जगत्के जीवनको जैसा बना डाला है वह एक बहुत ही बुरा गड़बड़-झाला है, और यदि इससे अच्छी और किसी चीजकी आशा न की जा सकती

तो इससे बाहर निकलनेका सबसे छोटा मार्ग ही सर्वोत्तम पथ होता। परन्तु मेरा अनुभव यह है कि मनसे परे भी कोई वस्तु है; मन यहां आत्माका अन्तिम प्रकाश नहीं है। मन अज्ञानमय चेतना है और इसके बोध मिथ्या, मिश्रित या अपूर्ण वस्तुके सिवा और कुछ नहीं हो सकते — यहांतक कि जब ये सत्य होते हैं तब भी ये सत्यकी अपूर्ण छाया ही होते हैं, उसका अपना साक्षात् रूप नहीं। परन्तु एक सत्य-चेतना भी है जो केवल स्थितिशील एवं अन्तर्मुखी ही नहीं, बल्कि गतिशील एवं सृष्टिक्षम भी है और मैं एक छोटा रास्ता अपनाकर अज्ञानकी लक्ष्यभूत वस्तुओंसे पराङ्मुख होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक उस सत्य-चेतनाको ही प्राप्त करना तथा यह देखना चाहता हूँ कि जगत्के बारेमें वह क्या कहती तथा क्या कर सकती है। मैं सभी वस्तुओंसे पृथक् उस छोटे पथको अपनाना नहीं चाहता जिसे अज्ञान अपने निजी लक्ष्यके रूपमें प्रस्तुत करता है।

शंकरका मायावाद और पूर्णयोग

मैं अपने योगको इस अपर्याप्त आधारपर खड़ा नहीं करता कि आत्मा (अंतरात्मा नहीं) नित्यमुक्त है। यह प्रस्थापना अपनेसे परे और कहीं नहीं ले जाती, अथवा यदि इसे एक आरम्भ-बिन्दुके, रूपमें प्रयुक्त किया जाय तो यह हमें समान रूपसे इस निष्कर्षपर ही पहुँचा सकती है कि कर्म और सृष्टिका कुछ भी मूल्य या महत्त्व नहीं है। किन्तु प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न तो यह है कि सृष्टिका प्रयोजन क्या है? क्या कोई ऐसा 'परम' है जो केवल शुद्ध और भेदशून्य चित् ही नहीं बल्कि सृष्टिकी क्रियाशील शक्तिका स्रोत और आश्रय भी है, और क्या उस 'परम' के लिये इस विश्व-सत्ताका कोई अर्थ और मूल्य भी है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका निर्णय शब्दों और विचारोंके साथ खेल करनेवाले दार्शनिक तर्कके द्वारा नहीं किया जा सकता। इसका निर्णय तो उस आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा ही किया जा सकता है जो 'मन' के परे जाता और आध्यात्मिक तथ्योंमें प्रवेश करता है। प्रत्येक व्यक्तिका मन अपनी निजी तर्कणासे संतुष्ट होता है, किंतु आध्यात्मिक प्रयोजनोंके लिये उस संतुष्टिका कोई मूल्य नहीं; हां, वह इस बातका चिह्न अवश्य होती है कि आध्यात्मिक अनुभवके क्षेत्रमें वह व्यक्ति कहांतक किस दिशामें जानेके लिये तैयार है। यदि तुम्हारी तर्कणा तुम्हें 'परम'-विषयक शंकरके सिद्धांतपर पहुँचाती है तो यह इस बातका चिह्न हो सकता है कि अद्वैत वेदान्त (मायावाद) तुम्हारी प्रगतिका पथ है।

यह योग विश्व-सत्ताके महत्त्वको स्वीकार करता है और इसे एक सद्वस्तु

मानता है; इसका लक्ष्य है एक उच्चतर सत्य-चैतन्य या भागवत विज्ञान-चैतन्यमें प्रवेश करना जहां कर्म और सृष्टि अविद्या एवं अपूर्णताकी नहीं बल्कि सत्य, ज्योति एवं भागवत आनन्दकी अभिव्यक्ति हैं। परन्तु इसके लिये मर्त्य मन, प्राण और शरीरका उस उच्चतर चेतनाके प्रति समर्पण एक अनिवार्य साधन है, क्योंकि अपने ही पुरुषार्थके बलपर मनको पारकर अतिमानसिक चेतना-में, जहां मन नहीं, बल्कि बिलकुल और ही शक्ति क्रियाशील है, प्रवेश करना मर्त्य मानवके लिये बहुत ही कठिन है। केवल उन्हींको, जो ऐसे रूपांतरकी पुकारको अंगीकार कर सकते हैं, इस योगमें प्रवेश करना चाहिये।

२-१०-१९३८

वस्तुवादी और मायावादी अद्वैत

अद्वैत वस्तुवादी भी हो सकता है और मायावादी भी। 'दिव्य जीवन' (The-Life Divine) का दर्शन वस्तुवादी अद्वैत है। जगत् 'दिव्य सत्य' की अभि-व्यक्ति है और इसलिये स्वयं यह भी सत्य है। सत्य वस्तु है — अनन्त और नित्य भगवान्,—अनन्त और नित्य सत्, चित् और आनन्द। उन भगवान्ने अपनी शक्ति द्वारा इस जगत्की सृष्टिकी है या, यों कहें कि अपनी अनन्त सत्तामेंसे इसे अभिव्यक्त किया है। परन्तु यहां इस जड़ जगत्में या इसके आधार में उन्होंने अपनेको ऐसी चीजोंमें छिपा रखा है जो उनसे ठीक विपरीत,—अ-सत्, निश्चेतन और निर्जीव दिखाई देती हैं। आजकल हम उसे 'निश्चेतन' कहते हैं जो अपनी निश्चेतन 'शक्ति' द्वारा जड़ जगत्को पैदा करता हुआ-सा दीखता है। परन्तु यह तो केवल 'दीखता' है, क्योंकि अन्तमें हमें पता लगता है कि संसारकी सभी क्रमव्यवस्थाएं केवल एक परम निगूढ़ प्रज्ञाकी क्रिया द्वारा ही व्यवस्थित की हुई हो सकती हैं। निश्चेतन शून्य प्रतीत होनेवाली चीजके अन्दर जो 'सत्ता' छिपी हुई है वह इस संसारमें सर्वप्रथम जड़के रूपमें प्रकट होती है, उसके बाद प्राण-रूपमें, फिर मन-रूपमें और अन्तमें आत्माके रूपमें। आपाततः निश्चेतन 'शक्ति', जो सर्जन करती है, वास्तवमें भगवान्की ही चित्-शक्ति है और जड़के अन्दर छिपा हुआ उसका चित्-स्वरूप प्राणके अन्दर प्रकट होना आरम्भ करता है, मनके अन्दर अपना और अधिक स्वरूप अधिगत करता है और आध्यात्मिक चेतनामें तथा अन्ततः उस अतिमानसिक चेतनामें अपना सच्चा 'स्व'-रूप प्राप्त करता है, जिसके द्वारा हम परम सद्वस्तुका ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसमें प्रवेश करते हैं और उसके साथ युक्त हो जाते हैं। इसे ही हम विकास कहते हैं और यह विकास चेतनाका विकास है तथा वस्तुओंमें निहित आत्माका

विकास है और केवल बाहरी तौरपर ही यह योनियोंका विकास है। इसी प्रकार, आदि जड़तासे सत्ताका आनन्द पहले सुख एवं दुःखके परस्पर-विरोधी रूपोंमें प्रकट होता है। फिर, आत्माके आनन्दमें या, जैसा कि इसे उपनिषदोंमें कहा गया है, ब्रह्मके आनन्दमें उसे निज 'स्व'-रूपकी उपलब्धि करनी होती है। 'दिव्य जीवन' में प्रस्थापित विश्वकी व्याख्यामें इसी केंद्रीय विचारको सामने रखा गया है।

शंकर और मायावाद

> प्र०— "प्रबुद्ध भारत" के एक लेखकका कहना है कि आपने शंकरके दर्शनका जो तात्पर्य समझा है वह ठीक नहीं है। संभवतः उसके कथनका आधार यह है कि स्थान-स्थानपर शंकर ब्रह्मवाद या भक्ति-वादकी ओर जो इंगित करते हैं, उन्हें आपने दृष्टिसे ओझल कर दिया है। मुझे संदेह है कि विवेकानन्द या रामकृष्ण भी शंकरके दर्शनको पूर्ण रूपसे स्वीकार करते थे या नहीं।

उ०— वे (मायावादी) यह दिखाना चाहते हैं कि शंकर वैसे उग्र रूपमें माया-वादी नहीं थे जैसा कि उन्हें बताया जाता है — वे कहते हैं कि शंकरने जगत् की एक प्रकारकी अस्थायी वास्तविकता मानी थी और वे शक्तिको भी स्वीकार करते थे इत्यादि इत्यादि। परंतु (यदि यह मान भी लिया जाय कि उन्होंने इन्हें मान्यता दी थी तो भी) ये ऐसी मान्यताएं हैं जो उनके अपने दर्शनके तर्कसे असंगत हैं। कारण, उनका दर्शन तो यही है न कि केवल ब्रह्म ही सत् है और शेष सब अज्ञान एवं भ्रम है। अन्य सभी वस्तुएं केवल मायामें एक अस्थायी और अतएव, भ्रमात्मक अस्तित्व रखती हैं। और फिर उनका यह भी विश्वास था कि कर्मोंसे ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि उनका दर्शन यह नहीं था तो मैं जानना चाहता हूँ कि वह और क्या था। कुछ भी हो, लोगोंने उनके दर्शनको इसी रूपमें समझा है। अब चूँकि सामान्य रूपसे लोग अत्युग्र मायावाद से मुँह मोड़ रहे हैं, बहुतेरे अद्वैतवादी ऐसी बातोंकी आड़ लेकर अपना और साथ ही शंकरका भी बचाव करनेकी कोशिश कर रहे हैं।

विवेकानन्दने शंकरके दर्शनको कुछ संशोधनोंके साथ ग्रहण किया था; उनमें सबसे मुख्य दरिद्र-नारायणकी सेवा है जो बौद्धोंकी करुणा तथा आधुनिक परोपकार-वृत्तिका मिश्रण है।

८-२-१९३५

श्रीअरविन्दके योगमें नये तत्त्व

रूपांतरसे मेरा अभिप्राय प्रकृतिके थोड़े-बहुत परिवर्तनसे नहीं है — उदाहरणार्थ, मेरा मतलब संत-स्वभाव या सदाचारकी पूर्णता या (तांत्रिकोंकी सिद्धियों जैसी) यौगिक सिद्धियों या चिन्मय शरीरकी प्राप्तिसे नहीं है। 'रूपांतर' शब्द मैं विशेष अर्थमें प्रयुक्त करता हूँ। वह अर्थ है चेतनाका आमूलचूल, पूर्ण और एक विशिष्ट प्रकारका परिवर्तन जिसकी कल्पना इस प्रयोजनके लिये की गई है कि वह जीवके आध्यात्मिक विकासमें एक दृढ़ तथा निश्चित कदम बढ़ानेवाला होगा। प्राणमय और अन्नमय-प्राणजगत्में पहली बार मनोमय जीवके प्रकट होनेपर जो विकास हुआ था उसकी अपेक्षा यह आध्यात्मिक विकास अधिक महान् एवं उच्च कोटिका होगा और इसका क्षेत्र एवं पूर्णता अधिक विशाल होगी। अगर इस विकाससे कम कोई चीज घटित हो या कम-से-कम इसके आधारपर यदि एक वास्तविक आरम्भ न हो, इस परिपूर्णताकी ओर कोई आधार-भूत प्रगति न हो तो मेरा उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। किसी आंशिक उपलब्धि, किसी मिश्रित एवं अनिश्चयात्मक वस्तुसे वह मांग पूरी नहीं होती जिसकी पूर्त्ति मैं जीवन और योगसे चाहता हूँ।

साक्षात्कार-जन्य प्रकाश और अवतरण एक ही वस्तु नहीं है। साक्षात्कार अपने-आप ही सारी सत्ताको आवश्यक तौरपर रूपांतरित नहीं कर देता; यह केवल ऊपरी भागमें चेतनाको ऊपरकी ओर खोल सकता है, उसे ऊंचा उठा सकता है या उसके विस्तारको बढ़ा सकता है जिससे प्रकृतिके भागोंमें कोई मूलगत परिवर्तन आये विना पुरुष-भागमें कुछ साक्षात्कार प्राप्त किया जा सके। चेतनाके आध्यात्मिक शिखरपर व्यक्ति साक्षात्कार का कुछ प्रकाश भले ही प्राप्त कर ले, परन्तु नीचेके भाग ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। इसके कितने ही दृष्टांत मैंने देखे हैं। प्रकाशका अवतरण केवल मन या उसके किसी भागमें नहीं बल्कि स्थूल भौतिक और उससे भी नीचेके भागोंतक संपूर्ण सत्तामें होना चाहिये ताकि वास्तविक रूपांतर हो सके। मनमें प्राप्त प्रकाश मन या उसके किसी भागको अध्यात्ममय बना सकता है या उसे किसी तरह अन्य रूपमें परिवर्तित कर सकता है, किंतु यह आवश्यक नहीं कि वह प्राणमय प्रकृतिको भी बदल दे। प्राणमें प्राप्त प्रकाश प्राणमय गतियोंको पवित्र और विस्तृत कर सकता है या प्राणमय सत्ताको शांत और निश्चल कर सकता है, किन्तु संभव है कि शरीर और भौतिक चेतनाको वह जैसाका तैसा छोड़ दे, या इसे जड़ ही बना रहने दे या इसके संतुलनको हिला दे। और, प्रकाशका अवतरण ही काफी नहीं है, सारी उच्चतर चेतनाका, उसकी शांति, शक्ति, ज्ञान, प्रेम,

आनन्दका अवतरण होना चाहिये। और, फिर यह भी हो सकता है कि अवतरण मुक्त करनेके लिये तो पर्याप्त हो पर पूर्ण बनानेके लिये पर्याप्त न हो अथवा यह आंतरिक सत्तामें एक महान् परिवर्तन लानेके लिये तो पर्याप्त हो परन्तु बाह्य व्यक्तित्व अपूर्ण — भद्दा, रुग्ण या अभिव्यक्तिमें असमर्थ — यंत्र ही बना रहे। अन्तमें, साधना द्वारा किया गया रूपांतर तबतक पूर्ण नहीं हो सकता जबतक कि सत्ताका विज्ञानमयीकरण न हो जाय। अन्तरात्ममयीकरण पर्याप्त नहीं, यह तो केवल प्रारम्भ है; अध्यात्ममयीकरण और उच्चतर चेतनाका अवतरण पर्याप्त नहीं, यह केवल मध्यावस्था है; चरम उपलब्धिके लिये विज्ञानमय चेतना और शक्तिकी क्रियाकी आवश्यकता है। इससे कम किसी चीजको कोई व्यक्ति भले ही पर्याप्त समझ ले, किन्तु वह पृथ्वी-चेतनाके लिये एक सुनिश्चित कदम आगे बढ़ानेके हेतु काफी नहीं — और यह कदम तो उसे किसी-न-किसी समय बढ़ाना ही होगा।

मैंने यह कभी नहीं कहा है कि मेरा योग अपने सभी तत्त्वोंमें कोई सर्वथा नवीन वस्तु है। मैंने इसे पूर्णयोगका नाम दिया है और इसका अर्थ है कि यह पुराने योगोंके सारतत्त्व और अनेक क्रियाओंको अपनाता है। इसकी नवीनता इसके लक्ष्य, दृष्टिकोण और इसकी पद्धतिकी समग्रतामें है। 'पहेली'[1], या 'प्रदीप'[2] या प्रकाशित होनेवाली नई पुस्तक[3] में मैंने जो कुछ लिखा है उसमें योगकी केवल प्रारंभिक अवस्थाओंकी ही चर्चा की है। इन अवस्थाओंमें, इस योगके लक्ष्यकी सर्वांगीणता, इसकी गतियोंकी मूल भावना, इसका ध्येयभूत अन्तिम प्रयोजन, अपिच इसके मनोविज्ञान तथा इसकी क्रिया-प्रक्रियाओंकी पद्धति — इस सबके अतिरिक्त ऐसी और कोई बात नहीं है जो इसे पुराने योगोंसे भिन्न दर्शावे: परन्तु वह बात चूँकि इन पत्रोंमें क्रमपूर्वक और योजनापूर्वक और विस्तारसहित न तो कही गई है और न कही जा सकती थी, अतएव, वे लोग जो बौद्धिक परिचय द्वारा या कुछ थोड़ेसे अभ्यास द्वारा इस योगसे पहलेसे ही परिचित नहीं हैं, इसे समझ नहीं पाये हैं। योगकी पिछली अवस्थाओंकी बारीकियां या विधियां, जो कम ज्ञात हैं या एकदम नवीन क्षेत्रोंमें पहुँचाती हैं, मैंने जनसाधारणके सामने नहीं रखी हैं और अभी मेरा ऐसा करनेका विचार भी नहीं है।

मुझे अच्छी तरह मालूम है कि प्राचीन कालमें भी देखनेमें इससे मिलते-

[1] इस जगत्की पहेली [2] योग प्रदीप [3] योगके आधार।

इन तीन पुस्तकोंमें संगृहीत श्रीअरविन्दके पत्र अब 'श्रीअरविन्दके पत्र' (शताब्दी संस्करण, (१९७२) खण्ड १७, १८ और १९ में समाविष्ट कर दिये गये हैं।

जुलते आदर्श और कुछ आशाएं थीं, जैसे मनुष्य जातिको पूर्ण बनानेकी संभावना, कतिपय तांत्रिक साधनाएं, योगके कुछ संप्रदायोंका पूर्ण भौतिक सिद्धि—के लिये प्रयत्न इत्यादि इत्यादि। मैंने स्वयं भी इन बातोंकी ओर संकेत किया है और यह विचार प्रस्तुत किया है कि मनुष्यजातिका आध्यात्मिक भूतकाल प्रकृतिकी तैयारीका काल रहा है—केवल संसारके परे भगवान्को पानेके लिये ही नहीं, अपितु, पृथ्वी-चेतनाके क्रमविकासमें अभी जो अगला कदम आगे उठाना है उसके लिये भी। यद्यपि वे आदर्श मेरे आदर्शोंसे पूरी तरह मिलते-जुलते न थे, सिर्फ कुछ हदतक ही उनके समान थे, फिर भी मुझे इसकी परवा नहीं है कि मेरे योगको और उसके आदर्शोंको नया माना ही जाय। अपने-आपमें यह एक मामूली-सी बात है। एकमात्र महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जो लोग इसे स्वीकार कर इसका अभ्यास कर सकें वे इसे सच्चा समझें और अपनी उपलब्धि-के द्वारा इसे सच्चा सिद्ध करें। यह कोई महत्त्वकी बात नहीं कि इसे नया कहा जाय या पुराने विस्मृत योगकी पुनरावृत्ति या पुनर्जागृति। कुछ साधकोंके नाम लिखे एक पत्रमें मैंने इसके नए होनेपर जोर दिया था; मैं उन्हें स्पष्ट रूपसे समझाना चाहता था कि पुराने योगोंका लक्ष्य एवं मंतव्य दोहराना मेरी दृष्टिमें पर्याप्त नहीं है, बल्कि मैं एक ऐसा प्राप्य ध्येय उनके सामने रख रहा हूँ जो अभीतक सिद्ध नहीं किया गया है, यहांतक कि साफ-साफ देखा भी नहीं गया है, यद्यपि यह संपूर्ण प्राचीन आध्यात्मिक प्रयासका एक स्वाभाविक पर अभीतक गुप्त परिणाम है।

पुराने योगोंकी तुलनामें यह नया है।

1. क्योंकि इसका लक्ष्य संसारसे विदा हो जाना और स्वर्गमें जीवन बिताना या निर्वाण प्राप्त करना नहीं, बल्कि जीवन और सत्ताका परिवर्तन करना है—किसी गौण या प्रासंगिक कार्यके तौरपर नहीं, वरन् विशेष और मुख्य उद्देश्यके तौरपर। यदि दूसरे योगोंमें अवरोहण (चेतनाका नीचे उतरना) है भी तो वह पथमें अपने-आप आनेवाली या आरोहण (चेतनाका ऊपर उठना) की परिणामस्वरूप घटनामात्र है—वहां आरोहण ही मुख्य वस्तु है। यहां आरोहण पहला कदम है, परन्तु यह अवरोहणके लिये साधन है। आरोहणसे प्राप्त नई चेतनाका अवतरण ही इस साधनाका वास्तविक चिह्न तथा मुहर-छाप है। तंत्र और वैष्णव धर्म भी जीवनसे छुटकारा पानेमें ही अपनी इतिश्री मानते हैं; परन्तु इस योगका ध्येय है जीवनकी दिव्य पूर्णता प्राप्त करना।

2. क्योंकि जिस ध्येयकी खोज करनी है वह व्यक्तिके हितके लिये भागवत साक्षात्कारकी व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं, बल्कि एक ऐसी चीज है जो यहां पृथ्वी-चेतनाके लिये प्राप्त करनी है, अर्थात् ऐहलौकिक, न कि केवल अतिलौकिक

उपलब्धि है। अपिच, प्राप्त करनेकी वस्तु यह है कि चेतना (विज्ञानमय) की वह शक्ति क्रियाक्षेत्रमें उतार लाई जाय जो अभी पार्थिव प्रकृतिमें, यहांतक कि आध्यात्मिक जीवनतकमें, संगठित या प्रत्यक्षतः क्रियाशील नहीं है, किन्तु जिसे फिर भी सुसंगठित करना या साक्षात् रूपसे क्रियाशील बनाना है।

3. क्योंकि यह उद्देश्य सिद्ध करनेके लिये एक पद्धति खुले तौरपर प्रकट की गई है जो अपने सामने स्थापित उद्देश्य,—चेतना और प्रकृतिका समग्र और सर्वांगीण परिवर्तन,—की तरह ही समग्र और सर्वांगीण है और जो पुरानी पद्धतियोंको ग्रहण तो करती है, किंतु केवल आंशिक क्रियाके तौरपर और अपनी विशिष्ट विधियोंके वर्तमान सहायकके तौरपर। मैंने यह पद्धति (सारीकी सारी) या इससे मिलती-जुलती कोई पद्धति पुराने योगोंमें प्रतिपादित या संसिद्ध नहीं पाई है। अगर मैं पाता तो मैं अपने लिये नया रास्ता बनाने और तीस वर्षतक अनुसंधान तथा आंतरिक सर्जन करनेमें अपना समय व्यर्थ न गंवाता, जबकि मैं पहलेसे ही उद्घोषित, प्रस्थापित, पूर्ण रूपसे अंकित, प्रस्तर-निर्मित, सुरक्षित और सर्वसुलभ मार्गोंपर आसानीसे सरपट दौड़ते हुए शीघ्र ही अपने लक्ष्यपर सकुशल पहुँच सकता था। हमारा योग पुराने रास्तोंपर ही दुबारा चलना नहीं है, वल्कि एक कठिन आध्यात्मिक कार्य है।

५-१०-१९३५

रूपांतर और पवित्रीकरण

"रूपांतर" ("अतिमानस" की ही भांति) एक ऐसा शब्द है जिसे स्वयं मैंने ही पूर्णयोगके कुछ एक आध्यात्मिक विचारों और आध्यात्मिक तथ्योंको व्यक्त करनेके लिये प्रयुक्त किया है। लोग अब इन शब्दोंको अपना रहे हैं और ऐसे अर्थोंमें प्रयुक्त कर रहे हैं जिनका उस भावसे कुछ भी संबंध नहीं जिसे मैं इनके अन्दर रखता हूँ। आत्माके 'प्रभाव' द्वारा प्रकृतिका पवित्रीकरण वह वस्तु नहीं है जो मुझे रूपांतरसे अभिप्रेत है; पवित्रीकरण तो केवल आंतरात्मिक परिवर्तन या चैत्य-आध्यात्मिक परिवर्तनका अंग है — इसके अतिरिक्त इस शब्दके अनेक अर्थ हैं और प्रायः इसे एक नैतिक या सदाचार-विषयक अर्थ दिया जाता है जो मेरे भावसे एकदम अलग है। आध्यात्मिक रूपांतरसे मेरा जो मतलब है वह एक क्रियाशील वस्तु है (केवल आत्माकी मुक्ति या एकमेवकी उपलब्धि ही नहीं जो किसी अवतरणके बिना भी भलीभांति प्राप्त हो सकती है)। रूपांतरसे मेरा मतलब है नीचे अवचेतना-पर्यंत, सत्ताके प्रत्येक अंगमें, क्रियाशील और स्थितिशील आध्यात्मिक चेतनाको धारण करना। यह आत्माके

उस प्रभावके द्वारा नहीं किया जा सकता जो चेतनाको मूलतः ज्योंकी त्यों रहने देता है और मन एवं हृदयको केवल पवित्र और आलोकित करता तथा प्राणको निस्तब्ध कर देता है। इसका अर्थ है — इन सभी अंगोंके भीतर स्थितिशील एवं गतिशील दिव्य चेतना को उतार लाना और इसे वर्तमान चेतनाके स्थानपर पूरी तरह ला बिठाना। इस चेतनाको हम तन-मन-प्राणके ऊपर प्रकट एवं अमिश्रित रूपमें पाते हैं। यह बहुतोंके अकाट्य अनुभव द्वारा सिद्ध बात यह कि यह चेतना नीचे उतर सकती है और यह मेरा अपना अनुभव है कि इसके पूर्ण अवतरणसे कम कोई भी चीज न तो हमारे पर्देको हटा सकती है न मिश्रणको पूरी तरहसे दूर कर सकती है और न पूर्ण आध्यात्मिक रूपांतरको ही ला सकती है। इस विषयमें कि आत्माको क्या करना "चाहिये" या वह क्या कर सकती है अथवा उसे क्या करनेकी आवश्यकता है या आवश्यकता नहीं है, शून्य गगनमें किसी प्रकारका दार्शनिक या नैयायिक तर्क करना यहां असंगत तथा निरर्थक है। मैं इतना और कह सकता हूँ कि रूपांतर जिस प्रकार इस योगका प्रधान लक्ष्य है उसी प्रकार वह दूसरे मार्गोंका नहीं है — वे तो केवल उतने ही पवित्रीकरण एवं परिवर्तन की मांग करते हैं जितना मुक्ति तथा पारलौकिक जीवन प्राप्त करनेके लिये सहायक हो। निश्चय ही, आत्माका प्रभाव इतना कार्य कर सकता है — जीवनसे पलायन करनेवाली आध्यात्मिकताके लिये ऐहलौकिक जीवनके रूपांतरार्थ नखसे शिखतक संपूर्ण प्रकृतिमें नूतन चेतनाको पूर्ण रूपसे अवतरित करनेकी किंचित् भी आवश्यकता नहीं है।

* * *

Supermind अर्थात् अतिमानस और Supramental अर्थात् अति-मानसिक —ये शब्द सबसे पहले मैंने ही प्रयुक्त किये थे, परन्तु तबसे लोगोंने 'सुप्रामेण्टल शब्दको अपना लिया है और वे मनसे ऊपरकी किसी भी वस्तुके लिये उसका व्यवहार कर रहे हैं। Psyche अर्थात् 'चैत्य' शब्दका प्रयोग साधारणतः चेतनाकी आंतरिक गतियोंसें संबंध रखनेवाली किसी भी वस्तु या मनोविज्ञानके अन्दर किसी भी प्रपंचात्मक वस्तुके अर्थमें किया जाता है। मैंने इसका एक विशेष अर्थमें व्यवहार किया है और इसे अन्तरात्माके पर्यायवाची ग्रीक शब्द Psyche (साइक) के साथ संबंद्ध कर दिया है। परन्तु सामान्यतः लोग अन्तरात्मा और मानस-प्राणिक चेतनामें भेद नहीं करते; उनके लिये यह सब एक ही चीज है। कुण्डलिनीका आरोहण — उसका अवरोहण नहीं, जहांतक

कि मुझे ज्ञात है — एक सुपरिचित व्यापार है; हमारे योगमें भी इससे मिलती-जुलती एक क्रिया है, और वह है उच्चतर चेतनासे मिलनेके लिये प्राणिक या भौतिक स्तरसे चेतनाके आरोहणका अनुभव होना। यह जरूरी नहीं है कि यह आरोहण चक्रोंके द्वारा ही हुआ करे, प्रायः इसका अनुभव सारे शरीरमें होता है। इसी प्रकार उच्चतर चेतनाके अवतरणके अनुभवके लिये जरूरी नहीं है कि वह भी चक्रोंके द्वारा ही हो। वह सारे सिर, गर्दन, छाती, पेट और सारे शरीरपर अधिकार करता हुआ मालूम होता है।

१८-६-१९३७

आध्यात्मिक परिवर्तन और अतिमानसिक रूपांतर

यदि आध्यात्मिक और अतिमानसिक स्थितियां एक ही चीज होतीं, जैसा कि तुम कहते हो कि मेरी पुस्तकोंके पाठक अनुमान करते हैं, तो युग-युगमें उत्पन्न सभी ऋषि, भक्त, योगी और साधक अतिमानसिक पुरुष हुए होते और जो कुछ भी मैंने आजतक अतिमानसके विषयमें लिखा है वह सर्वथा अनावश्यक, निरुपयोगी और व्यर्थ होता। तव तो आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त कर व्यक्ति अतिमानसिक पुरुष हो जायगा और यह आश्रम अथवा भारतका कोई भी आश्रम अतिमानसिक पुरुषोंसे खचाखच भर जायगा। आध्यात्मिक अनुभूतियां आंतर चेतनामें जमकर बैठ सकती हैं और उसे परिवर्तित कर सकती हैं, यदि तुम कहना चाहो तो उसे "रूपांतरित" भी कर सकती हैं; मनुष्य सर्वत्र भगवान्‌को पा सकता है, सबमें आत्माको और आत्मामें सबको देख सकता है, विश्वव्यापी दिव्य शक्तिको सब कार्य करते हुए अनुभव कर सकता है; वह अपनेको विश्वात्मामें लीन अथवा उल्लासपूर्ण भक्ति या आनन्दसे पूर्ण अनुभव कर सकता है। पर फिर भी मनुष्य अपनी प्रकृतिके बाह्य अंगोंमें पूर्ववत् ही कार्य कर सकता है और साधारणतया करता ही है — बुद्धिसे अथवा अधिक-से-अधिक संबुद्ध मनसे वह सोचता है, मानसिक संकल्प-शक्तिके द्वारा संकल्प करता है, प्राणमय स्तर पर हर्ष और शोकका अनुभव करता है, शारीरिक कष्टोंको झेलता है और मृत्यु और रोगके साथ शरीरके अन्दर होनेवाले जीवन-संग्रामसे पीड़ित होता है। उस स्थितिमें केवल यही अन्तर होता है कि मनुष्यकी भीतरी आत्मा यह सब, विचलित और विमोहित हुए विना, पूर्ण समत्वके साथ, देखती है; वह इस सबको प्रकृतिका अनिवार्य अंग समझती है, कम-से-कम तब तकके लिये अनिवार्य समझती है जबतक कि मनुष्य प्रकृतिसे निकलकर आत्मामें नहीं आ जाता। परंतु यह वह रूपांतर नहीं है जिसे मैं अपने सामने रखता हूं। वह तो

ज्ञानकी एकदम दूसरी ही शक्ति है, एक दूसरे ही प्रकारकी सकल्प-शक्ति है, भाव एव रसबोधकी एक दूसरी ही ज्योतिर्मय प्रकृति है, भौतिक चेतनाकी एक दूसरी ही रचना है जो अतिमानसिक रूपांतरके द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।

भौतिक रूपांतर और सिद्धियां

भौतिक प्रकृतिसे मेरा मतलब केवल देह नहीं है और 'भौतिक रूपांतर' शब्दके अन्तर्गत संपूर्ण भौतिक मन, प्राण और अन्नमय प्रकृतिका रूपांतर आ जाता है। यह रूपांतर इन अंगोंपर सिद्धियां लादकर साधित नहीं किया जाता, बल्कि एक ऐसी नई भौतिक प्रकृतिकी रचना करके किया जातः है जो नवीन विकासके अन्दर अतिमानसिक जीवका निवास होगी। मैं नहीं जानता कि यह किसी हठयौगिक या अन्य प्रक्रियाके द्वारा साधित किया जा चुका है। मानसिक या प्राणिक गुह्य शक्ति व्यक्तिगत जीवनमें केवल उच्चतर स्तरकी सिद्धियां ही ला सकती है — उदाहरणार्थ, उस संन्यासीने, जो बिना हानि उठाये, कोई भी विष खा सकता था, इसी प्रकारकी सिद्धि प्राप्त की थी, पर अन्तमें वह एक विषसे ही मरा जब कि वह सिद्धिकी शर्तोंका पालन करना भूल गया। जो अतिमानसिक शक्ति हमारी दृष्टिके सामने है, उसका कार्य भौतिक सत्तापर पड़नेवाला कोई ऐसा प्रभाव नहीं है जो इसे असामान्य क्षमताएं प्रदान करता हो, बल्कि वह तो एक नई तरहका अनुप्रवेश है जो सत्तामें व्याप्त होकर उसे पूरी तरहसे अतिमानसिक भौतिक सत्तामें बदल देगा। इस विचारका ज्ञान मुझे वेद या उपनिषद्से नहीं प्राप्त हुआ और मुझे मालूम नहीं कि इस प्रकारका कोई विचार उनमें है भी। अतिमानसके विषयमें मुझे जो ज्ञान प्राप्त हुआ वह सीधा ही प्राप्त हुआ था, किसी और के अनुभव द्वारा नहीं। उसे पुष्ट करनेवाले उपनिषद् और वेदके कुछ एक मंत्र केवल बादमें ही मेरे देखनेमें आये।

११-६-१९३६

पुराने योगोंमें अवरोहणका उल्लेख नहीं

प्र०— अन्य योगोंमें क्या नीरवता अवतरित होती है या वास्तवमें मन नीरवतामें चला जाता है? ऐसा नहीं लगता कि राजयोग या वैदांतिक ज्ञानयोगमें किसी वस्तुके अवतरणकी प्रक्रिया-जैसी कोई चीज़ है। और फिर, राजयोगमें जाग्रत् चेतनाके अन्दर नीरवताका

कहीं उल्लेख नहीं — वहां तो सदा समाधिमें जानेकी ही बात होती है। किन्तु ज्ञानयोगमें, ऐसा लगता है मानों जागरित अवस्था आलोकित तथा शांति और ब्रह्मानन्दसे पूरित हो जाती है।

उ०— मैंने अन्य योगोंमें निश्चल-नीरवताके अवतरणकी बात कभी नहीं सुनी —वहां तो मन ही नीरवताकी अवस्थामें प्रवेश करता है। लेकिन जबसे मैं आरोहण और अवरोहणके विषयमें लिख रहा हूँ, कई ओरसे यह बात मेरे सुननेमें आई है कि इस योगमें नया कुछ भी नहीं है — अतः मुझे आश्चर्य होता है कि लोग आरोहण और अवरोहणको जाने बिना, अथवा, कम-से-कम, इनकी प्रक्रियापर ध्यान दिये बिना इन्हें प्राप्त तो नहीं करते थे! वह प्रक्रिया इस प्रकारकी है कि चेतना सिरके ऊपर उठ जाती और वहीं स्थित हो जाती है — जिसका मैंने तथा दूसरोंने भी इस योगमें अनुभव किया है। जब मैंने पहले-पहल इसकी चर्चा की तो लोग मेरी ओर आंखें फाड़कर देखने लगे और सोचा कि मैं निरर्थक प्रलाप कर रहा हूँ। पुराने योगोंमें साधकोंको विशालताका अनुभव अवश्य प्राप्त हुआ होगा, क्योंकि इसके बिना विश्वको अपने अन्दर अनुभव नहीं किया जा सकता, न ही देह-चेतनासे मुक्त या 'अनन्त ब्रह्म' के साथ एक हुआ जा सकता है। परन्तु साधारणतः, तांत्रिक योग आदिमें, कहा जाता है कि चेतनाका ब्रह्मरंध्रमें अर्थात् सिरके ऊपरी हिस्सेमें पहुँचना ही ऊंचाईकी सबसे ऊंची चोटी है। निःसंदेह राजयोग परमोच्च अनुभवके साधनके रूपमें समाधिपर बल देता है। परन्तु यह स्पष्ट ही है कि यदि कोई जागरित अवस्थामें ब्राह्मी स्थिति प्राप्त नहीं करता तो उसकी प्राप्तिको पूर्ण नहीं कहा जा सकता। गीता स्पष्ट रूपमें समाहित होने (जो 'समाधिमें स्थित' होनेका पर्याय है) तथा जागरित अवस्थामें ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेकी बात कहती है जिसमें योगी निवास करता हुआ सब कार्य करता है।

९-६-१९३६

* * *

प्र०— आरोहण और अवरोहणकी ऐसी ठोस प्रक्रिया यदि अन्य योगियोंको अनुभूत हुई हो तो वह उनकी दृष्टिसे छूट नहीं सकती — ब्रह्मरन्ध्रकी ओर कुण्डलिनीके उत्थानका वे अवश्य उल्लेख करते हैं। तो फिर वे, उदाहरणार्थ, ब्रह्मरन्ध्रसे ब्रह्मानन्दकी या प्रकाश-की तरंगके कुण्डलिनीके अन्दर नीचे मूलाधार तक आनेका वर्णन

क्यों नहीं करते? मान लो कि उन्होंने इसका उल्लेख इसलिये नहीं किया कि यह एक रहस्य था तो फिर कुण्डलिनीके ऊपर उठनेके रहस्यका वर्णन वे कैसे कर पाये?

यदि इस योगमें नया कुछ भी नहीं तो उन्हें कोई ऐसी बात उद्धृत करनी चाहिये जो अवरोहणसे मिलती-जुलती हो — वह चाहे पातञ्जल योग या हठयोग-प्रदीपिकामें हो अथवा पञ्चदशी और अन्य वैदांतिक ग्रन्थोंमें जिनमें अनुभवोंका वर्णन किया गया है।

उ०— मेरा यही ख्याल रहा है। अवतरणके अनुभवोंके इस अभावकी व्याख्या मैं इस प्रकार करता हूँ कि पुराने योग मुख्यत: अनुभवके आंतर-अध्यात्म-गुह्य (phycho-spiritual-occult) स्तरतक ही सीमित रहे — जिसमें उच्चतर अनुभव मानें, एक तरहंसे छनकर या प्रतिबिंबित होकर निश्चल मन या एकाग्र हृदयके अन्दर आते हैं — इस अनुभवका क्षेत्र ब्रह्मरंध्रसे नीचेकी ओर होता है। इससे ऊपर लोग केवल समाधि या स्थितिशील मुक्तिकी अवस्थामें ही जाते थे और उन्होंने किसी प्रकारका क्रियाशील अवतरण साधित नहीं किया। समस्त क्रियाशील अनुभव केवल आध्यात्मीकृत मानसिक और प्राण-भौतिक चेतनाके स्तरमें ही हुआ। इस योगमें चेतना (थोड़े-बहुत आन्तर-अध्यात्म-गुह्य अनुभवके द्वारा निम्नतर क्षेत्रके तैयार हो चुकनेके बाद) ब्रह्मरंध्रसे ऊपर साक्षात् अध्यात्म-चेतनासे संबंध रखनेवाले ऊर्ध्व स्तरोंकी ओर उठती है और उन स्तरों की वस्तुओंको केवल ग्रहण करनेके बदले वहीं निवास करना तथा वहांसे नीचे की चेतनाको पूरी तरह रूपांतरित करना होता है। क्योंकि अध्यात्म-चेतनाकी एक निजी क्रियाशक्ति है जिसका स्वरूप है ज्योति, शक्ति, आनन्द, शांति, ज्ञान एवं असीम विशालता, और उसे अधिकृत करना होगा तथा संपूर्ण सत्तामें उतारना होगा। अन्यथा मनुष्य मुक्ति तो प्राप्त कर सकता है पर पूर्णता या (एक सापेक्ष चैत्य-आध्यात्मिक परिवर्तनके अतिरिक्त) रूपांतर नहीं प्राप्त कर सकता। परन्तु, मैं अगर यह बात कहूँ तो लोगोंमें मेरी इस अक्षम्य धृष्टता के विरुद्ध खलबली मच जायगी कि मैं एक ऐसे ज्ञानका दावा करता हूँ जो प्राचीन ऋषि-मुनियोंको प्राप्त नहीं था, और मैं उनसे आगे बढ़ जानेका दावा करता हूँ। अतएव, इस प्रसंगमें मैं यह कह सकता हूँ कि उपनिषद्में (विशेषकर तैत्तिरीयमें) इन उच्चतर स्तरोंके अस्तित्व, इनके रूप-स्वरूप तथा संपूर्ण चेतनाको एकत्र करके इनमें आरोहण करनेकी संभावना आदिके विषयमें कुछ संकेत पाये जाते हैं। परन्तु बादमें लोग इसे भूल गये और कहने लगे कि बुद्धि ही सर्वोच्च तत्त्व है तथा पुरुष या आत्मा उससे ठीक ऊपर है। उनके मनमें इन उच्चतर

स्तरोंकी कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी। सुतरां, उनके लिये समाधि द्वारा अज्ञात एवं अनिर्वचनीय दिव्य स्तरोंकी ओर आरोहण करना तो संभव था पर अवरोहण की कोई संभावना नहीं थी — अतएव, इहलोकमें रूपांतरके लिये कोई युक्ति और कोई संभावना नहीं थी, केवल जीवनसे भाग जाना और गोलोक, ब्रह्म-लोक, शिवलोक या 'कैवल्य' में जाकर मुक्त होना संभव था।

११-६-१९३६

* * *

प्र०— क्या रामकृष्ण या चैतन्यको शान्तिके अवतरणों-जैसी कोई भी अनुभूति नहीं प्राप्त हुई ? प्रतीत होता है कि उन्हें गम्भीर अनुभव, अन्तर्दर्शन एवं साक्षात्कार तथा गहरी समाधिकी अवस्थाएं तो प्राप्त हुईं, किन्तु उन्हें अवतरणोंकी अनुभूति होनेकी बात हमने कहीं नहीं पढ़ी। संभवतः समाधिके समय या तीव्र भावोद्रेकके क्षणोंमें स्वयं वे अनुभव, साक्षात्कार आदि अपने साथ शान्ति और प्रकाश लाये, अतः अवतरणपर उनका विशेष ध्यान नहीं गया — और इस सबको सहारा देने तथा स्थिर बनाये रखनेके लिये वहां शान्ति और स्थिरताका आधार अवश्य रहा होगा।

उ०— यह हो सकता है कि लोगोंको अवतरण प्राप्त तो हो और फिर भी यह पता न लगे कि यह अवतरण है, क्योंकि वे केवल उसका परिणाम ही अनुभव करते हैं। साधारण योग आध्यात्मिक मनसे परे नहीं जाता — लोग मूर्धाके शिखरपर ब्रह्मके साथ योग अनुभव करते हैं, परन्तु उन्हें शिरसे ऊपरकी चेतना का पता नहीं होता। इसी प्रकार, साधारण योगमें साधक जागृत निम्न चेतना (कुण्डलिनी) का ब्रह्मरंध्रकी ओर आरोहण अनुभव करते हैं जहां प्रकृति ब्रह्म-चेतनासे योग-युक्त हो जाती है, किंतु उन्हें अवतरणका अनुभव नहीं होता। संभव है कि कुछ लोगोंमें ये चीजें आई हों लेकिन पता नहीं उन्होंने उनके स्वरूप, सिद्धांत अथवा पूर्ण साधनामें उनके स्थानको समझा या नहीं। कम-से-कम, अपने निजी अनुभवमें उन्हें प्राप्त करनेसे पहले मैंने दूसरोंके मुखसे उनकी चर्चा कभी नहीं सुनी। इसका कारण यह है कि प्राचीन योगी जब आध्यात्मिक मनसे ऊपर जाते तो वे समाधिमें लीन हो जाते जिसका अर्थ यह है कि वे उन उच्चतर स्तरोंमें सचेतन होनेका यत्न नहीं करते थे — उनका लक्ष्य होता था अतिचेतनमें प्रविष्ट होना न कि उसे जाग्रत् चेतनामें उतार लाना जो कि मेरे

योगका ध्येय है।

२६-७-१९३५

पूर्णयोगमें सिरसे ऊपरकी ओर आरोहणकी आवश्यकता

पहले तो कोई पूछ सकता है कि तब भला यह क्यों न कहा जाय कि इस प्रकारसे जिस जीवात्माका अनुभव प्राप्त किया जा सकता है वह शुद्ध "मैं" है जिसका अनुभव निम्नतर 'स्व' को होता है तथा जिसके द्वारा यह मोक्ष लाभ करता है। दूसरे, सिरसे ऊपरके स्तरोंमें जानेकी भला आवश्यकता ही क्या है? पहली बात तो यह है कि यह शुद्ध "मैं" मुक्तिके मध्यवर्ती साधनके रूपमें अनिवार्यतः आवश्यक नहीं प्रतीत होता भले ही वह मुक्ति निर्वैयक्तिक आत्मामें हो अथवा ब्रह्म या और किसी सनातन सत्तामें। बौद्ध किसी अन्तरात्मा या आत्माकी सत्ता नहीं मानते न शुद्ध "मैं" के किसी अनुभवको ही स्वीकार करते हैं; उनकी प्रारंभिक प्रक्रिया यह है कि वे चेतनाको संस्कारोंके एक समूहमें विलीन कर देते हैं, संस्कारोंसे छुटकारा प्राप्त करते हैं और इस प्रकार वे किसी 'नित्य' में जिसका वर्णन करनेसे वे इन्कार करते हैं, अथवा किसी शून्य में जाकर मुक्त होते हैं। अतएव, जो सनातनमें मोक्ष लाभ करना चाहता है पर आध्यात्मिक मनसे परे ऊर्ध्वके उच्चतर प्रकाशमें उठे बिना इसे ही प्राप्त करके संतोष मानता है, उसके लिये युद्ध "मैं" या जीवात्माका अनुभव प्राप्त करना अनिवार्य नहीं है। स्वयं मुझे ब्रह्ममें निर्वाण एवं निश्चल-नीरवता आदिका अनुभव शीर्षोत्तर आध्यात्मिक स्तरोंका किसी प्रकारका ज्ञान प्राप्त होनेसे बहुत पहले ही प्राप्त हो गया था। प्रथम तो यह मानसिक, भाविक तथा अन्य आंतर क्रियाओंकी पूर्ण निस्तब्धता और मानों उनके लोपके द्वारा ही प्राप्त हुआ। निःसंदेह, शरीर देखना, चलना-फिरना, बोलना तथा अपने अन्य कार्य करता रहा पर केवल एक शून्य स्वयंचालित यंत्रकी भांति, बस यंत्रसे अधिक वह कुछ नहीं था। किसी शुद्ध "मैं" का ज्ञान मुझे नहीं हुआ, यहांतक कि निर्वैयक्तिक या किसी और तरह की किसी आत्माका भी नहीं,—मैं केवल इस तथ्यसे सचेतन था कि एक 'तत्' है जो एकमात्र सद्वस्तु है तथा उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ सर्वथा निःसार है, शून्य एवं असत्य है। यदि यह पूछा जाय कि उस सद्वस्तु को अनुभव करनेवाली सत्ता कौन-सी थी तो वह एक अनाम चेतना थी जो तत्*से भिन्न कुछ नहीं

*ध्यानमें रहे कि मैंने इन सब बातोंको उस समय नहीं सोंचा, उस अवस्थामें विचार या प्रत्यय थे ही नहीं, न वे इस तरह किसी "मैं" के सामने उपस्थित ही हुए थे; बस

थी; शायद इस विषयमें कोई ऐसा कह सकता है, यद्यपि इतना भी कहना कदाचित् संभव नहीं है, क्योंकि इसका कोई मानसिक प्रत्यय तो था ही नहीं, पर इससे अधिक तो कहा ही नहीं जा सकता। न मुझे इसकी सुध थी कि अमुक व्यक्तिगत नामवाली कोई निम्नतर आत्मा या बाह्य स्व है जो निर्वाण-चेतनातक पहुँचनेका यह करतब कर रहा है। अच्छा, तो फिर इस सबमें तुम्हारे शुद्ध "मैं" और निम्नतर "मैं" की क्या अवस्था हो जाती है? चेतना (चेतनाका यह या वह भाग नहीं और न ही किसी प्रकारका "मैं") एकाएक अपनी सभी आंतरिक चीजोंसे खाली हो गई और केवल इर्द-गिर्द की मिथ्या चीजों तथा सत्यपर अनिर्वचनीय 'कुछ' से ही सचेतन रह गई। तुम कह सकते हो कि कोई ऐसी चेतना अवश्य विद्यमान रही होगी जो यदि शुद्ध "मैं" से नहीं तो किसी एक अनुभवित्री सत्तासे सचेतन होगी पर, यदि ऐसा हो तो, वह कोई ऐसी चीज थी जिसके लिये नाम अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं।

मैं कह चुका हूँ कि सामान्य आध्यात्मिक लक्ष्योंके लिये सिरसे ऊपर आरोहण करना जरूरी नहीं है,—परन्तु हमारे योगके प्रयोजनोंके लिये यह अनिवार्य है। कारण, इसका लक्ष्य है सत्य-चेतनासे सज्ञान होना तथा उसके प्रकाशमें संपूर्ण सत्ताको मुक्त, रूपांतरित एवं एकीभूत करना। वह सत्य-चेतना ऊपर अवस्थित है और तबतक नहीं मिल सकती जबतक कि मनुष्य पूर्ण रूपसे अपने अन्तरमें, अपने परे तथा अपने ऊपर न चला जाय। समूचे रूपमें मेरे मनोवैज्ञानिक निरूपणोंकी समस्त जटिलताका यही कारण है। मेरा निरूपण साररूपमें तो नया नहीं है—क्योंकि इसमेंसे अधिकांशका उल्लेख उपनिषदोंमें तथा अन्यत्र पाया जाता है, किन्तु अपने समग्र प्रतिपादनकी पूर्णता तथा अपने पूर्णयोग-मुखी विकास-क्रमकी दृष्टिसे यह नया है। इसे स्वीकार करना किसीके लिये अनिवार्य नहीं जबतक कि उसका भी लक्ष्य यही न हो; अन्य लक्ष्योंकी प्राप्तिके लिये इसे स्वीकार करना अनावश्यक है और एक अतिरंजित मांग भी सिद्ध हो सकता है।

२२-७-१९३७

अतिमानस और सत्य

सत्यका सभी स्तरोंपर प्रकट होना एक बात है और अतिमानस बिलकुल दूसरी, यद्यपि है वह समस्त सत्यका मूलस्रोत।

२९-८-१९३६

यह केवल ऐसा ही था या स्वतः प्रत्यक्ष रूपमें ऐसा था।

स्तरोंका एक-दूसरेमें प्रवेश

निश्चय ही, स्तरोंका एक दूसरेमें प्रवेश मेरी दृष्टिमें आध्यात्मिक अनुभवका एक प्रधान एवं आधारभूत अंग है। इसके बिना मेरी योग-पद्धति तथा उसके लक्ष्यका अस्तित्व संभव नहीं हो सकता। कारण, वह लक्ष्य उच्चतर चेतनाको भूतलपर अभिव्यक्त, उपलब्ध या मूर्तिमन्त करना है न कि इहलोकसे विमुख होकर किसी उच्चतर भुवन या किसी परम 'केवल' में प्रवेश करना। प्राचीन योगोंकी (निश्चय ही सभीकी नहीं) प्रवृत्ति इस दूसरे लक्ष्यकी ओर थी — परन्तु मेरी समझमें इसका कारण यह था कि उन्होंने भूलोकको जैसा कि यह है, किसी भी आध्यात्मिक जीवके लिये एक वस्तुतः अयोग्य स्थान अनुभव किया। यह है, किसी भी आध्यात्मिक जीवके लिये एक वस्तुतः अयोग्य अनुभव किया। उन्होंने देखा कि यहां परिवर्तनका प्रतिरोध इतना उग्र है कि उसका प्रतिकार करना संभव नहीं। पार्थिव प्रकृति उन्हें विवेकानन्द की उपमाके अनुसार कुत्तेकी दुम जैसी प्रतीत हुई जिसे जितनी बार भी सीधा कर लो, फिर वह वैसी-की-वैसी टेढ़ी हो जाती है। परन्तु इस विषयमें मूलभूत प्रस्थापना उपनिषदोंने सुनिश्चित रूपमें घोषित कर दी थी। उन्होंने यहांतक कह डाला था कि पृथ्वी आधार है तथा अन्य सब लोक इस पृथ्वीपर ही (प्रतिष्ठित) हैं और इनमें किसी सुनिश्चित या समाधान न हो सकने लायक भेदकी कल्पना करना अज्ञान है: अवश्य ही दिव्य सिद्धि यहीं प्राप्त होनी चाहिये, कहीं और नहीं, किसी अन्य लोकमें जानेपर नहीं। इस स्थापनाका प्रयोग केवल वैयक्तिक सिद्धिका समर्थन करनेके लिये किया जाता था, किंतु उसी तरह यह एक अधिक व्यापक प्रयासका भी आधार हो सकती है।

१४-१-३४

रूपांतरके विभिन्न स्तर

दिव्य चेतनाके नाना स्तर हैं। रूपांतरके भी नाना स्तर हैं। पहला है चैत्य रूपांतर, जिसमें सब कुछ व्यक्तिकी चैत्य चेतनाके द्वारा भगवान्‌के संपर्कमें रहता है। दूसरा है आध्यात्मिक रूपांतर जिसमें सब कुछ वैश्व चेतनाके भीतर जाकर भगवान्‌में मिल जाता है। तीसरा है अतिमानसिक रूपांतर जिसमें सब कुछ दिव्य विज्ञान-चेतनामें जाकर अतिमानसीकृत हो जाता है। इस पिछले रूपांतरसे ही मन, प्राण और शरीरका 'पूर्ण' रूपांतर — पूर्णताके मेरे अर्थमें — आरम्भ हो सकता है।

तुम्हारी बात दो दृष्टियोंसे गलत है। प्रथम, इस उपलब्धिके लिये प्रयास करना कोई नई बात नहीं है और मेरा विश्वास है कि कई योगी इसे प्राप्त भी कर चुके हैं —— किन्तु उस रूपमें नहीं जिसमें मैं इसे प्राप्त करना चाहता हूँ। उन्होंने इसे योगसिद्धिके द्वारा रक्षित एक वैयक्तिक सिद्धिके रूपमें उपलब्ध किया था —— प्रकृतिके धर्म (भौतिक सत्ताके रूपांतर) के रूपमें नहीं। दूसरे, अतिमानसिक रूपान्तर और आध्यात्म-मानसिक रूपान्तर एक ही वस्तु नही हैं। अतिमानसिक रूपान्तर तन-मन-प्राणका एक ऐसा परिवर्तन है जिसे, मानसिक या अधिमानसीय-आध्यात्मिक रूपान्तर प्राप्त नहीं कर सकता। जिन व्यक्तियोंका तुमने उल्लेख किया है वे सभी आध्यात्मिक थे पर भिन्न-भिन्न रूपोंमें। उदाहरणार्थ, श्रीकृष्णका मन अधिमानस-भावापन्न (overmentalised) था, रामकृष्णका अन्तर्ज्ञानात्मक (intuitive), चैतन्यका आध्यात्म-चैत्य (Spiritual Psychic), बुद्धका संबुद्ध उच्चतर मानसिक (Illumined higher mental)। विजय गोस्वामीके विषयमें मैं नहीं जानता —— ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें (मानसिक) उज्ज्वलता तो प्राप्त थी पर वे अपेक्षाकृत अस्त-व्यंस्त ही थे। ये सभी अतिमानसिक रूपांतरसे भिन्न हैं। अब परमहंसोंके प्राणके विषयमें। यह कहा जाता है कि उनका प्राण या तो बालवत् (रामकृष्णकी भांति) व्यवहार करता है या उन्मत्तवत् अथवा पिशाचवत् या जड़वत् (जड़भरतकी भांति)। अच्छा, पर इस सबमें अतिमानसिक तो कुछ भी नहीं है।......तब ?......

इन रूपांतरोंमेंसे किसीके भी द्वारा मनुष्य भगवान्का यंत्र बन सकता है। पर प्रश्न यह है कि यंत्र किस कार्यके लिये ?

अप्रैल, १९३५

* * *

परमहंस-स्थिति प्राप्तिका एक विशेष स्तर है, वैसे ही अन्य स्तर भी हैं जो इससे नीचे या ऊंचे माने जाते हैं। उनके अपने स्थानमें मुझे उनके प्रति कोई आपत्ति नहीं। परन्तु मैं तुम्हें पुनः स्मरण करा दूँ कि मेरे योगमें सब प्राणिक चेष्टाओंको अन्तरात्मा तथा आध्यात्मिक स्थिरता, ज्ञान एवं शांतिके प्रभावके अधीन करना आवश्यक है। यदि वे अन्तरात्मा या आध्यात्मिक नियंत्रणका विरोध करें तो वे संतुलनको उलट सकती तथा रूपांतरके आधारके निर्माणमें बाधा डाल सकती हैं। यदि असंतुलन अन्य मार्गोंके लिये अच्छा हो तो इसे वही जानें जो उनका अनुसरण करते हैं। मेरे मार्गके लिये तो यह उपयुक्त नहीं

है।

मई, १९३५

परंपरागत मार्ग और अतिमानसिक रूपांतर

तुम वैष्णव-तांत्रिक परंपराओंका,—चैतन्य, रामप्रसाद, रामकृष्णका दृष्टांत देते हो। इनके विषयमें मैं भी कुछ जानता हूँ और यदि मैंने इन्हें दुहरानेकी चेष्टा नहीं की तो वह इसलिये कि मुझे इनमें वह समाधान, वह समन्वय दिखाई नहीं देता जिसकी मैं खोज कर रहा हूँ। तुम्हारा दिया हुआ रामप्रसाद-का उद्धरण मेरी तनिक भी सहायता नहीं करता और न इससे तुम्हारे सिद्धांत या मतकी पुष्टि होती है। रामप्रसाद साकार नहीं, वरन् निराकार एवं अगोचर भगवान्‌की चर्चा कर रहे हैं—अथवा उनके भगवान् यदि गोचर हैं भी तो केवल सूक्ष्म रूपमें आंतर अनुभूतिके लिये ही। जब वे कहते हैं कि मैं मांके विरुद्ध अपने अधिकार या अभियोगकी तबतक स्थापना करता रहूँगा जबतक वे मुझे अपनी गोदमें नहीं ले लेंगी तो वे किसी बाह्य प्राणिक या भौतिक संपर्ककी नहीं, बल्कि आंतर चैत्य अनुभव की बात कर रहे हैं; स्पष्ट ही, वे इस बातके विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं कि क्यों मां उन्हें बाह्य प्राणिक तथा भौतिक प्रकृतिमें रखे हुई हैं और वे आग्रह करते हैं कि वे उन्हें चैत्य-आध्यात्मिक स्तरपर अपने साथ आध्यात्मिक मिलनमें उठा ले जायँ।

यह सब बहुत अच्छा और बहुत सुन्दर है। पर यह पर्याप्त नहीं है: निःसंदेह मिलन पहले आंतर चैत्य-आध्यात्मिक अनुभवमें ही प्राप्त करना है, क्योंकि इसके बिना सुदृढ़ या स्थायी रूपसे कुछ भी संपन्न नहीं हो सकता। परन्तु साथ ही बाह्य चेतना और जीवनमें, प्राणिक और भौतिक स्तरोंमें भी उनकी ही अपनी मौलिक धाराके अनुसार भगवान्‌की उपलब्धि अवश्य होनी चाहिये। तुम यही मांग रहे हो यद्यपि तुम्हारा मन इसे नहीं समझता और न यह जानता है कि इस कार्यको कैसे संपन्न किया जाय, और मैं भी यही चाहता हूँ; पर मैं प्राणिक रूपांतरकी आवश्यकता अनुभव करता हूँ, जब कि तुम यह सोचते और मांग रहे दीखते हो कि यह बिना किसी आमूल रूपांतरके साधित हो जाय और प्राणको वैसे का वैसा ही छोड़ दिया जाय। प्रारम्भमें, अतिमानस रहस्य जाननेसे पहले, स्वयं मैंने भी, प्राणके साथ आध्यात्मिक चेतनाका एक संबंध जोड़कर समन्वय खोज निकालनेका यत्न किया था, परन्तु मेरा अनुभव तथा सभीके अनुभव यही बताते हैं कि इससे हम किसी भी निश्चित एवं परम परिणाम पर नहीं पहुँच सकते; हम जहांसे चलते हैं बस वहीं

रह जाते हैं — मानव प्रकृतिके दो ध्रुवोंके ठीक मध्यमें। एक संबन्ध ही पर्याप्त नहीं है, रूपांतर अनिवार्य है।

बादकी वैष्णव भक्तिकी परंपरा यह है कि मानव प्रेमको भगवान्‌की ओर मोड़कर प्राणिक आवेगोंको प्रेमके द्वारा उदात्त करनेका यत्न किया जाय। इसने प्रबल और उत्कट यत्न किया और अनेक समृद्ध एवं सुन्दर अनुभव प्राप्त किये। किन्तु इसकी दुर्बलता भी ठीक वहीं थी, यह अन्तःस्थ भगवान्‌की अन्तरनुभूतिके रूपमें ही उपयोगी बनी रही, पर वहीं रुक भी गई। चैतन्य का प्रेम तीव्र उदात्तीकृत प्राणिक अभिव्यक्तिसे युक्त चैत्य दिव्य प्रेमके अतिरिक्त और कुछ नहीं था। परन्तु जिस क्षण वैष्णव धर्मने, उनके पहले या बाद, अधिक वहिर्मुखीकरण (Externalisation) का यत्न किया तब जो हुआ वह हम जानते ही हैं — प्राणावेशमय अधोगति, अत्यधिक भ्रष्टता और ह्रास। चैत्य या दिव्य-प्रेमके विरोधमें तुम चैतन्यके उदाहरणकी दुहाई नहीं दे सकते; उनका प्रेम निरी प्राणिक-मानवीय वस्तु नहीं था; अपने बाह्य रूपमें न सही पर अपने सार रूपमें वह बहुत कुछ उस रूपांतरका प्रारम्भ था जिसकी हम साधकोंसे अपेक्षा करते हैं, इसलिये कि वे अपने प्रेमको चैत्य प्रेमका रूप दें और प्राणको अपने लिये नहीं, बल्कि आत्मिक उपलब्धिको प्रकट करनेके लिये प्रयुक्त करें। यह प्रारंभिक पग है और शायद कुछ लोगोंके लिये पर्याप्त हो सकता है; क्योंकि हम हर एक व्यक्तिसे अतिमानसिक बननेके लिये नहीं कह रहे हैं। किन्तु भौतिक स्तरपर किसी भी पूर्ण अभिव्यक्तिके लिये अतिमानसिक रूपांतर अनिवार्य है।

पीछेकी वैष्णव परंपरामें साधनाका रूप यह हो जाता है कि मानवीय प्राणिक प्रेमको इसकी सभी प्रधान धाराओंमें भगवान्‌की ओर लगाया जाय; विरह, अभिमान, यहांतक कि पूर्ण वियोग (जैसे कृष्णका मथुराको प्रयाण) इस योगके प्रमुख अंग बना लिये जाते हैं। परन्तु यह सब — स्वयं साधनामें, वैष्णव कविताओंमें नहीं — केवल एक मार्गके रूपमें ही अभिमत था जिसका अन्त मिलन या पूर्ण एकत्व है। किन्तु कुछ लोग अशुभ तत्त्वोंपर जो बल देते हैं उससे तो प्रायः यही जान पड़ेगा कि कलह, वियोग और अभिमान इस प्रकारके प्रेमयोगका यथार्थ लक्ष्य नहीं तो संपूर्ण साधन-क्रम अवश्य हैं। और, फिर यह विधि मूर्त्त-देहधारी भगवान्‌के लिये नहीं, बल्कि केवल अन्तःस्थ भगवान्‌के लिये प्रयुक्त की जाती थी और भगवान्‌की खोजमें अन्तश्चेतनाकी कुछ एक विशेष अवस्थाओं एवं प्रतिक्रियाओंकी ओर संकेत करती थी। मूर्त्त भागवत अभिव्यक्ति अर्थात् मूर्त्तिमान् भगवान्‌के साथके संबंधोंमें, या, मैं यह भी कह दूँ कि गुरुके साथ शिष्यके संबंधोंमें, मनुष्यकी अपूर्णताके परिणाम-स्वरूप ऐसी चीजें पैदा हो सकती हैं, किन्तु ये संबंधोंके सिद्धांतका अंग नहीं बनाई गई थीं।

मेरे विचारमें ये गुरुके साथ भक्तोंके संबंधोंका नियमित और स्वीकृत अंग नहीं थीं। गुरुवादमें गुरु-शिष्य-संबंध सदा पूजा, सम्मान, पूर्ण एवं सहर्ष विश्वास, और मार्गनिर्देशकी शंका-रहित स्वीकृतिका संबंध माना जाता है। मूर्तिमान् भगवान्के साथ व्यवहारमें अरूपांतरित प्राणिक संबंधोंका प्रयोग करनेसे ऐसी प्रवृत्तियां उत्पन्न हो सकती हैं तथा हुई हैं जो योगकी प्रगतिमें सहायक नहीं होतीं।

रामकृष्णके योगका उद्देश्य भी केवल अन्तःस्थ भगवान्की उपलब्धि ही था,—इससे कम नहीं, पर इससे अधिक भी नहीं। मेरा विश्वास है कि रामकृष्णका वह वचन जो भगवान्के लिये सब कुछ न्योछावर करनेवाले साधकके भगवान्पर किये गये दावेके संबंधमें है, बाह्य नहीं वरन् आंतरिक दावेका स्थापक था, किसी मूर्त्त-देहधारी भगवान्पर नहीं वरंच अन्तःस्थ भगवान्पर किये गये दावेका समर्थक था: यह पूर्ण आध्यात्मिक मिलनका दावा था, भगवत्प्रेमी भगवान्को खोजता है, परन्तु भगवान् भी अपने आपको दे देता है और भगवत्प्रेमीसे मिलता है। इसमें कुछ भी आपत्ति नहीं हो सकती; ऐसा दावा भगवान्के सभी जिज्ञासु करते हैं; परन्तु जहांतक इस दिव्य मिलनके स्वरूपका संबंध है वह हमें बहुत दूर नहीं ले जाता। जो हो, मेरा लक्ष्य भौतिक स्तरपर सिद्धि प्राप्त करना है और मैं केवल रामकृष्णके ही कार्यको दुहरानेके लिये सहमत नहीं हो सकता। मुझे यह भी याद पड़ता है कि दीर्घकालतक वे अपने अन्तरमें ही लीन रहे थे और उनका सारा जीवन अपने शिष्योंके साथ ही नहीं बीता था। अपनी सिद्धि उन्हें पहले-पहल एकांतवासमें प्राप्त हुई थी और जब वे बाहर आये तथा हर किसीसे मिलने-जुलने लगे तो इससे कुछ वर्षोंमें ही उनका शरीर क्षीण हो गया। मेरी समझमें इसपर उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी; क्योंकि जब केशवचन्द्र मरणासन्न थे तब उन्होंने यह सिद्धांत घोषित किया था कि आध्यात्मिक अनुभवसे शरीर क्षीण हो जाता है। परन्तु साथ ही, जब उनसे पूछा गया कि आपको गलेकी बीमारी क्यों हुई तो उन्होंने उत्तर दिया कि यह मेरे शिष्योंके उन पापोंका परिणाम है जो उन्होंने मुझपर डाल दिये हैं और जो मुझे निगलने पड़े हैं। उनकी भांति केवल आंतरिक मुक्तिसे संतुष्ट न होनेके कारण मैं ये विचार या ये परिणाम स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि यह मुझे भौतिक स्तरपर भगवान् और साधकका सफल मिलन-जैसा नहीं प्रतीत होता, अन्तर्जीवनके लिये यह चाहे कितना भी सफल रहा हो। श्रीकृष्णने महान् कार्य किये और, अत्यन्त स्पष्ट रूपमें, वे भगवान्के अवतार थे। परन्तु मुझे महाभारतका एक स्थल स्मरण है जिसमें वे शिकायत करते हैं कि मेरे अनुयायियों तथा उपासकोंने मेरे जीवनको अशांत बना दिया है, वे बार-बार

मांगें पेश करते, भर्त्सना करते तथा अपनी असंस्कृत प्राणिक प्रकृति मुझपर फेंकते हैं। गीतामें वे इस मानवीय जगत्को अनित्य तथा दुःखमय बताते हैं और अपने दिव्य कर्मके सिद्धांतके होते हुए भी लगभग यही मानते प्रतीत होते हैं कि आखिर इसे त्याग देना ही सर्वोत्तम समाधान है। अतीतकी परंपराएं, अतीत कालमें, अपने स्थानपर अत्यन्त महान् थीं, परन्तु मुझे कोई कारण नहीं दीखता कि हम केवल उन्हें ही दुहरायें और उनसे और आगे न बढ़ें। भूतलपर चेतनाके आध्यात्मिक विकासमें महान् भूतके बाद महत्तर भविष्य अवश्य आना चाहिये।

एक विधान है जिसकी तुम सब सर्वथा उपेक्षा करते दीखते हो — वह है भौतिक स्तरपर स्थूल अभिव्यक्ति तथा दिव्य उपलब्धिकी कठिनाइयोंका होना। अधिकांश लोगोंको यह एक सरल विकल्प प्रतीत होता है कि या तो भगवान् पूर्ण शक्तिके साथ उतर आयें और कार्य संपन्न हो जाय, कोई कठिनाई न हो, कोई आवश्यक शर्तें न हों, कोई नियम या प्रक्रिया न हो, बस हो केवल चमत्कार तथा जादू, या फिर, वह भगवान् नहीं हो सकता। फिर, तुम सभी (या प्रायः सभी) भगवान्के मनुष्य बनने तथा मानवी चेतनामें रहनेपर आग्रह करते हो और तुम मनुष्यको दिव्य बनानेके किसी भी प्रयत्नका विरोध करते हो। दूसरी ओर, यदि मानवीय कठिनाइयां उपस्थित हों, यदि शरीरपर बहुत श्रम पड़े, विरोधी शक्तियोंके साथ हार-जीतसे भरा संघर्ष हो, यदि विघ्न-बाधाएं और रोग आवें तो हम निराशा, व्याकुलता, अविश्वास और संभवतः रोषके मारे चीख पड़ते हैं और कुछ लोग तो कहने लगते हैं, "ओह, यहांपर भगवान् नामकी कोई चीज नहीं है!"—मानों कोई अरूपांतरित वैयक्तिक मानवीय चेतनाके साथ अपना संबंध बदले बिना, प्राणिक और शारीरिक तौरपर इसी चेतनामें रहता हुआ तथा इसकी मांगें पूरी करता हुआ भी सभी परिस्थितियों एवं सभी अवस्थाओंमें आयास, संघर्ष और रोगसे मुक्त रह सकता हो। यदि मैं मानव चेतनाको दिव्य बनाना चाहता हूँ, यदि मैं भौतिक स्तरके रूपांतरके लिये इसके भीतर अतिमानसिक चेतना, सत्य-चेतना, ज्योति तथा शक्तिको उतारना और यहां सत्य, ज्योति, शक्ति, आनन्द एवं प्रेमका विपुल वैभव उत्पन्न करना चाहता हूँ तो इसके प्रतिक्रियास्वरूप विकर्षण, भय, अनिच्छा या यह संदेह देखनेमें आता है कि क्या यह संभव भी है। एक ओर तो यह मांग है कि रोग, शोक आदिका आना असंभव हो जाय, दूसरी ओर उस एकमात्र अनिवार्य अवस्थाका ही उग्र परित्याग किया जाता है जिसमें ये चीजें संभव हो सकती हैं। मैं जानता हूँ कि यह मानवीय प्राणिक मनकी स्वभावगत असंगति है जिसके कारण वह एक साथ दो असंगत तथा बेमेल चीजोंकी इच्छा करता

है; परन्तु यह भी एक कारण है जिससे हम कहते हैं कि मनुष्यको रूपांतरित कर उसके स्थानपर कुछ अधिक प्रकाशमय वस्तु स्थापित करना आवश्यक है।

परन्तु क्या भगवान् कोई ऐसी भीषण, भयावह या विकर्षक वस्तु है कि भौतिक स्तरमें इसके प्रविष्ट होने तथा मानवको दिव्य बनानेके विचारसे ही ऐसी जुगुप्सा, अस्वीकृति, विद्रोह या भयका भाव पैदा हो? यह तो मेरी समझमें आ सकता है कि असंस्कृत प्राण, जो अपने तुच्छ सुख-दुःखों तथा जीवनके क्षणिक अज्ञ नाटकमें आसक्त है, अपनेको बदलनेवाली वस्तुसे कतराए। किन्तु एक ईश्वर-प्रेमी, ईश्वरको खोजनेवाले या साधकको भला चेतनाके दिव्यीकरणसे डरनेकी क्या जरूरत है? वह जिस वस्तुको खोजता है उसके साथ प्रकृतिकी एकाकारता प्राप्त करनेमें उसे क्यों आपत्ति होनी चाहिये, वह क्यों सादृश्य-मुक्तिसे मुँह मोड़े? इस भयके मूलमें साधारणतया दो कारण होते हैं: प्रथम, प्राणको ऐसा लगता है कि वह अब तमोवृत, अपक्व, पंकिल, अहंभावमय, अपरिष्कृत (अध्यात्मतः) और उत्तेजक कामनाओं, तुच्छ सुखों एवं रोचक दुःखों (क्योंकि यह इनका स्थान लेनेवाले आनन्दसे भी डरता है) से पूर्ण नहीं रह सकेगा। दूसरा, मनका यह एक धुँधला अज्ञ विचार है—मेरे मतसे, इसका कारण संन्यास-मार्गीय परंपरा है—कि दिव्य प्रकृति कोई उदासीन, नग्न, शून्य, कठोर और एकाकी वस्तु है तथा इसमें अहंभावमय मानवीय प्राणिक जीवनके भव्य ऐश्वर्यका अभाव है। मानों दिव्य प्राणका अस्तित्व ही नहीं है और मानों अभी-तक-इतनी अपूर्ण मानव सृष्टिके वर्तमान, अशक्त, पीड़ित, क्षुद्रतः और क्षणिकतः उत्तेजित तथा शीघ्र-श्रांत प्राणकी अपेक्षा वह दिव्य प्राण स्वयं सौंदर्य, प्रेम, तेज, उष्णता, अग्नि, तीव्रता और दिव्य संवेग, एवं आनन्द धारण करनेकी सामर्थ्यसे अनंतगुना अधिक पूर्ण नहीं है और जब वह प्रकट होनेके साधन प्राप्त कर लेगा तो इस भूलोकके जीवनको भी ऐसा ही नहीं बना देगा।

परन्तु तुम कहोगे कि तुम भगवान्से पराङ्मुख नहीं होते हो, बल्कि उन्हें तो तुम स्वीकार करते हो और उन्हें प्राप्त करना चाहते हो (हां, यदि वे अति दिव्य न हों), किन्तु जिसपर तुम्हें आपत्ति है; वह तो अतिमानस है—विशाल, दूरस्थ, अगम, अगोचर, एक प्रकारका कठोर निराकार ब्रह्म। इस प्रकार वर्णित अतिमानस एक ऐसा भूत-प्रेत है जिसकी रचना तुम्हारे प्राणिक मनके इस भागने अपनेको डराने तथा अपनी वृत्तिको उचित सिद्ध करनेके लिये की है। इस विचित्र वर्णनके पीछे यह विचार प्रतीत होता है कि अति-मानस उस वैदांतिक निराकार, अनिर्देश्य परब्रह्मका नया विवरण है जो बृहत्, महान्, उदासीन, रिक्त, सुदूर, सर्वापहारी एवं सर्वाभिभावी है; वास्तवमें वह

विलकुल वही नहीं है, क्योंकि वह पृथ्वीपर अभिव्यक्त हो सकता है, किन्तु सभी व्यावहारिक प्रयोजनोंके लिये यह भी ठीक उतना ही बुरा है! यह विचित्र बात है कि अतिमानसके स्वरूपके संबंधमें अपना अज्ञान स्वीकार करते हुए भी तुम अपने मन की इन दशाओंमें केवल यह सुनिश्चित घोषणा ही नहीं करते कि यह कैसा है, बल्कि इसके विषयमें मेरे अनुभवका बलपूर्वक इन शब्दोंमें खंडन करते हो कि यह व्यावहारिक दृष्टिसे युक्तियुक्त नहीं है या यह मेरे सिवा और किसीके लिये सत्य नहीं है! मैंने आग्रह नहीं किया है, मैंने केवल तुम्हें प्रसगवश उत्तर दिया है, क्योंकि मैं तुम्हें अभी अ-मानवीय तथा दिव्य होनेको नहीं कह रहा हूँ, अतिमानसिककी तो बात ही दूर रही; पर जब तुमपर उदासी आदिके ये आक्रमण होते हैं तो तुम सदा इसी विषयपर आ जाते हो और इसे अपने अवसादकी धुरी — या कम-से-कम एक मुख्य आधार — बना लेते हो, अतः मुझे उत्तर देना पड़ रहा है। अतिमानस बृहत्, दूरस्थ, उदासीन और कठोर नहीं है; यह पूर्ण प्राणिक तथा शारीरिक अभिव्यक्तिके विपरीत या उससे असंगत भी नहीं है। प्रत्युत, यह भूतलपर प्राणिक शक्ति तथा शारीरिक जीवनके पूर्ण वैभवकी एकमात्र संभावनाको अपने अन्दर वहन करता है। चूँकि यह ऐसा ही है, चूँकि यह मेरे सामने इसी रूपमें प्रकाशित हुआ था, इसी कारण, अन्य किसी कारणसे नहीं, मैंने इसका तबतक अनुसंधान किया और इसके लिये अध्यवसाय करता रहा जबतक मैं इसके संपर्कमें नहीं आ गया और इसकी कुछ शक्ति तथा इसका प्रभाव नीचे उतार लानेमें समर्थ नहीं हो गया। मुझे इस भूतलसे मतलब है, इससे परेके लोक अपने आपमें मेरे लिये कुछ महत्त्व नहीं रखते; मुझे पार्थिव उपलब्धिकी चाह है, सुदूर शिखरोंकी उड़ानकी नहीं। अन्य सब लोग इस जीवनको माया या क्षणिक अवस्था मानते हैं; केवल अतिमानसिक योग ही इसे एक ऐसी वस्तु मानता है जिसे भगवान्‌ने बढ़ती हुई अभिव्यक्तिके लिये बनाया है और इसका लक्ष्य है जीवन तथा शरीरकी परिपूर्णता। अतिमानस बस सत्य-चेतना है और अपने अवतरणके साथ यह जड़तत्त्व के अन्दर जीवनका पूर्ण सत्य तथा चेतनाका पूर्ण सत्य लाता है। अवश्य ही, इसे प्राप्त करनेके लिये व्यक्तिको ऊंचे शिखरोंपर चढ़ना होगा, परन्तु जितना ही ऊंचा वह चढ़ेगा उतना ही अधिक वह सत्य को नीचे उतार सकेगा। इसमें संदेह नहीं कि जीवन और शरीरको वैसे ही अज्ञ, अपूर्ण एवं अशक्त नहीं रहना है जैसे कि वे आज हैं; परन्तु पूर्णतर जीवन-शक्ति तथा पूर्णतर देह-शक्तिमें परिवर्त्तित होनेको एकाकी, उदासीन एवं अवांछनीय वस्तु क्यों समझा जाय? शरीर और जीवन आज जिस अधिकतम आनन्दको प्राप्त करनेमें समर्थ हैं वह प्राणिक मन, स्नायुओं या कोषोंका अल्पकालिक उत्तेजन है जो सीमित एवं

अपूर्ण है तथा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। अतिमानसिक परिवर्तनके द्वारा सभी कोष, स्नायु, प्राणिक शक्तियां और देहस्थित मानसिक शक्तियां हजारगुना आनन्दसे परिपूरित हो सकती हैं, आनन्दकी एक ऐसी प्रगाढ़ताको धारण करनेके योग्य बन सकती हैं जिसका न तो वर्णन ही हो सकता है और न जो क्षीण ही हो सकती है। यह फिर अलग-सा, विकर्षक और अवांछनीय कैसे हुआ ! अतिमानसिक प्रेमका अर्थ है आत्माकी आत्माके साथ, मनकी मनके साथ, प्राणकी प्राणके साथ प्रगाढ़ एकता, एकताके भौतिक अनुभवके द्वारा शरीर-चेतनाका पूरी तरह भर जाना, अंग-प्रत्यंगमें, शरीरके प्रत्येक कोषाणुमें प्रियतमकी उपस्थिति। क्या यह भी कोई दूरस्थ, महत् पर अवांछनीय वस्तु है ? अतिमानसिक परिवर्तनके द्वारा, ठीक वही वस्तु जिसका तुम आग्रह करते हो, अर्थात् शक्तियोंके संघर्ष तथा अवांछनीय प्रतिक्रियाओंके बिना साधकके साथ साकार भगवान्के स्वतंत्र भौतिक मिलनकी संभावना, साध्य, निश्चित तथा उन्मुक्त हो जाती है। यह भी शायद दूरस्थ और अवांछनीय वस्तु है ? मैं पृष्ठपर पृष्ठ लिख सकता हूँ, परन्तु अभी इतना ही पर्याप्त है।

१४-१-१९३२

विगत और आगामी आध्यात्मिक विकास

साधारणतया मुझे पुस्तकें पढ़नेका समय नहीं मिलता। पुस्तकें भी मैं कदाचित् ही रखता था और अब तो बिलकुल नहीं रखता। विजय गोस्वामी की साधनासे मुझे कोई प्रेरणा प्राप्त नहीं हुई, यद्यपि रामकृष्ण और विवेकानन्दसे मुझे एक समय पर्याप्त प्रेरणा मिली। मेरे कथनका अभिप्राय इतना ही था कि मनुष्यजातिके तथा विशेषतः भारतके आध्यात्मिक इतिहासको मैं दिव्य प्रयोजनका एक निरंतर विकास मानता हूँ, न कि एक पुस्तक जो पूरी हो चुकी है और जिसकी पंक्तियोंको सदा दुहराते रहना चाहिये। यहांतक कि उपनिषद् तथा गीता भी अंतिम पुस्तकें नहीं हैं भले ही उनमें हर एक चीज बीज-रूपमें क्यों न विद्यमान हो। इस क्रमविकासमें भारतका आधुनिक आध्यात्मिक इतिहास अति महत्त्वपूर्ण अवस्थाको सूचित करता है और जिन नामोंका मैंने उल्लेख किया था वे उस समय मेरे मनमें अधिक प्रधान रूपमें उपस्थित थे। मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि वे उन सरणियों या लीकोंकी ओर निर्देश कर रहे हैं जिनपर भावी आध्यात्मिक विकासको बिलकुल सीधे ही चलना है, ठहरना नहीं है, बल्कि चलते ही जाना है। मैं नहीं समझता कि जो भाषा तुम सुझा रहे हो, उसमें मैं ठीक अपना अर्थ प्रकट कर सकता हूँ। मैं यह भी कह सकता हूँ कि

भावी मानजातिके लिये किसी नये या पुराने धर्मका प्रचार करना मेरे लक्ष्यसे बाहरकी वस्तु है। इस विषयमें मेरी धारणा यह है कि अभीतक रुके पड़े मार्गको खोलनेकी जरूरत है न कि किसी धर्मकी स्थापना करनेकी।

१८-८-१९३५

गीता और श्रीअरविन्दका संदेश

यह सच नहीं कि गीतामें श्रीअरविन्दके सन्देशका संपूर्ण आधार पाया जाता है; क्योंकि गीता संसारमें जन्म लेनेसे छुटकारेको योगका अन्तिम लक्ष्य या कम-से-कम उसकी पराकाष्ठा मानती दीखती है। वह आध्यात्मिक विकासके विचार या उच्चतर भूमिकाओं एवं अतिमानसिक सत्य-चेतनाके तथा पार्थिव जीवनके पूर्ण रूपांतरके साधनके रूपमें उस चेतनाको उतार लानेके विचारको प्रस्तुत नहीं करती।

ऋग्वेदमें — उसकी श्रीअरविन्द-कृत व्याख्याके अनुसार — तथा उपनिषदोंके दो-एक स्थलोंमें अतिमानस किंवा सत्यचेतनाका विचार विद्यमान है। परन्तु उपनिषदोंमें वह मनोमय, प्राणमय, अन्नमय पुरुषसे परे स्थित विज्ञानमय पुरुष-की परिकल्पनामें, बीजरूपमें ही निहित है। ऋग्वेदमें यह विचार है तो सही पर सिद्धांत-रूपमें ही, वहां इसका विकास नहीं किया गया और इसका सिद्धांत तक हिन्दू परम्परासे लुप्त हो गया है।

हिन्दुओंके परंपरागत ज्ञानकी तुलनामें श्रीअरविन्दका सन्देश जिन बातोंमें विलक्षण है वे अन्य बातोंके साथ-साथ ये हैं — यह विचार कि संसार न तो मायाकी रचना है, न भगवान्‌की लीलामात्र और न अविद्याके भीतर चलने-वाला जन्म-चक्र जिससे हमें निकल भागना है, बल्कि यह है अभिव्यक्तिका क्षेत्र जिसमें जड़तत्त्वके भीतर और जड़तत्त्वसे, आत्मा और प्रकृतिका क्रमिक विकास, प्राण और मनमेंसे होते हुए, मनसे परेके तत्त्वकी ओर हो रहा है और यह तबतक चलता रहता है जबतक यह जीवनमें सच्चिदानन्द के पूर्ण प्राकटच तक नहीं पहुँच जाता। श्रीअरविन्दके योगका आधार यही है और यह जीवनको नया अर्थ प्रदान करता है।

* * *

हमारा योग ठीक गीताके योगके समान ही नहीं है, यद्यपि गीताके योगकी सारी बातें इसमें आ जाती हैं। अपने योगमें हम पूर्ण समर्पणके विचार, संकल्प

एवं अभीप्सासे आरम्भ करते हैं; पर साथ ही हमें निम्न प्रकृतिका परित्याग करना, अपनी चेतनाको उससे मुक्त करना तथा उच्च प्रकृतिके स्वातंत्र्यकी ओर उठनेवाली आत्माके द्वारा निम्न प्रकृतिमें डूबे हुए आत्माका उद्धार करना है। यदि हम यह दोहरा प्रयत्न न करें तो भय है कि कहीं हम तामसिक और फलतः मिथ्या समर्पण ही न कर बैठें, किसी प्रकारकी भी तपश्चर्या और पुरुषार्थ न करें और परिणामतः हमारी कुछ भी उन्नति न हो। अथवा, यह भी संभव है कि हम भगवान्‌के प्रति नहीं, बल्कि भगवद्-विषयक किसी स्व-कल्पित मिथ्या धारणा या उनकी एक वैसी ही प्रतिमाके प्रति राजसिक समर्पण कर बैठें, जो हमारे राजसिक अहंको, अथवा उससे भी निकृष्ट किसी वस्तुको अपने अन्दर छिपाये रहती है।

* * *

अनेक विषयोंमें गीताकी भाषा कभी-कभी स्व-विरोधी प्रतीत होती है, क्योंकि यह दो आपाततः विरोधी सत्योंको स्वीकार कर लेती और उन्हें समन्वित करनेका यत्न करती है। संसारका त्याग कर ब्रह्ममें लीन होनेके आदर्शको यह एक संभावनाके रूपमें स्वीकार करती है; साथ ही भगवान्‌में (गीताके अपने शब्द हैं — 'मुझ' में) मुक्त भावसे निवास करने तथा जगत्‌में जीवन्मुक्त की भांति कर्म करनेकी संभावनाको भी यह प्रस्थापित करती है। इस पिछली कोटिके समाधानपर ही यह सर्वाधिक बल देती है। इसीलिये रामकृष्ण "दिव्य आत्माओं" (ईश्वरकोटि) की जो सीढ़ीपर से उतर सकती हैं और फिर ऊपर चढ़ सकती हैं, जीव कोटिकी आत्माओंसे जो एक बार ऊपर चढ़ चुकनेके बाद भगवत्कार्यके लिये फिर उतर नहीं सकतीं, श्रेष्ठ मानते हैं। पूर्ण सत्य तो अति-मानसिक चेतनामें तथा वहांसे जीवन एवं जड़तत्त्वपर कार्य करनेकी शक्तिमें ही निहित है।

कर्म और पूर्णयोग

पुराने योगोंके सत्यको मैंने कभी अस्वीकार नहीं किया है — मुझे स्वयं वैष्णव भक्ति तथा ब्रह्म-निर्वाणका अनुभव हुआ है। उनके अपने ही क्षेत्रमें अपने अनुभव और पहुँचके अनुसार तथा उनके अपने ही प्रयोजनके लिये उनका सत्य मैं अंगीकार करता हूँ — यद्यपि उस अनुभवपर आधारित मानसिक दर्शनशास्त्रों-का सत्य स्वीकार करनेको मैं किसी प्रकार भी बाध्य नहीं। उसी तरह मैं

देखता हूँ कि मेरा योग अपने ही क्षेत्रमें — जो मेरी समझमें अधिक व्यापक क्षेत्र है — तथा अपने ही प्रयोजनके लिये सच्चा है। पुराने योगोंका प्रयोजन है जीवनको त्यागकर भगवान्को पाना — अतः स्पष्ट ही है कि हमें कर्म छोड़ देने चाहिये। इस नये योगका प्रयोजन है भगवान्को पाना तथा जो कुछ प्राप्त हो वह सारे-का-सारा जीवनमें उतार लाना — इसके लिये कर्मयोग (कर्मों द्वारा योग) अनिवार्य है। मुझे लगता है, इसमें कोई रहस्य की बात या किसी-को चकरानेवाली कोई बात नहीं है — यह युक्तियुक्त एवं अवश्यंभावी है। तुम्हारा कहना इतना ही है कि यह असंभव है; पर यह तो ऐसी बात है जो प्रत्येक कामके बारेमें उसके सिद्ध होनेसे पहले कही जाती है।

मैं यह भी बता दूँ कि कर्मयोग नया नहीं, वरन् बहुत पुराना योग है; गीता कोई कल तो लिखी नहीं गयी थी और कर्मयोग गीतासे भी पहले विद्य-मान था; तुम्हारा यह विचार बड़ा ही संक्षिप्त तथा अधकचरा है कि, 'गीतामें कर्मोंके पक्षमें एकमात्र युक्ति यह दी गई है कि यह सब अनिवार्य बखेड़ा है, अतः अच्छा यह है कि इसका उत्तम-से-उत्तम उपयोग किया जाय'। यदि इतनी ही बात होती तो गीता एक मूर्खकी कृति होती और मेरा इसपर दो जिल्दें लिखना या संसारका इसे एक बहुत बड़े धर्मगंथके रूपमें, विशेषकर इसने आध्या-त्मिक पुरुषार्थमें कर्मोंको जो स्थान दिया है, उसके लिये, पढ़ना किसी तरह भी उचित न ठहरता। अवश्य ही गीतामें इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है। अस्तु, तुम्हारे ये संदेह कि क्या कर्मोंसे सिद्धि प्राप्त होना संभव है या यूँ कहें कि ऐसी संभावनासे तुम्हारा साफ इन्कार करना उन लोगोंके अनुभवका विरोध करता है जो इस असंभव मानी हुई चीजकी प्राप्ति कर चुके हैं। तुम कहते हो कि कर्म चेतनाको नीचेके स्तरमें उतार लाता है, तुम्हें अन्तश्चेतनासे बहिश्चेतनामें ले आता है — हां, पर यदि तुम्हीं अन्दरसे काम करनेके स्थानपर कर्ममें अपनेको बहिर्मुख करना स्वीकार कर लो; यही वह चीज है जिसे नहीं करना मनुष्यको सीखना है। विचार और भाव भी व्यक्तिको इसी प्रकार बहि-र्मुख कर सकते हैं; पर यह तो अन्तश्चेतनामें निवास करते हुए सारी सत्ताको उसका यंत्र बनाकर विचार, भाव तथा कर्मको दृढ़तापूर्वक उस चेतनाके साथ जोड़ देनेका प्रश्न है। कठिन? पर भक्ति भी कहां सुगम है और निर्वाण तो बहुतसे लोगोंके लिये उससे भी अधिक कठिन है।

मेरी समझमें नहीं आता कि तुम मानवहितवाद, कर्मवाद, परोपकारमय सेवा आदिको क्यों बीचमें खींच लाते हो। इनमेंसे कोई भी चीज न तो मेरे योगका अंग है और न मेरे कर्मोंसे मेल ही खाती है, अतः इनसे मुझपर कोई असर नहीं पड़ता। मैंने यह कभी नहीं सोचा कि राजनीतिसे अथवा गरीबोंको

भोजन खिलाने या सुन्दर कविताएं लिखनेसे सीधे वैकुण्ठ या परब्रह्मकी प्राप्ति हो जायगी। यदि ऐसा होता तो एक ओर रमेश दत्त तथा दूसरी ओर बोदलेअर (Baudelaire) परम धाम पहुँचने तथा वहां हमारा स्वागत करनेवाले सर्वप्रथम व्यक्ति होंगे। स्वयं कर्मका बाह्य रूप या बाह्य चेष्टामात्र नहीं बल्कि उसके मूलमें निहित चेतना एवं भगवन्मुख संकल्प ही कर्मयोगका सार है। कर्म तो कर्मोंके स्वामीसे मिलन प्राप्त करनेका आवश्यक साधनमात्र है, वह अविद्याके संकल्प एवं बलसे निकलकर प्रकाशके शुद्ध संकल्प एवं शक्ति-सामर्थ्यकी ओर जानेका मार्ग है।

अन्तमें, तुम यह कल्पना ही क्यों करते हो कि मैं ध्यान या भक्तिके विरुद्ध हूँ। मुझे इसमें तनिक भी आपत्ति नहीं कि तुम इनमेंसे किसी एकको या दोनोंको भगवत्प्राप्तिके साधनके रूपमें अपनाओ। मैं कर्मोंकी पुष्टि केवल इसलिये करता हूँ कि मुझे इसमें कुछ कारण नहीं दीखता कि कोई कर्मोंके विषयमें विवाद उठावे और उन लोगोंके उपलब्ध सत्यसे इन्कार करे जिन्होंने, गीताके कथनानुसार, कर्मों द्वारा पूर्ण सिद्धि तथा भगवत्साधर्म्य (भगवान्‌की प्रकृतिसे एकरूपता), संसिद्धिं साधर्म्यम्, प्राप्त किया है (जैसे जनक तथा दूसरे योगियोंने किया) — केवल इसलिये इन्कार करे कि वह स्वयं कर्मोंका गहनतर रहस्य नहीं जान पाता या अभी तक नहीं जान पाया है।

२३-१२-१९३४

* * *

मैं कह सकता हूँ कि मैं व्यापारको कोई बुरी या कलुषित वस्तु नहीं मानता, प्राचीन आध्यात्मिक भारतमें इसे जैसा बुरा माना गया है उससे अधिक तो जरा भी नहीं। यदि मैं इसे ऐसा मानता होता तो मैं 'क्ष' से या अपने उन शिष्योंसे, जो बम्बईमें रहकर ईस्ट अफ्रीकासे व्यापार करते हैं, धन स्वीकार नहीं कर सकता था; न तब हम उन्हें यह कहकर उत्साहित कर सकते थे कि अपना काम करते जाओ बल्कि हमें उन्हें यह कहना पड़ता कि इसे छोड़छाड़कर केवल अपनी आध्यात्मिक प्रगतिकी ओर ध्यान दो। 'क्ष' की आध्यात्मिक प्रकाशकी खोज और उसके कारखानेमें हमें कैसे मेल बैठाना होगा? क्या मुझे उसे यह नहीं कहना चाहिये कि अपने कारखानेको उसीपर और शैतानपर छोड़कर ध्यान लगानेके लिये किसी आश्रममें चले जाओ? यदि स्वयं मैं व्यापार करनेमें सिद्धहस्त होता जैसे कि मैं राजनीतिक कार्य करनेमें था तो मैं भी तनिक भी आध्यात्मिक या नैतिक अनुतापके विना व्यापार करता। सब कुछ

इसपर निर्भर करता है कि कोई कार्य किस भावनासे किया जाता है, उसका आधार किन सिद्धान्तोंपर रखा जाता है तथा उसे किस उपयोगमें लाया जाता है। मैंने राजनीतिक कार्य किया है और वह भी उग्र-से-उग्र ढंगका क्रांतिपूर्ण राजनीतिक कार्य, घोरं कर्म, और मैंने युद्धका समर्थन किया तथा उसमें आदमी भेजे हैं, यद्यपि राजनीति सदा या प्रायः कोई बहुत साफ धन्धा नहीं होती, न युद्धको ही कर्मकी आध्यात्मिक दिशा कहा जा सकता है। परन्तु श्रीकृष्ण अर्जुनको अतिभीषण ढंगका युद्ध करने और अपने उदाहरणके द्वारा मनुष्योंको हर प्रकारका मानवीय कार्य, सर्वकर्माणि, करनेको उत्साहित करनेके लिये आह्वान देते हैं। क्या तुम्हारा यह दावा है कि श्रीकृष्ण आध्यात्मिक पुरुष नहीं थे और अर्जुनको उनका उपदेश सिद्धान्ततः भ्रांतिपूर्ण या अशुद्ध था? श्रीकृष्ण (अर्जुनको घोर कर्म करनेका आह्वान ही नहीं देते बल्कि) इससे भी आगे बढ़कर यह कहते हैं कि मनुष्य अपनी मूल प्रकृति, स्वभाव एवं सामर्थ्यके द्वारा निर्दिष्ट कार्य, अपनी सत्ता और प्रकृतिके धर्मके अनुसार नियत कार्य ठीक ढंगसे और ठीक भावसे करके भगवान्‌की ओर आगे बढ़ सकता है। वे ब्राह्मण और क्षत्रियके समान ही वैश्यके काम-काज और धर्मको भी युक्तियुक्त ठहराते हैं। उनके विचारके अनुसार, किसी मनुष्यके लिये यह सर्वथा संभव है कि वह व्यापार करके धनोपार्जन करे, मुनाफा उठाये और फिर भी एक आध्यात्मिक पुरुष हो, योगाभ्यास करे और आन्तरिक जीवन बिताये। गीता आध्यात्मिक मुक्तिके साधनके रूपमें कर्मोंका निरन्तर समर्थन करती है और भक्तियोग एवं ज्ञानयोगके समान ही कर्मयोगका भी पग-पगपर आदेश देती है। परन्तु श्रीकृष्ण हमपर इस अधिक ऊंचे नियमको भी लागू करते हैं कि कर्म कामनाके बिना, किसी फल या पुरस्कारके प्रति आसक्तिके बिना, किसी अहंमूलक भाव या हेतुके बिना, भगवान्‌के प्रति आहुति या यज्ञके रूपमें ही करना होगा। इन चीजोंके बारेमें परम्परागत भारतीय मनोवृत्ति यह है कि सभी कर्म किये जा सकते हैं यदि उन्हें धर्मके अनुसार किया जाय तो, और यदि कर्म ठीक ढंग और ठीक भावसे किया जाय तो वह भगवान्‌तक पहुँचनेमें या आध्यात्मिक ज्ञान एवं आध्यात्मिक जीवनकी उपलब्धिमें बाधा नहीं डालता।

निःसंदेह, एक तपस्वियोंका-सा विचार भी है जो बहुतोंके लिये आवश्यक होता है और जिसका आध्यात्मिक विधानमें अपना स्थान है। मैं स्वयं यह कहना चाहूँगा कि यदि कोई मनुष्य तपस्वीकी तरह जीवन नहीं बिता सकता या अधिक-से-अधिक अकिंचन वैरागीका-सा रीता जीवन नहीं अपना सकता तो वह आध्यात्मिक रूपसे पूर्ण भी नहीं हो सकता। स्पष्टतः ही, ऐश्वर्यसंपदा और धनोपार्जनकी तृष्णा उसकी प्रकृतिसे उतनी ही नदारद होनी चाहिये जितनी

भोजनकी लालसा या और किसी प्रकारकी लिप्सा, और इन चीजोंके प्रति समस्त आसक्तिको उसे अपनी चेतनासे विसर्जित कर देना होगा। किन्तु जीवन बितानेके तापसोचित ढंगको मैं आध्यात्मिक पूर्णताके लिये अनिवार्य या उससे अभिन्न नहीं मानता। क्रिया-प्रवृत्तिके बीच भी अथवा भगवान् द्वारा हमसे अपेक्षित किसी प्रकारके कर्म या सभी प्रकारके कर्मोंके बीच भी आध्यात्मिक आत्म-प्रभुत्व प्राप्त करनेका तथा अहंकार और कामनाको त्यागते हुए भगवान्के प्रति आध्यात्मिक आत्मदान एवं समर्पण करनेका एक मार्ग है। यदि ऐसा न होता तो भारतमें जनक या विदुर जैसे महान् अध्यात्मपुरुष न हुए होते और यहांतक कि श्रीकृष्ण भी न हुए होते अथवा श्रीकृष्ण वृन्दावन और मथुरा और द्वारकाके अधीश्वर या राजा एवं योद्धा या कुरुक्षेत्रके सारथि न होकर एक और महान् संन्यासीमात्र हुए होते। महाभारतमें तथा अन्यत्र पायी जाने-वाली भारतीय परम्परा और भारतीय धर्मग्रन्थ जीवनका त्याग करनेवाली आध्यात्मिकता तथा कर्ममय आध्यात्मिक जीवन दोनोंको स्थान देते हैं। कोई यह नहीं कह सकता कि इनमेंसे एक ही भारतीय परंपरा है और जीवन तथा सब प्रकारके कर्मों, सर्वकर्माणि, का अंगीकार अ-भारतीय, यूरोपीय या पश्चि-मीय एवं अनाध्यात्मिक है।

कर्म और ध्यान

एकाग्रता और ध्यान एक ही वस्तु नहीं हैं। कोई कर्म या भक्तिमें भी एकाग्र हो सकता है और उसी प्रकार ध्यानमें भी......यदि मैं अपने समयका नौ-दशांश एकाग्रतामें लगाता और कर्मके लिये कुछ भी न लगाता तो उसका परिणाम भी इतना ही असंतोषजनक होता। मेरी एकाग्रता एक विशेष कार्यके लिये है—यह जीवनसे विच्छिन्न ध्यानके लिये नहीं है। जब मैं एकाग्र होता हूँ, तब दूसरोंपर, जगत्पर तथा शक्तियोंकी क्रीड़ापर कार्य करता हूँ। मेरे कहनेका मतलब यह है कि सारा समय चिट्ठियोंके पढ़ने-लिखनेमें व्यय करना उक्त प्रयोजनके लिये पर्याप्त नहीं। मैं ध्यानशील संन्यासी बननेके लिये नहीं कह रहा हूँ।

...इसका यह अर्थ नहीं कि चिट्ठी-पत्रीका कार्य करते समय मैं उच्चतर चेतना को खो बैठता हूँ। यदि ऐसा हो तो इतना ही नहीं कि मैं अतिमानसिक नहीं हूँगा, बल्कि पूर्ण यौगिक चेतनासे भी कोसों दूर हूँगा.........।

यदि मुझे किसी आक्रमणका प्रतिकार करनेमें किसी व्यक्तिकी सहायता करनी होती है तो यह मैं उसे केवल एक पत्र लिखकर नहीं कर सकता, मुझे

उसके भीतर कोई शक्ति भेजनी होती है अथवा एकाग्र होकर उसके लिये वह कार्य कर देना होता है। फिर अतिमानसको मैं केवल इसके विषयमें लोगोंको सुन्दरतासे लिखकर ही नहीं अवतरित कर सकता। मैं सुखमय आलस्यके अन्दर आरामके साथ ध्यान करनेके लिये अवकाश नहीं मांग रहा हूँ। मैंने स्पष्ट कहा था कि चिट्ठी-पत्रीसे अधिक महत्त्वपूर्ण अन्य कार्यमें अपनेको लगा सकनेके लिये ही मुझे अवकाशकी आवश्यकता है।

इस वृत्तिके मूलमें एक अज्ञानमय धारणा काम कर रही है। वह यह कि व्यक्तिको अनिवार्य रूपसे केवल कर्म या केवल ध्यान करना चाहिये। या तो कर्म ही साधन है या ध्यान ही साधन है, दोनों भला कैसे साधन हो सकते हैं! जहांतक मुझे मालूम है, मैंने कभी नहीं कहा कि ध्यान नहीं करना चाहिये। कर्म और ध्यानमें खुला या लुका-छिपा संघर्ष खड़ा कर देना भेदजनक मनकी एक चालाकी है जो पुराने योग से संबन्ध रखती है। कृपया याद रखो कि मैं सदा ही उस पूर्णयोगका प्रतिपादन करता रहा हूँ जिसमें ज्ञान, भक्ति, कर्म — चेतनाका प्रकाश, आनन्द एवं प्रेम, कर्मोंके निमित्त संकल्प एवं सामर्थ्य — भगवान्‌का ध्यान, पूजा, सेवा, सबका अपना-अपना स्थान है। क्या मैंने 'आर्य' के सात खण्डोंको व्यर्थ ही लिखा है? ध्यान कर्मयोगसे बड़ा नहीं और न कर्म ही ज्ञानयोगसे बड़ा है — दोनों समान हैं।

एक बात और — दूसरे लोगोंके अनुभवकी अवहेलना कर अपने ही अति-सीमित अनुभवके सहारे तर्क-वितर्क करना तथा उसके आधारपर योग-विषयक बड़ी व्याप्तियां (व्यापक सिद्धांत) बनाना भारी भूल है। यही अधिकतर लोग करते हैं, पर इस विधिके दोष स्पष्ट ही हैं। कर्मों द्वारा प्राप्य प्रधान उपलब्धियों की तुम्हें कुछ भी अनुभूति नहीं, पर तुम यह निर्णय कर लेते हो कि ऐसी उपलब्धियां असम्भव हैं। परन्तु उन बहुतसे लोगोंका क्या होगा जिन्होंने उन्हें प्राप्त किया है — अन्यत्र और यहां आश्रममें भी। क्या उनकी उपलब्धिका कुछ भी महत्त्व नहीं है? तुमने संकेत किया है कि कर्मों के द्वारा मुझे कुछ भी नहीं प्राप्त हो सका है। पर तुम्हें कैसे पता लगा? मैंने अपनी साधनाका इतिहास नहीं लिखा है — यदि मैं लिखता तो तुम्हें पता चलता कि अगर मैं कार्य और कर्मको उपलब्धिका मुख्य साधन न बनाता तो न तो साधना संभव होती और न कोई उपलब्धि ही, संभवतः निर्वाणकी उपलब्धिके सिवा।

कर्मोंसे क्या-क्या हो सकता है इस विषयमें मैं शायद फिर कभी कुछ और भी लिखूंगा, पर आज रात तो समय नहीं है।

किन्तु इससे यह परिणाम न निकाल लो कि मैं कर्मोंको सिद्धिके एकमात्र साधन के रूपमें अतिरंजित कर रहा हूँ। मैं केवल उन्हें उनका उचित स्थान

दे रहा हूँ।

इस सबमें व्यंग्य-परिहासका जो पुट है उसके लिये तुम मुझे क्षमा करना —परन्तु सच पूछो तो जब मुझसे कहा जाता है कि मेरा दृष्टांत मेरे संपूर्ण अध्यात्मदर्शन तथा संचित ज्ञान एवं अनुभवका खण्डन करता है तो इसके उत्तरमें परिहासका हलका-सा पुट देना उचित ही प्रतीत होता है।

१९-१२-१९३४

वैदांतिक सर्वेश्वरवादी अनुभवकी अपर्याप्तता

मैंने रामदासकी पुस्तकें नहीं पढ़ी हैं न मुझे यह मालूम है कि उनका व्यक्तित्व अथवा उनके अनुभवका स्तर क्या. था। तुमने उनके जो शब्द उद्धृत किये हैं वे या तो सरल श्रद्धाकी या सर्वेश्वरवादी अनुभवकी अभिव्यक्ति हो सकते हैं। यह स्पष्ट है कि यदि वे इस सिद्धांतकी स्थापनाके लिये प्रयुक्त किये गये हैं या अभिप्रेत हैं कि भगवान् सर्वत्र हैं और सब कुछ हैं और इसलिये सब कुछ शुभ है, क्योंकि वह भगवन्मय है, तो इस प्रयोजनके लिये वे सर्वथा अपर्याप्त हैं। परन्तु एक अनुभवके रूपमें, वैदांतिक साधनामें इस अनुभूति या उपलब्धिका प्राप्त होना एक साधारण बात है। वास्तवमें, इसके बिना वैदान्तिक साधना हो ही नहीं सकती — स्वयं मुझे यह चेतनाके अनेक स्तरोंपर तथा नाना रूपोंमें उपलब्ध हुई है और ऐसे बीसियों मनुष्य मेरे देखनेमें आये हैं जिन्हें यह अत्यन्त वास्तविक रूपमें प्राप्त थी — बौद्धिक सिद्धांत या बोधके रूपमें नहीं वरन् एक ऐसे आध्यात्मिक सत्यके रूपमें जो उनके लिये इतना मूर्त्त था कि वे उससे इन्कार नहीं कर सकते थे, भले ही साधारण बुद्धिके लिये वह कितना ही परस्पर-विरोधी क्यों न हो।

निःसन्देह इसका यह अर्थ नहीं कि यहां सब कुछ शुभ है अथवा मूल्यांकनकी दृष्टिसे एक वेश्यालय भी उतना ही अच्छा है जितना एक आश्रम, किन्तु इसका इतना अर्थ अवश्य है कि सभी एक ही अभिव्यक्तिके अंग हैं और वेश्याके अन्तंस्तलमें भी भगवान् उसी तरह विद्यमान हैं जिस तरह किसी साधु-संतके अन्तस्तलमें.........।

१५-४-१९३४

पुराने योगकी निन्दा करनेकी मूर्खता

पुराने योगोंकी इस प्रकारकी निन्दा करना कि वे सर्वथा सुगम, महत्त्वहीन

एवं निरर्थक हैं तथा बुद्ध एवं याज्ञवल्क्यकी और भूतकालके अन्य आध्यात्मिक महापुरुषोंकी निन्दा करना,—क्या यह स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूपमें एक मूर्खता-पूर्ण कार्य नहीं है ?

१४-४-१९३६

* * *

वाह, धन्य है ! आत्माकी उपलब्धि जिसमें अहंसे मुक्ति, भूतमात्रमें एकमेव-का ज्ञान, वैश्व अज्ञानका दृढ़ एवं परिपूर्ण अतिक्रमण, परम, अनन्त एवं सनातनके साथ एकत्वके अन्दर चेतनाकी स्थिरता — यह सब सम्मिलित है, वह कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है, न प्राप्त करनेके लिये किसीसे कहनेके योग्य है — "कोई अत्यन्त दुष्प्राप्य अवस्था भी नहीं है" !

नया कुछ भी नहीं ! नया कुछ हो ही क्यों ? आध्यात्मिक खोजका उद्देश्य सनातन सत्यका अनुसन्धान करना है न कि किसी कालगत नवीनका।

पुराने योगों और योगियोंके संबन्धमें यह विचित्र मनोवृत्ति तुम्हें कहांसे प्राप्त हुई ? क्या वेदान्त और तंत्रका ज्ञान कोई छोटी एवं तुच्छ वस्तु है ? तब क्या इस आश्रमके साधक आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर चुके हैं और क्या वे जीवन्मुक्त हो गये हैं, अहंता और अज्ञानसे मुक्त हो चुके हैं ? यदि नहीं तो, तुम ऐसा क्यों कहते हो कि "यह कोई दुष्प्राप्य अवस्था नहीं है", "उनका लक्ष्य उच्च नहीं है", "क्या यह ऐसी लंबी प्रक्रिया है ?"

मैंने कहा था कि यह योग "नया" है, क्योंकि इसका लक्ष्य जगत्के परे ही नहीं, बल्कि इसके भीतर भी भगवान्को समग्र रूपमें उपलब्ध करना तथा अतिमानसिक सिद्धि लाभ करना है। परन्तु इससे भला उस आध्यात्मिक अनुभव के प्रति, जो अन्य योगोंके समान ही इसका भी एक लक्ष्य है, उच्चताभिमानी घृणा कैसे उचित ठहरती है ?

३-४-१९३६

श्रीरामकृष्णका मूल्यांकन

यदि मैं इन विषयोंमें आश्चर्योंसे ऊपर न उठ गया होता तो मैं यह सुनकर चकित हुआ होता कि (एक "उन्नत" साधकके साथ सहमत होते हुए) मैं रामकृष्णको एक क्षुद्र कोटिका आध्यात्मिक पुरुष मानता हूँ। ऐसा लगता है मानों मैंने ऐसी बहुत-सी बातें कही होंगी जो मेरे मनमें भी कभी नहीं आईं

और ऐसे कार्य भी बहुतसे किये होंगे जिनके करनेका मुझे कभी स्वप्नमें भी विचार नहीं आया! मुझे आश्चर्य या क्षोभ नहीं होगा यदि एक दिन, "उन्नत" या अनुन्नत साधकोंकी साक्षीके आधारपर, मुझे बताया जाय कि आपने बुद्धको ढोंगी घोषित किया है और यह भी कहा है कि शेक्सपीयर एक कुकवि थे जिनका मूल्य योंही बढ़ा-चढ़ा दिया गया है अथवा न्यूटन कालिजके एक निम्न कोटिके उपाध्याय थे जिनमें कुछ भी प्रतिभा नहीं थी। इस संसारमें सब कुछ संभव है। क्या यह कहना मेरे लिये आवश्यक है कि इस प्रकारकी कोई भी बात मेरे मनमें कभी नहीं आई और न यही संभव है कि मैंने कभी ऐसी बात कही हो, क्योंकि आध्यात्मिक मूल्य-मानोंका कम-से-कम कुछ हलका-सा बोध तो मुझे है ही न? तुमने जो संदर्भ उद्धृत किया है* वह श्रीरामकृष्णके संबंध-में मेरा सोच-समझकर किया हुआ मूल्यांकन है।

३-२-१९३२

श्रीअरविन्द और वैदिक ऋषि

प्र०— आपकी पुस्तक "इस जगत्‌की पहेली" पर लिखे हुए एक समालोचनात्मक लेखमें एक स्वामीने कहा है कि आप यह कहनेका साहस करते हैं कि आपने वह कार्य किया है जो वैदिक ऋषि नहीं कर पाये थे। इस समालोचनामें क्या सत्य है?

उ०— वैदिक ऋषियोंने जो नहीं किया था उसे करनेवाला अकेला मैं ही नहीं हूँ। चैतन्य तथा दूसरोंने एक ऐसी प्रगाढ़ भक्तिका विकास किया जो वेदमें नहीं पायी जाती। इसी प्रकार अन्य कई दृष्टांत भी दिये जा सकते हैं। भूत-

*"और एक आधुनिक अनुपम उदाहरणमें, रामकृष्ण परमहंसके जीवनमें हम अति महान् आध्यात्मिक सामर्थ्य देखते हैं जो पहले तो सीधे दिव्य साक्षात्कार तक वेगसे जा पहुँचता है, मानों जबर्दस्ती स्वर्गलोक अधिकृत कर लेता है, और फिर एकके बाद एक कितनी ही योगपद्धतियोंको पकड़ता है तथा विश्वासातीत शीघ्रताके साथ उनमेंसे सारतत्त्वको निचोड़ लेता है,—ऐसा वह सदा ही संपूर्ण विषयके हृदयमें वापस आनेके लिये ही, प्रेमकी शक्ति द्वारा, जन्मजात आध्यात्मिकताको नानाविध अनुभवोंके रूपमें विस्तारित करके तथा संबोधिजन्य ज्ञानकी स्वतःस्फूर्त क्रीड़ाके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त करने तथा अधिकृत करनेके लिये ही करता है।"

—योगसमन्वय २७, पंक्ति ३-१२

कालको आध्यात्मिक अनुभवकी सीमा भला क्यों होना चाहिये ?

१६-१२-१६३४

श्रीअरविन्द और अतीतके ऋषि

हां तो, मैं नहीं समझता कि नई जातिकी सृष्टि तर्कके द्वारा या तार्किक ढंगसे की जा सकती है या किसी भी जातिकी सृष्टि इस प्रकार हुई है। परन्तु नई जातिकी सृष्टिका विचार अयुक्तियुक्त हो ही क्यों ?......जहांतक अतीतके ऋषियों-का प्रश्न है, उनसे मुझे कोई परेशानी नहीं होती। यदि प्राचीन ऋषि-मुनियोंके अनुभवोंसे परे जाना तुम्हें इतना आघात पहुँचाता है, प्रत्येक नये ऋषि या मुनिने अपनी-अपनी बारीमें यह ठेस पहुँचानेवाला कार्य किया है — बुद्ध, शंकर, चैतन्य आदि सभीने यह कुत्सित कार्य किया। नहीं तो, उन्हें नये दर्शनों, धर्मों तथा योग-सम्प्रदायोंका प्रवर्तन करनेकी आवश्यकता ही क्या थी ? यदि वे संसारके लिये कोई नई चीजें लाये बिना केवल पुराने ऋषि-मुनियोंके जीवनों एवं अनुभवोंकी जांचमात्र कर रहे थे तथा विनम्र भावसे उन्हें दुहरा रहे थे तो फिर यह सब हलचल और हो-हल्ला क्यों ? निःसंदेह, तुम कह सकते हो कि वे पुराने सत्य की व्याख्यामात्र कर रहे थे, पर सही ढंगसे — किन्तु इसका भी यह अर्थ होगा कि पहले किसीने भी इसकी व्याख्या ठीक ढंगसे नहीं की थी या इसे ठीक ढंगसे समझा नहीं था। यह भी तो फिर उन्हें "झूठा सिद्ध करना" हुआ इत्यादि। या फिर तुम कह सकते हो कि सभी नये साधु-सन्तों (वे 'क्ष' के प्रिय अतीत ऋषियोंकी गणनामें नहीं आते, उनके कालके नहीं), उदाहरणार्थ, शंकर, रामानुज, मध्वमेंसे प्रत्येक उसी पुण्य-पावन वस्तुकी आवृत्ति-मात्र कर रहा था जिसे उनसे पहले अतीतकालके सभी ऋषि-मुनियोंने अनथक एकरसताके साथ दुहराया था। ठीक है, पर उसे इस ढंगसे दुहराना ही क्यों कि हर-एक दूसरोंको "झुठला रहा हो" ? सचमुच, पुरातनकी यह मर्माहत पूजा एक आश्चर्यजनक और भयावह वस्तु है ! जो भी हो, भगवान् अनन्त हैं और अतएव सत्यका अनावरण एक अनन्त प्रक्रिया ही हो सकती है अथवा, बिलकुल उतनी अनन्त-असीम न सही, कम-से-कम एक ऐसी वस्तु हो सकती है जिसमें नये अन्वेषण एवं नये निरूपण, यहांतक कि शायद एक नई उपलब्धिके लिये भी कुछ अवकाश हो, बादाम-अखरोट-जैसी कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसके छिलकेको फोड़कर उसकी गिरी पहले ऋषि या मुनिने एकबारगी सदाके के लिये निकाल दी हो और उसमें शेष कुछ भी न बचा हो, जबकि दूसरोंको पूजाभावसे उसी कठोर छिलकेको फिर-फिर नये सिरेसे फोड़ते रहना होगा,

जिसमें प्रत्येकको यह धुकधुकी और डर बना रहे कि कहीं "पुराने" ऋषि-मुनियोंकी बातें झूठी न सिद्ध हो जायं।

८-१०-१९३५

कृष्ण और भौतिक रूपांतर

श्रीकृष्ण किसी प्रकारका भौतिक रूपांतर साधित करनेमें कभी प्रवृत्त नहीं हुए, इसलिये उनमें इस प्रकारकी किसी वस्तुकी आशा नहीं की जा सकती।

बुद्ध, शंकर या रामकृष्णके मनमें भी शरीरके रूपांतरके संबंधमें कोई धारणा नहीं थी। उनका लक्ष्य आध्यात्मिक मोक्ष था, और कुछ नहीं। श्रीकृष्ण-ने अर्जुनको कर्मोंमें मुक्त स्थिति प्राप्त करनेकी शिक्षा दी, किन्तु किसी भौतिक रूपांतरकी चर्चा उन्होंने कभी नहीं की।

मुझे मालूम नहीं कि हम इसे (हिमालयपर युधिष्ठिरके सशरीर स्वर्ग-राज्यमें प्रवेश करनेको) ऐतिहासिक तथ्य मान सकते हैं या नहीं। स्वर्ग कहीं हिमालयपर नहीं है, वह तो चेतना एवं सत्तत्त्वके किसी अन्य स्तरमें कोई अन्य ही लोक है। अतएव, उस कथाका अभिप्राय चाहे जो भी हो, इस भूतलपर होनेवाले भौतिक रूपांतरके प्रश्न से उसका कुछ भी संबंध नहीं है।

१-६-१९३७

श्रीकृष्ण और अतिमानस

२४ नवम्बर (सन् १९२६) भौतिक सत्तामें श्रीकृष्णके अवतरणका दिन था।

श्रीकृष्ण अतिमानसिक प्रकाश नहीं हैं। श्रीकृष्णके अवतरणका अर्थ होगा विज्ञान और आनन्दके अवतरणको तैयार करनेवाले अधिमानसिक भगवान्‌का अवतरण, स्वयं विज्ञान और आनन्दका अवतरण नहीं। कृष्ण आनन्दमय हैं; वे अधिमानसके द्वारा विकासक्रममें सहायता पहुँचाते हैं और इसे आनन्दकी ओर ले जाते हैं।

२९-१०-१९३५

श्रीअरविन्द और कृष्ण

तुम मुझसे यह आशा नहीं कर सकते कि मैं श्रीकृष्णकी तुलनामें अपनी आध्या-त्मिक महानताका तर्क द्वारा समर्थन करूँ। स्वयं यह प्रश्न भी केवल तभी

संगत होगा यदि दो सांप्रदायिक धर्म, अरविन्द-मत और वैष्णव मत, एक दूसरेके विरोधमें उपस्थित हों और उनमेंसे प्रत्येक अपने ईश्वरकी महानतापर आग्रह कर रहा हो। यहां वैसी बात है ही नहीं। और फिर किस कृष्णको मैं चुनौती दूँ — गीताके कृष्णको जो विश्वातीत भगवान्, परमात्मा, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, विश्वदेवता, जगत्के स्वामी, सर्वमय वासुदेव, प्राणिमात्रके हृदयमें विराजमान अन्तर्यामी हैं अथवा उन कृष्ण भगवान्को जो वृन्दावन, द्वारका और कुरुक्षेत्रमें साकार रूपमें अवतरित थे तथा मेरे योगके मार्गदर्शक थे और जिनके साथ मैंने एकात्मता प्राप्त की थी? यह सब मेरे लिये कोई दार्शनिक या मानसिक विषय नहीं वरन् प्रतिदिन एवं प्रति घंटेकी अनुभूतिका विषय है और साथ ही मेरी चेतनाके उपादानके साथ घनिष्ठ रूपसे संबद्ध है। तब भला किस स्थितिसे मैं इस विवादमें न्यायाधीशका काम कर सकता हूँ? 'क्ष' का विचार है कि मैं महानतामें उत्कृष्ट हूँ, तुम समझते हो कि कृष्णसे महान् कोई हो ही नहीं सकता: प्रत्येक व्यक्तिको अपने विचार या अनुभवको माननेका अधिकार है, भले ही वह ठीक हो या गलत। बस, इस विषयको हम यहीं समाप्त कर सकते हैं; यह तुम्हारे आश्रम छोड़नेका कारण नहीं होना चाहिये।

२५-२-१९४५

* * *

मैं समझता था कि मैं तुम्हें पहले ही कह चुका हूँ कि श्रीकृष्णकी ओर तुम्हारा झुकाव किसी प्रकार भी बाधक नहीं है। कुछ भी हो, तुम्हारे प्रश्नके उत्तरमें मैं यह बात पुनः दृढ़तापूर्वक कहता हूँ। मेरी साधनामें उन्होंने जो बड़ा और वस्तुतः सर्वोपरि भाग लिया उसपर यदि हम विचार करें तो यह बात विचित्र लगेगी कि तुम्हारी साधनामें उनका जो भाग है उसे आपत्तिजनक समझा जाय! सांप्रदायिकता मत-मतांतर, बाह्य अनुष्ठान आदिका विषय है, आध्यात्मिक अनुभवका नहीं; कृष्णमें एकाग्र होना इष्टदेवके प्रति आत्मदान करना है। यदि तुम श्रीकृष्णको प्राप्त करते हो, तो तुम भगवान्को ही प्राप्त करते हो; यदि तुम उनके प्रति आत्मदान कर सकते हो तो तुम मेरे प्रति ही आत्मदान करते हो। इस प्रकारका अभेद अनुभव करनेमें तुम्हारी असमर्थताका कारण संभवतः यह है कि तुम, सचेत या अचेत रूपमें, बाह्य रूपोंपर अत्यधिक बल दे रहे हो।

१८-६-१९४६

कृष्ण और ईसा

श्रीमती 'र' के ईसा और कृष्णके विषयमें कुछ कहना मुझे कठिन-सा प्रतीत होता है। उसका कहना है कि लोग ईसाके प्रति एक विशेष आकर्षण अनुभव करते हैं; पर मुझे तो उस आकर्षणने कभी स्पर्श भी नहीं किया। इसका कारण कुछ तो यह है कि इंगलैंडमें ईसाई मतकी नीरसता और निर्जीवता देखकर मुझे उससे अरुचि हो गई थी और कुछ यह कि 'गॉस्पेल' (सुसमाचार) के क्राइस्ट (कुछ एक काल्पनिक प्रसंगोंको छोड़कर) निःसंदेह तेजोमय हैं सही, तथापि उनकी तेजस्विता यत्किंचित् छायामय तथा अपूर्णतः ही चित्रित है। सुसमाचारमें उनके आध्यात्मिक या दैवी व्यक्तित्वकी अपेक्षा उनका नैतिक व्यक्तित्व ही अधिक प्रकटित किया गया है। जो ईसा पश्चिमी संतों एवं गुह्य-दर्शियोंके अन्तरमें ओजस्वी रूपसे जीवित रहे हैं वे तो अस्सिसीके सेंट फ्रांसिस (St. Francis of Assisi) तथा सेंट तेरेस्सा (St. Teressa) आदिके ईसा हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त, क्या यह तथ्य है कि ईसाई लोग ईसाके प्रवल एवं जीवन्त उपासक रहे हैं? मेरे विचारमें ऐसे ईसाई बहुत ही कम होंगे। अब रही श्रीकृष्णकी बात। उनका तथा उनकी ज्ञानदायिनी परम्पराका ईसा-प्रतीक और ईसा-परम्पराके द्वारा विचार करना संभव नहीं। दोनोंकी स्थिति दो भिन्न लोकोंमें है। गीतामें हमें जो महान्, असीम एवं परमोच्च आध्यात्मिक ज्ञान तथा अनुभवकी शक्ति दिखायी देती है उसका किंचित् भी अंश ईसामें नहीं है। फिर गोपी-प्रतीकका भावोद्रेक, प्रेमातुरता, सौन्दर्य तथा इसका मूल-भूत समस्त रहस्य और कृष्ण-प्रतीककी बहुमुखी अभिव्यक्ति — इनमेंसे किसीका कुछ भी अंश वहां दृष्टिगोचर नहीं होता। ईसाकी विशेषताएं कुछ और ही हैं: दोनोंको साथ रखकर दोनोंमें तुलना करनेकी चेष्टा करनेसे कुछ लाभ नहीं। यह तो क्रिश्चियन मनोवृत्तिका चिर-अभ्यस्त पाप है, यहांतक कि डा०. स्टानली जोन्स (Dr. Stanley Jones) जैसे अत्युदार व्यक्ति भी इससे मुक्त नहीं हैं। उनके लिये यह सम्भव नहीं कि वे सांप्रदायिक संकीर्णतासे पूर्णरूपेण मुक्त होकर भगवान्की प्रत्येक अभिव्यक्तिको उसके अपने अन्तर्जगत्में रहने दें ताकि जो लोग जिस किसीके प्रति अन्तराकर्षण अनुभव करते हैं वे उसका अनुसरण कर सकें। इस भूलसे बचनेके लिये ही मैं अपनी प्रकाशित रचनाओंमें ऐसी तुलनाओंसे सदा दूर रहा हूँ। मैं व्यक्तिगत रूपमें जो कुछ अनुभव करता हूँ वह मेरे लिये ही है — दूसरोंसे मैं अपने मानदंडको स्वीकार करनेके लिये नहीं कह सकता।

४-१-१९३६

पूर्णयोग और मानवजाति द्वारा उसका अंगीकार

प्र०— मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि संसारमें हमारे रूपान्तरयोगको स्वीकार करनेवाले लोगोंकी संख्या उतनी बड़ी नहीं होगी जितनी बौद्धधर्म, वेदान्त या ईसाइयतको माननेवालोंकी है।

उ०— संख्याओंपर कुछ भी निर्भर नहीं करता। बौद्धधर्म या ईसाइयतके अनुयायियोंकी संख्या बड़ी इसलिये है कि उनमेंसे अधिकतर लोग इसे एक धर्म-मतके रूपमें ही मानते हैं जब कि यह उनके बाह्य जीवनमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं डालता। यदि नई चेतना इसीसे संतुष्ट होती, तो वह भी सारे संसारकी श्रद्धा-भक्ति और मान्यताको कहीं अधिक सरलतासे प्राप्त कर सकती थी। पर क्योंकि वह एक अधिक महान् चेतना, सत्य-चेतना है, वह एक सच्चे परिवर्तनके लिये आग्रह करेगी।

२९-४-१९२४

* * *

प्र०— साधारण लोगोंको हमारे योगकी अपेक्षा परम्परागत योग-प्रणालियां एक अधिक तुरत फल देनेवाली प्रतीत होंगी, क्योंकि बहुतोंको इन पद्धतियोंमें 'चमत्कारों' द्वारा या और किसी ढंगसे कुछ लाभ अवश्य हुआ होगा। हमारे योगमें उन्हें इसके लिये मार्ग वन्द मिलेगा। अतः स्वभावतः ही वे इससे कतरायेंगे।

उ०— इसके विपरीत, वे यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकते कि एक महत्तर ज्योति एवं शक्ति भूतलपर उतर आई है।

२९-४-१९३४

* * *

प्र०— कुल मिलाकर, हमारे योगमें बहुत थोड़ेसे लोगोंके लिये ही गुंजायश है और वह भी बहुत थोड़ी-सी, और संसार इसमें शायद ही दिलचस्पी ले।

उ०– तुम्हें कैसे पता कि साधारण लोगोंपर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा? यह उनकी शक्यताओंको अवश्यमेव बढ़ायेगा और, चाहे सभी उच्चतम स्तर-तक न भी उठ पायं, तो भी उतनेका ही अर्थ होगा पृथ्वीके लिये एक महान् परिवर्तन।

२६-४-१६३४

* * *

प्र०– संसारके लोगोंमें इतनी अधिक स्व-मग्नता दिखाई देती है कि कदाचित् ही कुछ लोग इस योगको करनेकी बात सोचेंगे। संभवतः अधिक बड़ी संख्यामें लोग पुराने हठयोग एवं राजयोग-का अनुसरण करेंगे (और कर ही रहे हैं) जो कोई छोटा-सा तुरन्त संतोषप्रद परिणाम पैदा कर सकता है। जो सच्चे सत्यान्वेषी हैं उनमेंसे भी बहुतेरे हमारे रूपान्तर-योगकी सचाई नहीं देख पायंगे। और अब रही साधारण लोगों, वैज्ञानिकों, राजनीतिज्ञों तथा प्रमुख बुद्धिवादियोंकी बात —वे भी कभी आध्यात्मिक जीवन अपनायेंगे इसकी तो कोई संभावना ही नहीं दिखाई देती।

उ०– मैं समझता हूं उनका इसे अपनाना अभिप्रेत भी नहीं —जो लोग अपनी इस समयकी चेतनासे कुछ अधिक ऊंची चेतनामें उठना चाहते हैं उन्हें उसकी ओर थोड़ा खोला भर जा सकता है।

* * *

प्र०– आपने कहा है कि हमारे योगका लक्ष्य निर्वाणके परे पहुँचना है, पर आश्रममें भी ऐसे आदमी इने-गिने ही हैं जो निर्वाणके स्तर तक भी पहुँच चुके हैं या जिन्होंने वहांतक भी पहुँचनेका यत्न किया है निर्वाण तक पहुँचनेके लिये भी मनुष्यको कामना, द्वन्द्व और अहंकार-को त्यागकर अपने अन्दर कुछ हदतक समचित्तता और शान्तिकी स्थापना करनी होती है। क्या ऐसा कहा जा सकता है कि आश्रममें काफी संख्यामें साधकोंने ऐसा करनेमें सफलता प्राप्त की है? कम-से-कम प्रत्येक व्यक्ति ऐसा करनेके लिये कुछ प्रयत्न अवश्य कर रहा होगा। तो फिर वे सफल क्यों नहीं होते? क्या इसका कारण

यह है कि कुछ समयके बाद वे लक्ष्यको भुलाकर यहां वैसे ही रहने लगते हैं जैसे साधारण जीवनमें ?

उ०— मेरी समझमें यदि निर्वाणका लक्ष्य उनके सामने रखा जाता तो उनमेंसे अधिकतर उसके योग्य ठहरते, क्योंकि निर्वाणका लक्ष्य उस लक्ष्यसे सुगम है जो हमने अपने सामने रखा है — और उस स्तरतक पहुँचना उन्हें इतना कठिन न लगता। जो साधक यहां है वे सभी प्रकारके और सभी अवस्थाओंके हैं। परन्तु उनमेंसे जिन्होंने प्रगति की है उनके लिये भी असली कठिनाई अपनी बाहरी सत्ताकी है। जो साधक पुराने आदर्शका अनुसरण करते हैं उनमें भी यह देखनेमें आता है कि जब वे कुछ उपलब्ध कर लेते हैं उसके बाद भी उनकी बाहरी सत्ता लगभग वैसी-की-वैसी रहती है। आन्तरिक सत्ता मुक्त हो जाती है, बाहरी तब भी अपनी बद्धमूल प्रकृतिका अनुसरण करती है। हमारा योग केवल तभी सफल हो सकता है यदि बाहरी मनुष्य भी बदल जाय, परन्तु यह सबसे कठिन कार्य है। भौतिक प्रकृतिके परिवर्तनके द्वारा ही, प्रकृतिके इस निम्नतम भागमें उच्चतम ज्योतिके अवतरणके द्वारा ही यह कार्य किया जा सकता है। इस भागमें ही इस समय संघर्ष चल रहा है। यहांके अधिकतर साधकोंकी आन्तरिक सत्ता, अभी तक कितनी ही अपूर्ण होती हुई भी, साधारण मनुष्यकी आन्तरिक सत्तासे भिन्न है, पर बाहरी सत्ता अभी भी अपने पुराने तौर-तरीकों तथा आदतोंसे चिपकी हुई है। लगता है कि बहुतेरे साधक अभी परिवर्तनकी आवश्यकताके प्रति जागरित तक नहीं हुए। जब यह आवश्यकता हृदयगम हो जाय और परिवर्तन साधित हो जाय तभी हमारा योग स्वयं आश्रम-में अपने पूरे परिणाम उत्पन्न करेगा, उससे पहले नहीं।

३०-४-१९३४

विभाग चार

पृथ्वी-चेतनाके लिये साधना

पृथ्वी-चेतनाके लिये साधना

श्रीअरविन्द और अतिमानव

मैं नहीं जानता कि मैंने अपनेको अतिमानव कहा है। पर निश्चय ही मैं साधारण मानव मनसे ऊपर उठ चुका हूँ, अन्यथा भौतिक स्तरपर अतिमानसको उतारनेका प्रयत्न करनेकी बात मैं कभी न सोचता।

१५-९-१९३५

अतिमानस सत्यकी खोजका उद्देश्य

मेरा प्राण इन अहंकारमय भावनाओंमें चक्कर नहीं लगाता। मैं एक ज्यादा ऊंचे सत्यकी तलाशमें हूँ। प्रश्न यह नहीं है कि वह सत्य मनुष्यको ज्यादा बड़ा बनाता है या नहीं, प्रश्न यह है कि क्या वह लोगोंको सत्य, शांति और प्रकाशमें निवास प्रदान करके उन्हें असत्य, अनृत, कष्ट और कलह-भरे जीवनसे कुछ अच्छा जीवन दे सकता है या नहीं। इतना हो सके तो मेरा उद्देश्य सिद्ध हो जायगा, चाहे लोग पुराने जमानेके लोगोंसे कम महान् ही क्यों न रहें। मेरे लिये मानसिक धारणाएं ही इस जगत्‌का अन्त नहीं हो सकतीं; मुझे मालूम है कि अतिमानस एक सत्य है।

मैं अपने बड़प्पनके लिये अतिमानसको नीचे उतारनेकी कोशिश नहीं कर रहा हूँ। मुझे मानव अर्थोंमें बड़प्पन और छुटपनकी तनिक भी परवाह नहीं। मैं पृथ्वी-चेतनामें आन्तरिक सत्य, प्रकाश, सामंजस्य और शांतिके तत्त्वको उतारनेका प्रयत्न कर रहा हूँ। मैं उसे ऊपरकी ओर देखता हूँ और जानता हूँ कि वह क्या है। मैं उसे हमेशा ऊपरसे अपनी चेतनापर किरणें डालते हुए देखता हूँ और मैं कोशिश कर रहा हूँ कि वह सारी सत्ताको अपनी स्वाभाविक शक्तिके अन्दर उठा ले और मनुष्यकी प्रकृति आधे अन्धेरे आधे उजालेमें ही न पड़ी रहे। मेरा विश्वास है कि पृथ्वीपर विकासका अन्तिम उद्देश्य ही है यहांपर दिव्य चेतनाके विस्तारका रास्ता खोल देनेवाले इस सत्यको नीचे उतार लाना। अगर मुझसे बड़े लोगोंके सामने यह दृष्टि न थी और यह आदर्श न था तो यह कोई कारण नहीं कि मुझे भी अपनी सत्य भावना और सत्य दृष्टिके अनुसार काम नहीं करना चाहिये। मुझे जरा भी परवाह नहीं है यदि मानव बुद्धि मुझे इस बातके लिये मूर्ख ठहराये कि मैं एक ऐसा काम करने-

की कोशिश कर रहा हूँ जिसके लिये श्रीकृष्णतकने प्रयत्न नहीं किया। यह भगवान्‌की इच्छा है या नहीं या मैं उस सत्यको नीचे उतारने या उसके लिये मार्ग खोलने या कम-से-कम अवतरणको ज्यादा संभव बनानेके लिये भेजा गया हूँ या नहीं, इसमें 'क', 'ख' या किसी औरका तो सवाल ही नहीं है। यह तो मेरे और भगवान्‌के बीचकी बात है। दुनिया मेरा मजाक चाहे तो उड़ाती रहे और मेरी इस धृष्टतासे जहन्नुम टूटा पड़ता हो तो टूट पड़े, मैं विजय प्राप्त करके रहूँगा या मर मिटूँगा। इसी भावनासे मैं अतिमानसकी खोज कर रहा हूँ, अपने लिये या दूसरोंके लिये बड़प्पनकी लालसासे नहीं।

१०-२-१९३५

* * *

अपनी साधनाके विषयमें मेरा आशय यह था कि मैं साधना अपने लिये नहीं वरन् पृथ्वी-चेतनाके लिये, प्रकाशकी प्राप्तिका पथ दिखानेके हेतु करता हूँ। फलतः, इसमें जो कुछ मैंने एक साध्य लक्ष्यके रूपमें दिखाया है — अन्तर्विकास, रूपान्तर, नए सामर्थ्योंकी अभिव्यक्ति इत्यादि — वह किसी भी व्यक्तिके लिये कुछ भी महत्त्वका नहीं ऐसी बात नहीं। बल्कि उसका प्रयोजन है — व्यक्तिको जो कुछ करना है उसके लिये दिशाओं और मार्गोंको खोल देना। इसमें बड़प्पन की मात्राका प्रश्न उठता ही नहीं।

मई, १९३३

भूतलपर आनन्द

मेरा अपना अनुभव 'ज्योतिर्मय शान्ति' तक सीमित 'नहीं' है; मुझे भली-भांति मालूम है कि हर्षोद्रेक और आनन्द — ब्रह्मानन्दसे लेकर शरीर-आनन्दतक —क्या वस्तु हैं और उन्हें मैं किसी भी समय अनुभव कर सकता हूँ। परन्तु इन वस्तुओंके संबंधमें मैं केवल तभी कहना पसन्द करूँगा जब मेरा कार्य पूरा हो जायगा — क्योंकि मैं केवल ऊपर ही नहीं, जहां कि आनन्द सदा-सर्वदा रहता ही है, बल्कि यहां, रूपान्तरित चेतनाके अन्दर भी उनके स्थायी रहनेका आधार प्राप्त करनेकी चेष्टा कर रहा हूँ।

अतिमानसीकरणकी शर्तें

मेरा इरादा केवल अपने लिये अतिमानसको प्राप्त करनेका बिलकुल नहीं है। मैं अपने लिये कुछ भी नहीं कर रहा; क्योंकि मुझे अपने लिये किसी चीजकी जरूरत नहीं है, न तो मोक्ष की और न अतिमानसिक स्थितिकी। यदि मैं अतिमानसीकरणके लिये कोशिश कर रहा हूँ तो वह सिर्फ इसलिये कि पृथ्वी-चेतनाके लिये इस कामका किया जाना आवश्यक है और अगर यह मेरे अन्दर सिद्ध न हो तो दूसरोंमें भी नहीं हो सकेगा। स्वयं मेरा अतिमानसिक स्थिति-को प्राप्त करना पृथ्वी-चेतनाके लिये अतिमानसके द्वार खोलनेकी कुंजीमात्र है। मेरा उसको केवल प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही प्राप्त करना बिलकुल बेकार होगा। परन्तु इससे यह परिणाम भी नहीं निकाल लेना चाहिये कि यदि या जब मैं अतिमानसिक हो जाऊंगा तो प्रत्येक मनुष्य ही अतिमानसिक हो जायगा। दूसरे जो भी मनुष्य इसके लिये तैयार होंगे, और जब वे इसके लिये तैयार होंगे तब वे भी अतिमानसिक बन सकेंगे — यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि मेरी उपलब्धि उनके लिये इसमें अत्यन्त सहायक होगी। अतएव इसके लिये अभीप्सा करना सर्वथा उचित है यदि :—

1. मनुष्य इसे अतीव वैयक्तिक या अहंभावमय विषय बनाकर अतिमानव बननेकी नीत्से (Nietzsche) की-सी या और किसी महत्त्वाकांक्षाका रूप न दे।

2. वह इस उपलब्धिके लिये जरूरी और अनिवार्य अवस्थाओं और स्थिति-योंमेंसे गुजरनेके लिये तैयार हो।

3. वह सच्चा हो और इसे भगवान्की खोज एवं उससे फलित होनेवाली अपने अन्दर भागवत संकल्पकी सिद्धिका अंग माने और इससे अधिक और किसी चीजका आग्रह न करे कि वह परम संकल्प चरितार्थ हो, उस चरितार्थताका रूप चाहे जो भी हो — आन्तरात्मीकरण, आध्यात्मीकरण या अतिमानसीकरण। इसे संसारमें ईश्वरके कार्यकी परिपूर्णता समझना चाहिये, वैयक्तिक सुयोग या उपलब्धि नहीं।

अप्रैल, १९३५

* * *

यह सच है कि मैं अतिमानस अपने लिये नहीं वरन् इस पृथ्वीके लिये और पृथ्वीपर उत्पन्न आत्माओंके लिये चाहता हूँ, और इसलिये, निश्चय ही, यदि

कोई अतिमानस चाहता है तो मुझे उसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। पर उसके लिये कुछ शर्तें हैं। सर्वप्रथम तो उसे भागवत संकल्पको जानने व सिद्ध करनेकी इच्छा करनी होगी और फिर मार्गमें (कर्म, भक्ति, ज्ञान और आत्म-पूर्णताके द्वारा) अन्तरात्माका समर्पण तथा आध्यात्मिक साक्षात्कार साधित करने की।

१५-४-१९३५

पार्थिव जीवनपर अतिमानसिक अवतरणका प्रभाव

प्र०— जब मैं लोगोंको अतिमानसिक अवतरणके विषयमें बातें करते सुनता हूँ तो मैं थोड़ा संदेहवादी बन जाता हूँ। वे आशा करते हैं कि जब अतिमानसका अवतरण होगा, तब प्रत्येक वस्तु तुरन्त अध्यात्ममय हो जायगी और यहांतक कि अत्यन्त बहिर्मुख राजनीतिक जीवनमें भी इस समय जो-जो बुराइयां हैं वे सब एकदम ही सुधर जायंगी — और यह आशा उनके अन्दर अत्यधिक कुतूहल एवं सनसनी पैदा करती है।

उ०— यह सब मूर्खतापूर्ण है। अतिमानसके अवतरणका अर्थ केवल इतना ही है कि जिस प्रकार आज चिंतनशील मन एवं उच्चतर मनकी शक्तियां पृथ्वी-चेतनामें उपस्थित हैं उसी प्रकार यहां अतिमानसिक शक्ति भी जीवित रूपमें उपस्थित रहेगी। परन्तु जिस प्रकार कोई पशु चिंतनशील मनकी शक्तिकी उपस्थितिसे लाभ नहीं उठा सकता और न कोई अविकसित मनुष्य उच्चतर मानसिक शक्तिकी उपस्थितिसे लाभ उठा सकता है, उसी प्रकार अतिमानसिक शक्तिकी उपस्थितिसे भी प्रत्येक मनुष्य लाभ नहीं उठा सकेगा। मैंने यह भी अनेक बार कहा है कि पहले-पहल यह शक्ति इने-गिने लोगोंके लिये ही होगी, संपूर्ण संसारके लिये नहीं — हां, पार्थिव जीवनपर इसका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता रहेगा।

१५-१२-१९३४

* * *

प्र०— जब अतिमानस पृथ्वी-चेतनामें उतरेगा तो क्या सब साधकों-को इसका भान होगा — मेरा मतलब है, पृथ्वीके अन्दर उसके

अवतरणका न कि उनके अपने अन्दर ?

उ०— यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्तिको उसका बोध हो। साथ ही, चाहे यहां उसका अवतरण हो जाय फिर भी अन्तिम परिवर्तन साधित कर सकनेसे पहले मनुष्यको उसके लिये तैयार होना होगा।

श्रीअरविन्दकी साधना, अवतारवाद, प्रकृतिके नियम

मेरी साधना एक सनक या बेसिर पैरकी वस्तु नहीं, न यह कोई ऐसा चमत्कार है जो प्रकृतिके नियमोंके तथा पृथ्वीपर जीवन और चेतनाकी अवस्थाओंके विरुद्ध किया जा रहा हो। यदि मैं इन चीजोंको कर सकता हूँ या यदि ये मेरे योगमें घटित हो सकी हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि ये की जा सकती हैं और इसलिये ये प्रगतियां और रूपान्तर पार्थिव चेतनामें हो सकते हैं।

९-२-१९३५

* * *

नहीं, शरीर या जड़-तत्त्वमें अतिमानसका अवतरण नहीं हुआ है। वह केवल ऐसी स्थितितक आ पहुँचा है जहांसे उसका अवतरण सिर्फ संभव ही नहीं, अनिवार्य है। निःसंदेह मैं अपने अनुभवकी बात कह रहा हूँ, परन्तु यह आश्वासनके लिये पर्याप्त है, क्योंकि मेरा अनुभव ही बाकी सब चीजोंका केंद्र और आधार है।

मेरी कठिनाई यह है कि तुम सब चमत्कार-भरे परियोंकी कहानीकेसे परिवर्तनकी आशा करते दीखते हो। तुम यह अनुभव हीं नहीं करते कि मेरी साधनाका लक्ष्य एकाग्रताके साथ और तेजीसे होनेवाला विकास है और इसके लिये कोई खास विधि भी होनी चाहिये। ऊपरके तत्त्वोंकी नीचेके तत्त्वोंपर क्रिया भी होनी चाहिये जिसमें साथ ही बीचके आवश्यक अन्तरालोंका भी समाधान होता जाय — यह नहीं कि सृष्टिकी आकस्मिक करामातसे चीज झट एक नियत तारीख पर पूरी हो जाय। यह अतिमानसिक प्रक्रिया है, परन्तु युक्तिशून्य प्रक्रिया नहीं। जो किया जाना है वह तो होगा ही और शायद बड़े वेगसे भी हो, लेकिन वह परीलोककी तरहसे नहीं, एक सुव्यवस्थित ढंगसे होगा।

१४-११-१९३३

* * *

प्रश्न यह था कि क्या नई क्षमताएं, जो इस जीवनमें हमारे व्यक्तित्वमें अवतक व्यक्त हुई ही नहीं, योगकी शक्तिसे प्रकट हो सकती है, यहांतक कि एकाएक ही प्रकट हो सकती हैं। मेरा कहना है कि हो सकती हैं और इसके लिये मैंने अपना दृष्टांत प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत किया था। मैं अन्य दृष्टांत भी दे सकता था। इसमें एक और प्रश्न भी अन्तर्निहित है — क्या मनुष्य उन गुण-धर्मोंसे बंधा है जिन्हें लेकर वह इस जीवनमें आया है — क्या वह योगके द्वारा नया मनुष्य नहीं बन सकता? यह बात भी मैंने अपनी साधनामें सिद्ध कर दी है, ऐसा किया जा सकता है। जब तुम कहते हो कि ऐसा मैं केवल अपनी व्यक्तिगत सत्तामें ही कर सकता था क्योंकि मैं अवतार (!) हूँ और किसी अन्य व्यक्तिके लिये ऐसा करना असंभव-सा है, तो तुम मेरी साधनाको मूर्खता-पूर्ण ठहराते हो — और अवतारवादको भी। कारण, मैं योग अपने लिये नहीं कर रहा क्योंकि मुझे अपने लिये किसी चीजकी जरूरत ही नहीं, न मुक्तिकी न किसी और वस्तुकी, वरन् निश्चय ही मैं योग कर रहा हूँ पृथ्वी-चेतनाके लिये, पृथ्वी-चेतनाके परिवर्तनका मार्ग खोलनेके लिये। क्या भगवान्को यह प्रमाणित करनेके लिये अवतरित होनेकी आवश्यकता है कि वे यह या वह कार्य कर सकते हैं अथवा क्या उन्हें ऐसा करनेकी कोई व्यक्तिगत आवश्यकता है? तुम्हारे तर्कसे सिद्ध होता है कि मैं, अवतार नहीं, हूँ केवल एक बड़ा मानव व्यक्ति। वास्तवमें यह बात खूब संभव है, पर तुम अपना तर्क एक और ही आधारसे आरम्भ करते हो। इसके अतिरिक्त, यदि मैं केवल एक महान् मानव ही होऊं तो भी जो कुछ मैं साधित करता हूँ वह यह दर्शाता है कि उसे साधित करना मानवजातिके लिये भी सम्भव है। कोई रास्तेका भिखारी इसे साधित कर सकता है या नहीं या उसने इसे साधित किया है या नहीं — यह एक गौण प्रश्न है; कुछ अन्य लोग जो आर्थिक दृष्टिसे इतने अभागे नहीं कि दर-दर भीख मांगते फिरें वे यदि इसे कर सकें तो उतना ही पर्याप्त है।

१०-२-१९३५

* * *

मैं तुम्हें यह बता रहा था कि तत्त्वतः सभी चीजें संभव हैं —अतः तुम्हें यह नहीं कहना चाहिये कि भगवान् यह नहीं कर सकते, वह नहीं कर सकते। पर साथ ही मैं यह भी दर्शा रहा था कि जब भगवान् अपनी इच्छासे ही किन्हीं नियत अवस्थाओंमें कुछ कर रहे होते हैं तो वे इसके लिये बाध्य नहीं कि

बिलकुल अकारण ही अपनी सर्वशक्तिमता दिखाने लगें। क्योंकि यह तर्क करनेसे कि भगवान् ऐसा या वैसा नहीं कर सकते, वे अक्षम हैं, जो आजतक कभी नहीं हुआ उसे वे नहीं कर सकते इत्यादि, तुम वस्तुओंको बदलनेकी और इस प्रकार क्रमविकास की, असिद्ध को साधित करनेकी, भागवत शक्ति एवं भागवत कृपाके कार्यकी संभावनासे ही इन्कार कर देते हो, और इस प्रकार सब कुछको एक अनमनीय एवं अपरिवर्तनीय 'यथापूर्व स्थिति'का रूप दे देते हो, जो तथ्य और तर्क (!) दोनोंकी और साथ ही पारबौद्धिक तर्ककी भी धृष्टतापूर्ण अवज्ञा ही है। अब कुछ समझे ?

जहांतक मेरा और माताजीका प्रश्न है,—ऐसे लोग भी हैं जो कहते हैं, "यदि अतिमानसको उतरना ही है तो वह हर एक आदमीमें उतर सकता है, तो पहले उनमें ही क्यों ? हम ही उसे उनसे पहले क्यों न पायें ? उनके द्वारा ही क्यों, सीधे क्यों नहीं" ? यह बात बहुत ही युक्तियुक्त, तर्कसंगत और अत्यन्त न्यायोचित लगती है। कठिनाई यह है कि यह तर्क उसकी प्राप्तिकी शर्तोंकी उपेक्षा कर देता है, मूर्खतापूर्वक यह मान लेता है कि अतिमानस क्या है इसे जरा भी जाने बिना मनुष्य उसे अपने अन्दर उतार ला सकता है और इस प्रकार एक बिलकुल उलटे चमत्कारकी कल्पना एवं आशा करता है— जो कोई भी ऐसा करनेकी चेष्टा करेगा वह एक अति बीभत्स पतनके गर्तमें गिरे बिना नहीं रह सकता — जैसे कि इससे पहले वे सब गिर चुके हैं जिन्होंने ऐसा करनेका यत्न किया। यह तो ऐसा सोचनेके बराबर है कि मनुष्य को मार्गदर्शकका अनुसरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं और उसके बिना ही वह, ढालू चट्टानके किनारेके जिस सकरे मार्गपर वह चल रहा है उसीके सहारे, बस हवामें छलांग लगाकर, पर्वतकी चोटीपर पहुँच सकता है। उसका जो परिणाम होता है वह होकर रहेगा।

१०-२-१९३५

* * *

मेरे अन्दर आध्यात्मिकताके लिये अन्तर्वेग नहीं था, मैंने आध्यात्मिकताको विकसित किया। मैं दर्शनशास्त्र समझनेमें असमर्थ था, मैं विकसित होते-होते दार्शनिक बन गया। मुझमें चित्रकलाके लिये पारखी आंख नहीं थी — मैंने इसे योग द्वारा विकसित किया। मेरी प्रकृति जो कुछ थी उससे मैंने उसे उसमें बदल डाला जो वह नहीं थी। यह कार्य मैंने एक विशेष विधिसे किया, किसी चमत्कारके द्वारा नहीं और ऐसा मैंने यह दिखानेके लिये किया कि क्या-क्या

किया जा सकता है और उसे कैसे किया जा सकता है। यह सब मैंने अपनी किसी वैयक्तिक आवश्यकताके वश नहीं किया, न ही किसी प्रक्रियाके बिना एक चमत्कारके द्वारा। मैं कहता हूँ कि यदि ऐसी बात नहीं है तो मेरा योग निरर्थक है और मेरा जीवन एक भूल था — प्रकृतिकी एक निरी मूर्खतापूर्ण सनक जिसका न कोई अर्थ है न परिणाम। तुम सब यह सोचते दीखते हो कि यह कहना मेरी बड़ी भारी स्तुति है कि मैंने जो कुछ किया है उसका मेरे सिवा और किसीके लिये कुछ अर्थ नहीं — उलटे, यह मेरे कामकी अधिक-से-अधिक क्षतिकारी आलोचना है जो की जा सकती है। साथ ही, यह कार्य मैंने भी 'अपने-आप', अपने बल-बूतेपर नहीं किया, यदि मेरे 'अपने-आप' से तुम्हारा मतलब उस अरविन्दसे है जो पहले था। उसने यह श्रीकृष्ण और भगवती शक्तिकी सहाय़तासे ही किया। मानवीय स्रोतोंसे भी मुझे सहायता मिली।

१३-२-१९३५

* * *

अवतारोंके विषयमें मुझे पता नहीं। क्रियात्मक रूपमें मुझे जो मालूम है वह यह है कि जब मैंने साधना आरम्भ की तो मुझमें सब आवश्यक शक्तियां नहीं थीं, मुझे योग द्वारा उन्हें विकसित करना पड़ा, कम-से-कम उनमें से बहुत-सी शक्तियोंको जो मेरी साधनाके आरम्भमें मेरे अन्दर थी ही नहीं, और जो मुझ-में थीं भी उन्हें भी मुझे सधाकर अधिक ऊंची कोटिकी बनाना पड़ा। इस विषयमें मेरा अपना विचार यह है कि अवतारका जीवन और कार्य चमत्कार नहीं होते। यदि वे ऐसे होते तो उसका अस्तित्व सर्वथा निरर्थक होता, प्रकृतिकी एक व्यर्थकी मौजमात्र। वह तो पार्थिव अवस्थाओंको स्वीकार करता है, साधनोंका प्रयोग करता है, मानवजातिको मार्ग दिखाता है और उसे सहायता भी देता है। नहीं तो उससे क्या लाभ और वह यहां आता ही क्यों है?

कृपा करें, मैं सदासे अधिमानसमे ही स्थित नहीं था। मुझे मानसिक और प्राणिक स्तरसे वहां आरोहण करना पड़ा।

१३-२-१९३५

* * *

मैंने अवतारके विषयमें जो लिखा था उसकी तुम्हें याद करा दूँ। अवतारवादके

तथ्यके दो पक्ष हैं, भागवत चेतना और यन्त्ररूप व्यक्तित्व। भागवत चेतना सर्वशक्तिमय है किन्तु उसने प्रकृतिके अन्दर यन्त्ररूप व्यक्तित्वको प्रकृतिकी अवस्थाओंके अधीन ही प्रस्तुत किया है और इसका प्रयोग वह प्रकृतिके खेलके नियमोंके अनुसार ही करती है—यद्यपि कभी-कभी खेलके नियमोंको बदलनेके लिये भी। यदि अवतारवाद केवल बिजलीकी कौंध-सा चमत्कार हो तो मुझे इससे कुछ सरोकार नहीं। यदि यह प्रकृतिमें सर्वशक्तिमान् भगवान् की व्यवस्थाका एक सुसंबद्ध अंग हो तो मैं इसे समझ सकता और स्वीकार कर सकता हूँ।

१३-२-१९३५

* * *

मैं लोगोंका चुनाव कैसे करता हूँ इस विषयमें मैंने कभी कुछ नहीं कहा। मैं केवल इस तर्कका उत्तर दे रहा था कि जो कुछ अभिव्यक्तिके अन्दर कभी प्रकट नहीं हुआ या इस समय प्रकट नहीं वह प्रकट हो भी नहीं सकता। विवादास्पद विषय अति स्पष्ट रूपमें यही था कि जिसका अस्तित्व अभीतक नहीं है उसे भगवान् प्रकट ही नहीं कर सकते, यहांतक कि उनमें उसे प्रकट करनेकी शक्ति ही नहीं। वे केवल उसीको प्रकाशमें ला सकते हैं जो कुछ, जिस क्षेत्र (व्यक्ति) में वे कार्य कर रहे हैं उसमें पहलेसे ही व्यक्त हो या फिर प्रसुप्त रूपमें विद्यमान हो। मैं कहता हूँ नहीं—वे नयी वस्तुएं भी ला सकते हैं। वे उन्हें वैश्व सत्तासे उसके अन्दर ला सकते हैं या फिर उन्हें परात्परसे उसके अन्दर उतार ला सकते हैं। क्योंकि वैश्व और परात्पर भगवान्में सभी कुछ विद्यमान है। किसी विशेष व्यक्तिके दृष्टांतमें वे ऐसा करेंगे या नहीं यह एक बिलकुल दूसरा विषय है। मेरे तर्कका उद्देश्य था इस "नहीं हो सकता, नहीं हो सकता" की युक्तिको छिन्न-भिन्न करना, जिसके द्वारा लोग प्रगतिकी समस्त सम्भावनाको ही रोक देनेकी चेष्टा करते हैं।

१५-२-१९३५

* * *

मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि जो कुछ भी मैंने लिखा था वह मैं यह सिद्ध करनेके लिये नहीं लिख रहा था कि मैं अवतार हूँ! तुम अपने तर्क-वितर्कमें व्यक्तिगत प्रश्नमें व्यस्त हो, मैं अधिक व्यस्त हूँ सामान्य प्रश्नमें। मैं भगवान्में निहित

एक ऐसी चीजको व्यक्त करनेका यत्न कर रहा हूँ जिससे मैं स्वयं सचेतन हूँ और जिसे अनुभव कर रहा हूँ—मुझे इसकी रत्तीभर भी परवाह नहीं कि यह कार्य मुझे अवतार बनायेगा या कुछ और। इस प्रश्नसे मेरा कुछ सरोकार नहीं। निःसंदेह, अभिव्यक्तिसे मेरा मतलब है उस परम चेतनाको बाहर प्रकट और प्रसारित करना जिससे अन्य लोग भी उसे अनुभव कर उसमें प्रवेश पा सकें और निवास कर सकें।

८-३-१९३५

श्रीअरविन्द, भगवान्‌के अवतार

प्र०— मेरा प्रबल विश्वास है कि आप भगवान्‌के अवतार हैं। क्या मेरा विश्वास ठीक है?

उ०— अपने विश्वासका अनुसरण करो —संभवतः यह तुम्हें भटकानेका नहीं।

१२-८-१९३५

श्रीअरविन्दके कार्यमें मानवताका स्थान

पर तुमने निश्चय ही यह समझनेमें भूल की है कि मैंने यह कहा था कि हम गरीबोंका दुःख दूर करनेके लिये आध्यात्मिक ढंगसे कार्य कर रहे हैं। ऐसा मैंने कभी नहीं कहा। मेरा कार्य वर्तमान मानवताके ढांचेके भीतर सामाजिक विषयोंमें हस्तक्षेप करना नहीं, वरन् एक उच्चतर आध्यात्मिक प्रकाश एवं एक श्रेष्ठतर शक्तिको नीचे उतार लाना है जो पृथ्वी-चेतनामें आमूल परिवर्तन ले आये।

२२-१२-१९३६

* * *

विवेकानन्द-विषयक* उद्धरणका जहांतक संबंध है उसमें मैंने जिस बातपर

*"मुझे अपनी मुक्तिकी कोई इच्छा नहीं रहीं। मैं चाहता हूँ कि मैं बार-बार पैदा होऊं और हजारों कष्ट भोगूँ जिसमें कि मैं उस एकमात्र ईश्वरकी पूजा कर सकूँ जो सत् है; उस एकमात्र ईश्वरकी पूजा कर सकूँ जिसे मैं मानता हूँ और जो सब आत्माओंका

जोर दिया है वह मेरी समझमें मानव-हितवाद नहीं है। तुम देखोगे कि वहां मैंने उस पृष्ठपर उद्धृत विवेकानन्दके अन्तिम वाक्योंपर ही जोर दिया है, दरिद्र और पापी और अपराधी-रूपी भगवान्से संबंध रखनेवाले शब्दोंपर नहीं। वहां पर बात कही गयी है जगत्में विद्यमान भगवान्के विषयमें, सर्वमय तथा गीता के 'सर्वभूतानि' के विषयमें। वे केवल मानवजाति ही नहीं हैं, उससे भी कम, केवल दीन-दुखी या दुष्टजन ही नहीं हैं; निश्चय ही, धनी या सज्जन भी और वे भी, जो न अच्छे हैं न बुरे और धनी हैं न निर्धन, सभी 'सर्व' के अंश हैं। और वहां (मेरा मतलब मेरे अपने कथनसे है) परोपकारात्मक सेवा-का भी कोई प्रश्न नहीं है; अतः 'दरिद्रेर सेवा' (दरिद्रकी सेवा) भी वहां अभिप्रेत विषय नहीं है। आरम्भमें मेरी दृष्टि मानवहितवादी नहीं वरन् मानवता-परक थी — 'आर्य' के मेरे लेखोंमें इस दृष्टिका कुछ प्रभाव अवश्य मिला हो सकता है। परन्तु मैंने पहले ही अपनी दृष्टि बदलकर "मानवताके लिये योग" के स्थानपर "भगवान्के लिये योग" को अपना सिद्धांत बना लिया था। भगवान्के अन्दर केवल विश्वातीत ही नहीं बल्कि विश्वगत और व्यष्टिगत सत्ता भी आ जाती है — केवल निर्वाण या परात्पर ही नहीं बल्कि जीवन तथा यहां जो कुछ है वह सब आ जाता है। इसी बातपर मैं सर्वत्र बल दिया करता हूं।

२९-१२-१९३४

* * *

मृत विभावनाओं (concepts) से छुट्टी पानेके लिये जो उपाय 'क्ष' ने बताया है उसके विषयमें मैं कुछ नहीं कह सकता। प्रत्येक मनकी अपनी अलग कार्य-विधि होती है। मेरी अपनी विधि रही है एक प्रकारसे विभावनाओंको पुनः यथास्थान व्यवस्थित करनेकी अथवा उन्हें संशोधित करनेकी; बल्कि मैं यों

योग-फल है — और सबसे बढ़कर सभी जातियों और उपजातियोंमें विराजमान दुष्ट-रूपी भगवान्, दीन-रूपी भगवान् और दरिद्र-रूपी भगवान् मेरी पूजाके विशेष पात्र हैं। जो ऊंच और नीच हैं, संत और पापी हैं, देवता और कीट हैं उनकी पूजा करो, उन दृश्य, ज्ञेय, वास्तव और सर्वव्यापीकी पूजा करो; और सब मूर्त्तियोंको तोड़ डालो। जिनमें न अतीत जीवन है न भावी जन्म, न मृत्यु है न आवागमन, जिनमें हम सदा एक रहे हैं और सदा ही एक रहेंगे, उनकी पूजा करो; और सब मूर्त्तियोंको तोड़ डालो।"

—श्रीअरविन्द-साहित्य-संग्रह, योग-समन्वय, पूर्वार्द्ध, पृ. ३०९-३१०

कहना अधिक पसन्द करूँगा कि मेरी विधि रही है उनमें परस्पर विवेक करने-की और उसके साथ-ही-साथ अन्तर्ज्ञानोंको सुव्यवस्थित करते रहनेकी। एक समय था जब जागतिक वस्तुओंकी अपनी योजनाके अन्दर मैंने 'मानवता' को बहुत बड़ा स्थान दे रखा था और उस अतिरंजनके साथ ऐसी बहुतेरी भावनाएं जुड़ी हुई थीं जिन्हें ठीक-ठीक स्थानपर रखनेकी आवश्यकता थी। परन्तु जब परिवर्तन आया तो जो कुछ मैंने पहलेसे निश्चित कर रखा था उसपर संदेह करनेके कारण नहीं, बल्कि वस्तुओंपर पड़नेवाली एक नई ज्योतिके कारण आया जिसमें 'मानवता' अपने-आप ही नीचे सरक गयी और अपने ठीक स्थान पर जा बैठी और उसके फलस्वरूप बाकी सब चीजें भी स्वयं ही फिरसे यथा-स्थान हो गईं। परन्तु यह सब होनेका कारण संभवतः यह था कि मैं स्वभावसे (पत्रव्यवहार करनेकी अपनी वर्तमान करामातके होते हुए भी) थोड़ा आलसी हूँ और यथासंभव अत्यन्त सहज और स्वभाविक पद्धतिको ही पसन्द करता हूँ। फिर भी मुझे संदेह है कि 'क' की पद्धति मूलतः मेरी जैसी ही है, सिर्फ वह उसे थोड़ी अधिक एकाग्रता और सावधानीके साथ करता है। यह बात विभावनाओंके संबन्धमें की हुई उसकी इस टिप्पणीसे सूचित होती है कि वे केवल झंडियां हैं, आगे बढ़नेके साधन नहीं।

२६-१०-१९३४

प्रेमका भार

एकमात्र दिव्य प्रेम ही उस भारको वहन कर सकता है जिसे मुझे वहन करना है, जिसे उन सब लोगोंको वहन करना होता है जिन्होंने पृथ्वीको अन्धकारके अन्दरसे भगवान्‌की ओर उठा ले जानेके एकमात्र उद्देश्यके लिये बाकी सब कुछ न्योछावर कर दिया है। गालियो (Gallio) का-सा "मैं कोई परवाह नहीं करता" का सिद्धांत ("Je m'en fiche"—ism) मुझे एक पग भी आगे नहीं ले जा सकता; निश्चय ही वह भाव दिव्य नहीं हो सकता। वह चीज तो बिलकुल दूसरी ही है जो मुझे बिना रोये-गाये अपने लक्ष्यकी ओर जानेकी शक्ति देती है।

अप्रैल १९३४

* * *

मैं मनकी भाषाका प्रयोग इसलिये करता हूँ कि और कोई ऐसी भाषा है ही

नहीं जिसे मनुष्य समझ सकें,—यद्यपि उनमें अधिकतर इसे अशुद्ध रूपमें ही समझते हैं। यदि मैं ज्वायस (Joyce) की तरह किसी अतिमानसिक भाषाका प्रयोग करता तो उसे समझनेका भ्रम भी तुम्हें न होता; अतएव, आयलैंडका निवासी न होनेके कारण, मैं वैसा प्रयास नहीं करता। परन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि जो कोई विश्व-प्रकृतिको बदलना चाहता है उसे इसे बदलनेके लिये सबसे पहले इसको अपनाना होगा। यहां अपनी एक अप्रकाशित कविता* का एक अंश उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा :

He who would bring the heavens here,
Must descend himself into clay
And the burden of earthly nature bear
And tread the dolorous way ... ...

—अर्थात् "जो स्वर्गको यहां उतारना चाहता है उसे पहले स्वयं यहां कीचड़ में उतरना होगा और पार्थिव प्रकृतिका भार वहन करते हुए यहांके दुःखदायी मार्गपर पर चलना होगा।"

२५-८-१९३५

रसातलमें गोता

नहीं, मैं उच्चतम स्वर्गको लेकर ही व्यस्त नहीं हूँ: काश ऐसा ही होता। पर अभी मैं वस्तुओंके दूसरे छोरको ही लेकर व्यस्त हूँ; इन दोनोंके बीच पुल बनानेके लिये मुझे रसातलमें गोता लगाना पड़ता है। परन्तु यह भी मेरे कार्यके लिये आवश्यक है और हमें इसका सामना करना ही चाहिये।

३०-५-१९३६

संघर्ष और युद्धका जीवन

फिर वही ऊटपटांग विचार!—कि मैं अतिमानसिक मनोभाव लेकर जन्मा था और मुझे कठोर वास्तविकताओंका कुछ भी पता नहीं! वाह धन्य है! मेरा सारा जीवन ही कठोर वास्तविकताओंसे एक संघर्ष रहा है—पहले

* ("God's Labour") शीर्षक कविता जो अब उनके Poems—Past and Present नामक कविता-संग्रहमें प्रकाशित हो गई है। द्रष्टव्य Collected Poems (कलेक्टिड पोइम्स) शताब्दी संस्करण १९७२, खण्ड ५, पृ. ९९.

इंगलैंडके जीवनकी तकलीफें और अनाहार, फिर निरन्तर आनेवाले संकट और भीषण कठिनाइयां और फिर उनसे भी कहीं बढ़कर यहां पांडिचेरीमें अन्दर और बाहरसे सिर उठानेवाली नित नई मुसीबतें। मेरा जीवन अपने प्रारंभिक वर्षोंसे ही एक युद्ध रहा है और अभीतक युद्ध ही है: इस बातसे इसके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता कि अब मैं इसे ऊपरी मंजिलके कमरेमें बैठा हुआ और आध्यात्मिक एवं अन्यान्य बाहरी साधनोंसे चला रहा हूँ। निःसंदेह, इन चीजोंके बारेमें चूँकि हम चिल्लाते नहीं रहे हैं, इसलिये मेरी समझमें, दूसरोंके लिये यह समझना स्वाभाविक है कि मैं एक प्रतापशाली, सुखमय स्वप्न-लोकमें निवास कर रहा हूँ जहां जीवन या विश्व-प्रकृतिके कठोर सत्य उपस्थित ही नहीं होते। पर फिर भी यह कितना बड़ा भ्रम है!

* * *

तो तुम सोचते हो कि मुझमें (माताजीको मैं यहां अपने साथ सम्मिलित नहीं करता) कभी कोई संदेह या निराशा हुई ही नहीं, इस प्रकारके कोई आक्रमण हुए ही नहीं। मैंने ऐसा हर आक्रमण झेला है जिसे मनुष्य झेल चुके हैं, अन्यथा मैं किसीको यह आश्वासन न दे सकता कि "इसपर भी विजय पाई जा सकती है"। कम-से-कम मुझे ऐसा कहनेका कोई अधिकार न होता। तुम्हारा मनोविज्ञान तो भीषण रूपसे कठोर है। मैं फिर कहे देता हूँ कि भगवान् जब पार्थिव प्रकृतिका भार अपने ऊपर लेते हैं तो वे इसे जादूगरकी-सी किन्हीं चालाकियों या बहानेबाजीके बिना पूरी तरह और सच्चाईसे निभाते हैं। यदि कोई ऐसी चीज उनके पीछे स्थित होती है जो पर्दोंमेंसे सदा ही प्रकट हो उठती है तो वह सारतः वही वस्तु होती है जो दूसरोंके पीछे भी स्थित होती है, भले ही वह उनमें अधिक मात्रामें क्यों न हो—और उस वस्तुको जगानेके लिये ही वे यहां भूतलपर विद्यमान होते हैं।

जो लोग आध्यात्मिक मार्गका अनुसरण करनेके लिये अभिप्रेत हैं उन सबके लिये चैत्यपुरुष एक-सी ही क्रिया करता है—उसका अनुसरण करनेके लिये मनुष्योंके लिये यह आवश्यक नहीं कि वे असाधारण व्यक्ति हों। तुम यही भूल कर रहे हो—महानताका राग अलापना, मानों केवल महापुरुष ही आध्यात्मिक हो सकते हों।

८-३-१९३५

कठिनाइयोंसे प्राप्त सहायता

जहांतक श्रद्धाका प्रश्न है, तुमने ऐसे लिखा है कि मानों मुझे कभी कोई संदेह या कठिनाई हुई ही न हो। तुम्हारा मन जितनी कल्पना कर सकता है उससे कहीं अधिकसे मुझे पाला पड़ा है। यह नहीं कि मैंने कठिनाइयोंकी परवा ही नहीं की, बल्कि अपने जमानेके या अपने पहलेके किसी भी व्यक्तिकी अपेक्षा मैंने उन्हें अधिक साफ तौरपर देखा है तथा व्यापक रूपमें अनुभव किया है और इस प्रकार उनका सामना करने तथा उनकी थाह ले चुकनेके कारण ही मुझे अपने कामकी सफलतापर पूर्ण विश्वास है। यह सब होते हुए भी यदि मुझे यह संभावना दिखती कि सारे प्रयासका परिणाम कुछ नहीं होगा (जो कि असंभव है) तो भी, मैं विचलित हुए बिना बढ़ता जाता, क्योंकि जो काम करना मेरे लिये जरूरी होता उसे मैं अपनी पूरी शक्ति लगाकर करता जाता और इस प्रकार किया हुआ काम विश्व-व्यवस्थामें हमेशा अपना स्थान रखता है। परन्तु भला ऐसा लगे ही क्यों, इस सबके व्यर्थ हो जानेका ख्याल ही क्यों आये जब कि मुझे एक-एक कदम साफ दीख रहा है तथा यह भी दीख रहा है कि वह किधर लिये जा रहा है और प्रत्येक सप्ताह, प्रत्येक दिन — कभी यह प्रत्येक वर्ष और प्रत्येक मास था और आगे चलकर यह प्रत्येक दिन तथा प्रत्येक घड़ी हो जायगा — मुझे अपने लक्ष्यके इतना अधिक निकट ले जा रहा है? ऊपरके महान् प्रकाशमें पथपर चलते हुए प्रत्येक कठिनाई भी सहायता पहुँचाती है, अपना मूल्य रखती है, और स्वयं रात भी आनेवाली ज्योतिको अपने अन्दर लिये होती है।

दिसम्बर १९३६

संकटपूर्ण स्थितिमें जीना

प्रत्येक मनुष्यकी सत्तामें एक भीरु भाग होता है — यह उसकी सत्ताका ठीक वही भाग होता है जो "सुरक्षा" के लिये आग्रह करता है — क्योंकि निश्चय ही यह वीर-वृत्ति नहीं है। तथापि मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं स्वयं सुरक्षा पाना चाहूँगा यदि मैं इसे पा सकूँ — संभवतः यही कारण है कि सुरक्षाके स्थानपर मैं संकटपूर्ण स्थितिमें रहने और अपने पीछे बेचारे अनेकों 'क्ष' व्यक्ति-योंको घसीटते हुए भयावह मार्गोंका अनुसरण करनेमें सदा सफल हुआ हूँ।

५-१-१९३५

आंधी-तूफान और ज्योतिर्मय पथ

इस प्रकारके एक और आक्रमणकी संभावना उन्हें नापसन्द है, और मैं इससे सहमत हूँ। मैं स्वयं भी शायद स्वेच्छासे नहीं बल्कि आवश्यकताके कारण ही योद्धा बना हूँ—मुझे कम-से-कम सूक्ष्म स्तरपर आंधी और संग्राम प्रिय नहीं हैं। ज्योतिर्मय मार्ग एक भ्रम हो सकता है,—यद्यपि मैं नहीं समझता कि यह ऐसा है,—क्योंकि मैंने लोगोंको वर्षों इसपर चलते देखा है। परन्तु ऐसा मार्ग तो अवश्य ही सम्भव है जिसमें आंधी और तूफान न हों और बुरी ऋतुके प्रकोप भी केवल स्वाभाविक या हलकेसे हों। इसके अनेक दृष्टांत हैं; 'दुर्गं पथस्तत्' वर्णन सामान्य रूपसे सत्य हो सकता है और निःसंदेह लय या निर्वाण-का मार्ग बहुतोंके लिये अत्यन्त कठिन होता है (यद्यपि मैं तो बिना इच्छा किये ही निर्वाणमें जा पहुँचा था या यों कहें, निर्वाण ही मेरे यौगिक जीवनके आरम्भ होनेके कुछ समय बाद मुझसे बिना पूछे ही अकस्मात् मेरे अन्दर चला आया था)। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि समय-समय पर प्रचंड आंधियों द्वारा मार्ग अवरुद्ध हो जाया करे, यद्यपि यह प्रत्यक्ष बात है कि बहुतोंका पथ इस प्रकार अवरुद्ध हो जाता है। किन्तु मैं देखता हूँ, यदि वे मार्गपर डटे रहें तो, एक विशेष स्थानपर आ जानेके बाद आंधियोंका वेग, उनका बार-बार आना और उनकी अवधि कम हो जाती है। यही कारण है कि मैंने इस बातपर अत्यधिक बल दिया था कि तुम्हें दृढ़ रहना चाहिये—क्योंकि यदि तुम दृढ़ रहोगे तो परिवर्तनका आना अनिवार्य होगा। हाल ही में मैंने कुछ ऐसे आश्चर्य-जनक दृष्टांत देखे हैं जिनमें ये प्रचण्ड आंधीके दौरे वर्षोंके उग्र पुनरावर्तनके बाद समाप्त होने लगे हैं।

११-२-१९३७

श्रद्धाका मंत्र

साधना-पथपर अवसाद, अन्धकार और निराशाके दौरोंकी एक परम्परा-सी चली आती है। प्रतीत होता है कि ये पूर्वी या पश्चिमी सभी योगोंके नियत अंग-से रहे हैं। मैं 'स्वयं' इनके विषयमें सब कुछ जानता हूँ, परन्तु अपने अनु-भवके द्वारा मैं इस परिणामपर पहुँचा हूँ कि ये अनावश्यक परम्परा हैं तथा यदि कोई चाहे तो इनसे बच सकता है। यही कारण है कि जब कभी ये तुममें या दूसरोंमें आते हैं तो मैं उनके सामने श्रद्धाका मंत्र उद्घोषित करनेका यत्न करता हूँ। यदि ये फिर भी आवें तो मनुष्यको उन्हें यथासंभव शीघ्र-से-शीघ्र

पार करके पुनःप्रकाशमें वापस आ जाना चाहिये।

९-४-१९३०

* * *

प्र०— न आनन्द, न बल। पढ़ने-लिखनेकी इच्छा भी नहीं होती —मानो कोई मुर्दा आदमी चल-फिर रहा हो। समझे मेरी स्थिति? आपका कोई ऐसा व्यक्तिगत अनुभव?

उ०— खूब समझता हूँ; अनेकों बार मेरी भी ऐसी सर्वनाशी स्थिति हुई। इसी कारण, जिनकी यह दशा होती है उन्हें मैं सदा प्रसन्न और प्रफुल्ल रहनेकी सलाह देता हूँ।

खुश और मस्त रहो, निर्भय-निश्चिन्त, यदि रह सको तो, यह कहते रहो "रोम एक दिनमें ही नहीं बना था"—यदि ऐसा नहीं कर सकते तो अंधेरे-को भेदते चले जाओ जबतक सूरज न उग आय और नन्हें-नन्हें पक्षी न चह-चहाने लगें और सब ठीक-ठाक न हो जाय।

किन्तु दीखता है मानों तुम वैराग्यके प्रशिक्षणमेंसे गुजर रहे हो। स्वयं मैं वैराग्यकी कुछ विशेष परवाह नहीं करता, इस पाशविक वस्तुसे मैं सदैव किनारा करता रहा हूँ, पर इसमेंसे कुछ-कुछ गुजरना भी पड़ा, जबतक समता पर मेरा पैर नहीं जा जमा और उसीको मैंने अधिक अच्छी युक्ति नहीं समझ लिया। किन्तु समता कठिन है, वैराग्य सरल, पर हां, नारकीय उदासी और कष्टसे भरा।

३-६-१९३६

विरोधी सुझावकी अतिशयोक्ति

यह सोचनेका कोई कारण नहीं है कि शक्ति और पवित्रताकी वह गति मन का बहलाव थी। नहीं, वह एक सच्ची चीज थी। परन्तु आगे बढ़नेकी इन प्रबल गतियोंके साथ-साथ प्रायः प्राणिक उत्साह जयनाद करता हुआ कहता है, लो, काम पूरा हो गया। पर यह पूरी तरहसे ठीक नहीं है; ज्यादा ठीक तो यह होगा कि अब काम शीघ्र ही पूरा हो जायगा। ऐसे ही समयपर कम-बख्त छिद्रान्वेषी झूमता हुआ आता है और प्रकृतिके किसी ऐसे टुकड़ेको उठा

लेता है जो अभीतक अस्थिर है और उसे लेकर ऐसे परिणाम उत्पन्न करता है जो इस छोटेसे टुकड़ेसे अनुपातमें कहीं बढ़कर होते हैं। और यह सब केवल यह दिखानेके लिये कि काम अभी पूरा नहीं हुआ। स्वयं मुझे यह अनुभव कितनी ही बार हुआ है। यह सब हमारी विकसित होनेवाली प्रकृतिकी पेचीदगी और मन्द गतिके कारण होता है जिसे योग वेग तो प्रदान करता है पर सारी प्रकृतिको झटकेके साथ नहीं। वास्तवमें जैसा मैंने कहा ये संकट प्रकृतिमें स्थित अपने कारणोंकी अपेक्षा अनुपातमें बहुत बड़े होते हैं। अतएव मनुष्यको निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। अपने पूर्ण और निश्चित विजयके विचारों और विरोधी द्वारा किये गये उनके सफल प्रतिवादकी अतिशयोक्तिको देख सकना चाहिये।

२४-६-१९३६

प्राणिक गतियोंका उठना

प्राणकी कुछ क्रियाओंका प्रकोप योगमें एक सुपरिचित घटना है जिसका अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्य पतित हो गया है, बल्कि केवल यह होता है कि पार्थिव प्राणिक प्रकृतिकी मूल सहज-प्रवृत्तियोंके साथ झूमते हुए साहब सलामत करनेके बदले मुठभेड़ हो गई है। स्वयं मुझे भी, आध्यात्मिक विकासकी एक विशेष अवस्थामें, ऐसी चीजोंके अतिशय उभारका अनुभव हुआ था, जिनका पहले अस्तित्व भी शायद ही रहा हो और शुद्ध यौगिक जीवनमें तो सर्वथा अभाव ही प्रतीत होता था। ये चीजें इस प्रकारसे उभरती ही हैं क्योंकि ये अपने अस्तित्वके लिये संघर्ष कर रही हैं—ये वास्तवमें तुम्हारी वैयक्तिक नहीं हैं और इनके आक्रमणकी उग्रताका कारण तुम्हारी वैयक्तिक प्रकृतिमें किसी "बुराई" का होना नहीं है। मैं तो यहांतक कह सकता हूँ कि दसमेंसे सात साधकोंको ऐसा अनुभव होता है। बादमें, जब ये साधकको उसकी साधनासे च्युत करनेका अपना लक्ष्य सिद्ध नहीं कर पातीं तो यह सब कुछ दब जाता है और फिर उसके बाद कोई उग्र उपद्रव नहीं होता।

२४-६-१९३२

क्रोधका उभड़ना

इस प्रकारकी अवनतिमें कोई अनोखी बात नहीं। योगाभ्यास शुरू करनेसे बहुत पहले मेरे बारेमें भी यह प्रसिद्ध था कि इन्हें क्रोध विरले ही आता है।

योगकी एक विशेष अवस्थामें वह मेरे अन्दर ज्वालामुखीकी तरह फूट पड़ा और उसे निकालनेमें मुझे लम्बा समय लगा। मैं एक बीती अवस्थाकी बात कर रहा था। अवचेतनसे उसके उठनेके विषयमें मुझे पता नहीं, अवश्य ही वह विश्व-प्रकृतिसे आया होगा।

५-८-१९३६

साधनामें पुनः-पुनः च्युति

प्र०— कोई भी गलत काम किये बिना सहसा च्युत हो जाना — ऐसा गतिरोध क्यों ?

उ०— प्रत्येक व्यक्ति च्युत होता है। स्वयं मैं साधनामें हजारों बार च्युत हुआ हूँ। कैसे कमलदल-सुकुमार रानियों-जैसे साधक हो तुम सब !

२-४-१९३७

साधनाका क्षणिक या अस्थायी अवरोध

साधनाके लिये सबसे बुरी बात है एक ऐसी दूषित मनोदशामें जा गिरना जहां मनुष्य सदा निरन्तर शक्तियों एवं आक्रमणों आदिकी ही बात सोचता रहता है। यदि साधना कुछ समयके लिये रुक गई है तो उसे रुका रहने दो, तुम शान्त रहो, साधारण काम-काज में लगे रहो, जब आरामकी आवश्यकता हो तो आराम भी करो — जबतक भौतिक चेतना तैयार न हो जाय तब तक प्रतीक्षा करो। मेरी अपनी साधना, जब यह तुम्हारी साधनासे बहुत अधिक आगे बढ़ी हुई थी, एक साथ छः-छः महीनोंके लिये रुक जाया करती थी। मैं उसके लिये कोई हाय-तोबा नहीं मचाया करता था। बल्कि, जबतक वह रिक्तता या जड़ताका काल निकल न जाता तबतक शान्त बना रहता था।

८-३-१९३५

भौतिक स्तरमें डुबकी

प्र०— जब आपने मुझे लिखा था कि "तुम भौतिक चेतनामें हो" तो उससे आपका क्या अभिप्राय था ? क्या आपका यह मतलब था कि मैं पशु-जैसा जीवन बिता रहा हूँ अथवा एक पौधेकी तरह

पनप रहा हूँ और क्या आपका संकेत इस ओर था कि मुझे "भौतिक चेतना"से बाहर आना चाहिये और मानसिक स्तरपर निवास करना चाहिये ?

उ०— मैं स्वयं भौतिक चेतनामें निवास कर रहा हूँ और वह भी बहुत वर्षों से। प्रारम्भमें यह भौतिक स्तरमें, उसकी समस्त अन्धता एवं जड़तामें, डुबकी थी, उसके बाद यह भौतिक स्तरमें एक ऐसा निवास था जहां उच्चतर चेतनाओं-की ओर खुले रहकर धीरे-धीरे भौतिक चेतनाके रूपान्तरके लिये अन्ततक युद्ध होता रहा जिसमें कि वह अतिमानसिक रूपान्तरके लिये तैयार हो जाय। मानसिक स्तरमें वापस चला ज़ाना संभव है जहां, अपने मनके खुले हुए और निर्मल रहनेपर, सब प्रकारकी मानसिक अनुभूतियां काफी सुगमतासे प्राप्त होती हैं। परन्तु साधारणतया साधना इस पथका अनुसरण नहीं करती।

२६-१२-१६३४

भौतिक निष्क्रियतामेंसे निकलनेका मार्ग

प्र०— क्या १६३३ में मेरे भीतर निरन्तर सच्ची साधना चल रही थी? क्या वास्तवमें वह केवल एक ऐसी मानसिक अनुभूति नहीं थी जिसमें सच्चे सत्त्वका सर्वथा अभाव था? नहीं तो इन दो वर्षोंमें ऐसा पतन होनेका भला क्या कारण हो सकता है?

उ०— निश्चय ही उस समय सच्ची साधना चल रही थी और मन तथा प्राण के स्तरपर अत्यन्त दृढ़तापूर्वक तैयारी हो रही थी। यदि ऐसा न हुआ होता तो शान्तिका अवतरण आरम्भ ही न हो पाता। पतन इस कारण हुआ कि जब तुम भौतिक चेतनाकी तैयारी पूरी करनेके लिये उसमें उतरे, तो तुम अत्यन्त निष्क्रिय बन गये, तुमने अपना तपस्याका संकल्प बनाये नहीं रखा और इसका परिणाम यह हुआ कि काम-शक्तिने भौतिक चेतनाकी जड़तासे लाभ उठाकर पूर्ण रूपसे अपना अधिकार जमा लिया। भौतिक स्तरमें उतरनेपर शक्तियोंके प्रति इस प्रकार निष्क्रियताकी अवस्था बहुतोंमें आ जाती है। उस समय मनुष्य चेतनामें विभिन्न शक्तियोंको खेलते हुए अनुभव करता है — कभी ऊपरसे आने-वाली शान्ति आदि और कभी तंग करनेवाली शक्तियां, किन्तु उसमें प्रतिक्रिया करनेकी वैसी शक्ति नहीं होती जैसी मन तथा प्राणके स्तरपर थी। स्वयं मुझे भी इस अवस्थामेंसे गुजरना पड़ा था और इसमेंसे निकलनेमें मुझे कम-से-कम

दो वर्ष लगे थे। उच्चतर चेतनाको — विशेषकर ऊपरकी शांति और शक्ति को,— नीचे उतार लानेके लिये स्वयं भौतिक चेतनामें अटूट संकल्पका विकास करना ही इसमेंसे निकलनेका सर्वोत्तम मार्ग है।

८-७-१९३५

* * *

प्र०— यद्यपि यह सच है कि ऊर्ध्व स्तरसे निम्न प्रकृतिके साथ सर्वोत्तम ढंगसे निपटा जा सकता है तथापि कोई चीज आरोहणमें रुकावट डालती है।

उ०— मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ था। अपनी चेतनाका केन्द्र सदा ऊपर रखनेके स्थानपर मुझे निम्न प्रकृतिके साथ निपटनेके लिये भौतिक स्तरमें नीचे आना पड़ता था। निःसंदेह, यदि तुम अपना केन्द्र ऊपर रख सको तो बहुत ही अच्छा होगा, पर क्योंकि लगभग हर एक व्यक्ति नीचे भौतिक स्तरमें रहता है, इसलिये संभवतः ऐसा करना कुछ कठिन है।

५-९-१९३५

देह-चेतनाके रूपान्तरकी विधिका परिवर्तन

प्र०— यदि देहके रूपान्तरकी प्रगति इतनी मन्द है कि वह उच्चतर भागोंके रूपान्तरके साथ कदम मिलाकर नहीं चल सकती तो यह स्पष्ट ही है कि सभी क्रमिक अवस्थाओंमें वह उच्चतर भागोंसे सदा पिछड़ती रहेगी। उदाहरणार्थ, जब उच्चतर भाग अधिमानसी-कृत हो जायंगे तब देह अभी संबोधिमय बनना शुरू ही कर रहा होगा। इसी प्रकार जब उच्चतर भाग अतिमानसीकृत हो जायंगे, तब भौतिक चेतना अभी अधिमानसिक प्रभावको ग्रहण करना आरम्भ ही कर रही होगी। क्या यह विषमता अनिवार्य नहीं होगी जबतक कि व्यक्ति देहको, उसके साथ पीछे निपटनेके लिये, छोड़ ही न दे, या फिर वह आगे बढ़नेसे पहले प्रत्येक मंजिलपर तबतक रुका रहे जबतक शरीर पूर्णतया रूपान्तरित नहीं हो जाता?

उ०— यह शायद संभव नहीं। शरीर-चेतना वहां है ही और उसकी उपेक्षा

नहीं की जा सकती, परिणामतः, शरीरको पीछे निपटनेके लिये छोड़कर न तो मनुष्य उच्चतर भागोंको पूर्णतया रूपान्तरित कर सकता है और न प्रत्येक भूमिकाको, अन्य भूमिकाओंपर जानेसे पहले, उसके सब अङ्गोपाङ्गोंमें पूर्ण ही बना सकता है। मैंने इस विधिका परीक्षण किया था पर यह कभी कारगर नहीं हुई। उदाहरणतः अब जब कि अधिमानसीकरण चल रहा है, मन और प्राणका प्रबल अधिमानसीकरण अगला कदम है, पर शरीर-चेतना सभी निम्नतर गतियोंको अधिमानस-भावापन्न किये बिना ज्यों-की-त्यों बनाये रखती है और जबतक इन्हें ऊपर अधिमानसिक स्तरतक नहीं उठाया जा सकता तबतक अधिमानसिक सिद्धि प्राप्त ही नहीं हो सकती, शरीर-चेतना सदैव त्रुटियों और न्यूनताओंको लाती रहती है। अधिमानसको पूर्णतया संसिद्ध करनेके लिये मनुष्यको अतिमानसिक शक्तिको पुकार लाना होता है और जब अधिमानस कुछ-कुछ अतिमानसीकृत हो जाय तभी शरीर अधिकाधिक अधिमानसिक होने लगेगा। मुझे तो इस प्रक्रियासे बचनेका कोई उपाय नहीं दीखता, यद्यपि काम इतना लम्बा भी इसीके कारण होता है।

१८-११-१९३५

अतिमानसिक हस्तक्षेपके लिये प्रयत्न

मैंने तुमसे यह कभी नहीं कहा है कि जो शक्ति यहां काम कर रही है वह इस समय सर्वसमर्थ है। इसके विपरीत मैंने तुमसे यह कहा है कि मैं इसे सर्वसमर्थ बनानेका यत्न कर रहा हूँ और इसी प्रयोजनके लिये मैं चाहता हूँ कि अतिमानस हस्तक्षेप करे। परन्तु यह कहना कि चूँकि यह सर्वसमर्थ नहीं है इसलिये इसका अस्तित्व ही नहीं है, मुझे तर्क-विरुद्ध प्रतीत होता है।

२८-८-१९३४

सीमाको पार करना

गत दर्शन (१५ अगस्त १९३६ का दर्शन) मोटे तौरपर अच्छा ही था। इन दिनों मैं कोई सनसनीपूर्ण चीज उतारनेका यत्न नहीं कर रहा हूँ। बल्कि जो शक्ति और चेतना पहलेसे ही यहां उपस्थित हैं उनके कार्यकी तथा ऊपरके महत्तर प्रकाश एवं शक्तिके धीरे-धीरे फैलनेकी प्रगतिका निरीक्षण कर रहा हूँ। एक कठिन सीमाको अत्यन्त संतोषजनक रूपमें पार किया गया है जिससे निकट भविष्यके लिये आशा बंधती है। एक काम, जो है तो बहुत महत्त्वपूर्ण पर अभी

तक असफल होता आ रहा था, वह पूरा हो गया है। इसकी व्याख्या मैं अभी नहीं करूँगा, क्योंकि यह एक दूसरे व्यवस्थित कार्यका अंश है जिसकी व्याख्या तभी की जा सकती है जब कि वह पूर्ण रूपसे सिद्ध हो ज़ाय। परन्तु यह एक प्रकारका प्रबल व्यावहारिक आश्वासन प्रदान करता है कि कार्य अवश्य सिद्ध होगा।

२६-८-१९३६

ठीक तिथियां निश्चित करना संभव नहीं

दो वर्षकी अवधिके विषयमें टैगोरका कथन* पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ। निश्चय ही उन्होंने मेरी बातको समझने या सुननेमें गलती की होगी। मैंने उन्हें यह अवश्य कहा था कि मैं यहां पूर्ण (आन्तरिक) आधार स्थापित कर लेनेके बाद ही अपने कार्यक्षेत्रको विस्तृत करूँगा, किन्तु मैंने कोई तिथि नहीं बतायी थी। हां, इससे बहुत पहले 'ब' के नाम लिखी एक चिट्ठीमें मैंने दो वर्षकी अवधिकी बात अवश्य कही थी। परन्तु जो काम करना है उसके विषयमें उस समय मेरी दृष्टि उतनी विशाल नहीं थी जितनी अब है—और अब मैं तिथियां नियत करनेके संबंधमें पहलेसे अधिक सतर्क हूँ। ध्रुवताके दो क्षेत्रोंको छोड़कर और कहींके लिये ठीक-ठीक समय निश्चित करना असंभव है—उन दोमेंसे एक तो है शुद्ध जड़ात्मक जो गणित-शास्त्रीय निश्चयताओंका क्षेत्र है और दूसरा अतिमानसिक जो ईश्वरी ध्रुवताओंका लोक है। इनके बीचके स्तरोंमें जहां जीवनका भी हाथ होता है तथा वस्तुओंका विकास अनिवार्य रूपसे दबाव तथा चोटोंके द्वारा ही होता है, वहां, 'काल' और 'शक्ति' अत्यधिक अस्थिर हैं तथा किसी पहलेसे ठीक की हुई तिथि या समय-विभागकी कठोर सीमाको तोड़ सकते हैं।

१६-८-१९३१

अतिमानसिक सत्य-शक्तिकी क्रिया

तुमने स्वयं अपनी ही विचार-सामग्री जुटाकर अपने लिये सिर चकरानेवाली समस्या पैदा कर ली है! अतिमानसके सम्बन्धमें कुछ भी अस्पष्ट और धुंधला

*टैगोरने 'क'से कहा कि श्रीअरविन्दने उन्हें १९२८में बताया था कि दो वर्षके बाद मैं अपने कार्यक्षेत्रको "विस्तृत" रूप दूँगा।

नहीं, उसकी क्रिया जितना संभव हो सकता है उतनी यथार्थता पर निर्भर है। अब रहा ठोस वास्तविकताका प्रश्न : मैं अतिमानससे बहुत नीचेकी कई शक्तियों से अनेक ठोस चीजें प्राप्त कर चुका हूँ, फिर मेरी समझमें नहीं आता कि ऊंची शक्तियां सिर्फ अस्पष्ट धुँध ही क्यों दें। परन्तु मानव मनकी मान्यता यही मालूम होती है कि जो वस्तु पार्थिव है वही ठोस है, जो उच्च है वह धुँधली और अवास्तविक है—कीड़ा तो वास्तविक सत्य है और गरुड़ केवल भाप !

अस्तु, मैंने 'न' से यह नहीं कहा है कि मैं बराबर सीढ़ीपर चढ़ता जा रहा हूँ अथवा उड़ान लेता रहा हूँ—इसके विपरीत, मैं अत्यन्त कठोर व्यावहारिक तथ्योंसे जूझता रहा हूँ। मैंने तो उससे केवल यही कहा था कि जो कठिनाई गत नवम्बरसे मुझे रोके हुए थी उसे हल करनेका गुर मुझे मिल गया है और अब मैं उसे लेकर काम कर रहा हूँ।

अब पुनः अतिमानसकी बातपर आवें: अतिमानस बस साक्षात् स्वयंभू (अपने आपमें बिना किसी सहारेके रहनेवाली) सत्य-चेतना और साक्षात् स्वतः-समर्थ सत्य शक्ति है। अतः इस विषयमें जादूगरीका कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता। जो सत्य नहीं है वह अतिमानसिक भी नहीं है। जहांतक स्थिरता एवं निश्चल-नीरवताका प्रश्न है, उन्हें प्राप्त करनेके लिये अतिमानसकी कुछ भी आवश्यकता नहीं। उन्हें तो मनुष्य उच्चतर मनके स्तर पर भी प्राप्त कर सकता है जो मानवी बुद्धिके ऊपरका बस अगला ही स्तर है। मैंने ये चीजें २७ वर्ष पहले १९०८में ही प्राप्त कर ली थीं और मैं तुम्हें विश्वास दिला सकता हूँ कि वे निःसंदेह काफी ठोस तथा काफी अद्भुत थीं तथा उन्हें और अधिक वैसा बनानेके लिये अतिमानसिकताकी कोई आवश्यकता नहीं थी। फिर "ऐसी स्थिरता जो क्रिया एवं गति-जैसी दीख पड़ती है" एक ऐसी बात है जिसके संबंधमें मैं कुछ नहीं जानता। मैंने जो कुछ प्राप्त किया है वह स्थिरता या निश्चल-नीरवता है। इसका प्रमाण यह है कि मनकी पूर्ण नीरवताके द्वारा मैंने ४ महीने 'वन्दे मातरम्' का संपादन किया तथा "Arya" (आर्य) के ६ खण्ड लिखे। तबसे मैंने जो इतने सारे पत्र और संदेश इत्यादि लिखे हैं उनकी तो बात ही अलग है। यदि तुम कहो कि लिखना कोई कर्म या गति नहीं है वरन् केवल एक ऐसी चीज है जो कर्म या गति-जैसी दिखाई देती है, चेतनाका एक जादू है—अच्छा तो, फिर उस स्थिरता तथा निश्चल-नीरवताके रहते हुए ही मैंने एक पर्याप्त आयास-पूर्ण राजनीतिक आन्दोलनका संचालन किया और एक आश्रमकी व्यवस्था करनेमें भी योगदान किया है जो कम-से-कम स्थूल इन्द्रियोंको ठोस तथा भौतिक दृष्टिगोचर होता है। यदि तुम इन चीजोंको

भौतिक या ठोस माननेसे इन्कार करो (तात्त्विक दृष्टिसे तुम अवश्य ही ऐसा कर सकते हो), तब तुम धमसे शंकरके मायावादमें जा गिरोगे और मैं तुम्हें वहीं छोड़ दूँगा।

परन्तु तुम कहोगे कि जिस चीजने मुझे इन स्थूल गतियों और कर्मोंमें सहायता दी वह अतिमानस नहीं बल्कि अधिक-से-अधिक अधिमानस है। किन्तु पारिभाषिक रूपमें अतिमानस मन या अधिमानसकी अपेक्षा एक महत्तर शक्तिशाली क्रियाशीलता है। मैं कह चुका हूँ कि जो सत्य नहीं है वह अतिमानसिक नहीं है; इसके साथ मैं इतना और जोड़ दूँगा कि जो चीज प्रभावशाली नहीं है वह अतिमानसिक नहीं है। और अन्तमें, मैं यह कहकर उपसंहार करता हूँ कि मैंने 'न' से यह नहीं कहा है कि मैं पूर्णतया अतिमानसको अधिकृत कर चुका हूँ — मैं केवल यही स्वीकार करता हूँ कि मैं इसके अतिनिकट हूँ। परन्तु "अतिनिकट" तो, आखिरकार, सभी मानवीय शब्दोंकी भांति एक आपेक्षिक शब्द है।

मुझे मालूम नही कि तुम्हें 'र' को कैसे उत्तर देना चाहिये। शायद तुम मेरे दो सूत्रों द्वारा उत्तर दे सकते हो, पर यह संदिग्ध है। अथवा शायद तुम उसे बता सकते हो कि अतिमानस निश्चल-नीरवता है — पर यह बात होगी मिथ्या! अतः मैं तुम्हें तुम्हारी द्विविधामें ही छोड़ देता हूँ — और कोई गति ही नहीं। कम-से-कम जबतक मैं अतिमानस पर दृढ़ भौतिक अधिकार प्राप्त करके और फिर मनोमय जीवों एवं मनुष्योंके पास आकर उन्हें उसकी बात न सुना सकूँ — निःसंदेह, एक ऐसी भाषामें जो उनकी समझमें आने योग्य हो, — तबतक मुझे कुछ हदतक मूक ही रहना होगा। कारण, अबतक मेरे लेखों द्वारा जो थोड़ा-सा व्यक्त हुआ है उसे भी उन्होंने बिलकुल गलत ही समझा है।

२३-८-१९३५

वर्तमान कार्य

प्र०— आप अतिमानसके विषयमें क्यों नहीं कुछ लिखते जिसे समझनेमें इन लोगोंको इतनी कठिनाई अनुभव हो रही है?

उ०— लिखनेका लाभ ही क्या? भला किसीको कितना समझमें आयगा? और फिर, इस समय करने योग्य कार्य है अतिमानसको उतार लाना और स्थापित करना, न कि उसकी व्याख्या करना। यदि वह स्थापित हो जाय तो अपनी

नहीं, उसकी क्रिया जितना संभव हो सकता है उतनी यथार्थता पर निर्भर है। अब रहा ठोस वास्तविकताका प्रश्न: मैं अतिमानससे बहुत नीचेकी कई शक्तियों से अनेक ठोस चीजें प्राप्त कर चुका हूँ, फिर मेरी समझमें नहीं आता कि ऊंची शक्तियां सिर्फ अस्पष्ट धुंध ही क्यों दें। परन्तु मानव मनकी मान्यता यही मालूम होती है कि जो वस्तु पार्थिव है वही ठोस है, जो उच्च है वह धुंधली और अवास्तविक है—कीड़ा तो वास्तविक सत्य है और गरुड़ केवल भाप!

अस्तु, मैंने 'न' से यह नहीं कहा है कि मैं बराबर सीढ़ीपर चढ़ता जा रहा हूँ अथवा उड़ान लेता रहा हूँ—इसके विपरीत, मैं अत्यन्त कठोर व्यावहारिक तथ्योंसे जूझता रहा हूँ। मैंने तो उससे केवल यही कहा था कि जो कठिनाई गत नवम्बरसे मुझे रोके हुए थी उसे हल करनेका गुर मुझे मिल गया है और अब मैं उसे लेकर काम कर रहा हूँ।

अब पुनः अतिमानसकी बातपर आवें: अतिमानस बस साक्षात् स्वयंभू (अपने आपमें बिना किसी सहारेके रहनेवाली) सत्य-चेतना और साक्षात् स्वतः-समर्थ सत्य शक्ति है। अतः इस विषयमें जादूगरीका कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता। जो सत्य नहीं है वह अतिमानसिक भी नहीं है। जहांतक स्थिरता एवं निश्चल-नीरवताका प्रश्न है, उन्हें प्राप्त करनेके लिये अतिमानसकी कुछ भी आवश्यकता नहीं। उन्हें तो मनुष्य उच्चतर मनके स्तर पर भी प्राप्त कर सकता है जो मानवी बुद्धिके ऊपरका बस अगला ही स्तर है। मैंने ये चीजें २७ वर्ष पहले १९०८में ही प्राप्त कर ली थीं और मैं तुम्हें विश्वास दिला सकता हूँ कि वे निःसंदेह काफी ठोस तथा काफी अद्भुत थीं तथा उन्हें और अधिक वैसा बनानेके लिये अतिमानसिकताकी कोई आवश्यकता नहीं थी। फिर "ऐसी स्थिरता जो क्रिया एवं गति-जैसी दीख पड़ती है" एक ऐसी बात है जिसके संबंधमें मैं कुछ नहीं जानता। मैंने जो कुछ प्राप्त किया है वह स्थिरता या निश्चल-नीरवता है। इसका प्रमाण यह है कि मनकी पूर्ण नीरवताके द्वारा मैंने ४ महीने 'वन्दे मातरम्' का संपादन किया तथा "Arya" (आर्य) के ६ खण्ड लिखे। तबसे मैंने जो इतने सारे पत्र और संदेश इत्यादि लिखे हैं उनकी तो बात ही अलग है। यदि तुम कहो कि लिखना कोई कर्म या गति नहीं है वरन् केवल एक ऐसी चीज है जो कर्म या गति-जैसी दिखाई देती है, चेतनाका एक जादू है—अच्छा तो, फिर उस स्थिरता तथा निश्चल-नीरवताके रहते हुए ही मैंने एक पर्याप्त आयास-पूर्ण राजनीतिक आन्दोलनका संचालन किया और एक आश्रमकी व्यवस्था करनेमें भी योगदान किया है जो कम-से-कम स्थूल इन्द्रियोंको ठोस तथा भौतिक दृष्टिगोचर होता है। यदि तुम इन चीजोंको

भौतिक या ठोस माननेसे इन्कार करो (तात्त्विक दृष्टिसे तुम अवश्य ही ऐसा कर सकते हो), तब तुम धमसे शंकरके मायावादमें जा गिरोगे और मैं तुम्हें वहीं छोड़ दूँगा।

परन्तु तुम कहोगे कि जिस चीजने मुझे इन स्थूल गतियों और कर्मोंमें सहायता दी वह अतिमानस नहीं बल्कि अधिक-से-अधिक अधिमानस है। किन्तु पारिभाषिक रूपमें अतिमानस मन या अधिमानसकी अपेक्षा एक महत्तर शक्तिशाली क्रियाशीलता है। मैं कह चुका हूँ कि जो सत्य नहीं है वह अतिमानसिक नहीं है; इसके साथ मैं इतना और जोड़ दूँगा कि जो चीज प्रभावशाली नहीं है वह अतिमानसिक नहीं है। और अन्तमें, मैं यह कहकर उपसंहार करता हूँ कि मैंने 'न' से यह नहीं कहा है कि मैं पूर्णतया अतिमानसको अधिकृत कर चुका हूँ — मैं केवल यही स्वीकार करता हूँ कि मैं इसके अतिनिकट हूँ। परन्तु "अतिनिकट" तो, आखिरकार, सभी मानवीय शब्दोंकी भांति एक आपेक्षिक शब्द है।

मुझे मालूम नहीं कि तुम्हें 'र' को कैसे उत्तर देना चाहिये। शायद तुम मेरे दो सूत्रों द्वारा उत्तर दे सकते हो, पर यह संदिग्ध है। अथवा शायद तुम उसे बता सकते हो कि अतिमानस निश्चल-नीरवता है — पर यह बात होगी मिथ्या! अतः मैं तुम्हें तुम्हारी द्विविधामें ही छोड़ देता हूँ — और कोई गति ही नहीं। कम-से-कम जबतक मैं अतिमानस पर दृढ़ भौतिक अधिकार प्राप्त करके और फिर मनोमय जीवों एवं मनुष्योंके पास आकर उन्हें उसकी बात न सुना सकूँ — निःसंदेह, एक ऐसी भाषामें जो उनकी समझमें आने योग्य हो, — तबतक मुझे कुछ हदतक मूक ही रहना होगा। कारण, अबतक मेरे लेखों द्वारा जो थोड़ा-सा व्यक्त हुआ है उसे भी उन्होंने बिलकुल गलत ही समझा है।

२३-८-१९३५

वर्तमान कार्य

प्र०— आप अतिमानसके विषयमें क्यों नहीं कुछ लिखते जिसे समझनेमें इन लोगोंको इतनी कठिनाई अनुभव हो रही है?

उ०— लिखनेका लाभ ही क्या? भला किसीको कितना समझमें आयगा? और फिर, इस समय करने योग्य कार्य है अतिमानसको उतार लाना और स्थापित करना, न कि उसकी व्याख्या करना। यदि वह स्थापित हो जाय तो अपनी

व्याख्या आप ही कर देगा — यदि वह स्थापित नहीं होता तो उसकी व्याख्या करनेका कोई लाभ नहीं। मैंने अपने पहलेके लेखोंमें इसके विषयमें कुछ बातें कही हैं, पर उनसे मुझे किसी भी व्यक्तिको इसपर प्रकाश प्रदान करनेमें सफलता नहीं मिली। अतः उस प्रयत्नको क्यों दुहराया जाय?

८-१०-१९३५

* * *

अतिमानसिक प्रकृति केवल तभी समझमें आ सकती है यदि मनुष्य यह समझ जाय कि अतिमानस क्या है और यह मनके लिये तबतक पूरी तरह संभव नहीं जबतक वह उच्चतर स्तरोंकी ओर खुल नहीं जाता। जहांतक इसका मानसिक विवरण दिया जा सकता है, वह मैं 'आर्य' में दे ही चुका हूँ।

श्रीअरविन्दकी क्रियाको समझनेका सच्चा तरीका

प्र०— जब भगवान् ही सब कुछ करते हैं तो फिर साधारण घटनाओं-में तथा उन घटनाओंमें क्या अन्तर है जिनमें आप सचेतन रूपसे सक्रिय होते हैं?

एक घटना जिसे आप बस पहलेसे देखते भर हैं और एक दूसरी घटना जिसे आप सचेतन रूपसे परिचालित करते हैं — इन दोनोंमें क्या कोई मूलभूत भेद है? क्योंकि सभी घटनाएं भाग-वत चेतनामें ही घटित होती हैं, अतः आपके लिये उन्हें पहलेसे देखनेका अर्थ है बस उनकी ओर इस ढंगसे अपना ध्यान फेरना कि आप उनसे अपनी बाह्यतम चेतनामें सचेतन हो जायं — तो फिर उनपर आपकी सचेतन क्रिया किस प्रकारकी होती है?

उ०— तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देनेके लिये मुझे एक ऐसी चेतनाकी परिभाषामें बोलना होगा जिसकी कुंजी मनके पास नहीं है। इसके साथ ही, जिस निम्नतर चेतनामें इस समय वस्तुएं घटित हो रही हैं उसके साथ इस उच्चतर चेतनाके संबंधोंकी व्याख्या करनेका भी मुझे यत्न करना पड़ेगा। यह सब करनेका क्या लाभ? मन या तो कुछ समझेगा ही नहीं या गलत समझ बैठेगा या फिर यह सोचेगा कि मैंने समझ लिया है जब कि वस्तुतः उसे कुछ भी समझमें नहीं आया होता।

अथवा मुझे इस प्रश्नका मानसिक उत्तर गढ़ना होगा जो असली चीज न होकर शङ्काशील मनको शान्त रखनेके लिये कही गई एक बात भर होगा।

इन चीजोंमें प्रवेश पानेका सच्चा तरीका है मनको निस्तब्ध करके उस चेतनाकी ओर खोल देना जहांसे सब कुछ किया जाता है। तब तुम्हें पहले उस प्रणालीका प्रत्यक्ष अनुभव होगा जिससे भागवत चेतना विभिन्न स्तरोंपर कार्य करती है और उसके बाद प्राप्त होगा उस अनुभवके बारेमें ज्ञानका प्रकाश। यही है एकमात्र सच्चा तरीका — शेष सब तो कोरे शब्द और निष्फल मानसिक तर्क मात्र है।

१९२८

जगत्‌की निराशाजनक स्थिति तथा नयी सृष्टि

प्र०– संसारमें जो कुछ हो रहा है उससे मेरा चित्त अत्यन्त उद्विग्न है। सर्वत्र दुःख-दैन्य छाया हुआ है, सभी वस्तुओंसे लोगोंकी श्रद्धा उठती जा रही है, यहांतक कि टैगोर, रसेल और रोलां जैसे मनीषी भी इस युगको समाप्त कर देनेके लिये चिल्ला रहे हैं। यह कैसी बात है कि जगत् बेतहाशा ऐसी दलदलमें दौड़ा जा रहा है? कभी-कभी मुझे भय होता है कि अन्तमें आप तथा श्रीमाताजी भी इस पापी जगत्‌को यथाशक्ति तैरने या डूब जानेके लिये अकेला छोड़कर किसी विश्वातीत समाधिमें ही लीन हो जायेंगे। शायद यह अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण पथ होगा — कौन जाने?

उ०– मेरा विचार ऐसा करनेका नहीं है — यदि सब कुछ ध्वस्त भी हो जाय तो भी मैं अपनी दृष्टि ध्वंससे परे नव सृष्टिपर ही लगाए रहूँगा। जगत् में जो कुछ हो रहा है उससे मैं घबराता नहीं हूँ क्योंकि मुझे पहलेसे ही मालूम था कि चीजें ऐसा रूप धारण कर लेंगी। अब रही बुद्धिशाली आदर्शवादियोंकी आशाओंकी बात, सो उनसे मैं सहमत नहीं था और इसलिये मुझे निराशा भी नहीं हुई है।

१०-८-१९३३

बर्गसोंकी योजनामें संशोधन

प्र०– बर्गसों लिखते हैं कि जीवनकी प्रगतिमें पहले तो खींच-तान दिखाई देती है और उसके बाद फल-फूल निकलते हैं। इस विषयमें

आपका क्या विचार है, आखिर वे महान् दार्शनिक भी संघर्ष एवं दुःख-कष्टमेंसे होते हुए परमानन्दकी ओर अग्रसर होनेकी हमारी पद्धतिसे सहमत हैं ?

उ०— हुँ ! ऐसी पद्धति है तो बहुत ठीक पर जीवनमें तथा इस आश्रममें यह इतनी अधिक है कि मैं बर्गसोंकी शैलीसे भिन्न किसी अन्य प्रकारके विकासके लिए ही उत्कंठित् हूँ। यदि अल्ला मियां और बर्गसों दोनोंने मिलकर इसकी योजना बनाई हो तो भी मैं इसमें सुधार करनेका प्रस्ताव करूँगा।

क्या संसार अतिमानसको ग्रहण करनेके लिये तैयार है ?

प्र०— मैं इस संसारसे ऊब गया हूँ और यदि आपका प्रोग्राम इसे बदलने तथा इसमें कुछ श्रेष्ठतर वस्तुएं लानेका न होता तो मैं इसे छोड़कर किसी सूक्ष्मतर लोकमें जाना अधिक पसन्द करता। परन्तु क्या संसार भी बदलना चाहता है और अभी जो कुछ यह है, जो कुछ इसके पास है तथा जो कुछ यह करता है उस सबके त्यागका भारी मूल्य चुकाकर क्या यह आपका माल खरीदनेको तैयार है ?

उ०— जो चीज इसके पास नहीं है, उसे यह लेना भी चाहता है और नहीं भी। अतिमानस जो कुछ दे सकता है उस सबको जगत्का आन्तरिक मन लेना तो चाहता है, परन्तु उसका बाह्य मन, उसका प्राण तथा उसका शरीर मूल्य नहीं चुकाना चाहते। खैर, आखिर मैं जगत्को एकबारगी ही बदल देनेकी चेष्टा नहीं कर रहा हूँ, बल्कि केवल, केन्द्रीय, रूपमें, इसके अन्दर एक ऐसी चीज उतार लानेका यत्न कर रहा हूँ जो अभीतक इसमें नहीं है, अर्थात् एक नयी चेतना एवं शक्ति।

३१-७-१९३५

दीन-दुखिया धरतीके लिये कुछ अधिक अच्छी चीज

प्र०— लगता है कि जिधर भी हम मुड़ें, एक-सी ही मानवजाति दिखाई देती है — अपने समस्त अज्ञान और दुर्बलताको लिये हुए।

उ०– निःसंदेह। यही बात मैं लगातार कहता चला आ रहा हूँ। यह अकारण ही नहीं कि मैं इस सार्थक पर शोकाकुल ग्रहपर कोई अधिक अच्छी चीज देखनेको उत्कण्ठित हूँ।

३-८-१९३५

अतिमानसका अवतरण निश्चित

जगत्की बुरी दशाके बारेमें मैं पहले ही कह चुका हूँ। इस सम्बन्धमें गुह्य-वेत्ताओंका साधारण विचार यह है कि दशा जितनी ही अधिक बुरी होती है ऊपरसे दिव्य हस्तक्षेपका होना या नवीन प्रकाशका आना उतना ही अधिक सम्भव होता है। साधारण मनको इस बातका पता नहीं चल सकता — उसके लिये बस यही चारा है कि या तो वह इस बातपर विश्वास करे या न करे अथवा प्रतीक्षा करे और राह देखता रहे।

अब रहा यह प्रश्न कि क्या भगवान् सचमुच ही चाहते हैं कि ऐसा कुछ घटित हो। इस बारेमें मेरा विश्वास है कि उन्हें यह अभिमत है। मुझे पूरी तरहसे, निश्चित रूपसे, मालूम है कि अतिमानस एक सत्य है और, जगत्की वस्तुस्थितिको देखते हुए, उसका यहां आना अवश्यंभावी है। प्रश्न तो बस केवल कब और कैसे का है। और वह भी कहीं ऊपरसे निश्चित और पूर्व-निर्धारित हो चुका है। परन्तु उसकी प्राप्तिके लिये यहां विरोधी शक्तियोंके बीच घमासान लड़ाई चल रही है, क्योंकि पार्थिव जगत्में वह पूर्व-निर्धारित परिणाम छिपा हुआ है। और यहां जो कुछ हम देखते हैं वह तो संभावनाओं तथा शक्तियोंका भंवर ही है और वे संभावनाएं एवं शक्तियां किसी चीजकी प्राप्तिके लिये यत्न कर रही हैं पर इस सबका भविष्य मनुष्यकी दृष्टिसे ओझल है। तो भी इतना निश्चित है कि कुछ एक आत्माएं इसलिये भेजी गयी हैं कि वह अभी सिद्ध हो जाय। बस, वस्तुस्थिति यही है। मेरी श्रद्धा और संकल्प इसी ओर हैं कि यह अभी सिद्ध हो। अवश्य ही, यह सब मैं मानवीय बुद्धिके धरातलसे ही कह रहा हूँ, या यूँ कहें कि गुह्य-बौद्धिक शैलीसे कह रहा हूँ। इससे अधिक कहना विषयकी सीमाकों पार करना होगा। मैं समझता हूँ कि तुम यह नहीं चाहते कि मैं भविष्यवाणी करना शुरू कर दूँ। बुद्धिवादी होनेके कारण तुम ऐसा चाह भी नहीं सकते।

२५-१२-१९३४

वर्तमान मानव-सभ्यताका प्रश्न

वर्तमान मानव सभ्यताके विषयमें। रक्षा इसकी नहीं करनी; रक्षा करनी है संसारकी और वह अवश्य की जायगी, भले वह उतनी आसानीसे या उतनी जल्दी न हो जितनी कुछ लोग चाहते या कल्पना करते हैं, या भले वह उस ढंगसे न हो जिसे वे अपनी कल्पनामें लाते हैं। वर्तमानको निश्चित बदलना ही होगा, पर वह विनाशके द्वारा बदलेगा या महत्तर सत्यके आधारपर नव-निर्माणके द्वारा — यही विचारणीय विषय है। माताजीने इस प्रश्नको लटकता ही छोड़ दिया है और मैं भी यही कुछ कर सकता हूँ। आखिर, बुद्धिमान् व्यक्तिको, जबतक वह पैगम्बर या मद्रासके फलित-ज्योतिष-कार्यालयका अध्यक्ष ही न हो, बहुधा ऐस्क्विद (Asquith) *की भांति मध्यमार्गके अवलम्बनसे ही संतोष करना होगा। न आशावाद ही सत्य है और न निराशावाद: वे तो केवल मनकी दशाएं या स्वभावके पहलू हैं।

अत: हमें चाहिये कि अति आशावाद या अति निराशावादके बिना "प्रतीक्षा करें और देखें"।

सितम्बर १९४५

पर्देके पीछे तैयारी

मैं जानता हूँ कि यह तुम्हारे लिये तथा प्रत्येक व्यक्तिके लिये कष्टका समय है। यह सारे संसारके लिये ऐसा ही है। सभी जगह गड़बड़, दु:ख, अराजकता तथा उलटापलटी — यही आजकी सामान्य वस्तुस्थिति है। जो अच्छी चीजें प्रकट होनेको हैं वे पर्देके पीछे तैयार या विकसित हो रही हैं तथा सभी जगह बुरी चीजोंका बोलबाला है। बस, एकमात्र आवश्यकता इस बातकी है कि जबतक प्रकाशकी घड़ी न आ जाय तबतक अडिग और अटल रहा जाय।

२-६-१९४६

विजयकी ज्योति

बंगालकी अवस्था निश्चय ही बहुत बुरी है। वहांके हिन्दुओंकी स्थिति भयानक

*इंगलैण्डके एक प्रधानमंत्री (१९०८-१९१७) जो न तो चरमपंथी थे न नरमपंथी, वरन् मध्यमार्गीय नीतिका अनुसरण करते थे।—अनुवादक

है और दिल्लीमें हुए अंतरिम सुविधाके गठबंधनके होते हुए भी वह और अधिक बुरी हो सकती है। परन्तु इसके बारेमें हमारी प्रतिक्रिया अति तीव्र या निराशा-मय नहीं होनी चाहिये। बंगालमें कम-से-कम दो करोड़ हिन्दू होंगे और वे समूल नष्ट नहीं किये जा सकते — हिटलर तक अपने संहारकारी वैज्ञानिक साधनोंसे संपन्न होते हुए भी यहूदियोंको निर्मूल नहीं कर सका। आज भी वे पूरी तरह जीवित हैं। और फिर हिन्दू संस्कृति तो कोई इतनी दुर्बल और हलकी-फुलकी चीज नहीं है जो सहज ही मिटायी जा सके। यह, कम-से-कम, ५ हजार वर्षोंसे जीवित है और अभी इससे भी अधिक दीर्घकालतक जीवित रहनेवाली है और अपना जीवन बनाये रखनेके लिये इसने पर्याप्त शक्ति संचित कर ली है। जो कुछ हो रहा है उससे मुझे बिलकुल आश्चर्य नहीं हुआ। जब मैं बंगालमें था तभी मैंने इसे भाविदृष्टिसे देख लिया था और लोगोंको चेतावनी दी थी कि ऐसा होनेकी अत्यधिक संभावना है और यह प्रायः अवश्यं-भावी है, उन्हें इसके लिये तैयार रहना चाहिये। उस समय किसीने भी मेरे कथनको कोई महत्त्व नहीं दिया, यद्यपि बादमें, जब मुश्किलने सिर उठाया, तो कइयोंको मेरी बात स्मरण हो आयी और उन्होंने स्वीकार किया कि मैंने ठीक कहा था। केवल चित्तरंजन दासको इस संबंधमें बहुत आशंका थी; यहां तक कि जब वे पांडिचेरी आये थे तो उन्होंने मुझसे कहा कि वह नहीं चाहते कि अंग्रेज यह भयंकर समस्या हल होनेसे पहले हमारे देशसे चले जायं। परन्तु जो घटनाएं आज हो रही हैं उनसे मैं निरुत्साहित नहीं हुआ हूँ, क्योंकि मैं यह जानता हूँ और मैंने सैंकड़ों बार यह अनुभव किया है कि जो व्यक्ति भगवान्का यंत्र है उसके लिये घोर-से-घोर अन्धकारके परे भागवत विजयकी ज्योति विद्य-मान रहती है। ऐसा कभी नहीं हुआ कि मैंने इस संसारमें किसी बातके लिये —यहां मैं व्यक्तिगत चीजोंके बारेमें नहीं कह रहा हूँ — कोई प्रबल और आग्रह-पूर्ण संकल्प किया हो और वह पूरी न हुई हो, भले ही उसके पूरे होनेमें विलम्ब हुआ हो या पराजय और महाविपत्तिका सामना करना पड़ा हो। एक समय था जब हिटलरकी सर्वत्र विजय हो रही थी और यह निश्चित प्रतीत होता था कि असुरका अन्धकारपूर्ण जुआ समस्त संसारके कंधोंपर लाद दिया जायगा; परन्तु अब कहां है हिटलर और कहां है उसका राज्य? बर्लिन और न्यूरेम-बर्गने मानव इतिहासके उस भयानक अध्यायका अन्त सूचित कर दिया है। अब अन्य अन्धकारमय शक्तियां मानवजातिको ढक देने या निगल जानेकी धमकी दे रही हैं, पर वे भी उसी प्रकार नष्ट हो जायंगी जिस प्रकार वह दुःस्वप्न नष्ट हो गया है। अपने इस विश्वासको पुष्ट करनेवाली सभी बातोंको मैं पूर्ण रूपसे इस पत्रमें नहीं लिख सकता — संभवतः एक दिन आयेगा जब

मैं ऐसा कर सकूंगा।

१९-१०-१९४६

उषासे पहलेका अन्धकार

तुम्हारी कठिनाइयोंकी चरम तीव्रताका कारण यह है कि योगने निश्चेतनाकी आधारशिलापर आक्रमण कर दिया है और यह निश्चेतना ही आत्माकी विजयमें तथा उस विजयकी प्राप्ति करानेवाले भगवत्कर्ममें आनेवाली समस्त व्यक्तिगत एवं विश्वगत बाधाओंका मुख्य आधार है। कठिनाइयां आश्रममें तथा बाहरकी दुनियामें एकसमान हैं। सन्देह, निरुत्साह, श्रद्धाका ह्रास या लोप, आदर्शके लिये प्राणिक उत्साह की न्यूनता, भविष्यके संबंधमें परेशानी एवं निराशा इत्यादि इस कठिनाईके मोटे-मोटे लक्षण हैं। बाहरकी दुनियामें इनसे भी बहुत अधिक बुरे लक्षण उपस्थित हैं, जैसे हृदयहीनताकी सामान्य वृद्धि, किसी भी चीजमें विश्वास करनेसे इन्कार, ईमानदारीकी कमी, अपरिमित भ्रष्टाचार, अधिक ऊंची चीजोंका सर्वथा बहिष्कार करके मुख्यत: भोजन, धन, सुख और भोगमें ही व्यस्त रहना, संसारमें बुरी-से-बुरी अवस्थाओंके घटित होनेकी सामान्य आशा। ये सभी, चाहे ये कितनी भी प्रबल क्यों न हों, अस्थायी चीजें हैं और जो लोग विश्वशक्तिकी क्रिया-शैलियों तथा परम आत्माकी क्रिया-शैलियोंके संबंधमें कुछ भी जानते हैं वे इनके लिये तैयार थे। स्वयं मैंने यह पहलेसे ही देख लिया था कि यह अत्यन्त बुरी अवस्था आयेगी, उषासे पहले निशाका अन्धकार दिखाई देगा। इसलिये मैं निरुत्साहित नहीं हुआ हूँ। मुझे पता है कि अन्धकारके पीछे क्या तैयार हो रहा है और मैं उसके आनेके पूर्वचिह्न देख तथा अनुभव कर सकता हूँ। जो भगवान्को पाना चाहते हैं उन्हें डटे रहना होगा और अपनी खोजमें निरन्तर लगे रहना होगा। कुछ समय बाद अन्धेरा कम होकर दूर होने लगेगा और दिव्य प्रकाश आ जायेगा।

९-४-१९४७

वर्तमान प्रयत्न

यदि मैं अतिमानसके स्तरपर खड़ा होकर अतिमानसकी सहायतासे संसारपर कार्य करता, तो संसार बदल चुका होता अथवा जिस प्रकार अब बदल रहा है उसकी अपेक्षा अत्यधिक वेगसे तथा भिन्न ढंगसे बदलता। इस समय मैं उच्च एवं सुदूर अतिमानसिक स्तरमें स्थित होकर वहींसे जगत्को परिवर्तित करनेका

प्रयत्न नहीं कर रहा, बल्कि उसकी कुछ शक्ति यहां उतार करके उसके आधार-पर तथा उसके द्वारा कार्य करनेकी कोशिश कर रहा हूँ। परन्तु वर्तमान अवस्था-में एकदम पहला काम है अधिमानसको उत्तरोत्तर अतिमानसभावापन्न करना और दूसरा है निश्चेतनाके भारी प्रतिरोधको कम करना तथा यह मानव अज्ञान-को जो सहारा देता है उसके बलको क्षीण करना क्योंकि वह सदा ही संसारको और स्वयं अपने-आपको भी बदलनेके हमारे सभी प्रयत्नोंमें सबसे अधिक बाधा पहुँचाता है। मैं हमेशा यह कहता आया हूँ कि युद्ध आदि मानवव्यापारोंमें मैं जिस आध्यात्मिक शक्तिका प्रयोग करता रहा हूँ वह अतिमानसिक नहीं बल्कि अधिमानसिक है; और जब यह शक्ति जड़ जगत्‌में कार्य करती है तो यह संसारकी निचली शक्तियोंके जालमें इतनी बुरी तरह उलझ जाती है कि इसके परिणाम चाहे जितने भी प्रबल या उस समयके उद्देश्यको पूरा करनेके लिये कितने भी पर्याप्त क्यों न हों, वे जरूर ही अपूर्ण होते हैं। यही कारण है कि मुझे अपने जन्म-दिन १५ अगस्तको स्वाधीन भारतका उपहार तो मिल रहा है, पर दो गठरियोंमें दो स्वतन्त्र भारतोंके दिये जानेसे यह पेचीदा हो गया है। मैं ऐसी उदारताके बिना ही अच्छा था। यदि बिना तोड़े हुए एक ही स्वतन्त्र भारत मुझे दे दिया जाता तो मेरे लिये काफी होता।

७-७-१९४७

अडिग रहनेके लिये पुकार

अन्धकारके बीचमें अडिग बने रहो; प्रकाश विद्यमान है और उसकी विजय अवश्य होगी।

४-२-१९४८

निश्चयतासे उत्पन्न शान्ति

तुम्हें अपने अन्दर उस शांतिको बढ़ाना होगा जो विजयकी निश्चिततासे उत्पन्न होती है।

वर्तमान अन्धकार और नया जगत्

मुझे भय है कि तुम्हारे साथ चिट्ठी-पत्री करनेवालोंमेंसे जो आजकलकी हालत का रोना रो रहे हैं, उन्हें मैं कम-से-कम अभी तो कोरा आश्वासन ही दे सकता

हूँ। हालत खराव है, और ज्यादा खराब होती जा रही है और किसी भी समय खराबसे खराव हो सकती है और यदि उससे भी खराब होना संभव हो तो वैसी भी हो सकती है—आजकलके विक्षुब्ध संसारमें हर चीज चाहे वह कितनी भी असंभव क्यों न हो, संभव होती हुई प्रतीत होती है। उनके लिये सबसे अच्छी बात यही है कि वे इस बातका अनुभव करें कि यदि एक नई और ज्यादा अच्छी सृष्टि होनी ही है तो कुछ संभावनाओंको प्रकट करके उनसे पिंड छुड़ाना जरूरी है, उन्हें पीछेके लिये उठा रखनेसे काम नहीं चल सकता। यह ठीक योगकी तरह है जिसमें क्रियाशील या सोई चीजोंको प्रकाशके सामने लाया जाता है ताकि उनके साथ भिड़कर उन्हें पछाड़ा जा सके; गहराइयोंमें छिपी चीजोंको इसी तरह शुद्ध करनेके लिये बाहर निकाला जाता है। वे इस पुरानी कहावतको याद रखें कि उषाकालसे पहले रात ज्यादा अंधेरी होती है और उषाका आना अवश्यंभावी है। यह भी याद रखें कि हम जिस नई दुनिया को लानेकी कोशिश कर रहे हैं वह इसी ताने-वानेकी पर जरा नमूनेमें अलग चीज न होगी और उसके आनेके साधन भी अलग होंगे, अन्दरके साधन न कि बाहरके। इसलिये सबसे अच्छा उपाय यह है कि वे बाहर होनेवाली शोचनीय बातोंमें ही न लगे रहें अपितु अपने आप अन्दरसे प्रगति करें ताकि वे नई सृष्टिके लिये तैयार रहें चाहे वह किसी भी रूपमें क्यों न आये।

१८-७-१९४८

* * *

तुमने अपने एक पत्रमें अपने चारों ओर जगत्‌में छाये हुए अन्धकारके बारेमें अपनी भावना प्रकट की है। शायद यह भी एक कारण है जिससे तुम इतनी बुरी तरह परेशान हो गये हो और आक्रमणको तुरन्त ही पीछे धकेलनेमें असमर्थ हो। जहांतक मेरा संबंध है, मुझे अन्धकारमय अवस्थाएं निरुत्साहित नहीं करतीं और न मेरे अन्दर यह विश्वास ही बिठाती हैं कि "संसारकी सहायता" करनेका मेरा संकल्प निरर्थक है, क्योंकि मुझे मालूम था कि ऐसी अवस्थाएं आयेंगी; वे विश्वप्रकृतिमें मौजूद थीं और उनका प्रकट होना जरूरी था ताकि वे समाप्त की जा सकें या निकाल फेंकी जायं और उनसे मुक्त एक अधिक अच्छा संसार जन्म ले सके। आखिर बाह्य क्षेत्रमें कुछ तो किया ही गया है और वह आतरिक क्षेत्रमें भी कुछ करनेमें सहायक हो सकता है या उसके लिये लिये तैयारी कर सकता है। उदाहरणके लिये, भारत अब स्वतन्त्र है और इसकी स्वतन्त्रता भगवान्‌का काम पूरा होनेके लिये जरूरी थी। आज जो

कठिनाइयां उसे घेरे हुई हैं और जो शायद कुछ समयतक बढ़ती ही जायं—विशेषकर पाकिस्तान के झमेले-झंझटको लेकर—वे भी ऐसी चीजें हैं जिनका आना जरूरी था ताकि उन्हें साफ किया जा सके। यहां भी पूरे तौरसे सफाई जल्द होगी यद्यपि दुर्भाग्यवश इस प्रक्रियामें मनुष्यको काफी मुसीबतें उठानी पड़ेंगी। पर भगवान्‌का काम ज्यादा संभव हो सकेगा और यह जरूर हो सकता है कि संसारको आध्यात्मिक प्रकाशकी ओर ले जानेका स्वप्न—यदि वह स्वप्न है—एक वास्तविक सत्य बन जाय। मैं आज भी, इन सब अन्धकारमय अवस्थाओंके होते हुए भी, यह माननेको तैयार नहीं हूँ कि मेरा जगत्‌की सहायता करनेका संकल्प जरूर असफल होगा।

४-४-१९५०

विभाग पांच

गुरु और मार्गदर्शक

गुरु और मार्गदर्शक

शिष्य स्वीकार करनेकी शर्तें

मैं शिष्योंको जल्दीसे स्वीकार नहीं करता क्योंकि योगका यह मार्ग कठिन है और इसका अनुसरण करना तभी संभव है यदि व्यक्तिके अन्दर विशेष पुकार हो।

* * *

यदि वह मेरे योगको स्वीकार करना चाहता है तो उसकी शर्तें हैं—दृढ़ निश्चय, जिस सत्यको मैं नीचे उतार रहा हूँ उसके लिये अभीप्सा, शांत निष्क्रियता तथा जिस उद्गमसे प्रकाश आ रहा है उसकी ओर उद्घाटन। उसके अन्दर शक्ति पहलेसे ही कार्य कर रही है और यदि वह इस मनोभावको ग्रहण करे तथा निरन्तर बनाये रहे और मेरे ऊपर उसका पूर्ण विश्वास हो तो कोई कारण नहीं कि वह साधनामें सुरक्षित रूपसे अग्रसर न हो।

९-१२-१९२२

* * *

मालूम होता है कि जमींदार मुझसे कोई परम्परागत दीक्षा प्राप्त करनेकी आशा रखता है, परन्तु वैसी दीक्षा मैं नहीं दे सकता। उससे यह कह देना चाहिये कि मैं ऐसी दीक्षा नहीं दिया करता तथा मेरी विधि भिन्न है। उसे यह समझाना और उसके लिये भी शायद यह समझना कुछ कठिन होगा कि वह विधि क्या है। संभवतः उससे यह कहा जा सकता है कि जो लोग यहां योग करनेके लिये आते हैं वे तुरन्त ही स्वीकार नहीं कर लिये जाते और कभी-कभी तो स्वीकार करनेसे पहले लंबे अरसेतक परीक्षा-काल चलता है। देखें, वह इस बातको किस रूपमें ग्रहण करता है और यदि फिर भी उसकी यहां आनेकी इच्छा बनी रही तो पीछे इस विषयमें कोई निर्णय करेंगे।

११-७-१९४६

* * *

यदि उसमें सच्ची यौगिक क्षमता होती तो और बात थी, परन्तु हम इसका कोई चिह्न भी नहीं देखते। उससे कह दो कि उसे किसी अन्य प्रकारके मार्ग-दर्शनकी आवश्यकता है — वह इस योगमें नहीं टिक सकेगा।

उसे साहाय्य एवं मार्ग-निर्देश देना मेरे लिये संभव नहीं — क्योंकि इसका अर्थ होगा उसपर एक 'प्रभाव' डालना और अपने विकासकी वर्तमान अवस्थामें उसे ग्रहण एवं सहन करनेके लिये आवश्यक शक्ति और संतुलन उसमें नहीं है।

मैं कह चुका हूँ कि वह इस योगकी साधना नहीं कर सकता। उसे किसी अन्य वस्तुकी आवश्यकता है जिसे वह आत्मसात् कर सकता हो।

४-७-१९३६

मैने तुम्हारा पत्र पढ़कर और उसपर विचार कर यह निर्णय किया है कि तुम्हारी प्रार्थनाके अनुसार तुम्हें अवसर दूँ — आरम्भमें तुम आश्रममें दो-तीन महीने रहकर देख सकते हो कि क्या वास्तवमें यही वह स्थान एवं मार्ग है जिसकी तुम खोज कर रहे थे और हम भी तुम्हारी आध्यात्मिक शक्यताओंका अधिक निकटतासे निरीक्षण कर यह देख सकते हैं कि कैसे हम तुम्हारी अच्छी-से-अच्छी सहायता कर सकते हैं और कि यह योग तुम्हारे लिये सर्वश्रेष्ठ है या नहीं।

यह जांच अनेक कारणोंसे आवश्यक है, किन्तु विशेषकर इसलिये कि इस योगका अनुसरण करना कठिन है और ऐसे लोग अधिक नहीं जो इस योगके द्वारा हमारी प्रकृतिसे की गई मांगोंको सचमुचमें पूरा कर सकते हों। तुमने लिखा है कि मैंने आपमें एक ऐसे व्यक्तिको देखा जिसने बुद्धिको पूर्ण बनाकर उसे आध्यात्मिक और दिव्य बनानेमें सफलता प्राप्त की। पर असलमें मैं मनको पूर्णतया नीरव करके इस स्थितिमें पहुँचा और जो कुछ आध्यात्मिक एवं दिव्य रूपांतर उसने प्राप्त किया वह उस नीरवताके भीतर उच्चतर अति-बौद्धिक ज्ञानके अवतरणके द्वारा ही साधित हुआ। स्वयं 'एसेज ऑन दि गीता' (गीता-प्रबन्ध) नामक ग्रन्थ मनकी उस नीरवतामें, बिना बौद्धिक प्रयत्नके, ऊपरसे आनेवाले इस ज्ञानकी निर्बाध क्रियाके द्वारा ही लिखा गया। यह बात महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस योगका सिद्धांत मानव प्रकृतिके वर्तमान स्वरूपको पूर्ण बनाना नहीं बल्कि सत्ताके सभी अंगोंका पहले तो एक आंतरिक चेतना और फिर उस उच्चतर चेतनाकी क्रियाके द्वारा चैत्य एवं आध्यात्मिक रूपांतर साधित करना है जो उनपर कार्य करती है, उनकी पुरानी गतियोंको निकाल फेंकती या अपनी गतियोंकी प्रतिमामें बदल डालती है और इस प्रकार निम्न

प्रकृतिको उच्च प्रकृतिमें रूपांतरित कर देती है। इसका स्वरूप बुद्धिको पूर्ण बनाना उतना नहीं जितना उसे अतिक्रांत करना, मनका रूपांतर करना, उसके स्थानपर ज्ञानके एक विशालतर एवं महत्तर तत्त्वको स्थापित करना — सत्ताके शेष सभी भागोंके बारेमें भी यही बात समझनी चाहिये।

यह एक धीमी और कठिन प्रक्रिया है; मार्ग लम्बा है और आवश्यक आधारकी स्थापना करना भी कठिन। पुरानी वर्तमान प्रकृति प्रतिरोध करती और बाधा पहुँचाती है और कठिनाइयां एकके बाद एक करके बारंबार सिर उठाती हैं जबतक उनपर विजय नहीं पा ली जाती। इसलिये इस पथपर पग रखनेका अन्तिम निर्णय करनेसे पहले व्यक्तिके लिये इस बातका निश्चय कर लेना आवश्यक है कि उसे इसी मार्गके लिये पुकार हुई है।

यदि तुम चाहो तो हम तुम्हारी प्रार्थनाके अनुसार तुम्हें परीक्षाका अवसर देनेको तैयार हैं। तुम्हारा उत्तर पानेपर माताजी आश्रममें तुम्हारे रहनेकी आवश्यक व्यवस्था कर देंगी।

२६-३-१९३७

* * *

अपने मित्रको लिख दो कि हम तुम्हारे पिताजीसे किसी आर्थिक सहायताकी मांग नहीं करते और अतएव उसके पत्रमें पूछे गये प्रश्नोंका उत्तर देनेकी तुमसे अपेक्षा नहीं की जाती। आश्रमके कार्यमें सहायता करनेका अधिकार हर एकको नहीं।

केवल वही सहायता कर सकते हैं जिनकी इस कार्यमें श्रद्धा एवं सहानुभूति हो, या कम-से-कम श्रीअरविन्दमें आस्था हो...

श्रीअरविन्द अपने शिष्योंकी संख्या बढ़ानेको उत्सुक नहीं और सामान्यतया उन्हींको स्वीकार किया जाता है जिनमें योगके लिये पुकार एवं क्षमता हो और जो इसकी शर्तोंको पूरा करनेके लिये तैयार हों।

१४-१०-१९२८

* * *

यदि मैं केवल ऐसी ही बातें कहूँ जिन्हें मानव प्रकृति सुगम एवं स्वाभाविक अनुभव करे तो वे शिष्योंके लिये निश्चय ही अत्यन्त सुविधाजनक होंगी, किन्तु उस हालतमें आध्यात्मिक लक्ष्य या प्रयासके लिये कोई स्थान नहीं रह जायगा।

आध्यात्मिक ध्येय तथा साधन सरल या स्वाभाविक नहीं होते (जैसे, कलह, कामोपभोग, लोभ, आलस्य तथा सब प्रकारकी त्रुटियोंके आगे चुपचाप शीश नवाना सरल और स्वाभाविक होता है) और यदि लोग शिष्य बनते हैं तो यही समझा जाता है कि वे सरल स्वाभाविक चीजोंका नहीं वरन् आध्यात्मिक लक्ष्यों एवं प्रयासोंका ही अनुसरण करेंगे चाहे वे कितने भी कठिन और समान्य प्रकृतिसे ऊपर क्यों न हों।

३-५-१९३७

* * *

प्र०— ये एक पचास वर्षकी आयुके व्यक्ति हैं जो वानप्रस्थ लेनेका इरादा रखते हैं। वे सोचते हैं बस हमारा आश्रम उनके लिये उपयुक्त स्थान होगा। वे कहते हैं उन्होंने अपनेको आश्रम-जीवनके लिये तैयार कर लिया है; उनमें एकमात्र दोष यह है कि वे स्वास्थ्यके लिये जरा-सी अफीम लेते हैं। उन्हें मैं क्या जवाब दूं?

उ०— धन्यवादसहित इन्कार। अफीम यहां वर्जित है। साथ ही यह वानप्रस्थ आश्रम भी नहीं।

१७-७-१९३६

* * *

प्र०— यह एक ग्रामीण लड़की है, विधवा युवती, जिसने स्वप्नमें आपकी पुकार सुनी है और यहां आनेको उत्कण्ठित है।

उ०— बहुत ही छोटी है——ऐसे स्वप्न निर्णायक नहीं होते और उसकी उक्तियोंमें प्राणिक स्वर भरा पड़ा है; तो भी तुम्हें उसके बारमें कुछ कहनेकी जरूरत नहीं।

१४-१०-१९३८

निर्वैयक्तिक पहुँच और वैयक्तिक स्पर्श

हां तो, जो मैं सोच रहा हूँ वह यह है, जहांतक इंगलैण्ड या अमेरिकाका संबन्ध

है, क्या अधिक बुद्धिमानीकी बात यह न होगी कि दार्शनिक पक्ष और योगके पक्षके द्वारा निर्वैयक्तिक ढंगसे साधनाका आरम्भ किया जाय और जबतक वहांके लोग पृथक्-पृथक् व्यक्तिके रूपमें वैयक्तिक स्पर्शके लिये तैयार नहीं हो जाते तबतक व्यक्तिको अभी पर्देके कुछ पीछे रख छोड़ा जाय; अबतक हम इसी साधनाक्रमका अनुसरण करते आये हैं। भारतमें बात भिन्न है, क्योंकि यहा सामान्य मनोवृत्ति और प्रकारकी है और गुरु-शिष्यकी परम्परा चली आ रही है।

मई १९४३

शिष्य और गुरु

प्र०— कैसे गुरुके कैसे चेले हैं हम! काश, आपने किन्हीं अधिक अच्छे उपादानोंको चुना या पुकारा होता — शायद 'क्ष' जैसे किसी व्यक्तिको।

उ०— जहांतक शिष्योंकी बात है, मैं तुमसे सहमत हूँ! —हां, पर अच्छे उपादा! मान लो कि वे हों भी, क्या वे मानवजातिके प्रतिनिधि नमूने होंगे? गिने-चुने अपवादरूप नमूनोंसे निपटनेसे समस्याका हल कदाचित् ही हो। और फिर एक प्रश्न यह भी है कि क्या वे मेरे पथपर चलनेको राजी होंगे? और यदि उन्हें कसौटीपर कसा गया तो क्या उनमेंसे भी सर्वसामान्य मानवता एकाएक नहीं फूट पड़ेगी — यह भी एक और प्रश्न है।

३-८-१९३५

आश्रमसे बाहर जानेमें हानि

प्र०— आप लोगोंको यहांसे बाहर जानेकी जो अनुमति देते हैं उसका अर्थ क्या यह होता है कि अब उनके जानेमें कोई हानि नहीं?

उ०— नहीं, उसका अर्थ यह नहीं। उसका मतलब बस यही होता है कि हम उन लोगोंको सदा रोकते नहीं रह सकते जिनका प्राण यह कहता है कि "मैं जाना चाहता हूँ, मैं जाना चाहता हूँ" और जो अपने उस प्राणका साथ देते हैं। उन्हें जाने और जोखिम मोल लेनेकी अनुमति दे दी जाती है।

१८-३-१९३७

योगमें रुचि और धनका दान

प्र०— 'क्ष' धन मांगनेके लिये धनियोंके पास जाना चाहता है, पर यह नहीं जानता कि यह कार्य कैसे किया जाय...वह कहता है कि यदि लोगोंके पास सीधे धनके लिये पहुँचा जाय, तो शायद कुछ भी उत्तर न मिले। उसकी योजना है कि जिस तरह भी हो... उनके अन्दर हमारे कामके लिये रुचि पैदा की जाय जिससे कि वे बिना मांगे स्वयंमेव धन भेंट करें...उसने मुझे इस विषयमें आपकी सलाह लेनेको कहा है।

उ०— यदि इस ढंगसे काम किया जाय तो 'क्ष' को परिणामके लिये बरसों प्रतीक्षा करनी पडेगी। भले ही लोगोंमें रुचि हो, भले ही वे योग-साधना कर रहे हों फिर भी वे तबतक धन देनेकी सोचते भी नहीं जबतक उनसे मांगा न जाय, उन थोड़े-से लोगोंकी बात छोड़ दो जिनकी प्राणिक प्रकृति उदार होती है। हमारे काम और योगमें लोगोंकी दिलचस्पी पैदा करना तो बिलकुल ठीक है —किन्तु अपने आपमें यह बात कदाचित् ही काफी हो, उन्हें पता लगना चाहिये कि धनकी जरूरत है और देनेका विचार भी उनके अन्दर डालना होगा।

१३-३-१९३३

साधकोंसे-पत्र-व्यवहार

पत्र-व्यवहारके विषयमें मुझे यह कहना है कि यदि मैं ढेरकी ढेर निरर्थक चिट्ठियोंके पढ़नेको ही अपने जीवनका मुख्य लक्ष्य बना लूँ तथा सब उच्चतर लक्ष्योंको ताकपर रख दूँ तो मैं निःसंदेह एक मस्तिष्कहीन मूर्ख ही हूँगा! यदि मैंने पत्र व्यवहारको महत्त्व दिया है तो इसलिये कि यह मेरे प्रधान लक्ष्यका एक प्रभावशाली साधन है—ऐसे बहुतसे साधक हैं जिन्हें इसने तमोनिद्रासे जागने तथा आध्यात्मिक अनुभवके पथपर पदार्पण करनेमें सहायता पहुँचाई है, कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें इसने अनुभवोंके एक संकुचित घेरेसे निकालकर उनके लिये उपलब्धियोंकी एक बाढ़ सी ला दी है। अन्य कइयोंका भी, जो वर्षोंतक पूर्णतः निराश रहे हैं, कायापलट हो गया है और वे अन्धकारसे प्रकाशके द्वारमें प्रविष्ट हो गये हैं। कुछ ऐसे भी अवश्य हैं जिन्हें लाभ नहीं हुआ है अथवा केवल थोड़ा-सा ही लाभ हुआ है। फिर कई ऐसे भी थे जो बेसिरपैरकी बातें लिखते और हमारा समय नष्ट करते थे। परन्तु मेरी समझमे हम कह सकते हैं कि लिखने

वालोंमेंसे अधिकतरने सचमुच उन्नति की है। इसमें भी संदेह नहीं कि स्वयं पत्र-व्यवहार नहीं बल्कि वह शक्ति ही, जिसका भौतिक प्रकृतिपर दबाव दिन-पर-दिन बढ़ रहा था, यह सब करनेमें समर्थ हुई, परन्तु उस शक्तिको प्रवाहित करनेकी आवश्यकता थी और यह कार्य इस पत्र-व्यवहारने किया। ऐसे बहुतसे लोग थे जिनके लिये इसकी आवश्यकता नहीं थी, फिर कुछ ऐसे भी थे जिनके लिये यह उपयुक्त नहीं था। यदि यह केवल बौद्धिक जिज्ञासा-मात्र होता तो इसका कुछ लाभ न होता, किन्तु इसका अधिकाश साधना एवं अनुभूति-विषयक था और वही अत्यन्त उपयोगी भी सिद्ध हुआ।

परन्तु समय बीतनेके साथ-साथ पत्र-व्यवहार अत्यधिक बढ़ने लगा, यहां तक कि पत्रोंकी संख्या इतनी अधिक बढ़ गई कि उनका उत्तर देना संभव नहीं रहा। तथापि उस बाढ़को रोकना भी कठिन था और साथ ही पत्रोंमें भेद-प्रभेद करना सुगम नहीं था, क्योंकि लोग उसे समझ ही न पाते। इसलिये हमें निस्तारका मार्ग ढूँढ़ना है पर अभीतक तो हम केवल इसे कुछ हलका करनेके उपाय ही निकाल पाये हैं। सुगम उपाय यह होगा कि जो लोग उद्-घाटित हो चुके हैं वे अब आंतरिक वार्तालापपर ही निर्भर करने लग जायं और केवल यदा-कदा ही, जब कोई बात पूछना आवश्यक हो, पत्र-व्यवहार करें — कुछ लोगोंने ऐसा करना आरम्भ कर दिया है। मैं समझता हूँ, अन्तमें हम इसे इतना कम करनेमें समर्थ हो जायंगे कि हम इसे निभा सकें।

१२-१-१९३४

* * *

मेरे प्रतिदिन दस घंटे "तुच्छ" पत्र लिखते रहनेसे नई जातिका निर्माण होनेके बारेमें तुमने जो बात कही है उसे मैं नहीं समझ पाया और महत्त्वपूर्ण पत्र लिखनेसे भी ऐसा नहीं हो सकता। यदि मैं बढ़िया कविताएं लिखनेमें अपना समय लगाऊं तो उससे भी नई जातिका निर्माण नहीं होगा। प्रत्येक काम अपने-अपने स्थानपर महत्त्व रखता है — विद्युत्कण या अणु-परमाणु या दाने स्वयं छोटी-सी चीजें हो सकते हैं पर अपने-अपने स्थानमें वे संसारकी रचनाके लिये अनिवार्य हैं; यह केवल पहाड़ों तथा सूर्यास्त एवं उत्तरी ध्रुवकी ज्योतियों (aurora borealis) से ही नही बन सकता — चाहे वहां इनका भी अपना स्थान है। सब कुछ इस बातपर निर्भर है कि इन चीजोंके पीछे कौनसी शक्ति है तथा इनकी क्रियाका प्रयोजन क्या है और इस संसारमें जो विश्वात्मा कार्य कर रहा है उसे यह सब मालूम है। मैं यह भी कह दूँ कि वह विश्वात्मा मन

या मानवीय मानदंडोंके अनुसार नहीं बल्कि इनसे अधिक महान् चेतनासे कार्य करता है। वह चेतना विद्युत्कणसे आरम्भ कर समूचे संसारको बना सकती है तथा नाडियोंकी एक विशेष ग्रंथिका प्रयोग कर उन्हें यहां जड़के भीतर मन एव आत्माके कार्योंका आधार बना सकती है, किसी रामकृष्ण, नेपोलियन या शेक्सपीयरको पैदा कर सकती है। भला एक महान् कविका जीवन भी क्या केवल उज्ज्वल एवं महत्त्वपूर्ण चीजोंसे ही बना होता है? "किंग लिअर (King Lear)" या "हैमलेट (Hamlet)" की रचना कर सकनेके पूर्व रचयिताको कितनी ही क्षुद्र कृतियोंमें व्यस्त रहना तथा उन्हें पूरा करना पड़ा? और, तुम्हारी अपनी ही तर्कणाके अनुसार, क्या लोग छन्द, मात्रानिर्णय तथा पदांशके उच्चारणके नाना ढंगोंके बारेमें तुम्हारे कोलाहलका — वे इसे कोलाहल ही कहेंगे, मैं तो ऐसा नहीं कहता — मजाक उड़ानेमें युक्तिसंगत नहीं ठहरेंगे? शायद वे कहेंगे कि क्यों वह ऐसी तुच्छ नीरस चीजोंमें अपना समय गँवा रहा है जब कि वह यही समय सुन्दर गीतिकाव्य या उत्कृष्ट सगीतकी रचनामें लगा सकता था? परन्तु काम करनेवालेको जो सामग्री लेकर काम करना होता है उसका उसे ज्ञान होता है तथा उसका वह मान करता है और उसे पता होता है कि वह क्यों "तुच्छ बातों" एवं छोटी-छोटी ब्योरेकी बातोंमें संलग्न है और उसके प्रयत्न की पूर्णतामें उनका क्या स्थान है।

दिसम्बर १९३२

* * *

परन्तु मेरी समझमें नहीं आता कि ये सब बातें मुझे मानसिक प्रश्नोंका उत्तर देनेसे क्योंकर रोक सकती हैं? मेरी रायमें यदि भागवत प्रयोजनके लिये यह कार्य करना आवश्यक हो तो इसे करना ही चाहिये। मेरी समझमें स्वयं श्रीरामकृष्णने भी सहस्रों प्रश्नोंका उत्तर दिया था। परन्तु उत्तर वैसे ही होने चाहियें जैसे वे देते थे और जैसे मैं देनेका यत्न करता हूँ अर्थात् वे उच्चतर आध्यात्मिक अनुभवसे, गंभीरतर उद्गमसे उद्भूत होने चाहियें, न कि अपने अज्ञानको सुसंगत करनेमें तत्पर तर्कबुद्धिके टिमटिमाते प्रकाशसे। यह तो और भी अनुचित है कि भागवत सत्यको बुद्धिके सम्मुख निर्णयार्थ उपस्थित किया जाय और उसके प्रमाणके आधारपर उसे दोषी या निर्दोषी ठहराया जाय, क्योंकि बुद्धिशक्तिको ऐसा करनेका पर्याप्त अधिकार नहीं है, न उसमें ऐसी योग्यता ही है।

* * *

प्र०— क्या यह सत्य नहीं है कि हमें आपसे जो चिट्ठियां प्राप्त होती हैं वे शक्तिसे भरी होती हैं?

उ०— हां, उनमें शक्ति ढाली जाती है।

* * *

प्र०— ऐसा प्रतीत होता है कि जो लोग आपको प्रतिदिन चिट्ठी नहीं लिखते उन्हें इसके कारण कोई विशेष हानि नहीं हो रही है। इसका क्या कारण है?

उ०— या तो उनमें साधनाके लिये उतना उत्साह नहीं है अथवा वे अपनी कठिनाइयोंको खोलकर रखनेकी आवश्यकता कम अनुभव करते हैं, क्योंकि उन्हें निश्चयात्मक अनुभवकी कोई धारा प्राप्त हो गई है जिसका वे विश्वास-पूर्वक अनुसरण करते हैं।

२४-६-१६३३

* * *

प्र०— जो लोग आपको बराबर चिट्ठी नहीं लिखते रहते तथा निश्चयात्मक अनुभवकी धाराका विश्वासपूर्वक अनुसरण करते हैं, उन्हें भी क्या यह भय नहीं है कि अशुद्ध सुझाव एवं अन्यान्य रचनाए उनके सामने उपस्थित हों और साथ ही उनके अनुभवमें विविधता या समग्रताका भी अभाव हो?

उ०— हां, ये दोनों ही खतरे हैं। जिनको किन्हीं भीषण कठिनाइयोंका सामना नहीं करना पड़ता, उन्हें, भी सदा अनुभवके एक ही स्तरपर बने रहनेका दूसरा खतरा तो रहता ही है। पर बहुत से लोग इस कारण नहीं लिखते कि पत्र लिखनेसे तो तीव्र गतिसे प्रगति करनेके लिये उनपर दबाव पड़ेगा और अभी वे उस दबावके लिये तैयार नहीं हैं।

२५-६-१६३३

* * *

प्र०– क्या प्रश्न पूछना योगमें सहायक होता है?

उ०– प्रश्नोंका उद्देश्य होता है उन चीजोंपर प्रकाश प्राप्त करना जो किसी व्यक्तिमें हो रही हों। जो कुछ अपने अन्दर चल रहा हो उसका विवरण समर्पण में सहायक होता है।

३-४-१९३४

* * *

प्र०– अनेकों बार मनके सामने ऐसे प्रश्न आते हैं: "भगवान् क्या हैं?" क्या वे आपको लिख देना अच्छा नहीं?

उ०– बशर्ते कि तुम सदा मुझसे उनका उत्तर पानेकी आशा न करो। लोग मुझे मानसिक जानकारी प्राप्त करने या प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये नहीं लिखते, बल्कि वे लिखते हैं अपने अनुभव और अपनी कठिनाइयां मेरे सामने रखने और मेरी सहायता पानेके लिये। जब आवश्यक होता है मैं प्रश्नोंका उत्तर भी देता हूँ, पर मैं सदा ऐसा नहीं करता रह सकता।

* * *

मैं हर समय तुम्हें यह बताते रहनेका जिम्मा नहीं ले सकता कि सवेरे से रात तक तुम्हारे कामकी छोटी-मोटी बारीकियोंमें क्या-क्या पूर्ण रूपसे यौगिक नहीं है। ये तुम्हारे अपने देखनेकी चीजें हैं। अपनी साधना की गतिविधियोंको ही तुम मेरे सामने रखते हो और मुझे बस यही देखना होता है कि वे ठीक गतियां हैं या नहीं।

७-५-१९३६

* * *

जो कुछ तुम लिखते हो वह जब ठीक होता है तो मैं कुछ नहीं कहता — जब तुम्हारा स्थूल मन अशुद्ध विचारोंको बीचमें ले आता है, तब मैं उन्हें

ठीक कर देता हूँ।

१०-५-१९३६

* * *

प्र०– मेरे पत्रोंपर आपके उत्तर पढ़नेसे पहले मुझे लगता है मानों मैं उन्हें पढ़ या समझ नहीं सकूँगा। मेरे अन्दरकी यह क्रिया क्या है?

उ०– प्राणिक मनकी एक व्यर्थकी क्रिया। तुम्हें उसे शांत रखकर प्रकाशकी प्रतीक्षा करते हुए, नीरव मनसे उत्तरको ग्रहण करना चाहिये। नीरव मन-में मनुष्य उत्तर ग्रहण कर सकता है भले ही मैं कुछ भी न लिखूँ।

९-६-१९३३

* * *

प्र०– जब मैंने लिखा था कि आपके उत्तर पढ़ते समय मैंने कोई चीज अपने हृदयमेंसे बाहर आती अनुभव की तो आपने उत्तर दिया था, "वह क्या थी यह इसपर निर्भर करता है कि गति किस प्रकार की थी। क्या वह चैत्य पुरुषसे आयी कोई चीज थी?" हां, तो वह चैत्य पुरुषसे आयी ही कोई वस्तु थी। पर वह उत्तरोंके साथ कैसे आ जुड़ी?

उ०– चैत्य पुरुष ऐसी किसी भी वस्तुसे सबद्ध हो सकता है जो प्रेम या भक्तिको स्थान दे।

यह है उत्तरोंमें या उनके पीछे स्थित किसी वस्तुके साथ, मेरी सत्तासे उनके अन्दर जो चीज आती है उसके साथ चैत्य संपर्क।

२६-६-१९३६

* * *

प्र०– जब आप मेरे अन्दर नया उद्घाटन करते हैं, क्या ऐसा नहीं हो सकता कि आप मुझे एक दिन पहले सूचना दे दें ताकि मैं

अपनेको तैयार रखूँ ?

उ०— नहीं, निश्चय ही नहीं। ऐसी मानसिक विधि किसी भी कामकी नहीं होगी। अनुभव आप-से-आप आना चाहिये।

९-५-१९३६

बाह्य मार्गदर्शन और आन्तरिक सहायता

बाह्य मार्गदर्शनका उद्देश्य होता है केवल आन्तरिक क्रियामें सहायता पहुँचाना, विशेषकर किसी अशुद्ध क्रियाको ठीक करना और, कभी-कभी सही मार्ग दिखाना भी। बहुत शुरूकी अवस्थाको छोड़कर उसका प्रयोजन मानसिक जिज्ञासाओंको तृप्त करना या मानसिक क्रियाको उद्दीप्त करना नहीं होता।

* * *

जो कुछ मैं लिखता हूँ उससे साधारणतया मनको ही सहायता मिलती है और वह भी बहुत कम, क्योंकि मैं जो कुछ लिखता हूँ उसे लोग वास्तवमें नही समझते — वे उसपर अपनी-अपनी इमारतें खड़ी कर देते हैं। आंतरिक सहायता इससे सर्वथा भिन्न वस्तु है और उसमें भ्रांति नहीं हो सकती क्योंकि वह मनतक ही नहीं बल्कि चेतनाके सारतत्त्वतक पहुँचती है।

श्रीअरविन्दका स्पर्श

मेरा स्पर्श हमेशा विद्यमान है; परन्तु तुम्हें यह सीखना होगा कि उसका अनुभव तुम केवल बाहरी संपर्क और माध्यमके द्वारा — लेखनीके स्पर्श द्वारा ही नहीं बल्कि मन, हृदय, प्राण और शरीरपर उसकी सीधी क्रियाके द्वारा भी पा सको। तब कठिनाई बहुत कम हो जायगी या बिलकुल न रहेगी।

२७-३-१९३३

* * *

बाह्य स्पर्श भी सहायक होता है; परन्तु आंतरिक स्पर्श और भी अधिक सहायक होता है जब कि कोई उसे एक मूर्त्त रूपमें ग्रहण करनेका अभ्यासी हो जाय

और फिर बाह्य स्पर्शका पाना सदा पूर्ण रूपसे संभव भी तो नहीं होता, जब कि आन्तरिक स्पर्श सब समय ही उपस्थित रह सकता है।

श्रीअरविन्दकी करुणा

प्र०— 'आपकी करुणा' का प्रतीक-स्वरूप पुष्प इतना सुकुमार क्यों है और क्यों वह इतनी जल्दी कुम्हला जाता है?

उ०— नहीं, मेरी करुणा अपने प्रतीकके साथ ही नहीं कुम्हला जाती। फूल तो उन वस्तुओंके, जो स्वयं शाश्वत होती हैं, क्षणिक प्रतिरूप होते हैं।

९-८-१९३६

आध्यात्मिक परिवर्तन और स्कूल-शिक्षककी पद्धति

मैं कभी किसी भी व्यक्तिको उसके दोष नहीं बताता जबतक कि वह मुझे इसके लिये अवसर न दे। साधकको स्वयं सचेतन बनना तथा अपने-आपको प्रकाशके सामने खोलकर रखना चाहिये, अपने दोषोंको देखना, उन्हें त्यागना और अपने-आपको बदलना चाहिये। हमारे लिये यह ठीक पद्धति नहीं है कि हम हस्तक्षेप करें, व्याख्यान दें तथा बराबर किसी-न-किसी बातकी ओर ध्यान खींचा करें। यह तो स्कूल-शिक्षककी पद्धति है —यह आध्यात्मिक परिवर्तनमें काम नहीं आती।

१०-५-१९३६

सहायताके लिये द्वार बन्द कर देना

मुझे मालूम नहीं कि मैंने सहायता देनेसे इनकार किया है। परन्तु सहायताको ग्रहण करना भी तो आवश्यक है। जब तुम इस अवस्थामें होते हो तब ऐसा प्रतीत होता है कि तुम रोष और कटुताकी भावनाके द्वारा उन्हींके विरुद्ध, जिनसे तुम सहायता पाना चाहते हो, अपने द्वार झट बन्द कर देते हो। यह ऐसा मनोभाव नहीं है जिससे कि ग्रहण करना अथवा सचेतन होना सरल बन जाता है और न इसके कारण सहायताका सफल होना ही सुगम होता है! मैं तो केवल तुम्हारे पास अपनी शक्ति भेज सकता हूँ जो ग्रहणकी जाय तो तुम्हें अपनी अवस्थाके बदलनेमें सहायता देगी; मैंने सदा यही किया है। परन्तु

उस शक्तिके लिये यदि द्वार बन्द कर दिये जायं तो वह अपना कार्य सफलता-पूर्वक नहीं कर सकेगी —— अथवा कम-से-कम तुरन्त ही नहीं कर सकेगी।

२३-५-१६३६

सबसे बुरा विरोधी सुझाव

प्र०— विरोधी सुझावोंमें सबसे बुरा यह है कि आप अपने व्यवहारोंमें पक्षपात करते हैं। जब इसे मान लिया जाता है तो आपके और साधकके बीच दीवार खड़ी हो जाती है और विद्रोह पैदा हो जाता है और तब साधनाका अन्त हो सकता है!

उ०— हां, उनका लक्ष्य यही होता है —— क्योंकि सफलता पानेके लिये, साधकको उसकी आत्मासे पृथक् करनेके लिये यह उनका एक छोटा रास्ता है।

३-५-१६३५

काम और समय

तुम इस बातको अनुभव नहीं करते कि साधारण पत्रव्यवहार तथा बहुत-सी रिपोर्टों आदिपर मुझे १२ घंटे व्यय करने पड़ते हैं। इसके लिये मैं तीसरे पहर ३ घंटे और सारी रात, प्रातः ६ बजेतक, काम करता हूं। अतः यदि मेरे पास कोई ऐसा लंबा पत्र आये जिसमें बहुतसे प्रश्न पूछे गये हों तो मैं उसका उत्तर तुरत ही नहीं दे सकता। इससे ऐसे डांवांडोल हो जाना तथा योगको त्याग देनेकी इच्छा करना सर्वथा अनुचित है।

१७-६-१६३३

* * *

पुस्तकके विषयमें मुझे यह कहते हुए खेद होता है कि ऐसे कार्योंके लिये मेरे पास समय नहीं है। मुझे जो कुछ करना है उसके लिये ही चौवीस घंटे बहुत कम पड़ते हैं।

३-६-१६३०

* * *

हा राम! १-१.५ घण्टेमें कोई क्या लिख सकता है? काश, बस मैं अमर कृतियोंके लिये प्रतिदिन इतना समय पा सकता! तब और तीन वर्षोंमें सावित्री और इलियन ही नहीं, न जाने और कितना कुछ पूरे-का-पूरा फिरसे लिख-कर समाप्त कर डालता, उसे समुज्ज्वल रूपमें सर्वांगपूर्ण बना देता।

६-१२-१९३५

* * *

प्र०— मेरी टंङ्कित प्रतिका क्या हुआ? क्या शीतागारमें रखी हुई है?

उ०— प्रिय महाशय, अगर तुम मुझे आजकल शामसे सुबहतक अपनी नाक कागजसे भिड़ाये चिट्ठियोंपर चिट्ठियां बांचते और घसीटते देख लेते तो तुम्हारा वज्र-कठोर हृदय भी पसीज जाता और तुम टङ्कित-प्रतियों और शीतागारकी बात न करते। पत्र-व्यवहारकी भारी बौछारको कम करनेका प्रयत्न मैंने (कम-से-कम फिलहालके लिये तो) छोड़ दिया है। प्रसादों और प्रशंसकोंकी आफतसे तंग 'क्ष' की तरह मैं भी अपने भाग्यको स्वीकार किये लेता हूँ, पर कम-से-कम टंङ्कित प्रतियोंकी बात करके इस सर्वनाशी स्थितिमें व्यथा मत बढ़ाओ।

९-३-१९३६

श्रीकृष्ण और पत्रव्यवहार

प्र०— श्रीकृष्णको अवश्य ही आपसे अधिक अवकाश मिला होगा। उन दिनों लिखनेकी कला इतनी विकसित नहीं हुई थी और इसलिये उन्हें प्रश्नोंका उत्तर नहीं लिखना पड़ता था, यद्यपि कभी-कभी उन्हें एकाएक बुलावे आते थे, उदाहरणार्थ, जब दुर्वासा अपने सहस्रों शिष्योंके दलबल-सहित भोजन करने आ पहुँचे और द्रौपदीके घर एक ग्रास भर भोजन भी नहीं था। शायद श्रीकृष्णको आपकी अपेक्षा अधिक चमत्कार करने पड़ते थे, यद्यपि मुझे यह नहीं भूलना चाहिये कि आपको भी बीमारियोंमें सहायताके लिये निरंतर पुकारें आती रहती होंगी और अनेक प्रकारसे अन्य अनेकों पुकारें भी आती ही होंगी। और फिर, श्रीकृष्ण वास्तवमें अनेकों लोगोंके गुरु कभी बने ही नहीं।

उ०— हां तो, इस विषयमें वे असलमें अधिक बुद्धिमान् रहे होंगे और उन दिनों पत्रालायकी बहुलता न होनेके कारण भाग्यशाली भी —किन्तु इसपर भी उनका छुटकारा नहीं हुआ। महाभारतमें एक मर्मवेधी अध्याय है जिसमें द्वारकामें अपने बन्धु-बांधवोंके साथ भोगे गये उनके कष्टों और परेशानियोंका वर्णन है। वह अध्याय बहुत ही प्रकाशप्रद है। दुर्भाग्यवश मुझे यह भूल गया है कि वह किस प्रकरणमें है। पुकारोंकी मैं बहुत परवाह नहीं करता, क्योंकि शक्ति लगाना अन्दरकी चीज है जिसमें समय नहीं लगता, सिवाय उन लोगोंके मामलेमें जिनमें कठिनाई प्रतिदिन या प्रायः ही बारंबार आती है। जहांतक दुर्वासाकी बात है, यदि वह आ धमका तो उसका सामना 'क्ष' को यह आदेश देकर किया जायगा कि "जाओ प्रबन्ध करो" या फिर दुर्वासासे ही निवेदन किया जायगा कि जरा समझसे काम कीजिये।

४-६-१६३६

एकांतवासके कारण

मेरा एकांतसेवन कोई नई वस्तु नहीं है, यहांतक कि पत्रव्यवहारके द्वारा प्राप्त होनेवाले संपर्कका बन्द होना भी कोई नई चीज नहीं है—इस विच्छेदको आरम्भ हुए आज बहुत समय हो गया है। यह नियम मुझे वैयक्तिक पसन्द या रुचि-अरुचिके कारण नहीं वरन् इस कारण बनाना पडा कि मेरा अधिकांश समय और शक्ति पत्रव्यवहार में खर्च हो जाते थे और यदि मैं अपना कार्यक्रम न बदलता तथा अपनी सारी सामर्थ्य अपने वास्तविक कार्यमें न लगाता तो यह भय था कि वह उपेक्षित या अपूर्ण ही रह जाता। और फिर इस बाह्य कार्यका वास्तविक परिणाम भी अत्यन्त न्यून ही था—यह नहीं कहा जा सकता कि इसके फलस्वरूप आश्रममें अत्यधिक आध्यात्मिक उन्नति हुई। अब इन विश्व-संकटके दिनोंमें जब मुझे असाध्य विपत्तियोंका निवारण करनेके लिये हर समय सतर्क एवं एकाग्र रहना पड़ता है तथा अब भी ऐसा रहना आवश्यक है, और इसके अतिरिक्त जब आंतरिक आध्यात्मिक कार्यके मुख्यतर प्रयासमें भी इतनी ही एकाग्रता एवं सतत प्रयासकी आवश्यकता है, तब अपने नियमको त्यागना मेरे लिये संभव नहीं। (और व्यक्तिगत रूपमें भी यह 'साधकके' अपने हितकी बात है कि यह प्रधान आध्यात्मिक कार्य पूरा किया जाय, क्योंकि इसके सफल होनेपर ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न हो जायंगी जिनमें उसकी कठिनाइयां पहलेकी अपेक्षा अत्यधिक सुगमतासे दूर हो सकेंगी।) तथापि मैंने अपना नियम तोड़ा है, और वह केवल तुम्हारे लिये ही तोड़ा है: मेरी

समझमें नहीं आता कि इसे प्रेमका अभाव तथा कठोर, वज्रकी-सी उदासीनता कैसे समझा जा सकता है।

२६-५-१६४२

* * *

नहीं; उदासी, कठोरता, घोर तपस्या या 'एकांतवासके ठाठ-बाटका ऐश्वर्य' इस योगका आवश्यक अंग नहीं है। यदि मैं अपने कमरेमें ही रहता हूँ तो वह एकांतवाससे प्रेम होनेके कारण नहीं। इस सर्वथा बाह्य अवस्थाको योगकी महान् प्रगतिके आवश्यक चिह्नके रूपमें प्रस्तुत करना अथवा एकांतवासको लक्ष्य घोषित करना हास्यास्पद होगा। अतः तुम्हें चिंता करनेकी आवश्यकता नहीं; तुमसे एकांतवासकी अपेक्षा नहीं की जाती।

१६३२

* * *

मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि भविष्यमें संबंध तोड़नेका मेरा कोई विचार नहीं है। जो प्रतिबंध मैंने लगा रखे हैं, उनका लगाना कुछ अनिवार्य कारणोंसे आवश्यक ही था। स्वयं मेरा एकांतसेवन भी अपरिहार्य था; अन्यथा मैं उस स्थितिमें न होता जिसमें मैं आज हूँ, अर्थात् व्यक्तिगत रूपसे मैं लक्ष्यके निकट न होता। जब लक्ष्य प्राप्त हो जायगा तब स्थिति कुछ और ही होगी। यदि तुम्हें इतने लम्बे समय तक अभूतपूर्व शांति प्राप्त रही तो उसका कारण यह था कि मेरा आन्तरिक दबाव तुमपर निरन्तर पड़ रहा था। मैं इसका सारा श्रेय अपने प्रतिरूप श्रीकृष्णको देनेसे इनकार करता हूँ।

१४-८-१६४५

* * *

मेरे एकाकीपन या एकांतवासका कारण अन्तरात्मा नहीं है—बल्कि मुझे जिस बृहत् विरोधका सामना करना पड़ता है वही इसका कारण है। मेरा एकांतवास तभी समाप्त हो सकेगा जब मैं अन्तरात्मा तथा (क्षमा करना!) तुम्हारे उस दूसरे हौए अतिमानसकी सहायतासे विजय प्राप्त कर लूँगा।

* * *

प्र०— मेरी प्रार्थना है कि जानेसे पहले मुझे एक बार पुनः श्रीअरविन्द-के दर्शन करनेकी अनुमति दी जाय। मुझे मालूम है कि यह नियमके विरुद्ध है, किन्तु मुझे आशा है कि आप एक भक्तके लिये अपने नियमकी ढिलाईका कुछ ख्याल न करेंगे।

उ०— मुझे खेद है कि ऐसा नहीं हो सकता। वर्तमान अवस्थामें किसी व्यक्तिको पृथक् दर्शन नहीं दिया जा सकता।—यह नियमकी बात नहीं, वरन् श्रीअरविन्द जो कार्य कर रहे हैं उसके लिये यह आवश्यक है।

१७-८-१९३४

* * *

प्र०— आप अपने एकांतवाससे कब बाहर आयेंगे?

उ०— यह एक ऐसी बात है जिसके संबंधमें अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। मेरे एकांतवासका कुछ उद्देश्य पहले पूर्ण होना चाहिये।

२५-८-१९३३

* * *

प्र०— यदि आप वर्ष भरमें केवल तीन बार की जगह प्रति मास एक बार दर्शन देनेके लिये बाहर निकल सकें तो बहुत अच्छा हो। क्या यह संभव है?

उ०— यदि मैं महीनेमें एक बार बाहर निकलूँ तो मेरे बाहर निकलनेका प्रभाव एक तिहाई कम हो जायगा।

२-३-१९३३

* * *

प्र०— क्या आप अतिमानसिक अवतरणके अनन्तर अपने एकांतवाससे बाहर आयेंगे?

उ०– इसका निश्चय अवतरणके बाद किया जायगा।

२३-६-१९३५

* * *

प्र०– सरदार 'व' ने 'क्ष' से पूछा था कि आप कब बाहर निकलेंगे तथा जनताका पथप्रदर्शन करेंगे। 'क्ष' ने उत्तर दिया कि इसकी आशा नहीं रखनी चाहिये। परन्तु 'व' के प्रश्नका संभवतः एक विशेष अभिप्राय था जिसे 'क्ष' ने नहीं समझा।

उ०– संभवतः नहीं। यह संभव नहीं दीखता कि 'व' इस बातको दूसरोंकी अपेक्षा अधिक समझते हों कि मैं महत्तम भारत (या जगत्) के महत्तम कल्याण-के लिये भविष्यमें वापस आनेके विचारके बिना भी आध्यात्मिक जीवन बिता सकता हूँ। टैगोरको मेरे वापस आनेकी आशा थी और उन्हें इस बातसे बहुत निराशा हुई है कि मैंने ऐसा नहीं किया।

७-३-१९३५

श्रीअरविन्दका प्रकाश

श्रीअरविन्दकी ज्योति आलोकित मनकी ज्योति नहीं — वह दिव्य प्रकाश है जो किसी भी स्तरपर कार्य कर सकता है।

७-९-१९३३

* * *

प्र०– दो दिन हुए स्वप्नमें मैंने श्रीअरविन्दको अपनी ओर आते देखा। उनका शरीर और वेश नीले रंगके थे। क्यों मैंने उन्हें इसी रंगमें देखा, किसी और में नहीं?

उ०– यही वह मूल ज्योति है जिसे श्रीअरविन्द व्यक्त करते हैं।

२३-६-१९३३

* * *

यदि यह हल्का नीला है तो यह मेरा रंग हो सकता है। हल्का लवेण्डरी नीला, हल्का किन्तु अपनी निजी झलकमें अत्यन्त कांतिमान्।

६-८-१९३२

* * *

यह (अर्थ) नीले रंगकी गहराईपर निर्भर करता है। साधारण हल्का नीला प्राय: प्रदीप्त मनका प्रकाश या अन्तर्ज्ञानका कोई आलोक होता है। श्वेत-नील श्रीअरविन्द या श्रीकृष्णका प्रकाश है।

* * *

नीले रंग अनेक हैं और यह कहना कठिन है कि वे कौन-कौनसे हैं। साधारणतया गहरा नीला उच्चतर मनका और हल्का नीला प्रदीप्त मनका प्रकाश है—श्वेत-नील श्रीकृष्णका प्रकाश है (इसे श्रीअरविन्दका प्रकाश भी कहते हैं)।

* * *

विभिन्न प्रकारके नीले रंग विभिन्न शक्तियोंको सूचित करते हैं (वास्तविक नीले रंगका विषसे कोई संबंध नहीं)। श्वेत-नील विशेष रूपसे मेरा प्रकाश कहलाता है—परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मुझसे केवल यही प्रकाश आ सकता है।

२२-११-१९३३

* * *

> प्र०— आजकल मुझे श्रीअरविन्दका प्रकाश प्राय: हर समय ही दिखाई देता है, पर भिन्न-भिन्न रूपोंमें—कभी तो एक बड़े तारेके समान, कभी चांदके जैसा, कभी बिजलीकी छटाकी भांति। यह मुझे एक-सा क्यों नहीं दिखाई देता?

उ०— यह अवस्थाओंके अनुसार बदलता रहता है। यह सदा एक-सा ही क्यों हो?

२१-४-१९३३

* * *

प्र०– मनमें मुझे श्रीअरविन्दका प्रकाश किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ?

उ०– यदि तुम धैर्यपूर्वक अभीप्सा करो तो यह सदा ही आ सकता है। परन्तु यदि तुम मनमें उस प्रकाशको प्राप्त करना चाहते हो तो उसकी मूल शर्त यह है कि तुम अन्य सभी मानसिक प्रभावोंसे मुक्त हो जाओ।

* * *

प्र०– "अन्य सभी मानसिक प्रभावोंसे मुक्त होने" का क्या अभिप्राय है ? क्या इसका यह मतलब है कि मुझे श्रीअरविन्दको छोड़कर और किसीके ग्रन्थ नहीं पढ़ने चाहियें और न अन्योंके वचन सुनकर या सराहकर उनसे कुछ सीखनेका ही यत्न करना चाहिये ?

उ०– यह पुस्तकें पढ़ने अथवा जानकारी प्राप्त करनेका प्रश्न नहीं है। जब कोई स्त्री किसीको प्यार करती या सराहती है तो उसका मन सहज ही उसीके सांचेमें, जिसे वह प्यार करती या सराहती है, ढल जाता है; और यह प्रभाव तब भी बना रहता है जब स्वयं वह मनका भाव चला जाता या चला गया प्रतीत होता है। यह बात केवल 'क्ष' के प्रभावसे ही सम्बन्ध नहीं रखती, यह एक सामान्य नियम है जो तुम्हें इसलिये बताया गया है कि तुम अपनेको किसी अन्य की सराहना या उसके प्रभावसे मुक्त रख सको।

३०-५-१९३२

* * *

प्र०– जैसे ही कोई आश्रमके 'रिसेप्शन रूम' (मुलाकात करनेके कमरे) में आपके फोटोके समीप पहुँचता है, उसे अनुभव होता है कि वह आपकी अंश-विभूति है। उसमें एक विशेष प्रकाश प्रतीत होता है।

उ०– फोटोके द्वारा मेरे समीप पहुँचकर साधक स्वय ऐसा प्रकाश ला सकते हैं।

२४-८-१९३४

श्रीअरविन्द-संबंधी कुछ अन्तर्दर्शन

प्र०– ध्यानके वाद मैंने 'रिसेप्शन रूम' में आपके फोटोके दर्शन किये और साफ-साफ देखा कि चित्र अपने कंधे हिला रहा है और मानो सांस ले रहा है।

उ०–प्राणिक स्तरमें एक क्रिया हुई और तुम उसके अन्तर्दर्शनकी ओर खुल गये।

२२-३-१९३३

* * *

प्र०– जब मैं प्रार्थना कर रहा था, तब मैंने सूक्ष्म रूपमें देखा कि कि श्रीअरविन्द जीनेसे उतर रहे हैं और अन्तमें वह फर्शके विलकुल पास पहुँच गये हैं। इसका क्या अर्थ है?

उ०– सम्भवतः इसका अर्थ यह है कि भागवत चेतनाको एक-एक स्तर करके नीचे उतारा गया है और अव वह भौतिक स्तरके निकट पहुँच गई है।

२३-९-१९३३

* * *

प्र०– आज ध्यान करते समय मैंने सूक्ष्म रूपमें देखा कि श्रीअरविन्दके प्रकाशमें नटराज शिव अपने अनेक भुजाओंके साथ प्रकट हो रहे हैं। यह किस बातका सूचक है?

उ०– यह अभिव्यक्तिका सूचक है।

* * *

प्र०— फिर मैंने देखा कि आकाशमें श्रीअरविन्दका प्रकाश और लाल प्रकाश एक वृत्तके रूपमें प्रकट हो रहे हैं। क्या यह भौतिक स्तर-पर श्रीअरविन्दके दैवी प्रकाशकी अभिव्यक्तिको सूचित करता है?

उ०— हां।

* * *

प्र०— फिर मैंने देखा कि श्रीअरविन्दका प्रकाश एक अन्य हल्के नीले रंगके प्रकाशके साथ समुद्रपर अभिव्यक्त हो रहा है। क्या इसका यह अर्थ है कि चेतनाके विशाल सागरमें श्रीअरविन्दका दैवी प्रकाश संबुद्ध मनकी चेतनाके द्वारा व्यक्त हो रहा है?

उ०— हां।

१५-१०-१९३३

* * *

प्र०— कल रात मुझे श्रीअरविन्दके अन्तर्दर्शन हुए। वे एक कुर्सी-पर बैठे कुछ लिख रहे थे। उनके सिरके पीछे मंडलाकार हरा प्रकाश था। इसका क्या अर्थ है।

उ०— हरा प्रकाश क्रियाशील प्राणिक शक्ति (कर्मशक्ति) का प्रकाश है। जब मैं लिख रहा था — कार्यरत था — तो यह स्वाभाविक ही है कि वह प्रकाश मेरे सिरके पीछे विद्यमान हो।

५-११-१९३३

* * *

प्र०— कल रात मुझे स्वप्न आया कि एक बार आप अपने एकांत-वाससे बाहर आये हैं, आप लंबे और बिलकुल युवा थे, पर थे बहुत श्याम। मुझे अचम्भा हुआ कि क्या ये विगत वर्षोंके श्रीअर-विन्द हैं!

उ०— नहीं ! यह संभव नहीं। बहुत संभवतः यह कोई सूक्ष्म भौतिक रूप है — वह रूप जो मेरे अन्दरके शिव-तत्त्वसे संबंध रखता है। कभी-कभी स्वयं मैंने अपनेको इस रूपमें देखा है और तब वह सदा ही शिवकी आकृति होती थी।

११-१२-१९३४

अन्तर्दर्शनों और वाणियोंका समुचित उपयोग

प्र०— अन्तर्दर्शन और वाणियां अपने गुरुको देखने या उसकी वाणी सुननेमें, आपसे या माताजीसे साधनाके लिये सतत निर्देश प्राप्त करनेमें हमारी सहायता कर सकती हैं। हां तो, आप मुझे उनकी ओर खोल क्यों नहीं देते ? तब मुझे आपको प्रश्नोंकी बौछारसे तंग करनेकी बहुत ही कम आवश्यकता पड़ेगी। अपनी इस सामर्थ्य-से आप सदा मेरे सम्मुख प्रकट होकर मुझसे बात कर पायंगे !

उ०— पहले मुझे यह निश्चित रूपसे जान लेना होगा कि तुम उनका ठीक उपयोग करोगे। मैं चाहूँगा कि तुम पहले उच्चतर विवेक और ज्ञान प्राप्त कर लो।

९-७-१९३६

* * *

'क्ष' ने अपने शिष्योंको इस विषयमें इस कारण अनुत्साहित किया कि उसका उद्देश्य था आंतर आत्मा और संबोधिकी उपलब्धि — दूसरे शब्दोंमें, आध्यात्मिक मनकी पूर्णता — अन्तर्दर्शन और वाणियां आन्तर गुह्य इन्द्रियसे संबंध रखती हैं, इसीलिये 'क्ष' नहीं चाहता था कि वे इसपर बल दें। मैं भी कुछ लोगोंको अन्तर्दर्शनों और वाणियोंसे किसी भी प्रकारका वास्ता रखनेसे निरुत्साहित करता हूँ क्योंकि मैं देखता हूँ कि वे मिथ्या अन्तर्दर्शनों और मिथ्या वाणियोंसे पथभ्रष्ट हो रहे हैं या होनेके खतरेमें हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि अन्तर्दर्शनों और वाणियोंका कुछ भी मूल्य नहीं।

९-७-१९३६

१५ अगस्तका दर्शन

प्र०— 'क्ष' ने मुझसे कहा कि १५ अगस्तके दर्शनमें केवल दस दिन रह गये हैं। मैंने उत्तर दिया कि प्रत्येक दिनको १५ अगस्त समझना चाहिये।

उ०— यही ठीक भाव है। प्रत्येक दिनको ऐसा दिन समझना चाहिये जब कि अवतरण साधित हो सकता है या उच्चतर चेतनाके साथ संपर्क स्थापित हो सकता है। तव स्वयं १५ अगस्त भी अधिक सफल होगी।

४-८-१९३४

* * *

प्र०— इस दर्शनपर मैंने आनन्द, शक्ति या प्रकाशके स्थानपर बहुत अधिक शुष्कताका अनुभव किया।

उ०— यह तुम्हारी अवस्थापर निर्भर करता है कि आनन्द या शक्ति या ज्योति अवतरित होती है या प्रतिरोध उठ खड़ा होता है। तुम्हारे अन्दर अज्ञानमय और अन्धकारपूर्ण साधारण भौतिक चेतनाका प्रतिरोध उठ खड़ा दीखता है। १५ अगस्तका काल जहां महान् अवतरणोंका काल है वहां महान् प्रतिरोधोंका भी है। इस वारकी १५वीं अगस्त इसका अपवाद नहीं थी।

दर्शनके बाद अनुभूतिका विलोप

प्र०— जब मैं आपके दर्शनके लिये आया, मुझे ऐसा लगा मानों मैं स्वयं शिवके ही दर्शन कर रहा हूँ। मुझे आनन्दकी भी अनुभूति हुई । इन चीजोंकी चेतना दो-तीन दिन बनी रही, और फिर मानों काफूर हो गई।

उ०— जिसे तुम दर्शन-दिवसपर प्राप्त चेतनाका विलोप कहते हो उससे अनुत्साहित होनेका कोई कारण नहीं। वह विलुप्त नहीं हुई वरन् बाहरी सतहसे पीछे हट गई है। जब उच्चतर चेतना या कोई अनुभूति विद्यमान न हो तो ऐसा प्रायः ही हुआ करता है। तुम्हें सीखना है उदासीको न आने देना, वरंच परिपाचनके

लिये समय देते हुए शांत बने रहना और नये अनुभव या विकासके लिये तैयार रहना, वह चाहे कभी भी आये।

श्रीअरविन्दकी शक्तिकी क्रिया

निःसंदेह, मेरी शक्ति आश्रम तथा इसकी अवस्थाओंतक ही सीमित नहीं है। तुम जानते ही हो कि युद्ध के तथा मानव जगत्में होनेवाले परिवर्तनके समुचित विकासमें सहायता पहुँचानेके लिये भी इसका अत्यधिक प्रयोग किया जा रहा है। यह आश्रम तथा योगाभ्यासके क्षेत्रके बाहर भी वैयक्तिक प्रयोजनोंके लिये प्रयोग में लाई जाती है। परन्तु, निश्चय ही, यह सब मौन रूपसे तथा मुख्यतया आध्यात्मिक क्रियाके द्वारा ही किया जाता है। फिर भी, कर्मका केंद्र आश्रम ही रहता है और योग-साधनाके विना इस कर्मका अस्तित्व ही न होता और न इसका कोई अर्थ या फल ही सम्भव होता।

१३-३-१९४४

रुद्र-शक्तिका प्रयोग

रुद्र-शक्तिका प्रयोग करना मैंने छोड़ दिया; इसके परिणाम संहारकारी होते थे, और अब चिरकालसे प्रयोग न करनेके कारण इसे प्रयुक्त करनेकी रुचि भी मन्द पड़ गई है। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं सत्याग्रह या अहिंसाका अनुयायी बन गया हूँ; पर हिंसाकी भी अपनी असुविधाएं हैं। अतएव अग्नियां सोई पड़ी हैं।

आध्यात्मिक शक्ति और राजसिक वेग

जोश और उत्साह अच्छी वस्तुएं हैं तथा अत्यन्त आवश्यक भी, किन्तु आध्यात्मिक स्थिति तीव्रता और शांति दोनोंको मिलाती है। चैत्य अग्नि एक भिन्न वस्तु है — यहां तुम जिसकी बात कर रहे हो वह आयास, उग्र आत्मरक्षा, न्याय्य अधिकारोंका प्रयोग आदि करनेकी राजसिक प्राणगत अग्नि है।

मैं अपने अनुभवके आधारपर कह रहा हूँ। मेरे अन्दर ठोस शक्ति अवश्य है, किन्तु मेरे अन्दर उस आगकी मात्रा अधिक नहीं है जो न्यायोचित अधिकारोंको न देनेवाले व्यक्तिके प्रति भड़क उठती है। फिर भी मैं अपनेको दुर्बल या निर्जीव नहीं अनुभव करता। मैंने सदा ही अपना यह नियम रखा है कि किसी भी

रूपमें क्षुब्ध नहीं हूँगा, क्षुब्धताका वर्जन करूँगा — फिर भी आवश्यकता पड़ने पर मैं अपने ठोस बलका प्रयोग करनेमें सफल हुआ हूँ। तुम इस तरह बातें करते हो मानों राजसिक बल और उत्साह ही एकमात्र शक्ति हों तथा शेष सब निर्जीवता एवं दुर्बलता ही हो। परन्तु असलमें बात ऐसी नहीं है — शांत आध्यात्मिक शक्ति सैंकड़ोंगुना अधिक बलवान् होती है; यह भड़कने और फिर ठंढी पड़ जानेवाली शक्ति नहीं है — बल्कि स्थिर, अचल तथा निरन्तर क्रियाशील शक्ति है।

२१-१०-१९३३

योगशक्तिका ठोस रूप

अदृश्य शक्तिका अन्दर और बाहर दोनों जगह गोचर परिणाम उत्पन्न करना —यही है यौगिक चेतनाका संपूर्ण आशय। तुम्हारा प्रश्न कि योगसे केवल शक्तिका वेदन भर प्राप्त होता है जिसका परिणाम कुछ भी नहीं होता, सचमुच ही अत्यन्त विचित्र है। ऐसे निरर्थक मतिभ्रमसे भला कौन संतुष्ट होगा और कौन इसे शक्तिका नाम देगा? यदि हमें ऐसे हजारों अनुभव न हुए होते जो यह सिद्ध करते हैं कि अन्तःस्थ शक्ति मनको बदल सकती है, उसकी शक्तियोंको विकसित कर सकती, नई शक्तियां बढ़ा सकती, ज्ञानकी नई भूमिकाओंको ला सकती है, प्राणिक क्रियाओंपर प्रभुत्व स्थापित कर सकती, चरित्रको बदल सकती, मनुष्यों और पदार्थोंको प्रभावित कर सकती, शरीरकी अवस्थाओं और उसके व्यापारोंको नियंत्रित कर सकती, अन्य शक्तियोंपर ठोस क्रियाशील शक्तिकी तरह कार्य कर सकती, घटनाओंमें हेर-फेर कर सकती है आदि, आदि तो हम उसकी ऐसी चर्चा न करते जैसी हम अब करते हैं। इसके अतिरिक्त, यह शक्ति अपने परिणामोंमें ही नहीं, अपनी गतियोंमें भी मूर्त्त और ठोस है। जब मैं कहता हूँ कि मुझे शक्तिका बल-वीर्य अनुभूत होता है तो मेरा मतलब यह नहीं होता कि मुझे उसका धुँधला भानमात्र होता है, वरन् यह कि मैं उसे ठोस रूपमें अनुभव करता हूँ और परिणामतः उसका संचालन कर सकता हूँ, उससे काम ले सकता हूँ, उसकी गतिका निरीक्षण कर सकता हूँ, उसकी मात्रा और तीव्रताको तथा उसी प्रकार अन्य, संभवतः विरोधी शक्तियोंकी मात्रा और तीव्रताको भी सचेतन रूपसे जान सकता हूँ; ये सभी चीजें योगके विकास द्वारा सम्भव हैं और प्रायः ही देखनेमें आती हैं।

शक्ति जबतक अतिमानसिक ही न हो, तबतक वह कोई ऐसी शक्ति नहीं होती जो बिना शर्तों और सीमाओंके कार्य करती हो। जिन शर्तों और सीमाओंके

अधीन योग या साधनाको संपन्न करना होता है वे मनमानी या सनक भरी नहीं होती; उनका उद्भव वस्तुओंके स्वभावसे ही होता है। साधकका संकल्प, ग्रहणशीलता, सहमति, आत्मोन्मीलन और समर्पण भी उन्हींके अन्तर्गत हैं। योगशक्तिको उन सबका सम्मान करना ही होता है जबतक उसे परम पुरुष-से इस बातकी अनुमति न प्राप्त हो जाय कि वह हर चीजको लांघकर कुछ सम्पन्न कर ही दे, पर ऐसी अनुमति कम ही दी जाती है। यदि अतिमानसिक शक्ति केवल अधिमानसके द्वारा अपने प्रभाव ही न भेजे बल्कि स्वयं पूरी तरहसे उतर आये तभी सब वस्तुओंको उसी लक्ष्यकी ओर नितान्त आमूल रूपमें प्रेरित किया जा सकता है—क्योंकि तब अनुमति दुर्लभ नहीं होगी। कारण, तब सत्यका विधान क्रियारत होगा, अज्ञानका नियम निरन्तर उसके पलड़ेको अपने बराबर नहीं करता रहेगा।

फिर भी, योग-शक्ति सदैव उस प्रकारसे मूर्त्त एवं ठोस होती है जिसका मैं वर्णन कर चुका हूँ, और उसके परिणाम भी मूर्त्त होते हैं। पर वह होती है अदृश्य —ऐसी नहीं कि किसीने चोट मार दी हो या मोटर कारके सवेग धक्केने किसीको ठोकर मारकर गिरा दिया हो जिसे स्थूल इन्द्रियां तुरन्त देख सकें। निरा भौतिक मन कैसे जाने कि वह शक्ति वहां है और काम कर रही है? उसके परिणामोंसे? पर वह कैसे जान सकता है कि परिणाम यौगिक शक्तिके ही थे, किसी और वस्तुके नहीं? इन दो चीजोंमें से कोई उसे करनी होगी। या तो उसे चेतनाको ऐसा करने देना होगा कि वह भीतर जाय, भीतर-की वस्तुओंसे सचेतन हो, अदृश्य और अतिभौतिक के अनुभवमें विश्वास करे, और ऐसा करनेपर वह अनुभवके द्वारा, नई क्षमताओंके उद्‌घाटनके द्वारा इन शक्तियोंसे सचेतन हो जाता है और इनकी क्रियाओंको देख-समझ सकता है तथा ठीक उसी प्रकार प्रयुक्त कर सकता है जिस प्रकार वैज्ञानिक प्रकृतिकी अदृश्य शक्तियोंका प्रयोग करता है। अथवा व्यक्तिको श्रद्धा रखते हुए निरीक्षण करना तथा अपनेको खोलना होगा और तब उसका मन देखने लगेगा कि ये वस्तुएं कैसे घटित होती हैं, वह अवलोकेगा कि जब शक्तिको अन्दर आनेके लिये पुकारा गया तो कुछ समयके बाद परिणाम उत्पन्न होने लगा, फिर परिणाम वारंबार हुए और अधिक बार-बार हुए, अधिक स्पष्ट और गोचर परिणाम हुए, परिणामोंकी बहुलता और उनमें संगति बढ़ती चली गई, अनुभव और सचेतन भान हुआ कि शक्ति कार्य कर रही है—ऐसा तबतक चलता रहता है जबतक अनुभव दैनिक, नियमित, सामान्य और पूर्ण नहीं बन जाता। यही दो मुख्य विधियां हैं, एक आन्तरिक, अन्दरसे बाहरकी ओर काम करनेवाली, दूसरी बाह्य, बाहरसे काम करनेवाली,' जो अंतःशक्तिको बाहर प्रकट होनेके लिये

तबतक पुकारती रहती है जबतक वह बाह्य चेतनामें पैठ नहीं जाती और वहां दिखाई नहीं देने लगती। पर इनमेंसे किसीका भी अनुसरण नहीं किया जा सकता यदि मनुष्य सदा बहिर्मुख वृत्ति पर ही, बाहरी मूर्त्त वस्तुपर ही आग्रह करता रहे और आन्तरिक मूर्त्त वस्तुको उसके साथ जोड़नेसे इन्कार करता रहे —— अथवा यदि स्थूल मन पग-पगपर संदेहोंका ऐसा हुड़दंग मचाता रहे जो नवजात अनुभवको पनपने ही न दे। यदि किसी नये परीक्षणमें लगा वैज्ञानिक अपने मनको इस ढंगका वर्ताव करनेकी छूट दे दे तो वह भी कभी सफल नहीं होगा।

* * *

हां, जिस समय मैंने ग्रामोफोन रिकार्डोंकी सफलताके लिये प्रयुक्त अपनी शक्तिके संबंधमें वह अभागा वाक्य* लिखा था उस समय मैंने मानों "अपनी लेखनी द्वारा मन-ही-मन बातें करने" की भूल की थी। मेरा तो संपूर्ण कार्य ही है शक्तिका प्रयोग करना। (निःसंदेह पत्रोंका उत्तर लिखनेका कार्य, जो कि ठोस है, इस बातका अपवाद है, किन्तु यह भी मुझे शक्तिके द्वारा तथा उसकी सहायतासे ही करना पड़ता है, अन्यथा तुम निश्चित जानो कि मैं न तो इसे करता और न इसे कर ही सकता।) इसीलिये कभी-कभी मैं काफी असावधान हो जाता हूँ और ऐसी भूल कर बैठता हूँ। ऐसा करना मूर्खतापूर्ण ही है, क्योंकि आध्यात्मिक या और कोई शक्ति स्पष्ट ही अगोचर होती है और उसकी क्रिया भी अगोचर ही होती है, तब भला कोई कैसे उसमें विश्वास कर सकता है? केवल परिणाम ही दृष्टिगोचर होते हैं और तब भला कोई कैसे यह जान सकता है कि वे शक्तिके ही परिणाम हैं? वह तो कोई ठोस चीज नहीं है।

किन्तु ठोस वस्तुओंके तुमने जो उदाहरण दिये हैं उनसे स्वयं मैं भी कुछ चकरा-सा गया हूँ। किसी आयोजककी योजानएं भला कैसे ठोस होती हैं? कोई घटना घटित होती है और तुम मुझे बताते हो कि यह एक आयोजककी

*'क्ष' व्यक्तिने श्रीअरविन्दको लिखा था कि मेरे ग्रामोफोन रिकार्ड अत्यधिक सफल सिद्ध हो रहे हैं और उनकी बिक्री धड़ाधड़ हो रही है। इसपर श्रीअरविन्दने उत्तर दिया था, "मुझे इस समाचारसे प्रसन्नता हुई है क्योंकि उनकी सफलताके लिये मैंने बहुत शक्ति लगाई थी।" 'क्ष'ने पुनः पत्र लिखकर पूछा कि क्या शक्ति ऐसा परिणाम उत्पन्न कर सकती है, जिसका उत्तर इस पत्रमें दिया गया है।

योजनाका परिणाम है। परन्तु आयोजककी योजना उसकी चेतनाकी उपज थी और वह बिलकुल ही ठोस नहीं थी। वह तो उसके मनमें छिपी थी और किसी अन्य व्यक्तिका मन मेरे लिये तबतक मूर्त्त नहीं होता जबतक कि मैं योगी या अन्तर्यामी ही न होऊं। उसने जो कुछ बातें कही या की हों उनसे मैं अनुमान भर कर सकता हूँ कि उसकी एक योजना थी। परन्तु वे तो ऐसी बातें हैं जिन्हें स्वयं मैंने नहीं देखा या सुना और इसलिये वे मेरे लिये ठोस भी नहीं हैं। तब भला उस योजककी योजनाको मैं कैसे स्वीकार कर सकता हूँ अथवा क्योंकर उसपर विश्वास कर सकता हूँ? और चाहे मैंने देखा या सुना भी हो तो मैं यह माननेके लिये बाध्य नहीं हूँ कि इसके मूलमें एक योजना है अथवा जो कुछ हुआ वह एक योजनाका ही परिणाम है। हो सकता है कि उसने आवेगोंकी एक शृंखलाके वशमें होकर कार्य किया हो और जो कुछ हुआ वह एक सर्वथा भिन्न या निरी आकस्मिक वस्तुका परिणाम हो। और फिर गायक-मंडलीका नियंत्रण तुमने कैसे किया? शब्दों और संकेतों आदिके द्वारा जो कि निःसंदेह ठोस हैं। परन्तु उन शब्दों एवं संकेतोंका प्रयोग तुमसे किसने कराया और वह नियंत्रणरूपी परिणाम उनसे क्यों उत्पन्न हुआ? फिर दूसरे साथियोंने तुम्हारे कथनानुसार ही कार्य क्यों किया? यह उनसे किसने कराया? मेरी समझमें वह तुम्हारी तथा उनकी चेतनाकी ही कोई वस्तु थी; पर वह तो मूर्त्त नहीं है। फिर, वैज्ञानिक विद्युत्‌की बात करते हैं जो, प्रतीत होता है कि, एक कार्यरत बल वा शक्ति है; साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि प्रत्येक कार्य इसी शक्तिके द्वारा संपन्न हुआ है, मेरी अपनी स्थूल सत्ता भी इसीके द्वारा गठित हुई है और यही मेरी समस्त मानसिक एवं प्राणिक शक्तियोंका भी आधार है। पर यह शक्ति मेरे लिये ठोस नहीं है। मैंने कभी अनुभव नहीं किया कि मेरा शरीर बिजली द्वारा बना है, मैं कभी यह अनुभव नहीं कर सकता हूँ कि मेरे विचार और प्राणकी गतियोंको वह तैयार कर रही है——तो फिर भला कैसे मैं इसमें विश्वास कर सकता अथवा इसे स्वीकार कर सकता हूँ? जिस शक्ति-का मैं प्रयोग करता हूँ वह कोई मधुर आशीर्वाद नहीं है——निश्चय ही, आशीर्वाद (मौन आशीर्वाद) भी किसी पत्थर या कठोर या अन्य इन्द्रियगोचर वस्तुओंकी भांति ठोस नहीं होता; न वह शक्ति खाली एक इच्छा ही है जो मेरे भीतर कहती है "तथास्तु"——और यह भी तो ठोस वस्तु नहीं है। यह तो चेतनाकी शक्ति है जो व्यक्तियों, पदार्थों और घटनाओंको लक्ष्य करके या उनपर प्रयुक्त की जाती है——परन्तु यह स्पष्ट ही है कि चेतना की शक्ति स्थूल इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है और इसलिये यह ठोस भी नहीं है। मैं इसे अनुभव कर सकता हूँ तथा जिस आदमीपर मैं क्रिया करता हूँ वह भी इसे अनुभव कर सकता

हैं अथवा नहीं भी कर सकता, पर अनुभूति आंतरिक ही है, बाह्य नहीं एवं दूसरोंके द्वारा नहीं जानी जा सकती, इसलिये वह ठोस नहीं कही जा सकती और कोई भी उसे स्वीकार करने या उसपर विश्वास करनेके लिये बाध्य नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि मैं किसीको एक ही रातमें (विना ओषधियोंके) ज्वरसे मुक्त कर दूँ और उसे ताजा और सबल बनाकर उसके कामपर भेज दूँ, तो भी कोई तीसरा व्यक्ति इस बातपर क्यों विश्वास करे अथवा इसे क्यों स्वीकार करे कि यह सब मेरी शक्तिने ही किया? हो सकता है कि प्रकृतिने या उसकी अपनी कल्पनाने ही उसे अच्छा किया हो (जय हो उन ठोस वस्तुओंकी, उस कल्पना और उस प्रकृतिकी!) —अथवा शायद सारी चीज अपने-आप ही हो गई हो। इस प्रकार तुम देखते हो कि यह विषय एकदम निराशाजनक है, इसे बिलकुल सिद्ध नहीं किया जा सकता — बिलकुल ही नहीं।

६-१२-१९३५

श्रीअरविन्दकी शक्ति, दिव्य शक्ति और यौगिक शक्ति

भूल इस विचारमें है कि यह [श्रीअरविन्दकी शक्ति] या तो चमत्कारपूर्ण होनी चाहिये, या फिर वह कोई शक्ति है ही नहीं। चमत्कारक शक्ति कोई है ही नहीं, और मैं चमत्कारोंका धन्धा नहीं करता। इस प्रसङ्गमें 'भगवान्' शब्द उपयुक्त नहीं यदि इसे सदा सर्वशक्तिमान्की न्याईं काम करनेवाली शक्तिके अर्थमें लिया जाय। सो 'यौगिक शक्ति' शब्द यहां अधिक अच्छा है; इसका अर्थ है केवल एक ऐसी उच्चतर चेतना जो अपनी शक्तिका प्रयोग करती है, ऐसी आध्यात्मिक एवं अतिभौतिक शक्ति जो भौतिक जगत्पर सीधे कार्य करती है। इस शक्तिकी प्रणालिका बननेके लिये मनुष्यको अपने आधारको सधाना होता है; यह कार्य भी एक विशेष नियमके अनुसार एवं विशेष अवस्थाओंमें ही करती है। भगवान् मनमाने ढंगसे या जादूगरकी भांति काम नहीं करते; वे जगत्पर उन प्रणालियोंके अनुसार कार्य करते हैं जो इस जगत्के, जिसमें हम रहते हैं, स्वरूप, स्वभाव और प्रयोजनके द्वारा नियत की गई हैं — जो चीज यहां प्रकट होनी है उसकी बढ़ती हुई क्रियाके द्वारा निश्चित की गई है, न कि आकस्मिक संयोगके द्वारा या करणीय कार्यकी सभी अवस्थाओंकी अवहेलनाके द्वारा। यदि ऐसा न होता तो योग या काल या मानवीय क्रिया-चेष्टा या करणोपकरणोंकी या गुरु एवं शिष्योंकी अथवा अवतरण या और किसी चीजकी जरूरत ही न होती। तब तो यह सब बस 'तथास्तु' का विषय हो सकता था, इससे अधिक कुछ नहीं। पर यह तो तर्कविरुद्ध होगा, तुम्हें

भाये तो, तर्कविरुद्धसे भी बुरा — "बचकाना"। इसका यह अर्थ नहीं कि अन्तःक्षेप, दीखनेमें चमत्कारपूर्ण घटनाएं घटित नहीं होतीं — वे अवश्य घटित होती हैं। पर सब कुछ वैसा ही नहीं हो सकता।

६-२-१९३५

* * *

श्रीअरविन्दकी शक्ति क्या है? वह इस देह या मनकी व्यक्तिगत संपत्ति नहीं। वह एक उच्चतर शक्ति है जिसका मैं प्रयोग करता हूँ या जो मेरे द्वारा कार्य करती है। निःसंदेह वह भागवत शक्ति है, क्योंकि जगत्‌में कार्य कर रही शक्ति केवल एक ही है, पर वह काम करती है यन्त्रके स्वरूप एक स्वभावके अनुसार। यौगिक शक्ति अन्य शक्तियोंसे भिन्न है क्योंकि वह आध्यात्मिक चेतनाकी विशिष्ट शक्ति है।

जिस दृष्टांतकी वह चर्चा कर रहा है उसमें स्पष्टतः ही शक्तिका अन्तःक्षेप हुआ — पर माध्यम या प्रक्रियाका निर्णय केवल तभी हो सकता है यदि हमें सभी परिस्थितियोंका पता हो। ऐसे अन्तःक्षेप बहुधा ही हुआ करते हैं; उदाहरणार्थ, मेरे मौसाकी लड़की अन्तिम सांस ले रही थी, डाक्टर उससे यह कहकर चले जा चुके थे कि अब और कुछ नहीं किया जा सकता। वे बस प्रार्थना करने बैठ गये — जैसे ही उन्होंने प्रार्थना समाप्त की, मृत्युके लक्षण हट गये थे और लड़की बिना और उपचार किये ठीक हो गई (वह आन्त्रज्वर, टाइफायड, से पीड़ित थी)। इस प्रकारके कितने ही दृष्टांत मेरे अपने देखनेमें आये हैं।

शक्तिके विषयमें मैंने पार्श्व-टिप्पणी भर लिखी है — अधिक पूर्ण ढंगसे लिखनेके लिये जितना समय चाहिये उतना आज रात मेरे पास नहीं है। निःसंदेह, यदि वह रोगके कुछ उदाहरणोंपर ही निर्भर करती हो तो वह कोई सुनिश्चित या महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं होगी। यदि 'शक्ति' एक निरी सनक या कोरा चमत्कार हो तो भी वह इतनी ही तुच्छ एवं नगण्य होगी, भले वह सुप्रमाणित ही क्यों न हो। उसका महत्त्व तभी है यदि वह चेतना और जीवनका एक ऐसा अंग हो जिसका प्रयोग सब समय हो सके, केवल रोगके लिये ही नहीं वरन् व्यक्तिको जो कुछ भी करना हो उस सबके लिये। वह नाना प्रकारसे प्रकट होती है — चेतनाकी एक ऐसी सामर्थ्यके रूपमें जो जीवन और कार्यको समभावसे सहारा देती है, एक ऐसे बलके रूपमें जो बाह्य जीवनके इस या उस लक्ष्यके लिये व्यक्त एवं प्रयुक्त किया जाता है, ऊपरसे उतरनेवाली एक विशिष्ट शक्तिके

रूपमें जो इसलिये उतारी जाती है कि चेतनाको ऊंचा उठाये, उसके क्षेत्र और उसकी उच्चताको बढ़ाये तथा चमत्कारपूर्ण क्रियाके द्वारा ही नहीं वरन् कुछ एक सुनिश्चित प्रणालियोंका अनुसरण करनेवाली, गंभीर, स्थिर और व्यवस्थित क्रियाके द्वारा भी रूपांतर साधित करे। उसकी प्रभावकारिता एवं क्रिया पहले तो उसकी अपनी उच्चता एवं तीव्रताके द्वारा या उस स्तरकी उच्चता एवं तीव्रताके द्वारा निर्धारित होती जिससे वह आती है (वह उच्चतर मनसे लेकर ऊपर अधिमानस तककी स्तरशृंखलामेंसे किसी भी स्तरसे आ सकती है), कुछ अंशमें वह उन पदार्थोंकी या उस क्षेत्रकी अवस्थाके द्वारा निर्धारित होती है जिसमें वह कार्य करती है, और कुछ उस क्रियाके द्वारा भी जो उसे संपन्न करनी होती है, वह चाहे सामान्य हो या विशेष। वह न तो जादूगरकी छड़ी है न बच्चेका खिलौना, बल्कि एक ऐसी चीज है जिसे हमें पहले देखना, समझना, विकसित और अधिकृत करना होता है और उसके बाद ही हम उसका ठीक प्रयोग कर सकते हैं अथवा, और नहीं तो, उसके यन्त्र बन सकते हैं, क्योंकि उसका पूर्ण रूपसे प्रयोग कर सकना तो विरलोंके लिये ही संभव है, सीमित ढंगसे प्रयोगकी बात दूसरी है। यह इस विषयकी भूमिकामात्र है।

६-२-१९३५

***

'भूमिका' शब्दका प्रयोग मैंने अपने लिखे उत्तरका स्वरूप स्पष्ट रूपसे बतानेके लिये किया था, इस अर्थमें नहीं कि मैं इस विषयपर फिर भविष्यमें अवश्य लिखूँगा।

दो वस्तुएं हैं — योग-शक्ति अपने मूल संपूर्ण स्वरूपमें जो भागवत अध्यात्म-शक्तिका ही रूप होता है, जिसमें वह गुप्त रूपसे सदैव सर्वशक्तिमती होती है, और दूसरी वह योगशक्ति जो यहां विकसिनशील जगत्की अवस्थाओंमें अपना काम करती है।

यह 'संभव' या 'असंभव' का प्रश्न जरा भी नहीं है। सब कुछ संभव है, किन्तु सब वैध नहीं — किसी स्वीकार्य विधिके द्वारा कोई चीज हो सकती हो तो बात दूसरी है; स्वयं भागवत शक्ति अपने कार्यपर सीमाओं, प्रक्रियाओं, बाधाओं और उतार-चढ़ावोंके विधि-विधानको लागू करती है। यह संभव है कि गधेको हाथीमें बदला जा सके, पर ऐसा किया नहीं जाता, कम-से-कम स्थूल रूपमें, क्योंकि ऐसी कोई विधि नहीं है। मानसिक तौरपर ऐसे परिवर्तन अवश्य घटित होते हैं। मैंने स्वयं अपने समयमें कायरोंको वीर बनाया है और

यह योगशक्तिके विना भी, केवल आन्तरिक शक्तिसे किया जा सकता है। यह तुम कैसे कह सकते हो कि मनुष्यमें क्या प्रसुप्त रूपसे विद्यमान है या क्या असंभाव्य रूपसे अविद्यमान ? मैंने ऐसी बहुत-सी चीजें योगद्वारा विकसित की हैं जो मेरी मूल प्रकृतिमें नहीं थीं, बहुधा तो उनके विकासके लिये मुझे किसी प्रकारका संकल्प या यत्न तक नहीं करना पड़ा। मैं यहांतक कह सकता हूँ कि मैंने अपनी सारी प्रकृतिका कायापलट कर डाला है और अनेक बातोंमें यह उससे ठीक उलटी है जैसी यह साधनाके शुरूमें थी। प्रकृतिको परिवर्तित करने, जो क्षमताएं पहले नहीं थीं उन्हें विकसित किंवा जागरित करनेकी शक्तिके बारेमें शङ्का हो ही नहीं सकती; यह शक्ति है तो पहलेसे ही पर इसे आध्यात्मिक स्तरतक उठाकर चरम शिखरपर पहुँचाया जा सकता है......

शेष तो अनिर्देश्य भविष्यकी वस्तु है। एक दिन मैं निश्चय ही इसकी विधिवत् और उदाहरण-सहित व्याख्या करनेका यत्न करूँगा कि आध्यात्मिक शक्ति क्या है, उसने पृथ्वी-स्तरपर कैसे कार्य किया है, वह कैसे और किन शर्तोंपर कार्य करती है — जो शर्तें कठोरतया निश्चित नहीं वरन् नमनीय और परिवर्त्तनशील होती हैं।

६-२-१९३५

श्रीअरविन्दकी शक्तिकी क्रियाके संबंधमें प्रारंभिक विचार

शक्तिके संवन्धमें मैं कुछ प्रारंभिक विचार प्रस्तुत कर दूँ जिनकी तुम उपेक्षा करते हो।

१. शक्ति दिव्य शक्ति है, अत एव स्पष्टतः ही वह किसी भी दिशामें अपना प्रयोग कर सकती है; वह कविको अन्तःप्रेरणा दे सकती है, सैनिक, चिकित्सक एवं वैज्ञानिकको, प्रत्येक व्यक्तिको परिचालित कर सकती है।

२. शक्ति मानसिक शक्ति नहीं — वह बाध्य नहीं कि अपने संचारकसे इस प्रकार बाहर जाय कि उसका प्रत्येक व्योरा मानसिक ढंगसे व्यवस्थित हो, ठीक अपने स्थानपर स्थित हो और उसे वह ग्रहणकर्त्तामें मानसिक ढंगसे ही संचारित कर दे। वह एक ऐसी साङ्गोपाङ्ग सामष्टिक शक्तिकी तरह बाहर जा सकती है जो करने योग्य वस्तुको अपने अन्दर समाये हो, पर व्योरोंको ग्रहणकर्त्तामें तथा क्रियामें वैसे-वैसे प्रकट करे जैसे-जैसे उसकी क्रिया आगे बढ़े। संचारकके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह मानसिक रूपमें शक्तिके साथ बाहर जाय, अपनेको ग्रहणकर्त्ताके मनमें मानसिक रूपसे स्थापित कर दे और वहां मानसिक ढंगसे व्योरोंको निष्पन्न करे। वह शक्तिको भेज सकता या प्रयुक्त

कर सकता है और उसे अपना काम करनेके लिये छोड़कर स्वयं अन्य विषयोंमें ध्यान दे सकता है। संसारमें बहुत-सी चीजें ऐसी साङ्गोपाङ्ग वैश्व शक्तिके द्वारा ही साधित की जाती हैं जो परिणामोंको अपने अन्दर धारण किये होती हैं, पर अन्तर्वेष्टित एवं गुप्त रूपमें, और उन्हें वह पीछे जाकर एक क्रियाके द्वारा निष्पन्न कर देती है। बीजके अन्दर वृक्षकी संपूर्ण संभाव्यशक्ति निहित होती है, पित्र्यैक (gene, जीन) के अन्दर उस जीव-रूपकी संभाव्यशक्ति निहित होती है जिसका वह सूत्रपात करता है, इत्यादि, इत्यादि, किन्तु यदि तुम बीज और पित्र्यैककी अनन्ततक खोज-बीन करते चले जाओ तो भी तुम उनमें वृक्ष या जीव-जन्तुको नहीं पाओगे। तथापि शक्तिने उनके अन्दर इन सब संभाव्यताओंको एक विशेष प्रकारके विकसनशील रूपमें रख दिया है जो अपनेको आप-से-आप विकसित करता चलता है।

३. जो मनुष्य शक्तिके यन्त्रका काम करता है उसमें क्रिया अधिक जटिल होती है, क्योंकि शक्ति उसके द्वारा जो कुछ भी डालती है उसे उस मनुष्यको चेतन या अचेतन रूपसे ग्रहण करना होगा और साथ ही फिर उसे क्रियान्वित करनेमें भी समर्थ बनना होगा। वह एक सजीव जटिल यन्त्र है, न कि सीधी-सादी मशीन। अतएव यदि उसमें प्रत्युत्तर देनेके लिये तत्परता और क्षमता आदि हैं तो वह शक्तिको पूर्ण रूपसे कार्यान्वित कर सकता है, नहीं तो वह यह कार्य अधूरे ढंगसे करता है या शक्तिको विफल ही बना देता है। यही कारण है कि हम यन्त्रको पूर्ण बनानेकी बात कहते और उसपर आग्रह करते हैं। अन्यथा साधनाकी या और किसी चीजकी जरूरत ही नहीं होगी — किसी भी धन्य कार्यके लिये ऐरा गैरा नत्थू खैरा काफी होगा और व्यक्तिको बस उसके अन्दर चीजें ठूँस देनी होंगी और फिर उन्हें कार्य रूपमें बाहर आते देखना होगा।

४. शक्तिको नानाविध कार्योंके निमित्त संचारित करनेके लिये संचारकको सर्वतोमुखी अनेकाङ्गी विश्वकोष बननेकी आवश्यकता नहीं। यदि हम किसी वकीलको किसी मुकदमेंमें सफल होनेके लिये सहायता देना चाहते हैं तो यह आवश्यक नहीं कि हम स्वयं सारे-के-सारे रोमन, अंगरेजी या भारतीय कानूनके ज्ञाता सिद्धहस्त वकील हों तथा उसे उसके सभी तर्क, प्रश्न इत्यादि प्रदान करें, उसके द्वारा सचेतन एवं मानसिक रूपमें पूछ-ताछ, जिरह और वकालतकी सारी प्रक्रिया हम ही करें। ऐसी प्रक्रिया हास्यास्पद रूपमें बोझिल, अयोग्यतापूर्ण एवं शक्तिनाशक होगी। अन्तिम परिणामकी पहलेसे ही व्यवस्था, और अपने यन्त्रोंसे ठीक ढंगसे काम लेनेकी क्षमता तथा घटनाओंकी भी ऐसी व्यवस्था करनेकी सामर्थ्य कि वे अभीष्ट परिणाममें सहायक हों — ये सब चीजें शक्तिमें उसी समय डाल दी जाती हैं जब वह उस व्यक्तिकी ओर जाती है, अतएव

वे उस (शक्ति) की क्रियामें अन्तर्निहित होती हैं और शेष तो उस (व्यक्ति) की अपनी ग्रहणशीलता एवं अनुभव आदिका विषय है। स्वभावतः, अच्छे-से-अच्छा यन्त्र भी (जबतक वह एक सिद्ध आधार ही न हो) त्रुटिपूर्ण ही होता है और वह गलतियां कर सकता है, दूसरे सुझावोंको स्वीकार कर सकता है आदि, आदि, पर यदि यन्त्र काफी खुला हुआ हो तो शक्ति स्थितिको सुधार सकती है और परिणाम फिर भी उत्पन्न होता है। कुछ एक या अनेक व्यक्तियों-में शक्तिको बीच-बीचमें ताजा करना होता है या नई शक्तिके द्वारा सहारा देना होता है। कुछ दिशाओंमें संचारकको विशेष ब्योरोंपर सचेतन रूपसे ध्यान देना होता है। यह सब इतनी अधिक बहुविध और परिवर्तनशील परिस्थितियों पर निर्भर करता है कि उन्हें किसी नियमका रूप नहीं दिया जा सकता। इन विषयोंमें सामान्य सरणियां तो होती हैं पर नियम नहीं; यह अनिवार्य ही है कि अमानसिक शक्तिकी क्रिया नमनीय हो, कठोर और सूत्रबद्ध नहीं। यदि तुम वस्तुओंको नमूनों और सूत्रोंका रूप देना चाहते हो तो तुम आध्यात्मिक (अमानसिक) शक्तिकी क्रियाप्रणालीको समझनेमें अवश्य ही असफल होगे।

५. यहां मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह सब आध्यात्मिक शक्तिसे संबंध रखता है। मैं अतिमानसिक शक्तिकी बात नहीं कर रहा।

६. कृपया यह भी ध्यानमें रखो कि यह सब लोगोंपर या उनके द्वारा शक्तिकी क्रियाके संबन्धमें लिखा गया है: अंतर्ज्ञानसे इसका तनिक भी संबंध नहीं, वह तो बिलकुल और ही वस्तु है। साथ ही यह ग्रहणकर्ताको संचारकसे प्राप्त होनेवाली पूर्ण और सुविस्तृत अन्तःप्रेरणाको सदा और सर्वथा बहिष्कृत नहीं कर देता। ऐसी चीजें अवश्य होती हैं, पर इस ढंगसे कार्य करना आवश्यक नहीं, नाहीं यह अतिमानस या अतिमानसीकृत अधिमानसके नीचेके स्तरमें एक साधारण प्रक्रिया बन सकती है।

***

यदि उसका (प्रच्छन्न चिकित्साका) अस्तित्व होता तो मैं उसे विकसित करता और स्वयं औषधालय चलाता। किसी अ या ब या स की आवश्यकता ही क्या होगी?...क्या कमाल का तर्क है! क्योंकि मां और मैं इन्जीनियर नहीं हैं, इसलिये द इन्जीनियरिंगमें सही अन्तर्ज्ञानका विकास नहीं कर सकता? अथवा क्योंकि न तो मैं और न ही मां गुजराती छन्दःशास्त्रमें निपुण हैं, अतः इ अपनी कविताओंके लिये अन्तःप्रेरणा विकसित नहीं कर सकता?

हाय राम! क्या ही प्रश्न है! अन्दरसे मार्गदर्शन करना बाहरसे मार्ग-

दर्शन करनेकी अपेक्षा लाखों गुना सरल है। मान लो मैं चाहता हूँ गुआडा-लागासु, (Guadala gasu) (कृपया ठीक उच्चारण कीजिये) में सेनापति क्ष य के सैनिकोंको पछाड़ दे। मैं उसपर ठीक शक्तिका प्रयोग करता हूँ और वह उठ खड़ा होता है, अपने सैनिक ज्ञान एवं क्षमताके साथ ठीक कार्य करता है और काम हो जाता है। किन्तु यदि मैं अपने अन्दर प्रच्छन्न या प्रत्यक्ष सैनिक प्रतिभा या ज्ञान न रखते हुए उसे लिखता हूँ, "ऐसा करो, वैसा करो", तो वह नहीं करेगा और मैं भी वैसा नहीं कर सकूँगा। यह तो चेतनाके दो सर्वथा भिन्न क्षेत्रोंकी क्रियाओंकी बात है। उन दो क्षेत्रों और उनकी प्रक्रियाओंमें आवश्यक भेद करनेसे तुम कतई इन्कार करते हो और फिर दोनोंको एक साथ गड्डमड्ड करके उसे तर्क कहते हो।

अन्तर्ज्ञान और स्वतःप्रकाश आन्तरिक वस्तुएं हैं—वे बाह्य मनसे संबन्ध नहीं रखते...क्या तुम यह समझते हो कि जब तुम बंगाली कविताएं लिख रहे होते हो तब मैं तुम्हें अन्दरसे या बाहरसे यह कहता हूँ कि तुम उनमें अमुक पदावलिका प्रयोग करो? तथापि तुम उस अन्तःप्रेरणासे ही लिखते हो जिसे मैंने गतिशील कर दिया है।

* * *

प्र०— जब हम स्पेनके एक सेनापतिकी चर्चा कर रहे थे तो आपने "ठीक शक्ति" इन शब्दोंका प्रयोग किया था। "ठीक" शब्दका प्रयोग आपने क्यों किया? क्या कोई गलत शक्ति भी है?

उ०— ठीक याद नहीं मैंने क्या लिखा था—ठीक-ठीक नहीं कह सकता। पर निःसंदेह, गलत शक्ति भी हो सकती है। आसुरिक शक्तियां, राजसिक शक्तियां भी हैं, सभी प्रकारकी शक्तियां हैं। इसके अतिरिक्त, मनुष्य एक ऐसी मानसिक या प्राणिक शक्तिका प्रयोग भी कर सकता है जो ठीक वस्तु न हो। अथवा वह शक्तिका प्रयोग ऐसे ढंगसे कर सकता है कि वह सफल न हो या ठीक जगह, सेनापतिके मस्तिष्कमें, न लगे या फिर प्रतिरोधी शक्तियोंके मुकाबले-की न हो। (यह आवश्यक नहीं कि प्रतिरोधी शक्तियां आसुरिक ही हों, वे सर्वथा भद्र शक्तियां हो सकती हैं जो यह सोचती हों कि हम ठीक रास्तेपर हैं। या फिर, संभव है कि दो भागवत शक्तियां केवल कौतुक के लिये एक दूसरेसे टक्कर ले बैठें। शक्तियोंके खेलमें अनन्त सम्भावनाएं हैं, महाशय जी।)

इसमें भूल क्या हुई? स्पष्टतः ही, प्रयुक्त शक्ति सदा वह शक्ति होती

हैं जिसका प्रयोग विधिनियत था। यदि वह सफल होती है तो वह समष्टि-कार्यमें अपना काम कर डालती है और यदि सफल नहीं होती तो भी समष्टि-कार्यमें उसने अपना काम कर डाला है। न तत्र शोचते बुधः*

किस ढंगसे? शक्तिका प्रयोग किसी अन्तर्ज्ञानके बिना भी किया जा सकता है—अन्तर्ज्ञान किसी शक्तिके साथ निकट संबन्धके बिना भी प्राप्त हो सकता है, हां, स्वयं अन्तर्ज्ञानकी शक्तिके साथ उसका संबन्ध होता ही है जो बिलकुल दूसरी बात है। और फिर, शक्ति किसी भी अन्तर्ज्ञानकी भूमिकासे अधिक ऊंची भूमिकासे प्रयुक्त की जा सकती है।

१७-४-१९३७

भगवान् द्वारा डाक्टरोंका उपयोग

प्र०— मैं अभी भी नहीं समझ पाता कि आपको हम डाक्टरोंके पीछे चलनेकी चिन्ता ही क्यों करनी चाहिये। भगवान् सहजमें ही सीधे अतिमानसिक चेतनासे कार्य कर सकते हैं; आपको वस्तुतः साधारण लोगोंके बताये निदानकी आवश्यकता ही नहीं!

उ०— यदि ऐसी बात होती तो हमें भला डाक्टरों या दवाखानेकी जरूरत ही क्या थी? और तब तुम्हारे २०,००० रु० का ही क्या उपयोग होता? अन्दर और बाहरका सारा काम हम बिना किसीकी मददके अपने आप करनेका विचार नहीं रखते। तुम इस कार्यके लिये उतने ही आवश्यक हो जितना क्ष भवन-निर्माणके लिये या दूसरे लोग अपने-अपने कामके लिये।

किसने तुम्हें बताया है कि हम अतिमानसिक चेतनासे कार्य कर रहे हैं? हम ऐसा नहीं कर रहे और जबतक जड़तत्त्वके साथ लज्जाजनक कलहका अन्त नहीं हो जाता तबतक ऐसा कर भी नहीं सकते।

१.२.१९३५

* * *

प्र०— "जड़तत्त्वके साथ" जिस "घृणित कलह" की आपने चर्चा की है वह क्या चीज है? क्या वह साधकोंकी निम्नतर प्राणिक

*बुद्धिमान् उसके लिये शोक नहीं करता।

एवं शारीरिक क्रियाओंकी ओर संकेत करता है?

उ०— मैं साधकोंकी बात नहीं कर रहा, बल्कि स्वयं पृथ्वी-प्रकृतिके उसके जड़प्राकृतिक भागोंके, प्रतिरोधकी बात कह रहा हूँ। पर ये ऐसी चीजें हैं जिन्हें तुम लोग तबतक नहीं समझ सकते जबतक वस्तुओंके विषयमें तुम्हारी धारणाएं कम बचकानी न हों।

२-२-१९३५

* * *

प्र०— मैं अभीतक चकित हूँ कि डाक्टर और दवाखाने हों ही क्यों! क्या यह विरोधाभास नहीं — भगवान् अपने शिष्योंको मानवी चिकित्सकके पास भेजे?

उ०— वाहियात बात! यह शक्तियोंकी क्रीड़ाका लोक है, श्रीमन्, और डाक्टर भी एक शक्ति है। तो भला भगवान् उसका उपयोग क्यों न करे? क्या तुमने कभी अनुभव किया है कि यदि भगवान् ही सब कुछ करते तो संसार होता ही नहीं, होता केवल कठपुतलियोंका तमाशा?

२-२-१९३५

रोग ठीक करनेके लिये अध्यात्म शक्तिका प्रयोग

शरीरके प्रति रामकृष्णका जो मनोभाव था उसके विषयमें मैं दो-एक शब्द कह दूँ। ऐसा मालूम होता है कि शरीरको बनाये रखनेके लिये या उसकी बीमारियोंको दूर करनेके लिये या उसकी देख-भाल करनेके लिये आध्यात्मिक शक्तिके प्रयोगको वे सदा ही उस शक्तिका दुर्व्यवहार मानते रहे। दूसरे योगी —मैं उन योगियोंकी बात नहीं कहता जो यौगिक सिद्धियोंको विकसित करना उचित समझते हैं — शरीरकी इस प्रकार पूर्ण उपेक्षा नहीं करते थे। उन्होंने इसे योगमें अपने विकासका एक साधन या भौतिक आधार मानकर इसको स्वस्थ और अच्छी अवस्थामें बनाये रखनेका यत्न किया। मैं सदा ही इस मतके पक्षमें रहा हूँ, अपने तथा दूसरोंके अन्दर स्वास्थ्य और भौतिक जीवनकी रक्षाके साथ-साथ सभी न्यायसंगत उद्देश्योंके लिये आध्यात्मिक शक्तिका व्यवहार करनेमें मुझे कभी कोई हिचकिचाहट नहीं हुई — और निःसंदेह यही कारण

है कि माताजी बीमारियोंमें केवल आशीर्वादके रूपमें ही नहीं वरन् एक सहायताके रूपमें भी फूल दिया करती हैं। मैं सबसे पहले एक साधन — 'धर्म-साधन' —के रूपमें शरीरको महत्त्व देता हूँ, अथवा, अधिक पूर्ण रूपमें कहूँ तो, कार्य-शील मूर्त्तिमान् व्यक्तित्वके केंद्रके रूपमें, पृथ्वी परके सभी जीवनों और कर्मोंकी तरह ही आध्यात्मिक जीवन और कर्मके आधारके रूपमें मूल्य देता हूँ, पर साथ ही इस कारण भी मूल्य देता हूँ कि मेरी दृष्टिमें मन और प्राणकी तरह शरीर भी समग्र भगवान्का एक अंश है, आत्माका एक रूप है और इसलिये यह समझकर कि शरीर असाध्य स्थूलतासे ग्रस्त और आध्यात्मिक सिद्धि या आध्यात्मिक उपयोगके लिये अयोग्य या अनुपयुक्त है, यह उपेक्षा करने या घृणा करनेकी चीज नहीं है। स्वयं जड़तत्त्व गुह्यतः आत्माका ही एक रूप है और उसीके रूप-में इसे अपने आपको प्रकट करना है। यह चेतनाके प्रति जागरित हो सकता है तथा विकसित होकर अपने अन्दर आत्माको, भगवान्को प्राप्त कर सकता है। मेरी दृष्टिमें मन और प्राणके साथ-साथ शरीरको भी अध्यात्मभावापन्न, आत्मा-मय बनाना होगा अथवा, हम कह सकते हैं, दिव्य बनाना होगा जिससे कि वह भगवान्की प्राप्तिके लिये सुयोग्य यन्त्र और आधार बन सके। वैष्णव साधना-के अनुसार भागवत लीलामें, यहांतक कि भागवत प्रेमके आनन्द और सौंदर्यमें भी इसका अपना स्थान है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि शरीरको अलग शरीरके ही नाते महत्त्व प्रदान किया जाय अथवा समस्त सत्ताके भावी क्रम-विकासके अन्दर दिव्य शरीरकी सृष्टिको एक साधन नहीं वरन् लक्ष्य समझा जाय,—यह तो एक भारी भूल होगी जिसे कभी स्थान नहीं दिया जा सकता है। जो हो, दिव्यीकरणके चरम स्वरूपके विषयमें जो मेरी कल्पनाएं हैं वे अभी बहुत दूर की चीजें हैं और निकट-भविष्यमें आध्यात्मिक जीवनसे संबंध रखनेवाले जितने प्रश्न हैं उनमें उनका स्थान नहीं।

७-१२-१९४९

* * *

निःसंदेह, दूसरोंके रोगोंको अपने ऊपर ले लेना और, यहांतक कि, स्वेच्छा-पूर्वक ऐसा करना भी संभव है, यूनानी राजा ऐंटीगोनस और उसके पुत्र डिमि-त्रिअसका उदाहरण इस विषयका प्रसिद्ध ऐतिहासिक आख्यान है; योगी भी कभी-कभी ऐसा करते हैं; अथवा विरोधी शक्तियां भी योगीको रोगोंसे आक्रांत कर सकती हैं, इसके लिये वे उसके आसपासके लोगोंको द्वार या मार्ग बनाती हैं या लोगोंकी बुरी इच्छाओंकी शक्तिको साधनके रूपमें प्रयुक्त करती हैं।

निःसंदेह, ये सब विशेष परिस्थितियां हैं जो उसकी योगसाधनासे संवद्ध होती हैं; परन्तु ये एक पक्के नियमके रूपमें किसी सामान्य सिद्धांतकी स्थापना नहीं करतीं। दूसरी ओर, यौगिक चेतनाका इससे विपरीत उपयोग और परिणाम भी हो सकता है: मनुष्य अपने शरीरसे रोगको हटा सकता या अच्छा कर सकता है, पुराने या बद्धमूल रोगों और चिरप्रतिष्ठित शारीरिक दोषोंको भी मिटा सकता या बाहर निकाल सकता है और यहांतक कि पूर्वनियत मृत्युको भी दीर्घकालके लिये टाल सकता है। कलकत्तेके एक दैवज्ञ, नारायण ज्योतिषीने, बहुत पहले, जब कि अभी राजनीतिक क्षेत्रमें मेरा नाम प्रसिद्ध नहीं हुआ था, मुझे न जानते हुए भी मेरे विषयमें भविष्यवाणी की थी कि मैं म्लेच्छ शत्रुओंके साथ संघर्ष करूँगा और फिर मुझपर तीन अभियोग चलाये जायंगे और उन तीनोंमें मैं छूट जाऊंगा। उन्होंने यह भी बताया था कि यद्यपि मेरी जन्मपत्री-के अनुसार ६३ वर्षकी आयुमें मेरी मृत्यु निश्चित है, फिर भी मैं योगशक्तिसे बहुत दीर्घकालके लिये अपनी आयु बढ़ाकर पूर्ण प्रौढ़ वय प्राप्त करूँगा। सचमुच ही मैं योगबलसे उन अनेक जीर्ण रोगोंसे मुक्त हो गया हूँ जिन्होंने मेरे शरीरमें घर कर लिया था। परन्तु इनमेंसे किसी एक दृष्टांतको लेकर कोई नियम नहीं बनाया जा सकता, भले ही वह दृष्टांत अनुकूल या प्रतिकूल कैसा भी क्यों न हो; मानव बुद्धिकी जो यह प्रवृत्ति है कि वह इन वस्तुओंकी सापेक्षता को निरपेक्ष नियमका रूप दे देती है उसमें कुछ भी बल नहीं है।

८-१२-१९४९

* * *

लोगोंको स्वस्थ करनेके लिये मैं जिस शक्तिका प्रयोग करता हूँ उसके संबंधमें भी मैं देखूँगा कि क्या मैं इस बातकी व्याख्या कर सकता हूँ कि उस शक्तिसे मेरा क्या अभिप्राय है और वह कैसे तथा किन अवस्थाओंमें कार्य करती है (जिस शक्तिकी ओर मेरा संकेत है वह न तो अतिमानसिक है न सर्वशक्तिमान् और न वह हर रोगीपर बीचम (Beecham) की गोलियोंके समान प्रभाव दिखानेकी गारंटी ही रखती है)। 'द' के अतिरिक्त अन्य भी सैंकड़ों रोगियोंपर मैंने उसका प्रयोग किया है (अपने शरीरपर तो सर्वप्रथम और सर्वदा ही प्रयोग किया है) और ऐसी अवस्थाओंमें उसकी अमोघता या सत्यताके संबंधमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं।

मई, १९३३

* * *

शक्तिके बारेमें मैंने अभीतक तुम्हें कुछ नहीं लिखा, क्योंकि वह इतनी जटिल है कि थोड़ी-सी पंक्तियोंमें उसका पर्याप्त रूपमें निरूपण करना संभव नहीं और कोई लम्बी चीज लिखनेका इन दिनों मेरे पास समय नहीं है। कुछ भी हो, (इस विषयको समझनेके लिये) सूत्र यह है कि "प्रकाश हो जाय, और प्रकाश हो गया," इस गुरको कोरे कागजपर या हवामें लिखनेकी तरह शक्ति शून्यमें तथा एकदम अखण्ड रूपमें कार्य नहीं करती। बल्कि वह तो हस्तक्षेप करती हुई जाती है और पहलेसे कार्य करनेवाली शक्तियोंकी अत्यन्त जटिल ग्रंथिपर क्रिया करती है तथा उनकी प्रवृत्ति, परस्परसंबद्ध गति और स्वाभाविक परिणामके स्थानपर एक नई प्रवृत्ति, गति तथा परिणामको स्थापित करती है।

ऐसा करते हुए प्रायः उसे पहले से वहां सिक्का जमाये हुई तथा कार्य करती हुई अधिकांश शक्तियोंके प्रबल विरोधका सामना करना पड़ता है और उसपर विजय पानेके लिये तीन बातोंकी आवश्यकता होती है: (१) स्वयं उस शक्तिकी क्षमता, अर्थात् कार्यक्षेत्रपर (इस प्रसंगमें रुग्ण मनुष्य, उसकी अवस्था तथा उसकी देहपर) उस शक्तिका स्वयं अपना दबाव तथा उसकी सीधी क्रिया; (२) यन्त्र (तुम स्वयं); और (३) साधन (औषधोपचार)।

मैंने अनेक बार बिना किसी मानवीय माध्यम या बाह्य साधनोंके केवल शक्तिका ही प्रयोग किया है, परन्तु ऐसी अवस्थामें सब कुछ ग्रहीता तथा उसकी शक्तिपर निर्भर करता है—वहां सहायता करनेवाली कोई अगोचर सत्ताएं या यक्तियां ही उपस्थित हों तो और बात है जैसा कि बिना दवाके रोग दूर करनेवालों (healers) के कार्यमें देखनेमें आता है।

यदि रोगीके साथ सीधा संबंध रखनेवाला कोई माध्यम विद्यमान हो, वह चाहे डाक्टर हो या कोई ऐसा व्यक्ति जो शक्तिको संचारित कर सकता हो, तो क्रिया करनेमें अत्यधिक सहायता प्राप्त होती है,—कितनी सहायता प्राप्त होती है यह यंत्र, उसकी श्रद्धा, उसकी सामर्थ्य एवं संचारण-शक्तिपर निर्भर करता है। जहां उग्र विरोध विद्यमान होता है वहां बहुधा यह शक्ति पर्याप्त नहीं होती अथवा, कम-से-कम, तेज या पूरे-पूरे परिणामके लिये तो पर्याप्त नहीं ही होती, वहां साधन (औषधोपचार) की आवश्यकता पड़ती है। विशेषकर जहां देह या देह-चेतना पर काम करनेवाली शक्तियोंका विरोध प्रबल होता है वहां औषधि सहायक सिद्ध होती है।

परन्तु डाक्टर यदि चैत्य-सत्ताहीन हो अथवा दवा गलत हो या उपचारमें नमनीयता न हो तो ये प्रतिरोधको और भी अधिक बढ़ा देते हैं और उसे शक्तिको पार करना पड़ता है।

यह एक संक्षिप्त एवं अत्यन्त अपूर्ण निरूपण है, परन्तु मैं समझता हूँ इसमें सभी मुख्य बातें आ गई हैं।

२४-१-१९३६

पुनश्चः—यह कहना मैं भूल ही गया कि रोगीका परिवेश, विशेषकर उसके आसपासके लोग, वहांका वातावरण तथा वे सुझाव जो उस वातावरणमें विद्यमान होते हैं या जो उन लोगोंके द्वारा रोगीको दिये जाते हैं,—ये सभी प्रायः काफी महत्त्व रखते हैं।

* * *

कुछ गंभीरतासे कहूँ तो मैं यहां आदेशानुसार चमत्कार करनेके लिये नहीं आया, बल्कि जगत्‌में कहीं नई चेतना ले आनेका यत्न करनेके लिये आया हूँ — किन्तु स्वयं यह कार्य भी एक चमत्कारकी चेष्टाके ही समान है। यदि इस कार्यकी प्रक्रियामें भौतिक चमत्कार एकाएक आ पहुँचें तो अच्छा ही है, पर तुम मेरे मुँहके सामने अपनी डाक्टरी पिस्तौल तानकर मुझे खड़े होकर चमत्कार दिखानेके लिये नहीं ललकार सकते। जहांतक शक्तिका प्रश्न है, मेरी शक्ति अतिमानसिक से बहुत ओछी है और उसके प्रयोगका अर्थ सदा शक्तियोंका संघर्ष ही होता है और उसकी सफलता निर्भर करती है (१) प्रयुक्त शक्तिकी सक्षमता एवं दृढ़तापर, (२) व्यक्तिकी ग्रहण-शीलता और (३) अवर्णनीयकी अनुमतिपर — क्षमा करें, अवर्णनीय से मेरा आशय अनाम, अनिर्वचनीय, अज्ञेयसे था। क्षकी भौतिक चेतना, जैसा कि तुमने देखा है, अपेक्षाकृत आग्रहशील है, और अतएव अत्यन्त ग्रहणशील नहीं। वह अपने अन्दर माताजीको अनुभव तो कर सकती है, पर उनकी इच्छा या शक्तिके अनुसार चलनेकी आदत उसे कम ही है।

जनवरी, १९३५

* * *

जहांतक मेरी बात है, मेरे अन्दर किसी डाक्टरका अस्तित्व नहीं, प्रच्छन्न डाक्टरका भी नहीं। यदि होता तो मुझे दूसरोंकी चिकित्साके लिये बाहरी डाक्टरकी जरूरत न होती बल्कि मैं अकेले अपने ही बलपर रोगोंका निदान तथा चिकित्साका निर्धारण कर सबको चंगा-भला कर देता। किसी रोगीके मामलेमें मेरा

काम औषधोंके साथ या विना शक्तिका प्रयोग करना है। ऐसा करनेकी तीन विधियां है—पहली, रोग क्या है यह जाने बिना या इसकी परवाह किये बिना या लक्षणोंका अनुसरण किये बिना शक्तिका प्रयोग करना, पर इसके लिये रोगीका मानसिक सहयोग या स्वीकृति आवश्यक है। दूसरी है लक्षणोंपर आश्रित, अर्थात् रोगका निश्चित ज्ञान न होनेपर भी लक्षणोंके अनुसार चलना और उनपर कार्य करना। इस विधिमें ठीक-ठीक विवरण (रिपोर्ट) अत्युपयोगी होता है। तीसरीमें निदानकी आवश्यकता होती है—'ऐसी आवश्यकता साधारणतया वहां होती हैं जहां विरोधी शक्तियां अत्यन्त प्रबल एवं सचेतन होती हैं या जहां स्वयं रोगी बीमारीके सुझावोंको तीव्र रूपसे प्रत्युत्तर देता है और शक्तिकी क्रियासे अनजानेमें ही द्वेष करता है। यह अन्तिम बात सामान्यतया इस तथ्यसे सूचित होती है कि रोग पहले ठीक हो जाता है और फिर वापिस आ जाता है या उसमें पहले सुधार होता है और फिर उसका पलड़ा बिगाड़की ओर झुक जाता है। उन्माद और इसी प्रकारकी दूसरी बीमारियोंमें विशेष रूपसे यही बड़ी कठिनाई होती है। साथ ही उन बीमारियोंमें भी जिनमें मुख्य बात नाड़ियोंकी होती है—पर साधारण बीमारियोंमें भी।

२-२-१९३५

प्र०– किसी रोगके मामलेमें आप...कैसे निर्णय करते हैं कि क्या यह पुरानी बीमारीका पुनःप्रकोप है अथवा किसी अन्धकारमय शक्तिकी या किसी अनुभवकी ही क्रिया? क्या रोगके उस व्योरेसे जो आपको वताया जाता है?

उ०– हां, निश्चय ही—ठीक वैसे ही जैसे तुम किसी रोगके उन लक्षणोंके आधारपर कार्य करते हो जिन्हें तुम देखते हो और जिनका वर्णन रोगी करता है।

१८-१०-१९३६

होमियोपैथी, ऐलोपैथी और अन्य चिकित्सा-पद्धतियां

प्र०– कैसे होमियोपैथी केवल लक्षणोंके द्वारा और बिना निदानके ही रोग ठीक कर सकती है?

उ०– क्या होमियोपैथीका असली सिद्धांत ही यही नहीं कि वह लक्षणोंकी

चिकित्साके द्वारा रोगका निवारण करती है? मैंने तो सदा यही सुना है। क्या तुम यह नहीं मानते कि होमियोपैथोंने अपनी—तुम्हारी नहीं — पद्धतिके अनुसार कार्य करके रोगोंको ठीक किया है? यदि उन्होंने ऐसा किया है तो क्या एकमात्र पूरी-की-पूरी ऐलोपैथिक पद्धति और उसके सिद्धांतकी अति पवित्र एवं अलंघनीय निर्भ्रान्तता घोषित करनेकी अपेक्षा यह मानना अधिक युक्तियुक्त नहीं कि होमियोपैथिक पद्धतिमें कोई चीज अवश्य है। इसी कारण मैं स्वयं किसी अन्य विधिकी अपेक्षा प्रायः लक्षणोंपर प्रहार करके ही उपचार करता हूं, क्योंकि डाक्टरी निदान अनिश्चित होता है और भ्रांत भी हो सकता है जब कि लक्षण प्रत्येक व्यक्तिके लिये प्रत्यक्ष होते हैं। निःसंदेह यदि ठीक और निर्विवाद निदान लभ्य हो तो बहुत ही अच्छा होगा — तब विचार अधिक पूर्ण हो सकता है, क्रिया अधिक सुगम और परिणाम अधिक निश्चित। किन्तु अचूक निदानके बिना भी मनुष्य क्रिया कर सकता और रोग ठीक कर सकता है।

* * *

प्र०— लक्षणानुसारी चिकित्साका प्रयोग उन दृष्टांतोंमें नहीं किया जा सकता जहां एक ही लक्षण दो या तीन विभिन्न रोगों द्वारा उत्पन्न होता हो।

उ०— क्यों नहीं? एक संभावना यह भी तो है कि इलाज जो भी हो, लक्षणोंके द्वारा तुम ठीक उसीपर जा पहुँचो और इस प्रकार तुम डंठल और पत्तोंके द्वारा मूलका नाश कर सकते हो और तब तुम्हें इलाज शुरू करनेके लिये जड़ोंको खोजने और खोद निकालनेकी जरूरत नहीं। जो भी हो, मैं यही कुछ करता हूं।

* * *

संसार ऐलोपैथिक चिकित्साकी चारदीवारीमें बन्द नहीं। ऐसे रोगियोंके दृष्टांत अनेकों हैं जो ऐलोपैथोंको बेकार सिद्ध करके (होमियोपैथी ही नहीं) अन्य पद्धतियों द्वारा भी अच्छे हो गये। मेरा अनुभव विस्तृत नहीं पर ऐसे उदाहरण बड़ी संख्यामें मेरे देखनेमें आये हैं।

२३-१२-१९३५ – २६-१२-१९३५

* * *

प्र०— क्ष (एक होमियोपैथ) ने उच्च रक्त-चापके एक रोगीको, जो हृद्रोधके कगारपर है, खान-पान आदिमें "परिमित" छूट दे दी है। वह इसे "प्रकृतिपर छोड़ना" कहता है!

उ०— हां, ठीक, मैंने भी अपने तथा दूसरोंके साथ इसी पद्धतिका अनुसरण किया है और इस आधारको लेकर चला हूँ कि प्रकृति बहुत बड़े अंशमें वैसी होती है जैसी तुम उसे बनाते हो या बना सकते हो।

२८-१२-१९३५

* * *

शक्तिको एक यंत्रकी और कभी-कभी एक सहायक साधन (उपकरण)की भी आवश्यकता होती है। यंत्र था 'क्ष', उपकरण कम-से-कम कुछ अंशमें उसकी औषधियां। इस किस्सेमें मेरा विश्वास नहीं कि होमियोपैथिक दवाइयां केवल इसलिये कारगर नहीं होतीं क्योंकि वे होमियोपैथिक हैं। साथ ही, मैं यह भी नहीं मानता कि 'क्ष' उनके विषयमें कुछ नहीं जानता और उनका ठीक-ठीक प्रयोग नहीं कर सकता। प्रायः हर बार मैंने देखा है कि उनका आश्चर्यजनक प्रभाव होता है, कभी तुरत ही और कभी शीघ्र, और यह बात मैं केवल 'क्ष' की साक्षीके आधारपर नहीं अपितु उसके रोगियोंके कथन तथा प्रत्यक्ष परिणामोंके आधारपर कह रहा हूँ। मैं कोई ऐलोपैथिक डाक्टर तो हूँ नहीं, अतः मैं तथ्यकी यूँ ही उपेक्षा नहीं कर सकता।

* * *

अर्बुद (ट्यूमर), उपदंश (सिफिलिस) आदिके उपचार होमियोपैथीकी विशेषताएं हैं, पर मैंने अपने मनोभौतिक अनुभवमें जो कुछ पाया है वह यह है कि शरीरके बहुतेरे विकार परस्पर संबद्ध होते हैं, यद्यपि उनके अपने-अपने वर्ग हैं, पर उन वर्गोंमें भी संबंध है। यदि कोई उनके मनोभौतिक मूलको ठीक पकड़ पाय तो वह रोगका पूरा-पूरा निदान किये बिना (उसकी विकार-समष्टिको जाने बिना) और लक्षणोंके द्वारा एक संभावनाके रूपमें कार्य किये बिना भी रोग ठीक कर सकता है। अर्द्ध-गुह्यविदों द्वारा आविष्कृत कुछ ओषधियोंमें यह शक्ति है। जिस विषयपर मैं अब विचार कर रहा हूँ वह यह है कि क्या होमियोपैथीका कोई मनोभौतिक आधार है या नही। क्या उसका प्रवर्तक अर्द्ध-

गुह्यविद् था? अन्यथा मैं उस ढंगकी कुछ अनूठी विशेषताओंको नहीं समझ पाता जिससे 'क्ष' की ओषधियां कार्य करती हैं।

* * *

प्र०— क्यों आप हजारों ठीक निदानोंके कारण होनेवाली आश्चर्य-जनक घटनाओंकी तो उपेक्षा करते हैं और भूल-भ्रांतिके छुट-फुट दृष्टांतोंको अपनी आंखोंमें महाकाय विकराल छाया का रूप दे देते हैं?

उ०— छुटफुट दृष्टांत! ऐसे कितने ही दृष्टांत मेरे सुननेमें आये हैं, उनकी वैसी ही भरमार है जैसी यूरोप में काले बेरोंकी। और जहांतक निदानमें मतभेदका प्रश्न है, वह तो प्रायः नियमतः देखनेमें आता है, हां, जब डाक्टर मिलकर सलाह-मशवरा करते और एक-दूसरेकी रायको अवकाश देते हैं तो कुछ और ही बात होती है। मेरी आंखोंमें ऐलोपैथीकी धूल झोंकनेकी हरकत मत कीजिये, जनाब! एकांतवासी बननेसे पहले मैं दुनियामें काफी लम्बे समय तक रहा हूँ और थोड़ी-बहुत दुनिया देखी है और एकांतसेवी बननेके बाद तो और भी अधिक।

* * *

इस सब बलते-गरम ऐलोपैथीवादका जोश ठंडा करनेके लिये मैंने ये थोड़ी-सी टिप्पणियां लिख डाली हैं। परन्तु अब मुझे इन सब जोशीले विवादोंका कुछ लाभ नहीं दिखाई देता। मैंने इन दोनों पद्धतियों तथा अन्योंकी भी क्रिया देखी है और मैं उनमेंसे किसी की भी एकमात्र सत्यतामें विश्वास नहीं कर सकता। यद्यपि वे सभी पुराणपंथी दृष्टिकोणके अनुसार निन्दनीय मानी जाती हैं, और उसकी नितांत विरोधी हैं तथापि उनमें अपना-अपना सत्य है और वे सफल भी होती हैं— साथ ही, कभी-कभी पुराणपंथी और पुराणविरोधी दोनों ही चिकित्सा-पद्धतियां असफल होती हैं। कोई वाद केवल एक गढ़ी हुई विचार-लिपि होता है जो हमारे सामने उन प्रक्रियाओंकी शृंखलाका अपूर्ण मानवी निरीक्षण प्रस्तुत करती है जिनका प्रकृति अनुसरण करती या कर सकती है; दूसरा वाद उन अन्य प्रक्रियाओंकी एक भिन्न प्रकारकी विचार-लिपि होता है जिनका अनुसरण भी प्रकृति करती या कर सकती है। ऐलोपैथी, होमियो-

पैथी, प्राकृतिक चिकित्सा, अस्थिचिकित्सा, कविराजी, हकीमी — सभीने प्रकृति-को पकड़में लाकर कुछ प्रक्रियाओंमेंसे गुजारा है; प्रत्येकको कुछ सफलताएं मिली हैं और विफलताएं भी। प्रत्येकको अपने ढंगसे काम करने दो। परस्पर मुठभेड़ों और दोषारोपोंकी मैं कोई जरूरत नहीं देखता। मेरे लिये ये सभी बाह्य साधनमात्र हैं और काम तो वास्तवमे पर्देके पीछेसे अगोचर शक्तियां ही करती हैं; जैसा वे काम करती हैं उसके अनुसार ही बाह्य साधन सफल या असफल होते हैं — यदि कोई चिकित्साकी प्रक्रियाको ठीक शक्तिके लिये ठीक प्रणालिका बना सके तो प्रक्रियामें पूरी जीवनी शक्ति आ जाती है — बस इतना ही।

एक साधकको जन्मदिन-सन्देश

हृदयके पीछे एक पर्दा, मनके ऊपर एक आवरण हमें भगवान्से पृथक् किये हुए हैं। प्रेम और भक्ति पर्दा फाड़ देती हैं, मनकी अचंचलतामें आवरण झीना होते-होते गायब हो जाता है।

९-६-१९३६

* * *

अन्दरका सूर्य तुम्हारे मनको शान्त और आलोकित करे तथा हृदयको पूर्ण रूपसे जागरित और परिचालित करे।

९-६-१९३७

* * *

मनकी अचंचलतामें अपने आपको अपने हृदयके अन्दर और सर्वत्र भगवान्की उपस्थितिकी ओर खोल दो; शान्त मन और हृदयमें भगवान् वैसे ही दिखाई दे जाते हैं जैसे शान्त जलमें सूर्य।

९-६-१९३८

* * *

उच्चतर चेतनामें उठ जाओ, उसके प्रकाशको तुम्हारी प्रकृतिको नियंत्रित और

रूपांतरित करने दो।

९-९-१९३९

* * *

हृदयके आत्मदानके बलपर ही भागवत उपस्थिति और प्रभाव निश्चेतनातकमें प्रतिष्ठित हो जायंगे और प्रकृतिको सत्ता के सभी स्तरोंमें सच्ची ज्योति और चेतनाको ग्रहण करनेके लिये तैयार कर देंगे।

९-९-१९४०

* * *

सदा अन्दरकी अभीप्सापर बल दो; उसे अपने हृदयमें गहराई और स्थिरता प्राप्त करने दो; मन और प्राणकी बाहरी बाधाएं हृदयके प्रेम और उसकी अभीप्साके बढ़नेके साथ-साथ आप-से-आप दूर हो जायंगी।

९-९-१९४१

* * *

मन और हृदयको अन्दर और ऊपरकी ओर खुला और मुड़ा रखो ताकि जब अन्दरसे स्पर्श या ऊपरसे प्रवाह आये तो तुम उसे ग्रहण करनेके लिये तैयार होओ।

९-९-१९४२

* * *

प्रकाशकी ओर अडिग रूपसे मुड़े रहना ही वह चीज है जिसकी सबसे अधिक मांगकी जाती है। प्रकाश, जितना हम सोचते हैं उससे कहीं अधिक हमारे निकट है और उसकी घड़ी कभी भी आ सकती है।

९-९-१९४३

* * *

(इसके लिये आवश्यक है) अन्तरात्माको भागवत कृपाके ग्रहण करनेके लिये तैयार रखना ताकि जब वह आये तो उसे ग्रहण करनेके लिये यह तैयार हो।

९-९-१९४४

* * *

हमारे अन्दर और जगत्के अन्दर जो कार्य किया जाना है उसके लिये सुदृढ़ संकल्प सर्वाधिक आवश्यक वस्तु है; आध्यात्मिक परिणाम सुनिश्चित है, वह है चेतनाका विकास और भगवान्की ज्योति एवं शक्तिके स्पर्शको ग्रहण करनेके लिये चैत्यपुरुषकी तत्परता।

९-९-१९४५

* * *

जब प्रकाश उस निश्चेतनाके भीतर प्रवेश कर जाता है जो हमारी सारी सत्ताको अपने बाड़ेके अन्दर घेरे हुई है और हमारे अन्दर सच्ची चेतनाकी अभिव्यक्तिको रोकती या सीमित करती है, जब वह आदतों और पुनरावर्तनोंका तथा उन्हीं पुरानी उद्दीपक वस्तुओंकी सतत आवृत्तिका निरोध करता है जो अवचेतनसे उठकर हमें घेर लेती हैं, तभी प्रकृति पूर्णतया मुक्त हो सकती और केवल ऊपरसे आनेवाले सत्यको ही प्रत्युत्तर दे सकती है।

९-९-१९४६

* * *

ज्ञानकी स्पष्टता और आन्तरिक आत्मदृष्टि, अहंका वशीकरण, प्रेम, निःस्वार्थ और समर्पित कार्योंमें सूक्ष्म सत्यनिष्ठता, योग-रथके चार पहिये हैं। जिसके पास ये हैं वह पथपर निरापद प्रगति करेगा।

९-९-१९४७

विभाग छः

कवि और समालोचक

कवि और समालोचक

अध्ययन, काव्य-रचना और योग

साहित्यिक वह है जो साहित्य तथा साहित्यिक प्रवृत्तियोंसे स्वयं उन्हींके हित प्रेम करता हो। एक योगी जो लेखन-कार्य करता है वह साहित्यिक नहीं होता, क्योंकि वह तो केवल वही लिखता है जो आंतर 'संकल्प' तथा 'शब्द' उससे व्यक्त कराना चाहते हों। वह अपने साहित्यिक व्यक्तित्वसे अधिक महान् किसी वस्तुको लानेवाला और उसका यन्त्र होता है। निःसंदेह, साहित्यिक और बुद्धि-विलासी व्यक्ति अध्ययन-प्रिय होते हैं — पुस्तकें ही उनके मनकी खुराक होती हैं। परन्तु लिखना कुछ और ही चीज है। ऐसे बहुतसे लोग हैं जो साहित्यिक ढंगसे कभी एक शब्दतक नहीं लिखते पर होते हैं बहुत अधिक पढ़ाकू। मनुष्य अध्ययन करता है विचारोंके लिये, ज्ञानके लिये और संसार जो कुछ चिंतन कर चुका है या कर रहा है उससे अपने मनको उद्बुद्ध करनेके लिये। मैंने साहित्य-सर्जनके लिये कभी अध्ययन नहीं किया। जैसे-जैसे योगमें उन्नति होती गई, मैं पढ़ना कम करता गया — क्योंकि जब संसारके सभी विचार अन्दरसे या ऊपरसे उमड़ते चले आते हों तो बाहरी स्रोतोंसे मानसिक आहार इकट्ठा करनेकी बहुत आवश्यकता नहीं रहती। इसका उपयोग अधिकसे अधिक यही रह जाता है कि संसारमें जो कुछ हो रहा है उसका पता रहे — यह नहीं कि संसार, परम सत्य तथा पदार्थोंके सम्बन्धमें हमारी दृष्टिका निर्माण करनेके लिये यह सामग्री हो सके। मनुष्य विराट् मनीषीसे संपर्क रखनेवाला एक स्वतन्त्र मन बन जाता है।

काव्य, यहां तक कि शायद सभी प्रकारकी पूर्ण अभिव्यक्ति अन्तःप्रेरणासे ही प्राप्त होती है, अध्ययनसे नहीं। अध्ययन केवल इतनी सहायता करता है कि यन्त्रको भाषापर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है या वह साहित्यिक ढंगसे अपनी बात कहनेकी कला प्राप्त कर लेता है। आगे चलकर मनुष्य भाषा-का अपना निजी प्रयोग, अपनी निजी शैली, अपनी निजी कला विकसित करता है। मैंने कोई दो-एक दशाब्दियोंसे, अत्यंत सामयिक चीजोंके सिवा, सब तरह-का पढ़ना बन्द कर रखा है। परन्तु मेरी काव्यमयी और पूर्ण अभिव्यंजनाकी शक्ति दस-गुना बढ़ गई है। जो चीज मैं कुछ कठिनाईसे, बहुत बार तो बड़ी मुश्किलसे लिख पाता था वह अब मैं बड़ी आसानीसे लिख लेता हूँ। मुझे

दार्शनिक माना जाता है, पर मैंने दर्शनका कभी अध्ययन नहीं किया — मैंने जो कुछ लिखा है वह मुझे यौगिक अनुभव, ज्ञान तथा अन्तःप्रेरणासे प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार काव्य तथा पूर्ण भावप्रकाशनपर अधिक महान् अधिकार मैंने इन पिछले दिनों प्राप्त किया है — दूसरे लोग कैसे लिखते हैं उसे पढ़-समझ करके नहीं, वरन् अपनी चेतनाको ऊंचा उठाकर और इसके फलस्वरूप एक महत्तर अन्तःप्रेरणा प्राप्त करके।

अध्ययन और कठिन परिश्रम साहित्यिकके लिये अच्छी चीजें हैं, परन्तु उसके लिये भी वे उसके उत्तम लेखनका कारण नहीं होतीं, वरन् उसमें सहायक-मात्र होती हैं। कारण तो स्वयं उसके भीतर होता है। 'स्वभाविक' होनेकी जो बात है, वह मुझे मालूम नहीं। हां, कभी-कभी जब कि प्रतिभा जन्मजात होती है और अभिव्यक्तिके लिये तैयार होती है, तब उसे लोग 'स्वभाविक' कह सकते हैं। कभी-कभी वह बादमें अन्दरसे, अरसे तक प्रकृतिमें छिपे पड़े रहनेके बाद जाग उठती है।

११-९-१९३४

जन्मजात बुद्धिका स्वाभाविक विकास

प्र०— कैसे आपकी बुद्धि योग आरम्भ करनेसे पहले ही इतनी शक्तिशाली हो गई?

उ०— मेरे योग आरम्भ करनेसे पहले इस तरहकी कोई बात नहीं थी। योग मैंने १९०४में आरम्भ किया और कुछ कविताओंको छोड़कर मेरी अन्य सभी रचनाएं उसके बादकी हैं। और फिर, मेरी प्रतिभा जन्मसे ही थी और योगाभ्याससे पूर्व उसका जितना भी विकास हुआ वह प्रशिक्षणके द्वारा नहीं, बल्कि एक आकस्मिक विशाल प्रवृत्तिके द्वारा हुआ जो सभी पढ़ी हुई, देखी हुई या अनुभव की हुई वस्तुओंसे विचारोंका विकास करती थी। यह प्रशिक्षण नहीं, स्वभाविक विकास है।

१३-११-१९३६

* * *

प्र०— क्या यह संभव है कि साधना-क्रममें मनुष्य सीधे योगबलसे

एक विशेष प्रकारका बौद्धिक या अन्य प्रशिक्षण प्राप्त कर ले? आपका अपना विशाल बौद्धिक विकास कैसे हुआ?

उ०— वह "प्रशिक्षण" से नहीं, वरन् साधनामें चेतनाके आप-से-आप खुलने, विशाल एवं पूर्ण बन जानेसे हुआ।

४-११-१९३६

यौगिक शक्तिसे शैलीका विकास

प्र०— प्रभावशाली शैलीके लिये अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। मेरा विश्वास है कि अपनी अतुलनीय शैलीके निर्माणमें आपको आपके विपुल अध्ययनने अवश्यमेव अत्यधिक सहायता पहुँचाई होगी।

उ०— क्षमा करना! मैंने अपनी शैलीका निर्माण कभी नहीं किया; जिस शैलीमें जरा भी जीवन हो उसका निर्माण नहीं किया जा सकता। वह जन्म-जात होती है और किसी भी अन्य जीवन्त वस्तुकी तरह बढ़ती है। निःसंदेह, उसे मेरे अध्ययनसे पोषण मिला, पर मेरा अध्ययन विपुल नहीं था — मैंने दूसरोंकी अपेक्षा कम पढ़ा है — (भारतमें ऐसे लोग हैं जिन्होंने मुझसे पचास गुना या सौ गुना पढ़ा है), हां, उस थोड़ेमेंसे मैंने बहुत सार-ग्रहण किया है। शेष तो, योगने ही चेतनाको, विचार और अन्तर्दृष्टि की सूक्ष्मता एवं यथार्थता को, ठीक विचार, शब्द-रूप, उपयुक्त रूपक और अलङ्कारके संबन्धमें वृद्धिशील अन्तःप्रेरणा और संबोधिमूलक, वृद्धिशील (आत्मालोचक) विवेकको संवर्धित करके मेरी शैलीका विकास किया है।

२९-१०-१९३५

* * *

प्र०— मैं समझता हूँ आप यौगिक शक्तिको कुछ बढ़ा-चढ़ाकर ही महत्त्व दे रहे हैं। आध्यात्मिक विषयोंमें इसकी सक्षमतासे इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु कलात्मक या बौद्धिक विषयोंमें हमें इसकी प्रभावशालिताके विषयमें इतना विश्वास नहीं हो सकता। 'क्ष'का ही उदाहरण लीजिये; हम भली भांति कह सकते हैं: "शक्ति-

को श्रेय क्यों दिया जाय? यदि वह कहीं और इतना अध्यवसायी, सच्चा इत्यादि होता तो बिलकुल ऐसी ही रचना करता।"

उ०— क्या तुम मुझे जरा समझा दोगे कि कैसे 'क्ष' जो यहां आनेसे पहले एक भी अच्छी कविता नहीं लिख सकता था और लय और छन्दपर जिसका कुछ भी अधिकार नहीं था, यहां आनेके बाद सहसा ही, —दीर्घ "अध्यवसायपूर्ण प्रयास"के बाद नहीं,—एक कवि, लय-पारखी और छन्दोविद्के रूपमें विकसित हो उठा? क्यों टैगोर "एक पंगुको अपनी बैसाखियां फेंककर" और लय-तालके मार्गोंपर स्वच्छन्द और निःशङ्क दौड़ते देखकर दंग रह गये? यह कैसे हुआ कि मैंने, जिसे चित्रकलाकी कभी समझ नहीं थी और न जिसने कभी उसकी परवाह ही की, एकाएक एक घण्टेमें ही दृष्टिके उन्मीलन द्वारा उसे परखनेकी आंख पा ली और पा लिया रंग, रेखा और अभिकल्पनाको समझने-वाला मन! यह कैसे हुआ कि मैं, जो दार्शनिक तर्कको समझने एवं उसका अनुसरण करनेमें असमर्थ था और जिसे काण्ट या हीगल या ह्यूम अथवा बर्कले-का भी एक पृष्ठ भर या तो चकरा और थका देता था और जो कोरे-का-कोरा ही रह जाता था या फिर जिसे उसमें तनिक भी रस नही आता था क्योंकि वह उसकी तहमें नहीं जा पाता था या उसे समझ नही सकता था, 'आर्य "Arya" पत्रिकाके शुरू करते ही एकाएक वैसी सामग्रीके पृष्ठ-पर-पृष्ठ लिखने लगा और वही अब मैं महान् दार्शनिकके रूपमें प्रसिद्ध हूँ? यह कैसी बात है कि एक ऐसे समय जब मुझे कभी-कभी एक पैरेसे अधिक गद्य और शायद दो महीनोंमें एक छोटी-सी श्रमसाध्य, थोथी कवितासे अधिक पद्य लिखना कठिन लगता था, सहसा ही, एकाग्रता और प्राणायामके अभ्यासके बाद मैं नित्यप्रति हर रोज पन्नेपर पन्ने लिखने लग गया और मैंने एक बड़े दैनिक पत्रका संपादन करने तथा बादमें प्रति मास तत्त्वज्ञानके ६० पृष्ठ लिखनेके लिये पर्याप्त क्षमता भी बनाये रखी? कृपा करके जरा सोचो और यों ही ऊट-पटांग बात मत कहो। जिस कामको करनेके लिये साधारणतया लम्बे "परिश्रम-पूर्ण, सच्चे और गंभीर" विकासकी क्रिया आवश्यक हो वह यदि योगके द्वारा क्षण भरमें या कुछ-एक दिनोंमें ही किया जा सके तो यह चीज अपने-आपमें योगशक्तिका प्रभाव दिखानेके लिये काफी है। पर इतना ही नही, जो क्षमता थी ही नहीं वह शीघ्र ही सहज-स्फुरित रूपमें प्रकट हो उठती है अथवा असमर्थता सर्वोच्च सामर्थ्यमें बदल जाती है या अवरुद्ध प्रतिभा उतने ही वेगसे धारा प्रवाह एवं सहज, प्रभुत्वपूर्ण प्रतिभामें परिणत हो जाती है। यदि तुम इस प्रमाणको नहीं मानते तो कोई भी प्रमाण तुम्हें विश्वास नहीं दिला सकेगा

क्योंकि तुमने उलटा ही सोचनेका निश्चय कर रखा है।

१-११-१९३५

* * *

प्र०— यही बात आपकी शैलीके बारेमें भी है। यह समझना कठिन है कि शक्तिने इसकी पूर्णतामें कितना योगदान किया है।

उ०— इसे समझना तुम्हारे लिये कठिन हो सकता है, पर मेरे लिये यह कठिन नहीं, क्योंकि मैंने अपने विकासको एक अवस्थासे दूसरी अवस्थातक पूरी सजगता से देख-समझकर फिर भी उसी प्रक्रियाका अनुसरण करके देखा है। लिखनेके लिये मैंने यत्न जरा भी नहीं किया है। मैंने बस काम उच्चतर शक्तिपर छोड़ दिया और जब उसकी क्रिया नहीं हुई तो फिर मैंने किसी प्रकारका भी यत्न नहीं किया। यह तो पुराने बौद्धिक दिनोंकी बात है कि कभी-कभी मैं जोर-जवर्दस्तीसे लिखनेकी चेष्टा करता था, योग द्वारा कविता और गद्यके विकासका आरम्भ करनेके बाद तो ऐसा कभी नहीं किया। मैं तुम्हें यह भी याद करा दूँ कि जब मैं 'आर्य' के लिये लिखा करता था और साथ ही जबसे मैं ये पत्र या उत्तर लिखता हूँ तबसे मैं कभी सोचता या शब्दोंकी खोज नहीं करता, न उत्तम शैलीसे लिखनेका यत्न ही करता हूँ; नीरव मनमें से ही मैं, जो कुछ ऊपरसे गढ़ा-गढ़ाया तैयार आता है वही लिखता हूँ। जब मैं संशोधन करता हूँ तब भी इसलिये करता हूँ कि संशोधन उसी प्रकार ऊपरसे आता है। तो फिर जरासे भी प्रयत्नके लिये स्थान कहां या "मेरे महान् प्रयासों" के लिये तनिक भी अवकाश कहां? ठीक है न?

प्रसंगवश, कृपया यह समझनेकी चेष्टा करो कि (अतिमानसिक ही नहीं) अतिबौद्धिक ज्ञान भी सहजस्फूर्त्त स्वयंचल-क्रियाका क्षेत्र है। उसे प्राप्त करने या उसकी ओर अपनेको खोल देनेके लिये प्रयत्नकी आवश्यकता है, पर एक बार जब उसकी क्रिया शुरू हो जाय तो फिर प्रयत्नका अस्तित्व ही नहीं रहता। तुम्हारा मस्तिष्क आसानीसे नहीं खुलता; वह बन्द भी बहुत आसानीसे हो जाता है, अतः हर बार प्रयत्न करना पड़ता है, शायद अत्यधिक प्रयत्न — यदि तुम्हारा मस्तिष्क अपने-आपको पर्याप्त मात्रामें स्वयंचालित प्रवाहके अनुकूल बना ले तो मेरी समझमें कठिनाई नहीं रहेगी और न हर बार "अध्यवसाय-पूर्ण, सच्चे एवं गम्भीर प्रयास" की ही जरूरत होगीं। ठीक?

मैं तुम्हारे इस दावेको चुनौती देता हूँ कि शक्ति मानसिक (साहित्यिक)

परिणामोंकी अपेक्षा आध्यात्मिक परिणाम अधिक आसानीसे उत्पन्न कर सकती है। मुझे तो बात इससे ठीक उलटी मालूम होती है। मेरे अपने दृष्टांतमें, जब मैंने पहले-पहल योग, प्राणायाम आदि शुरू किया, तो दीर्घकालतक प्रति-दिन पांच-पांच घण्टे कशमकश करता रहा और पांच बरस एकाग्र भावसे संघर्ष किया पर आध्यात्मिक परिणाम रत्ती भर भी नहीं निकला, (जब आध्यात्मिक अनुभव आये ही तो वे ऐसे व्याख्यातीत एवं स्वयंचालित थे जैसे — जैसे ज्वालाएं), पर कविता आयी सरिताकी तरह और गद्य बाढ़की तरह और अन्य वस्तुएं भी जो मानसिक, प्राणिक या भौतिक थीं, न कि आध्यात्मिक वैभव या उन्मीलन। अनेक उदाहरणोंमें मैंने देखा है कि मनकी नानामुखी क्रिया पहला या कम-से-कम प्रारंभिक परिणाम होती है। क्यों? क्योंकि विमूढ़ और व्याकुल निम्नतर अंगोंमें चैत्य या आध्यात्मिक परिवर्तनकी अपेक्षा इन चीजोंके लिये प्रतिरोध कम और सहयोग अधिक होता है। कम-से-कम यह बात समझना आसान है। ठीक है न?

१-११-१९३५

* * *

प्र०— मैं भलीभांति समझ सकता हूँ कि आन्तरिक ज्ञान चेतनाके विकसित होने और ऊंचे उठनेसे आता है। किन्तु बाह्य ज्ञान — जिसे हम साधारणतया ज्ञान कहते हैं — कैसे आता है?

उ०— इसे प्राप्त करनेकी क्षमता आन्तरिक ज्ञानके साथ ही आ सकती है। उदाहरणार्थ, योग करनेसे पहले मुझे चित्रकलाकी किंचित् भी समझ नहीं थी। अलीपुर जेलमें क्षण भरके अन्तरालोकने मेरी दृष्टि खोल दी और तबसे मैं सम्बोधिमय प्रत्यक्ष और अन्तर्दृष्टिसे इसे समझने लगा हूँ। निःसन्देह, मुझे इसके शिल्पकौशलका ज्ञान नहीं, किन्तु यदि इसका ज्ञान रखनेवाला कोई आदमी इसकी चर्चा करे तो मैं इसे तुरन्त पकड़ सकता हूँ। यह चीज पहले मेरे लिये असंभव होती।

२९-१२-१९३४

* * *

प्र०— मान लीजिये कि आपने अंग्रेजी साहित्यका अध्ययन न किया

होता, तो क्या फिर भी आपके लिये यौगिक अनुभवके द्वारा इसके विषयमें कुछ कहना संभव होता ?

उ०– हां, केवल एक विशेष सिद्धिका विकास करके ही, जिसका निरन्तर संधान करना अत्यन्त ही कष्टप्रद होगा। परन्तु मैं समझता हूँ यदि (तुम्हारे काल्पनिक दृष्टांतमें) मुझे यौगिक ज्ञान होता तो उसके साथ बाहरी ज्ञान जुटाना सर्वथा सुगम होता।

२६-१२-१६३४

* * *

प्र०– जब कोई सुनता है कि आपको लेखन आदिके लिये अत्यधिक आयास करना पड़ा तो उसे आश्चर्य होता है कि क्या वाल्मीकिकी काव्यशक्तिके एकाएक उन्मीलनकी कथा सच्ची है — क्या ऐसा चमत्कार सचमुचमें संभव है।

उ०– आयास किस चीजके लिये ? कुछ वस्तुओंके लिये मुझे आयास करना पड़ा — अन्य वस्तुएं निर्वाण या चित्रकलाके मूल्यांकनकी शक्तिकी तरह क्षण भरमें या दो-तीन दिनोंमें ही प्राप्त हो गई। मेरे अन्दरका "प्रसुप्त" दार्शनिक एक ही झटकेमें (जब मैं कलकत्तेमें था) प्रकट होनेमें सफल नहीं हुआ — कुछ वर्षोंके सेने (?) के बाद ज्यों ही मैंने Arya (आर्य)के लिये लिखना आरम्भ किया, यह ज्वालामुखीकी तरह फूट पड़ा। इन वस्तुओंके लिये कोई एक ही अन्तिम नियम नहीं। वाल्मीकिकी कवित्वशक्ति 'शैम्पेन' Champagne शराबकी बोतलकी तरह भले ही एकाएक खुल पड़ी हो, पर उसका यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक व्यक्तिकी वैसे ही खुलेगी।

१-४-१६३५

* * *

कला-दृष्टिका खुलना

चित्रकलाके पारखीके रूपमें अपनी अयोग्यताके संबन्धमें निराशा मत होओ। इस विषयमें मेरी अवस्था तुम्हारी अपेक्षा भी अधिक बुरी थी: मूर्त्तिकलाका

तो मुझे कुछ ज्ञान था, पर चित्रकलाके प्रति मैं अन्धा ही था। एक दिन जब अलीपुर जेलमें मैं ध्यान कर रहा था तो मुझे एकाएक कोठरीकी दीवारपर कुछ चित्र दिखाई दिये और फिर क्या था! मेरे अन्दरकी कला-दृष्टि खुल गयी और उसकी कार्य-प्रणाली आदि ऊपरी चीजोंको छोड़कर मैं चित्रकलाके विषयमें सब कुछ जान गया। यद्यपि अपने ज्ञानको प्रकट करनेका ढंग मुझे सदा विदित नहीं होता, क्योंकि मुझे ठीक ढंगसे व्यक्त करनेका ज्ञान नहीं है, पर इससे कलाके सूक्ष्म एवं ज्ञानपूर्ण मूल्यांकनमें कोई बाधा नहीं पड़ती। लो देखो, योगमें सभी कुछ संभव है।

अन्तःप्रेरणापर अधिकार प्राप्त करनेमें कठिनाई

अन्तःप्रेरणा सदा ही अत्यन्त अनिश्चित वस्तु होती है; वह जब चाहती है आती है, अपना काम पूरा करनेसे पहले ही यकायक बन्द हो जाती है, बुलाये जानेपर उतरनेसे इनकार करती है। सम्भवतः सभी कलाकारोंकी, पर निश्चय ही कवियोंकी यह सुप्रसिद्ध मनोवेदना है। कुछ ऐसे कवि होते हैं जो उसे जब चाहें साधिकार प्राप्त कर सकते हैं, मेरी समझमें ऐसे वे होते हैं जो पूर्णताके लिये सतर्क होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रचुर काव्यशक्तिसे भरपूर होते हैं। कुछ दूसरे ऐसे होते हैं जो जब कभी कागजपर कलम रखते हैं, उसे आनेके लिये विवश कर देते हैं, पर उनमें अन्तःप्रेरणा या तो उच्चकोटिकी नहीं होती या अपने स्तरोंमें सर्वथा असमान होती है। फिर कुछ ऐसे भी होते हैं जो सदा एक ही समय लिखनेका अभ्यास डालकर उसमें उसी समय आनेकी आदत डालनेका यत्न करते हैं। कहा जाता है कि विरज़िल जो हर प्रातःकाल नौ पंक्तियां पहले तो लिखते थे, फिर उन्हें पूर्ण बनाते थे, और मिल्टन जो प्रति-दिन अपने महाकाव्यकी पचास पंक्तियां लिखा करते थे, अपनी अन्तःप्रेरणाको नियमित रूप देनेमें सफल हुए। मैं समझता हूँ यह वही सिद्धांत है जिससे प्रेरित होकर भारतमें गुरु अपने शिष्यको प्रतिदिन एक ही निश्चित समयपर ध्यान करनेका आदेश देते हैं। निःसंदेह यह कुछ अंशमें सफल होता है, कुछ लोगोंके लिये तो पूर्ण रूपसे भी, पर हर एकके लिये नहीं। ज़हांतक मेरा प्रश्न है, जब अन्तःप्रेरणा महावेगके साथ या धाराके रूपमें नहीं आती थी, —क्योंकि यदि ऐसे आये, तब तो कुछ कठिनाई ही नहीं,—मैं केवल एक ही मार्ग अपनाता था, एक प्रकारकी सेनेकी क्रिया होने देता था जिसमें रचनीय वस्तुका विशाल रूप अपने-आपको मनपर प्रक्षिप्त कर देता था और तब मैं शुभ्र तापके प्रकट होनेकी प्रतीक्षा करता था जिसमें पूरे-का-पूरा प्रतिलेखन

द्रुत वेगसे हो सके। पर मेरे विचारमें प्रत्येक कविका कार्य करनेका अपना ढंग होता है और वह अन्तःप्रेरणाकी अनिश्चित अवस्थाओंमेंसे अपना रास्ता आप निकाल लेता है।

* * *

'क्ष' प्रतिदिन दस या बारह या इससे कहीं अधिक कविताएं लिखा करता था। मुझे साधारणतया एक कविता लिखने और उसे सर्वांगपूर्ण बनानेमें एक-दो दिन या तीन दिन भी लग जाते हैं, अथवा यदि मुझे अधिक अन्तःप्रेरणा प्राप्त हो तो दो छोटी कविताएं भी लिख लेता हूँ और उसके बाद अगले दिन उन्हें दुहराना पड़ता है। एक अन्य कवि विरजिलके समान होगा जो प्रतिदिन नौ ही पंक्तियां लिखेगा और शेष सारा समय उन्हें फिर-फिर मांजने-संवारनेमें लगायेगा। एक चौथा कवि 'य' जैसा होगा, जैसा कि मैं उसे जानता था, वह आधी पंक्तियां एवं खण्ड-खण्ड रचेगा और उन्हें आकार देनेमें २ सप्ताह या २ मास लगा देगा। महत्त्व समयका नहीं, कविताको पूरा करना और उसका गुण ही महत्त्वकी वस्तु हैं। अतः गढ़ते और बढ़ते जाओ और 'क्ष' का आश्चर्यजनक वेग देखकर निरुत्साहित मत होओ।

८-१२-१९३५

* * *

यह देखते हुए कि स्वयं अतिमानसिक अवतार वह कार्य करनेमें सर्वथा अशक्त है जिसे 'क्ष' या 'य' करता है, अर्थात् प्रतिदिन एक या अनेक कविताएं रचना, तुम उसे बीचमें लाते ही क्यों हो? इंग्लैण्डमें निःसंदेह मैं प्रतिदिन पुलिन्दे-का-पुलिन्दा लिख सकता था पर उसका अधिकांश रद्दी की टोकरीमें चला गया है।

५-८-१९३६

* * *

लगता है कि कविता तुम्हारे साथ अपनी भेंटोंमें बहुधा ही बड़ी छुट्टी लेती है। सच पूछो तो मेरे विचारमें यह रोग काफी सर्वसाधारण है। 'क्ष' और 'य' जो जब रुचि हो लिख सकते हैं, विरले व्योमविहारी हैं। "चेतनाकी दिशा"

के विषयमें मुझे कुछ पता नहीं। मेरी अपनी विधि मनको शान्त करना नहीं, —क्योंकि वह तो नित्य ही शान्त रहता है,—वरन् ऊपर और अन्दरकी ओर मुड़ना है। मेरी समझमें तुम्हें पहले उसे शान्त करना होगा जो सदा सुगम नहीं होता। कभी इसके लिये यत्न किया है?

१६३५

* * *

मैं स्वयं कई बार कुछ समयके लिये लिखना बन्द कर देता रहा हूँ क्योंकि मैं चेतनाके उच्चतर स्तरसे अभिव्यक्त वस्तुको छोड़ और कुछ भी लिखना नहीं चाहता था, पर ऐसा करनेके लिये तुम्हें अपनी प्रभु-प्रदत्त काव्य-प्रतिभाके विषयमें दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि वह अति दीर्घकालतक अप्रयोगसे जंग नहीं खा जायगी।

४-६-१६३१

काव्यका पुनर्लेखन

प्र०— हमें अचम्भा होता रहा है कि क्यों आपको अपना काव्य फिर-फिर नये सिरेसे लिखना पड़ता है — उदाहरणार्थ, "सावित्री" को दस या बारह बार — जब कि सारी अन्तःप्रेरणा आपके अपने हाथमें है और वह आपको वैसी कठिनाईसे प्राप्त नहीं करनी पड़ती जैसी हम जैसे उदीयमान योगियोंके सामने आती हैं।

उ०— यह तो बहुत सीधी-सी बात है। "सावित्री" को मैंने आरोहणके साधनके रूपमें बरता। इसका आरम्भ मैंने मनके एक स्तर-विशेष पर किया, जब-जब भी मैं एक अधिक ऊंचे स्तरपर पहुँच पाया, तब-तब उस स्तरसे मैंने इसे फिरसे लिखा। अपि च मैं सूक्ष्म रूपसे सतर्क था — यदि मुझे लगता था कि कोई भाग किन्हीं निचले स्तरोंसे आ रहा है तो मैं केवल इस कारण कि यह उत्तम कविता है उसे वैसा ही रहने देकर संतुष्ट नहीं हो जाता था। यह आवश्यक था कि सारी रचना यथासम्भव एक ही टकसालकी हो। वास्तवमें "सावित्री" को मैंने कोई ऐसा काव्य नहीं माना है जिसे लिखकर पूरा कर डालना है, बल्कि यह देखनेके लिये एक परीक्षण-क्षेत्र समझा है कि कहांतक काव्य व्यक्तिकी अपनी यौगिक चेतनासे लिखा जा सकता है और कैसे यौगिक

चेतनाको सर्जनक्षम बनाया जा सकता है। मैंने भागवत गुलाब (Rose of God) या चतुर्दशपदी कविताएं फिरसे नहीं लिखीं, उन दो-तीन शाब्दिक परिवर्तनोंकी बात दूसरी है जो उसी समय कर दिये थे।

* * *

प्र०— यदि 'क्ष' को अपनी अन्तःप्रेरणा इस प्रकार प्राप्त हो सकती है कि उसे पुनः लिखनेकी जरूरत ही न पड़े, तो आपको क्यों नहीं प्राप्त हो सकती ?

उ०— मुझे भी इसी प्रकार प्राप्त हो सकती थी यदि मैं प्रतिदिन लिखता तथा मुझे और कोई काम न होता और न ही मैं इसकी परवाह करता कि अन्तः-प्रेरणाका स्तर क्या है जहांतक कि मैं बस कोई उत्तेजक रचना कर पाता।

* * *

प्र०— क्या आपको अन्तःप्रेरणाके मार्गमें कुछ वाधा होनेके कारण फिरसे लिखना पड़ता है ?

उ०— एकमात्र बाधा यह है कि अपने-आपको सतत काव्य-सर्जनकी स्थितिमें रखनेके लिये मेरे पास समय ही नहीं और यदि मैं लिखता भी हूँ तो मुझे बिलकुल अन्य विषयपर एकाग्रताके अन्तरालोंमें कुछ काव्य-प्रेरणा दुह लेनी होती है।

* * *

प्र०— अपनी नीरव चेतनाके द्वारा आपके लिये रंचमात्र एकाग्रता करते ही ऊंची-से-ऊंची भूमिकाओंसे अन्तःप्रेरणा आहरण कर लेना संभव होना चाहिये।

उ०— उच्चतम भूमिकाएं इतनी सुनम्य नहीं जितनी तुम उन्हें समझ रहे हो। यदि वे ऐसी होतीं तो अतिमानसको भौतिक चेतनामें उतारकर व्यवस्थित करना इतना कठिन क्यों होता ? क्या ही अलमस्त, रंग-बिरंगा जाल बुनने

वाले नादान लोग हो तुम सब! तुम नीरवता, चेतना, अधिमानस, अतिमानस आदिके बारेमें ऐसे बातें करते हो मानों वे बहुत-से बिजलीके बटन हों जिन्हें बस तुम्हें दवाना होता है और लो वे चीजें हाजिर हो जाती हैं। एक दिन शायद ऐसा भी हो सके पर इस बीच तो मुझे बिजलीकी सभी संभवनीय अवस्थाओंकी क्रियाके विषयमें सब कुछ — सभी नियमों, संभावनाओं, संकटों आदिको खोजना ही है, संबन्ध और संचारकी पद्धतियोंकी रचना करनी है, दूर-दूरतक तार लगानेकी सारी प्रणाली बनानी है, यह जाननेका यत्न करना है कि उस प्रणालीको अनाड़ीके लिये भी सुबोध एवं व्यवहार्य कैसे बनाया जा सकता है और यह सब-का-सब एक ही जीवनकी अवधिमें। और यह सब मुझे ऐसी दशामें करना है जब मेरे धन्य-धन्य शिष्यगण नितांत गैर- जिम्मे-वारी की स्थितिसे मुझपर अपने विनोद- या विषाद-भरे स्वतःसिद्ध तर्कोंके गोले छोड़ रहे हैं और मुझसे आशा कर रहे हैं कि मैं उनके सामने सब कुछ संकेत-रूपमें नहीं बल्कि विस्तारसे खोलकर रख दूँ। त्राहि मां, हे घट-घट-वासी भगवान् !

२६-३-१६३६

* * *

प्र०— मैं समझता हूँ कि बहुत कष्टप्रद और नीरस धंधा है यह तराश-तराशकर संवारना। पर शायद आपको यह बहुत भाता है, क्योंकि हमने सुना है आप अपनी रचनाको अनन्त बार, फिर-फिर गढ़ते रहते हैं, भले ही वह पद्य हो या गद्य।

उ०— काव्यको ही, गद्यको नहीं। और काव्यमें भी केवल एक कविता "सावित्री" को। मेरी अपनी अन्य कविताएं एकबारगी ही लिखी गई हैं और यदि कोई परिवर्तन करने होते हैं तो वे उसी दिन या अगले दिन अत्यन्त द्रुत वेगसे कर दिये जाते हैं।

६-५-१६३७

प्रयत्न और अन्तःप्रेरणा

प्र०— जहांतक काव्यका प्रश्न है, अन्तःप्रेरणाका अस्तित्व अवश्य है और इसी प्रकार प्रयत्नका भी। अन्तःप्रेरणा कभी-कभी व्यक्ति-

को छोड़कर चली जाती है और वह हवामें बारंबार प्रहार करता और हथौड़े मारता रह जाता है और वह आकर ही नहीं देती!

उ०– बिलकुल ठीक। (प्रहार आदिसे) जब कोई वास्तविक परिणाम उत्पन्न होता है तो वह प्रहार और हथौड़ेकी मारके कारण नहीं वरन् इस कारण उत्पन्न होता है कि हथौड़ा उठाने और उसके नीचे पड़नेके बीच कोई अन्तः-प्रेरणा खिसककर घोर आवाजकी आड़में घुस आती है। सर्वश्रेष्ठ प्रेरणा तो तभी आती है जब प्रयत्नकी जरूरत ही नहीं पड़ती। प्रयत्न करना तो बिलकुल ठीक है पर अन्तःप्रेरणा को आनेके लिये उकसानेके बहाने ही। पर आती वह तभी है यदि वह आना चाहती है, यदि नहीं आना चाहती तो नहीं आती और तब व्यक्तिको कुछ भी सर्जन किये बिना या कोई घटिया-सी मनकी गढ़ी चीज रचकर ही प्रयत्न छोड़ देना होता है। ऐसा अनुभव स्वयं मुझे बहुत काफी वार हो चुका है। मैंने देखा है कि 'क्ष' भी बहुधा किसी ऐसी चीजका सर्जन करता है जो अच्छी होती हुई भी सर्वांगपूर्ण नहीं होती, वह हवामें प्रहार करता है और प्रस्तावित पाठभेदोंके साथ उसपर हथौड़ेकी चोट मारता है पर उन पाठ भेदोंमेंसे प्रत्येक उतना ही बुरा होता है जितना दूसरा। कारण, केवल एक नयी अन्तःप्रेरणा ही पहलीके प्रतिलेखनमें विद्यमान दोषको सचमुच में सुधार सकती है। फिर भी मनुष्य बारंबार यत्न करता ही है, किन्तु परिणाम प्रयत्नसे नहीं उस अन्तःप्रेरणासे उत्पन्न होता है जो उसके उत्तरमें आती है। तुम दरवाजा खटखटाते हो ताकि अन्दरका व्यक्ति उत्तर दे। वह उत्तर दे भी सकता है या नहीं भी; यदि वह चुप रहे तो तुम्हें बस शपथ खाते हुए अपना रास्ता नापना होता है। यही है प्रयत्न और अन्तःप्रेरणाका मर्म।

६-३-१९३६

* * *

प्र०– क्या आपका आशय यह है कि इस विधिसे ["शून्य ध्यानमें बैठकर यह देखनेसे कि संबोधिके देवताओंसे क्या आता है"] सचमुच-में कुछ हो सकता है? मुझे पता चला है कि आपने बहुत-सी चीजें इसी प्रकार लिखीं, पर लोग यह भी कहते हैं कि देवता — नहीं नहीं, देवियां आकर आपको वेदोंका अर्थ बताया करती थीं।

उ०– यह तो एक परिहास था। फिर भी यही तरीका है जिससे इन चीजोंके

आनेकी आशा की जाती है। जब मन काफी अच्छी तरह शान्त हो जाता है तब ऐसी आशा की जाती है कि अन्तर्ज्ञान, पूर्ण हो या अपूर्ण, फुदकता हुआ आयगा, अन्दर कूद पड़ेगा और इधर-उधर झांकने लगेगा। पर निःसंदेह, यही एकमात्र विधि नहीं। लोग तो न जाने कितना ऊलजलूल बकते हैं। सन् १९०९से मैंने जो कुछ भी लिखा इसी प्रकार लिखा है, अर्थात् नीरव मनमेंसे या, यूँ कहना चाहिये कि, उसके द्वारा और नीरव मन ही नहीं वरन् नीरव चेतना द्वारा भी। परन्तु देव-देवियोंका इससे कोई वास्ता नहीं था।

२२-१०-१९३५

सर्जनशील रचनाका दबाव

सर्जनशील रचना द्वारा अपने-आपको प्रकट और चरितार्थ करनेके लिये डाले हुए इस प्रकारके दबावसे मैं भलीभांति परिचित हूँ। जब वह इस प्रकार जोर डाले तो इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है कि उसे अपनी राह लेने दी जाय ताकि मन और बातोंमें न लगा रहे और खाली रह सके — नहीं तो वह दो दिशाओंमें धकेला जाता रहेगा और एकाग्रताके लिये आवश्यक शान्तिकी अवस्थामें नहीं रह सकेगा।

काव्य-प्रेरणा और गद्य-रचना

> प्र०— इस समय मैं गद्यरचनामें अत्यधिक फंसा हूँ। कोई आश्चर्य नहीं कि काव्य लिखना अभी असंभव है। मैं समझता हूँ काव्य-प्रेरणाको लौटनेका अवसर मिलनेसे पहले गद्यकी धारा को अपना प्रवाह पूरा करना है?

उ०— तुम्हारी काव्य-प्रेरणाको गद्यकी कदम-चालके परिणामोंकी प्रतीक्षा करनेकी जरा भी जरूरत क्यों हो? भूमि अभी ऊबड़खाबड़ होनेपर भी आकाशीय उड़ानमें बाधक नहीं होनी चाहिये।

१६-३-१९३५

आत्मनिन्दक आलोचनका उन्माद

तुम आत्मनिन्दक आलोचनाके उन्मादसे पीड़ित प्रतीत होते हो। अनेक कला-

कारों और कवियोंको यह रोग होता है; ज्यों ही वे अपनी कृति पर दृष्टि डालते हैं वे उसे बीभत्स रूपसे हीन और निकृष्ट अनुभव करते हैं। (स्वयं मुझमें यह उन्माद था जिसके स्थानपर बहुधा इससे उलटा भाव भी आया करता था। 'क्ष' में भी यह है); परन्तु लिखते समय इसका होना इसकी तीव्रताकी अत्यन्त मर्मभेदी मात्रा है। यदि तुम निर्बाध रूपसे लिखना चाहते हो तो अच्छा यह होगा कि इससे पिण्ड छुड़ा लो।

१४-१२-१९३६

लेखनमें सफलताके लिये क्षेत्रोंको सीमित करनेकी आवश्यकता

प्र०— बंगालीमें कविता, कहानियां, सब प्रकारकी चीजें लिखनेके लिये मेरे अन्दर कितनी भारी उमंग है!

उ०— इस प्रकारकी महत्त्वाकांक्षाएं इतनी धुँधली होती हैं कि सफल नहीं हो पातीं। तुम्हें अपने क्षेत्रोंको सीमित करना और उनमें सफल होनेके लिये उन्हीं-में एकाग्र होना होगा। मैं वैज्ञानिक या रंगचित्रक या सेनापति बननेके लिये किसी प्रकारका भी यत्न नहीं करता। मेरे पास करनेको कुछ काम हैं और उन्हें मैंने किया भी है, जबतक भगवान्‌की ऐसी इच्छा थी; कुछ और कार्यों का क्षेत्र मेरे अन्दर योगके द्वारा ऊपरसे या अन्दरसे खुल गया है। वे भी मैंने जितना भगवान् चाहते थे किये हैं।

* * *

प्र०— साहित्यकार होनेका यत्न करना और फिर भी यह न जानना कि महान् साहित्य-स्रष्टाओंने साहित्य-सर्जनमें क्या योगदान किया है, अक्षम्य होगा।

उ०— यह अक्षम्य क्यों है? मुझे मालूम नहीं कि जापान या सोवियत रूसके लेखकोंने क्या कृतियां लिखी हैं, किन्तु अपनी इस अज्ञानावस्थामें मैं अपनेको बिलकुल प्रसन्न और शुद्धहृदय अनुभव करता हूँ। साहित्यिक व्यक्ति बननेके लिये डिकन्सको पढ़नेकी जो बात है वह एक अनोखा विचार है। वह एक निपट असाहित्यिक भोंदू आदमी था जो कभी साहित्यमें सफल हुआ और उसकी

शैली काटखाड़ू मरुस्थल है।

१९-९-१९३६

* * *

प्र०— मेरीडिथ, हार्डी, शेली, कीट्स और यूरोपीय तथा रूसी लेखकों-को पढ़नेकी योजनाका क्या हुआ ?

उ०— राम रे, महाशय, मैं चाहता हूँ कि मुझे आपके प्रोग्राम-जैसे लम्बे-चौड़े प्रोग्रामके अनुसार कार्य करनेका समय होता। मेरे पास तो तुम्हारे प्रोग्रामपर विस्तारपूर्वक विचार करनेका समय भी नहीं।

संस्कृतिमें खाइयां

प्र०— फ़ारसके महाकवि, 'शाहनामा' के रचयिता फिरदौसीके बारे-में आपने कहीं कुछ नहीं कहा ? क्या आप उसे उन अन्य महा-कवियों, होमर, वाल्मीकि, व्यासकी पंक्तिमें रखेंगे जिन्हें आप पूर्ण-रूपसे प्रथम कोटिके समझते हैं? क्या कारण है कि आपने कितनी सारी भाषाएं सीखकर अपनी संस्कृतिको इतना विशाल तो बनाया पर फारसी न जाननेके कारण उसमें गंभीर खाई रह जाने दी ?

उ०—मैंने फिरदौसीको अनुवादके रूपमें बहुत समय पहले पढ़ा था परन्तु उससे मेरे मनमें मूल रचनाके काव्योचित गुणोंकी जरा भी धारणा नहीं बन पाई। जहांतक संस्कृतिमें अन्तरालोंका प्रश्न है — हां, मुझे रशियन या फिनिश भाषा नहीं आती (कलेवाला, Kalevala, पढ़नेसे वंचित ही रहा) और निबेलउंगे-न्लीड् (Nibelungenlied) मूलमें नहीं पढ़ा, और इसी कारण रैमसिस Rameses की विजयोंपर प्राचीन मिश्री भाषामें पैंटौर (Pentaur) की कविता या कम-से-कम उसका लभ्य अंश भी नहीं पढ़ा। मुझे अरबी भाषाका भी ज्ञान नहीं, पर उसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि मैंने 'अरेबियन नाइट्स (Ara-bian Nights) का)' का 'बर्टन'-कृत अनुवाद पढ़ रखा है जो मूलके समान ही उच्चकोटिकी रचना है। जो हो, अन्तराल विशाल और अनेक हैं।

१३-७-१९३७

अन्तःप्रेरणा और छन्दशास्त्र

तुम्हें छन्दशास्त्रका अध्ययन अपनी अन्तःप्रेरणापर लादनेकी जरूरत नहीं है। तुम्हें जितने छन्दशास्त्रकी जरूरत है वह तुम्हारे ही भीतर है। स्वयं मैंने कम-से-कम अंग्रेजीका पिंगल तो कभी नहीं पढ़ा। जो कुछ मैं जानता हूँ वह मैं लिख-पढ़कर और अपने कानका अनुसरण तथा बुद्धिका उपयोग करके ही जान पाया हूँ। यदि किसीको अध्ययनके लिये ही पिंगलके शास्त्रीय अध्ययनका चाव हो तो वह दूसरी बात है — परन्तु वह बिलकुल ही अनिवार्य नहीं है।

२८-४-१९३४

गद्यका कवितामें अनुवाद

मेरी समझमें काव्यमय गद्यका कवितामें अनुवाद करना सर्वथा न्याय्य है। स्वयं मैंने 'विक्रमोर्वशीयम्' का अनुवाद करते समय ऐसा किया है और वह इस कारण कि कालिदासके गद्यकी सुषमा अंग्रेजीमें काव्य द्वारा ही सर्वोत्तम रीतिसे लाई जा सकती है, अथवा इस कारण कि स्वयं मैं उसे सबसे अच्छी तरह कवितामें ही ला सकता था। तुम्हारे समीक्षकका नियम मुझे बहुत कठोर मालूम होता है; अन्य सभी नियमोंकी तरह वह अधिकतर उदाहरणोंमें सिद्धांततः टिक सकता है, किंतु अन्य अल्पसंख्यक उदाहरणोंमें (जो सर्वोत्तम कोटिके होते हैं, क्योंकि न्यून प्रायः ही अधिकसे श्रेष्ठ होता है) वह शायद बिलकुल नहीं टिक सकता। यदि उस नियमको अधिक दूर तक खींचा जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि होमर और वरजिलका अनुवाद केवल षट्पदी (hexa-meter) कवितामें ही किया जा सकता है। और फिर, इससे विपरीत दृष्टांतोंके संवन्धमें भला तुम क्या कहोगे अर्थात् काव्योंके अनेक उत्कृष्ट गद्यानुवाद भी तो मिलते हैं जो उनके आजतक किये गये किसी भी काव्यात्मक भाषांतरकी अपेक्षा अत्यधिक अच्छे हैं तथा मूलकी भावनाके भी अधिक सदृश हैं? अधिक दूर जानेकी जरूरत नहीं, टैगोरकी गीतांजलिके अंग्रेजी रूपांतरको ही ले लो। यदि कविताको ऐसे सराहनीय '(और अतएव उचित) ढंगसे गद्यमें अनूदित किया जा सकता है तो भला गद्यको उचित (तथा सराहनीय) ढंगसे कवितामें अनूदित क्यों न किया जाय? आखिर नियम जितनी समालोचकोंकी सुविधाके लिये बनाये जाते हैं उतने रचयिताओंको बांधनेके लिये नहीं।

अनुवादकी अविकलता

मेरी समझमें अनुवादकी अविकलताके विषयमें ठीक नियम यह है कि अनुवादक-को मूलके यथासंभव निकट रहना चाहिये यह ध्यानमें रखते हुए कि अनूदित कविता अनुवाद नहीं, बल्कि बंगलाकी मूल कविता जैसी प्रतीत हो और जहांतक बन पड़े, वह ऐसी प्रतीत हो मानों वह मूलतः बंगलामें ही लिखी हुई एक मौलिक कविता हो।

मैं स्वीकार करता हूँ कि जिस नियमका मैंने प्रतिपादन किया था उसका पालन मैंने अपने-आप नहीं किया है,—जब कभी मैंने अनुवाद किया, मूल कृति-के आहत भावोंकी कुछ परवा नहीं की और अपनी कल्पनाकी मौजके अनुसार उसे निर्दयतापूर्वक एक अनूठे रूपमें परिवर्तित कर डाला, परन्तु यह तो एक बहुत बड़ा और भारी अपराध है जिसका अनुकरण करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। हालमें मैंने अपनी शैलीमें मूलके प्रति अधिक न्याय करनेका यत्न किया है पर मैं नहीं जानता कि उसमें मुझे कहांतक सफलता मिली है। पर जो हो, इस विषयमें बस यही सलाह ठीक है कि "जैसा मैं कहता हूँ वैसा करो, जैसा मैं करता हूँ वैसा नहीं।"

१०-१०-१९३४

सत्यवान और सावित्रीकी कथाका प्रतीकार्थ

सत्यवान् और सावित्रीकी कथा महाभारतमें पति-पत्नीके एक ऐसे प्रेमकी कहानीके रूपमें कही गई है जिसने मृत्युपर विजय पा ली थी। किन्तु, जैसा इस मानवीय कथाकी अनेक विशेषताओंसे पता चलता है, यह आख्यान वैदिक युगकी अनेकों प्रतीकात्मक गाथाओंमेंसे एक है। सत्यवान् एक ऐसी आत्मा है जो सत्ताके दिव्य सत्यको अपने अन्दर धारण किये है किन्तु जो यहां उतरकर मृत्यु और अज्ञानकी पकड़में आ गई है। सावित्री है दिव्य वाक्, सूर्यकी पुत्री, परम सत्य-की देवी जो हमारे उद्धारके लिये अवतरित होती और जन्म लेती है। अश्व-पति, अश्वका स्वामी, सावित्रीका मानवीय पिता है तपस्याका, आध्यात्मिक प्रयासकी उस घनीभूत शक्तिका अधीश्वर जो हमें मर्त्य स्तरोंसे अमर्त्य स्तरोंकी ओर उठनेमें सहायता पहुँचाती है। द्युमत्सेन, देदीप्यमान सैन्यगणका नायक, सत्यवान्का पिता है भागवत मन जो यहां उतरकर अन्धा हो गया है, अपनी दिव्यदृष्टिके स्वर्गीय साम्राज्यको खो बैठा है और उसे खोकर अपनी गरिमा-महिमाके साम्राज्यको भी गंवा बैठा है। फिर भी यह कथा एक कोरा रूपक

ही नहीं है। इसके पात्र गुणोंका साकार रूप नहीं है, वरन् उन जीवन्त और सचेतन शक्तियोंके अवतार या अंशविभूतियां हैं जिनके साथ हम मूर्त संपर्क स्थापित कर सकते हैं और वे मनुष्यकी सहायता करने तथा उसे उसकी मर्त्य अवस्थासे दिव्य चेतना और अमर जीवनकी ओर ले जानेवाला मार्ग दिखानेके लिये मानवीय देह धारण करती हैं।

"LOVE AND DEATH" "(प्रेम और मृत्यु)" कविताका प्रकाशन

खेद है कि इंगलैंडमें "Love and Death" (प्रेम और मृत्यु) शीर्षक कविता की सफलताके सम्बन्धमें तुम्हें कुछ भ्रम है। "प्रेम और मृत्यु" उस कालकी कविता है जब मेरेडिथ और फिलिप्स अभी लिख रहे थे और यीट्स तथा ए० ई० गर्भस्थ नहीं तो केवल एक कलिकाके रूपमें ही थे। तबसे हवा बदल गई है और यीट्स तथा ए० ई० भी कुछ-कुछ अतीतकी वस्तु बन चुके हैं जब कि "प्रेम और मृत्यु" का काव्य-रूप या उसकी अन्य विशेषताएं ठीक वही चीजें हैं जो युद्धोत्तर लेखकों तथा साहित्य-समालोचकोंके लिये 'अभिशाप' हैं। मुझे भय है कि यदि इसकी नितांत अवहेलना — जिसकी अत्यधिक संभावना है —न की गई, तो इसे कम-से-कम एक ऐसे साहित्यिक ढांचेका दुर्बल और असामयिक अनुकरण तो समझा ही जायगा जो बहुत समय पहले ही निकाल दिया गया और दफना दिया गया था। स्वयं मैं इसे इस दृष्टिकोणसे नहीं देखता, पर इसकी सफलताके लिये तो आधुनिक निष्पक्ष आलोचकोंकी सम्मति ही महत्त्व रखती है, मेरी सम्मति नहीं। यदि यह तब प्रकाशित की जाती जब यह लिखी गई थी तो यह शायद सफल होती, किन्तु अब! निःसंदेह, मैं जानता हूँ कि इंगलैंडमें अब भी ऐसे बहुतसे लोग हैं जो, यदि यह पुस्तक उनके हाथमें पड़ जाय तो, इसे बड़े उत्साहसे पढ़ेंगे, पर मेरे विचारमें यह उनके हाथोंतक पहुँच ही न पायेगी।

अन्य कविताएं, "प्रेम और मृत्यु" के साथ नहीं जा सकतीं। जब प्रकाशन का समय आयेगा 'सानेट' (Sonnets) सानेटोंकी पृथक् पुस्तकमें प्रकाशित करने होंगे तथा अन्य कविताएं (मुख्यतः) गीतिमय कविताओंकी एक पृथक् पुस्तकमें — अतएव, वे अभी प्रकाशित नहीं की जा सकतीं। कम-से-कम इस समय मेरा विचार यही है। यह बात नहीं कि मैं सदाके लिये प्रकाशनके विरुद्ध हूँ, किन्तु मेरा विचार यह था कि समयसे पहले कुछ करनेकी अपेक्षा उपयुक्त समयकी प्रतीक्षा की जाय।

तथापि एक बात हो सकती है। 'प' "प्रेम और मृत्यु" तथा शायद छः

कविताएं अपने मित्रके पास भेज सकता है और प्रकाशकोंसे पुछवा सकता है कि उनकी दृष्टिमें इनका प्रकाशन उपयोगी होगा या नहीं। कम-से-कम उससे कुछ संकेत मिल सकता है।

२४-१०-१९३४

"THE LIFE HEAVENS" लाइफ हेवन्स) कवितापर टैगोरके आक्षेप

मुझे 'प' से मालूम हुआ है कि "The Life Heavens" (जीवन-स्वर्ग) कविता पर टैगोरके आक्षेप सैद्धांतिक न होकर वैयक्तिक थे — अर्थात्, उन्हें स्वयं ऐसा अनुभव नहीं हुआ है और उन जीवन-स्वर्गोंको वे (अपने लिये) सत्य नहीं मान पाते, इसी लिये उनके द्वारा उनके अन्दर कोई भाव उद्दीप्त नहीं हुआ, जबकि मेरी कविता "शिव" की प्रतिक्रिया इससे बिलकुल उलटी हुई। इसपर मैं कुछ नहीं कहता, जैसे मैं उस समय कुछ नहीं कह सकता, जब कि कोई मेरी किसी कविताको इसलिये सम्पूर्ण रूपसे बेकार बतलाये कि वह पसन्द नहीं आती, अथवा युक्तियुक्त आधारपर ही उसकी निन्दा करे, जैसे कजिन्स (Cousins) ने आक्षेप किया है कि मेरी कविता "In the Moonlight" (चंद्रिका) का अधिक बड़ा भाग उसके प्रारंभिक पदोंसे हीन कोटिका है। उस आक्षेपसे मैंने बहुत कुछ सीखा: उसने मुझे वह मार्ग दिखाया जिससे मुझे "The Future Poetry" (भावी काव्य) की ओर जाना था। इसका यह अर्थ नहीं कि पहले मैं उस मार्गको जानता ही न था, बल्कि उसने मेरी पहलेसे देखी-समझी चीजको ठीक-ठीक रूप और दिशा दे दी। परन्तु, टैगोरका आक्षेप मेरी समझमें बिलकुल नहीं आता। मैं स्वयं काव्यकी बहुत-सी बातोंको (उदाहरणार्थ, दांतेके Hell —नरक—आदिको) सत्य नहीं मानता और फिर भी उनका भावोद्रेक अनुभव करता हूँ। निश्चय ही नवीन लोकोंको हमारे सम्मुख खोल देना तथा हमारे अपने भावों, विचारों एवं अनुभवोंको परमोच्च वाणीका रूप देना काव्य-शक्तिका अंग है। "लाइफ हेवन्स" शायद अपने पाठकोंके लिये ऐसा न कर सकती हो, पर यदि ऐसी बात है तो यह रचनाका दोष है, सिद्धांतका नहीं।

काव्यका आध्यात्मिक मूल्य

जो कुछ मैं लिखता हूँ उसका बहुत बढ़ा-चढ़ाकर और व्यापक अर्थ लगाना उचित नहीं, अन्यथा उसका वास्तविक भाव समझनेमें सहज ही भूल हो सकती है। मैंने कहा था कि कोई कारण नहीं कि आध्यात्मिक कोटिके काव्यसे —

वैरलैन (Verlaine) स्विनबर्न (Swinburne) या बोदलैर (Baudelaire) के जैसे किसी काव्यसे नहीं — एकदम कोई उपलब्धि ही न हो। इसका मतलब यह नहीं था कि काव्य भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन है। मैंने यह नहीं कहा था कि यह हमें भगवान्की ओर ले जायगा या किसीने काव्य द्वारा भगवान्को उपलब्ध किया है या काव्य स्वयं अपने बलपर हमें सीधे भगवान्के मन्दिरमें ले जा सकता है। यह स्पष्ट ही है कि यदि मेरे शब्दोंका ऐसा अतिरंजित अर्थ लगाया जाय तो वे मूर्खतापूर्ण बन जायंगे और टिक नहीं सकेंगे।

मेरा कथन पूरी तरह स्पष्ट है और उसमें बुद्धि या साधारण समझके विरुद्ध कोई भी बात नहीं है। शब्दमें शक्ति होती है — यहांतक कि साधारण लिखित शब्दमें भी शक्ति होती है। यदि वह अन्तःप्रेरित शब्द हो तब तो उसमें और भी अधिक शक्ति होगी। वह शक्ति किस प्रकारकी या किस प्रयोजनके लिये होती है यह तो अन्तःप्रेरणाके स्वरूप एवं विषयपर निर्भर करता है और साथ ही सत्ताके उस भागपर भी जिसे यह स्पर्श करती है। यदि वह साक्षात् परम शब्द ही हो,—जैसा कि महान् धर्मशास्त्रों, वेदों, उपनिषदों और गीताके कुछ वचनोंमें हम पाते हैं, तो उसमें आध्यात्मिक और ऊपर उठानेवाले संवेगको, यहांतक कि कई प्रकारकी उपलब्धियोंको भी जगानेकी शक्ति हो सकती है। यह कहना कि वह ऐसा नहीं हो सकता आध्यात्मिक अनुभूतिका खण्डन करना है।

वैदिक कवि अपने काव्यको मंत्र मानते थे, वे उनकी अपनी अनुभूतियोंके वाहन थे और दूसरोंके लिये भी अनुभूतिके वाहन बन सकते थे। स्वभावतः ही, वे अनुभूतियां अधिकतर ज्ञानदीप्तियां ही होंगी, दृढ़-स्थिर स्थायी उपलब्धियां नहीं जो कि योगका लक्ष्य हैं — परन्तु वे मार्गके सोपान या कम-से-कम मार्गके प्रकाश तो हो ही सकती हैं। उपनिषदों या गीताके श्लोकोंका मनन करते हुए मुझे पहले अनेक ज्ञानदीप्तियां, यहांतक कि प्रारंभिक उपलब्धियां भी प्राप्त हुई थीं। कोई भी वस्तु जिसके अन्दर वह 'शब्द' एवं प्रकाश हो, चाहे वह उच्चारित हो या लिखित, अन्दरकी इस अन्तर्ज्योतिको प्रज्वलित कर सकती है, मानों एक आकाशमंडलको खोल सकती है, एक ऐसा प्रभावशाली दर्शन करा सकती है जिसका शरीर वह शब्द होता है। तुम स्वयं भी जानते हो कि तुम्हारी कुछ कविताओंने आध्यात्मिक झुकाव रखनेवाले लोगोंको अत्यधिक प्रभावित किया था। "आर्य" के लेख पढ़ते समय बहुतोंके लिये अनुभूतियोंके द्वारा खुल गये हैं, यद्यपि वे लेख काव्य नहीं हैं तथा आध्यात्मिक काव्यकी शक्तिसे रहित हैं — परन्तु यह इस बातका और भी बड़ा प्रमाण है कि आध्यात्मिक विषयोंके लिये भी शब्द शक्तिसे शून्य नहीं हैं। सभी युगोंमें आध्यात्मिक

त्मिक साधकोंने अपनी अभीप्साएं या अनुभूतियां कविता या अन्त:प्रेरित भाषामें व्यक्त की हैं और इससे उन्हें तथा अन्योंको सहायता प्राप्त हुई है। अतएव मेरा ऐसे काव्यके आध्यात्मिक या आन्तरात्मिक मूल्य और आन्तरात्मिक प्रभावका उल्लेख करना असंगत नहीं है।

* * *

यह स्पष्ट ही है कि काव्य साधनाका स्थान नहीं ले सकता, यह उसकी सहचारी वस्तु ही बन सकता है। यदि साधकमें (भक्ति, समर्पण आदिका) भाव हो तो यह उसे प्रकाशित और संपुष्ट कर सकता है; यदि उसे कोई अनुभूति प्राप्त हो तो यह उसे व्यक्त करके उस (अनुभूति) का बल बढ़ा सकता है। जिस प्रकार उपनिषदों या गीता-जैसे ग्रन्थोंका स्वाध्याय या भक्तिपूर्ण गीतोंका गायन, विशेषकर किसी-न-किसी अवस्थामें, सहायता कर सकता है उसी प्रकार यह भी सहायक हो सकता है। साथ ही यह बाह्य चेतना और आन्तर मन या प्राणके बीच एक मार्ग खोल देता है। किन्तु यदि कोई इसी पर रुक जाय तो कुछ अधिक लाभ नहीं होता। अवश्य ही प्रधान वस्तु होनी चाहिये साधना और साधनाका अर्थ है प्रकृतिका शोधन, सत्ताका आत्मनिवेदन, चैत्य और आन्तर मन एवं प्राणका उद्घाटन, भगवान्‌का संपर्क और सान्निध्य, सभी वस्तुओंमें भगवान्‌का साक्षात्कार, समर्पण, भक्ति, चेतनाका वैश्व चेतनामें, सर्वगत एकमेव आत्मामें विस्तारण, प्रकृतिका चैत्य एवं आध्यात्मिक रूपान्तर। यदि इन चीजोंकी तो उपेक्षा कर दी जाय और केवल कविता एवं मानसिक विकास तथा सामाजिक संपर्क ही सारा समय ले लें तो उसका नाम साधना नहीं। साथ ही, कविता सच्ची भावनासे लिखनी होगी न कि यश या स्वान्त:सुखके लिये, बल्कि अन्त:स्फुरणाके द्वारा भगवान्‌के साथ संपर्कके या अपनी अन्त:सत्ताकी अभिव्यक्तिके साधनके रूपमें, जैसे कि वह पूर्वकालमें उनके द्वारा लिखी गई थी जो भारतमें अपने पीछे इतना अधिक भक्तिमय एवं आध्यात्मिक काव्य छोड़ गये हैं। यदि वह केवल पश्चिमीय कलाकार या साहित्यकारकी भावनामें ही लिखी जाय तो सहायक नहीं होती। यहांतक कि कर्म या ध्यान भी तब तक सफल नहीं हो सकता जबतक वह आत्मनिवेदन एवं आध्यात्मिक अभीप्साके ऐसे सच्चे भावसे न किया जाय जो संपूर्ण सत्ताको अपनेमें समेट ले और अन्य सभी वस्तुओंको अपने अधिकारमें कर ले। यहां कितने ही साधकोंमें जो यह त्रुटि है कि वे संपूर्ण जीवन और प्रकृतिको इस प्रकार समेटकर एक ही लक्ष्यकी ओर नहीं मोड़ देते, वही वातावरणको नीचेके स्तरपर ले आती है और मैं

एवं माताजी जो कुछ कर रहे हैं उसमें आड़े आती है।

१६-५-१६३८

काव्य और योग

साहित्य और कला अन्तःसत्ता — आन्तर मन तथा प्राण में प्रवेश करनेके लिये प्रथम द्वार होते हैं या हो सकते हैं; क्योंकि वे वहींसे आते हैं। और यदि कोई भक्ति और ईश्वर-जिज्ञासा आदिकी कविताएं लिखता है अथवा इस प्रकारके गीत रचता है तो इसका अर्थ यह है कि उसके अन्दर एक भक्त या जिज्ञासु है जो अपनी अभिव्यक्ति द्वारा अपने-आपको परिपुष्ट कर रहा है। एक दृष्टिबिंदु और भी है जो हमें लेले द्वारा दिये गये उत्तरके पीछे प्रतीत होता है। जब मैंने उनसे कहा कि मैं योग करना चाहता हूँ पर कर्म और प्रवृत्तिके लिये ही, संन्यास और निर्वाणके लिये नहीं,—किन्तु वर्षों आध्यात्मिक पुरुषार्थ करनेपर भी मैं इस प्रकारका मार्ग नहीं ढूंढ़ सका था और इसी कारण मैंने उनसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की थी,—तो उनका पहला उत्तर यही था कि "तुम्हारे लिये यह सुगम होगा, क्योंकि तुम कवि हो।" परन्तु 'क्ष' ने किसी ऐसे दृष्टिकोणसे प्रश्न नहीं किया था और न मैंने ही इस दृष्टिकोणसे उत्तर दिया था उसके प्रश्नसे ऐसा प्रतीत होता था कि वह साहित्यमें चरित्र-निर्माण करनेके एक विशेष गुणको स्वीकार करता है। मेरा उत्तर इसी बातसे संबंध रखता था।

१८-११-१६३६

* * *

मैंने नहीं देखा कि 'म' ने क्या कहा है। परन्तु, उसने यदि यह कहा है कि तुम अब प्रेम-गीत नहीं गाते इसलिये अनुदार या अवनत हो गये हो तो यह बात मेरी समझमें नहीं आती। यदि किसीको जाज़ (Jazz) में रस नहीं आता और वह केवल महान् गायकोंको या उनके जैसे संगीतको सुननेमें ही अतिशय आनन्द अनुभव कर सकता है तो वह संकीर्ण नहीं हो जाता। जब कोई चिंतन, अनुभव या कलात्मक आत्म-अभिव्यक्तिके निचले स्तरसे ऊपर उठता है तो वह पतन नहीं कहलाता। मैं प्राणिक प्रेमपर कविताएं लिखा करता था, अब मैं यह नहीं कर सकता (क्योंकि यदि मैं प्रेमपर लिखूं तो वह आन्तरात्मिक और आध्यात्मिक अनुभूति होगी), इसलिये नहीं कि मैं संकीर्ण या

अवनत हो गया हूँ बल्कि इसलिये कि मैं उच्चतर चेतनामें केंद्रित हो गया हूँ और फलतः कोई भी निरी प्राणिक वस्तु मुझे व्यक्त नहीं कर सकती। जो कोई भी अपनी चेतनाका स्तर बदल लेगा उसके साथ यही होगा। जो आदमी लड़कपनको पार कर चुका है और बचकाने खिलौनोंसे नहीं खेलता उसके बारेमें क्या कोई यह कह सकता है कि इस परिवर्तनसे वह संकीर्ण और पतित हो गया है ?

२७-८-१९३३

* * *

तुमने जो लिखा है कि समस्त मानवीय महत्ता, प्रतिष्ठा और सफलता अनन्त और सनातनकी महत्ताके सामने कुछ भी नहीं हैं — यह पूर्ण रूपसे सत्य है। इससे दो निष्कर्ष निकल सकते हैं। एक तो यह कि सब-के-सब मानवीय कर्म त्याग कर मनुष्यको कंदरामें चले जाना चाहिये। दूसरा यह कि उसे बढ़कर अहंकारसे बाहर निकल आना चाहिये जिससे प्रकृतिकी क्रियाएं एक दिन, सचेतन रूपमें, अनन्त और सनातनके कार्य बन जायं। स्वयं मैंने तपस्याके भावसे कविता या अन्य सर्जनशील मानव प्रवृत्तियोंका त्याग कभी नहीं किया। वे गौण हो गईं, क्योंकि अन्तर्जीवन उत्तरोत्तर प्रबल होता गया: वास्तवमें मैंने उन्हें छोड़ा ही नहीं, हां, मुझपर इतना भारी कार्य आ पड़ा कि मैं उन्हें जारी रखनेका समय ही नहीं निकल पाया। परन्तु उनके संबंधमें अपनी अहंभावना या प्राणिक आसक्तिको दूर करनेमें मुझे बरसों लग गये, तो भी मैने किसी व्यक्तिको कभी यह कहते नहीं सुना न मेरे मनमें ही कभी यह आया कि यह इस बातका प्रमाण है कि मैं योगके लिये नहीं जन्मा हूँ।

* * *

साधनाके सम्बन्धमें तुम्हें या और किसी साधकको जो कठिनाई अनुभव होती है वह वस्तुतः ध्यान बनाम भक्ति बनाम कर्मकी कठिनाई नहीं। कठिनाई यह है कि साधकको क्या मनोभाव धारण करना चाहिये, उसका दृष्टिकोण क्या होना चाहिये, इसी बातको तुम चाहे जिन शब्दोंमें कह लो। तुम्हारी विशेष कठिनाई यह प्रतीत होती है कि एक ओर तो तुम्हारा मन घोर प्रयत्न कर रहा है और दूसरी ओर तुम्हारा प्राण निराशापूर्ण निर्णय किये बैठा है और शायद वह ध्यानपूर्वक देखता तथा जोरसे नहीं तो दबी आवाजमें ही यह

गुनगुनाता है, "हां, मेरे प्यारे दोस्त, बढ़े चलो, किंतु..." और ध्यानके अन्तमें कहता है, "क्या कहा था तुमसे?"...तुम्हारा प्राण निराश होनेके लिये इतना उद्यत रहता है कि कविताका "शानदार" प्रवाह फूटनेपर भी वह निराशाका उपदेश देनेके लिये उस अवसरका उपयोग करता है! मैं साधकोंकी अधिकतर कठिनाइयोंमेंसे गुजरा हूँ, परन्तु मुझे स्मरण नहीं आता कि काव्य-रचनाके आनन्दको या उसमें होनेवाली एकाग्रताको मैंने अदिव्य तथा निराशाजनक वस्तु समझा हो। यह मुझे अति मालूम पड़ती है।

१३-१२-१९३४

नए कवियोंको सहायता

हां, मैं 'ज' की सहायता अवश्य करता रहा हूँ। जब कोई व्यक्ति सचमुचमें साहित्यिक क्षमताका विकास करना चाहता है तो मैं (लेखक या लेखिकाकी) सहायताके लिये शक्तिका प्रयोग करता हूँ। यदि क्षमता तथा उसका प्रयोग वहां विद्यमान हो, भले ही क्षमता कितनी भी सोई हुई क्यों न हो, तो वह दबाव के पड़नेसे सदा ही बढ़ती है और यहांतक कि वह चाहे जिस दिशामें मोड़ी भी जा सकती है। स्वभावतः ही, कुछ लोग दूसरोंकी अपेक्षा अधिक अनुकूल आधार होते हैं और वे अधिक सुनिश्चित रूपमें तथा शीघ्रताके साथ प्रगति करते हैं। अन्य लोग प्रयोगकी अपेक्षित शक्ति न होनेके कारण साहित्यिक क्षेत्रसे अलग हो जाते हैं। परन्तु, सब मिलाकर देखें तो, इस क्षमताका विकास कराना पर्याप्त सुगम है, क्योंकि लेनेवालेकी ओरसे सहयोग प्राप्त होता रहता है और केवल मानव मनकी तमोमय अप्रवृत्ति एवं अप्रकाशको ही दूर करना होता है और ये मानव-मनके कार्योंमें आनेवाली उतनी बड़ी बाधाएं नहीं हैं जितना बड़ा कि वह प्राणका विरोध अथवा संकल्प या भावनाका असहयोग होता है जो व्यक्तिके सामने तब उपस्थित होता है जब किन्हीं अन्य दिशाओंमें परिवर्तित होने या प्रगति करनेके लिये उसपर दबाव डाला जाता है।

११-६-१९३५

* * *

प्र०– हमें अनुभव होता है कि आपकी शक्ति हमें काव्यके लिये आवश्यक अन्तःप्रेरणा देती है, किन्तु मुझे बहुधा संदेह होता है कि आप उसे एक सतत धाराके रूपमें भेजते भी हैं कि नहीं।

यदि भेजते होते तो ऐसा न होता कि हम पहले तो एक साथ १५-२० पंक्तियां लिख डालते और फिर लगातार दिन-पर-दिन बीत जाते और हम केवल ३-४ पंक्तियां ही लिख पाते।

उ०— निःसंदेह, नहीं। मैं भेजूँ ही क्यों? यह आवश्यक नहीं। मैं समय-समय पर अपनी शक्तिका प्रयोग करता हूँ और फिर उसे वह कार्य निष्पन्न करने देता हूँ जो करना होता है। यह सच है कि कुछ लोगोंमें मुझे सर्जन-अक्षमताके अत्यन्त लम्बे अन्तरालोंको रोकनेके लिये बारंबार शक्तिका प्रयोग करना पड़ता है, किन्तु वहां भी मैं सतत धारा नहीं प्रवाहित करता। ऐसी चीजोंके लिये मेरे पास समय ही नहीं।

यह मन-रूपी यंत्रपर निर्भर करता है। कुछ लोग वेरोकटोक लिखते हैं दूसरे एक विशेष अवस्थामें ही लिख पाते हैं।

१२-६-१९३५

* * *

प्र०— मैंने एक कविता लिखनेकी चेष्टा की, पर प्रार्थना और पुकारके रहते भी असफल रहा। तब मैंने आपको मेरे पास कुछ शक्ति भेजनेके लिये लिखा लो, । मेरा पत्र आपके पास पहुँचनेसे पहलें ही चमत्कार हो गया! क्या अपनी यह प्रक्रिया मुझे समझा सकते हैं? क्या सिर्फ लिखनेकी क्रियाने शक्तिके साथ सम्पर्क स्थापित करनेमें सहायता की है?

उ०— शक्तिके लिये पुकार ही बहुधा पर्याप्त होती है, यह नितान्त आवश्यक नहीं कि वह पहले मेरे भौतिक मन तक पहुँचे। बहुतेरे पत्र लिखते ही शक्ति प्राप्त कर लेते हैं —या (यदि वे आश्रमसे बाहर हों तो) पत्रके वायुमण्डलमें पहुँचते ही।

हां, महत्त्वपूर्ण वस्तु है संपर्क स्थापित करनेमें सफलता। यह तो अदृश्य बटनपर एक प्रकारका झटका मारना या अधिकार कर लेना है या इसे तुम जैसा चाहो कह लो।

२१-६-१९३६

* * *

प्र०– जब आप शक्ति भेजते हैं तो क्या उसके कार्य करनेकें लिये कोई समयकी अवधि होती है या बस वह अन्ततोगत्वा अपना काम कर ही ड़ालती है या फिर क्या वह, आधारको ग्रहणशील न पाकर, कुछ समयके बाद मिट-मिटा जाती है?

उ०– अवधि कोई नहीं। मुझे ऐसे व्यक्तियोंके दृष्टांत मालूम हैं जिनमें मैंने कुछ कार्य संपन्न करानेके लिये किसी शक्तिका प्रयोग किया है और उस समय वह घृणास्पद रूपसे असफल होती दीख पड़ी; पर दो वर्ष बाद प्रत्येक वस्तु ठीक-ठीक ब्योरे और क्रमके साथ उसी प्रकार कार्यान्वित हुई जिस प्रकार मैंने उसकी योजना बनाई थी, यद्यपि तब मैं उस विषयमें विचार करना बिलकुल छोड़ चुका था। तुम्हें पता होना चाहिये पर मेरी समझमें तुम्हें पता नहीं कि यूरोप-में "चैत्य" गवेषणाने सिद्ध किया है कि सभी तथाकथित "चैत्य" संदेश चेतनाके अन्दर, बिना पता चले, डुबकी मार सकते हैं और दीर्घकालके उपरान्त उभर आ सकते हैं। शक्तिके संचारकी बात भी ऐसी ही है।

२१-६-१९३६

* * *

प्र०– यदि किसी मनुष्यमें बाह्य ज्ञान एवं क्षमता हो तो क्या वह आपकी यथार्थ शक्ति ग्रहण नहीं करेगा?

उ०– ऐसा होना जरूरी नहीं। उधर यह भी हो सकता है कि एक और आदमी-के पास ज्ञान तो हो पर वह ग्रहण कुछ भी न करे। यदि वह ग्रहण करे तो उसका ज्ञान एवं सामर्थ्य शक्तिको ब्योरोंके कार्यान्वित करनेमें सहायता पहुँचाते हैं।

१०-४-१९३७

* * *

तुम्हारा विचार यही है न कि या तो मुझे उसको विशेष रूपसे हर एक ब्योरेमें अन्तःप्रेरणा देनी होगी और उसे एक निरा स्वचालित यंत्र बना देना होगा, या यदि मैं ऐसा नहीं करता तो मैं उसपर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता?

वस्तुओंके संबन्धमें यह क्या मूर्खतापूर्ण यान्त्रिक धारणा है ?

२८-४-१९३७

* * *

प्र०— हमारी अंग्रेजी कविताओंमें संशोधनों और परिवर्तनोंके रूपमें हमारा बाह्य मार्गदर्शन करके क्या आप हमारे अन्तर्ज्ञानका विकास नहीं करते ?

उ०— तुम्हारी अंग्रेजी कवितामें मैं ऐसा करता हूँ क्योंकि अंग्रेजी कवितामें मैं सिद्धहस्त हूँ। बंगाली कवितामें मैं ऐसा नहीं करता। वहां तो मैं तुम्हारे दिये विकल्पोंमेंसे चुनाव भर कर देता हूँ। इस पर ध्यान दो कि आजकल मैं 'क्ष' की रचनाओंमें, जहांतक हो सके, संशोधन या परिवर्तन करनेसे बचता हूँ— उसका उद्देश्य है अन्तःप्रेरणाको उसके अन्दर कार्य करनेके लिये प्रोत्साहित करना। कभी-कभी मैं यह देख तो लेता हूँ कि उसे क्या लिखना चाहिये था पर वह उसे बताता नहीं, उसे स्वतंत्र छोड़ देता हूँ कि मेरी नीरवतासे वह उसे प्राप्त कर ले या नहीं।

१०-४-१९३७

* * *

'क्ष' की कविताएं प्रयासमात्र हैं—उसकी उम्रके कविके लिये वे उत्तम प्रयास हैं—अतः मैं उसे यह कहकर उत्साहित करता हूँ कि वे उत्तम प्रयास हैं। उसकी अंग्रेजी कविताएं ही मैं संशोधित करता हूँ, क्योंकि उसमें प्रतिभा है, परन्तु उसका भाषापर अधिकार अभी स्वभावतः ही अत्यन्त अपूर्ण है। अन्य तीन अंग्रेजी भाषाके विद्वान हैं और 'द' तो अत्युच्च कोटिका कवि है। लोगोंके मांगनेपर मैं केवल अपनी सामान्य सम्मति ही देता हूँ, सुझाव कभी नहीं देता। सम्मति या सुझाव मैं अंग्रेजी कवितापर ही देता हूँ और संशोधन भी उसीका करता हूँ।

२२-११-१९३३

* * *

मुझे मालूम नहीं कि मैं बंगला कविताकी किसी प्रकारकी विस्तृत समीक्षाके विषयमें कोई सुझाव दे सकता हूँ, क्योंकि मुझे भाषा 'तथा छन्दके किसी व्युत्पन्न ज्ञानकी अपेक्षा कहीं अधिक हृद्गत बोधपर ही निर्भर करना पड़ता है।

* * *

(उस लेखिकाकी पुस्तकके सम्बन्धमें) मैं कुछ नहीं कहना चाहता, क्योंकि जब मैं किसी नये और तरुण लेखकको निश्चयात्मक रूपसे उत्साहित नहीं कर पाता तब मैं चुप रहना ही पसन्द करता हूँ...प्रत्येक लेखकको अपने ही ढंगसे विकसित होनेके लिये छोड़ देना चाहिये।

३१-५-१९४३

* * *

अब 'क्ष' के सम्बन्धमें। -तुम चाहो तो उसे मेरी सम्मतिका प्रशंसासूचक अंश लिखकर भेज सकते हो। सम्भवतः उसके साथ यह संकेत भी करना चाहिये कि मुझे उसकी रचना आद्योपांत एक समान नहीं लगी, जिसमें बात एकदम मीठी-ही-मीठी न हो। परन्तु संग्रह-पद्य तथा अस्तव्यस्त काव्य-कलाके सम्बन्धमें मेरे शब्द इतने कड़े हैं कि उन्हें आलोचित कविताके रचयिताके पास लिख भेजना ठीक नहीं — वे तो केवल तुम्हारे निजी उपयोगके लिये हैं। रचयिताके पास भिजवानेके लिये मैं इसी विचारको कम कड़े शब्दोंमें प्रकट करता। मैं एक बार पहले भी कह चुका हूँ कि जिन्हें मैं अधिक अच्छी रचना करनेके लिये सहायता नहीं दे सकता उनके लिये मैं कोई भी निन्दात्मक या निराशाजनक बात नहीं लिखना चाहता। 'आर्य' में समालोचनाके लिये मुझे भारतीय लेखकों-से कितनी ही कविताएं प्राप्त होती थीं, परन्तु मैं उनकी समालोचनासे सदैव बचता रहा, क्योंकि उसके लिये मुझे अत्यन्त कठोर होना पड़ता। केवल 'ह' के बारेमें ही मैंने कुछ लिखा, क्योंकि उसके लिये मैं गंभीरतापूर्वक तथा मेरी समझमें न्यायपूर्वक, ठीक-ठीक प्रशंसासूचक आलोचना लिख सकता था।

२५-५-१९३१

अंग्रेजी काव्यमें वर्णवृत्तके प्रयोगार्थ यत्न

'न' की 'लघु-गुरु' में लिखी कविता अति सुन्दर है। परन्तु 'ग' शायद यह

कहेगा कि यह विशुद्ध बंगला छन्द है; मेरी समझमें उसके कथनका अभिप्राय यह है कि यह बंगलामें इतनी अच्छी तरह तथा इतनी आसानीसे पढ़ी जाती है मानो यह किसी अप्रचलित छन्द-शास्त्रके अनुसार नहीं लिखी गई है। मैं समझता हूँ, किसी नए छन्द या छन्द-शास्त्रका उद्देश्य आवश्यक रूपसे यही होना चाहिये; अंग्रेजीमें वर्णवृत्तके प्रयोगका यत्न करते हुए मैं इसी बातकी चेष्टा कर रहा हूँ।

टैगोर

टैगोर अपने ढंगसे उसी लक्ष्यके पथिक रहे हैं जो हमारा है—यह है मुख्य वस्तु, प्रगतिकी ठीक-ठीक अवस्था और मार्गपर पग रखना गौण बातें हैं। कवि या ईशदूत या और कुछ के रूपमें उनकी ठीक-ठीक पद-प्रतिष्ठा तो भावी पीढ़ियां निश्चित करेंगी और उस विषयमें हमें अन्तिम निर्णय पहलेसे जान लेनेके लिये जल्दी मचानेकी जरूरत नहीं। उनके देहावसानके बाद तुरन्त ही या शीघ्र ही किया गया निर्णय सहज ही स्थूल एवं त्रुटिपूर्ण हो सकता है,—क्योंकि यह एक ऐसी पीढ़ी है जो पूर्वपुरखाओं, विशेषकर अभी हाल हीके पूर्वपुरुषोंके देहोंको लगभग नाजी उजड्डपनके साथ पैरों तले रौंदनेमें आनन्द लेती दिखाई देती है। एक जगह मुझे यह पढ़कर विस्मय और कुतूहल हुआ है कि नैपोलियन केवल एक धूम मचानेवाला और अहम्भावी भोंदू था जिसकी सभी बड़ी सफलताओंका श्रेय दूसरोंको है, कि शेक्सपीयर "कोई बड़ी हस्ती" नहीं था और कि अन्य बहुतेरे महापुरुष किसी भी तरह उतने महान् नहीं थे जितना अतीत अज्ञानमय युगोंके मूर्खतापूर्ण आदर-संमानने उन्हें बना दिया है। तो फिर टैगोरको ही सम्मान मिलनेकी क्या संभावना है? पर ये तत्क्षणके किये अन्याय टिकते नहीं—अन्तमें एक विवेकमय और न्यायपूर्ण आकलन किया ही जाता है और वह कालके उलट-फेरोंके बाद भी जीवित रहता है।

निःसंदेह, टैगोर एक ऐसे युगकी सृष्टि थे, जिसे अपने विचारोंमें श्रद्धा थी और जिसके 'नकार' तक सर्जनशील 'सकार' थे। इससे बड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है। उनके बादके विकासपर लगाये गये तुम्हारे लांछन ठीक हो भी सकते हैं या नहीं भी, पर यह मिश्रण भी उस युगका स्वर था और इसने किसी नई और सच्ची चीजसे घुल-मिलकर उससे एक हो जानेकी प्रत्यक्ष आशा प्रकट की थी—इसीलिये यह सर्जन कर भी सका। अब वह समस्त आदर्श-वाद एक बड़ी भारी विरोधी घटनाके कारण चूर-चूर हो गया है और प्रत्येक व्यक्ति उसकी पोलें खोलनेमें लगा है—पर यह कोई भी नहीं जानता कि

उसकी जगहपर लाया क्या जाय। संदेहवाद और नारे, "हाइल-हिटलर (जय हिटलर)" और फासिस्ट अभिवादन, पञ्चवर्षीय योजना और हर आदमीको ठोक-पीटकर एक ही बेडौल आकारमें गढ़ देना, एक ओर तो सभी आदर्शोंका भ्रान्तिमुक्त निषेध और दूसरी ओर "मेरी आंखें बन्द और हर एककी आंखें बन्द" कहते हुए दलदलमें अन्धी डुबकी मारना और उससे यह आशा रखना कि वहां कोई दृढ़ आधार मिल जायगा — इन सब चीजोंका मिश्रण हमें अधिक दूर नहीं ले जायगा। और फिर वहां और है ही क्या? जबतक नये आध्यात्मिक मूल्य नहीं ढूँढ़ निकाले जाते, कोई महान् स्थायी सर्जन सम्भव नहीं।

२४-३-१९३४

विभाग सात

संस्मरण और टिप्पणियां

संस्मरण और टिप्पणियां

मानव-प्रकृतिके विषयमें अन्तिम बात

झूठ? हां, एक दिन कैम्ब्रिजमें एक पंजाबी छात्रने अपने कथनकी स्पष्टता और व्यापक गम्भीरतासे हमें अवाक् कर दिया: "झूठे (liars)! पर हम सभी तो झूठे (liars) हैं!" ऐसा लगा कि वह कहना चाहता था lawyers (लायर्स अर्थात् वकील), पर उसके उच्चारणने उसकी उक्तिको एक ऐसे दार्शनिक कथन और व्यापक दार्शनिक सिद्धान्तका गहरा बल दे दिया जो उसका अपना अभिप्राय था नहीं! पर यह मुझे मानव प्रकृतिके सम्बन्धमें अन्तिम शब्द प्रतीत होता है। इतनी बात अवश्य है कि झूठ कभी तो जान-बूझकर बोला जाता है, कभी अस्पष्टतया जाने-अनजाने और कभी बिलकुल अनजानमें, क्षणिक और अचेतन रूपमें। तो यह रहा तुम्हारे प्रश्नका उत्तर!...

नि:संदेह, झूठों (असत्यों)के बारेमें तुम्हारा यह कहना ठीक है कि ये सब प्रकारके होते हैं, और यह कहना भी ठीक है कि सभी मनुष्य दुराचार (दुराचारी) हैं,—हां, इतना जरूर है कि कुछ तो पुण्यात्मा दुराचारी (दुराचार) होते हैं, कुछ पापी दुराचारी और कुछ मिले-जुले! मेरा अभिप्राय यह नहीं कि मैं कहीं-कहीं इक्के-दुक्के हरिश्चन्द्रों और शुकदेवोंका अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करता पर उन्हें ढूंढ़नेके लिये मनुष्यको खुर्दबीन या दूरबीन लेनी होगी।

आई. सी. एस. के उत्तरपत्र

प्र०— क्या आप समझते हैं कि आपके १८६२के आई०. सी०. एस० परीक्षाके उत्तरपत्र अधिकारियोंने सम्भाल रखे हैं? मुझे विचार आया कि सम्भव हो तो उन्हें हमारे पास अवशेषके रूपमें सुरक्षित रखनेके लिये प्राप्त किया जाय। सम्भवत: वे उन्हें कहीं बाहर नहीं जाने देते या फिर उनका निपटारा ही कर चुके होंगे।

उ०— यह सम्भावना नहीं कि वे ऐसी चीजें रखते हों।

१-५-१९३६

मराठा भोजनका स्वाद

मैं आशा करता हूँ कि देवासके यहां तुम्हारा भोजनका अनुभव मेरे मराठा भोजनके पहले अनुभवके जैसा नहीं हुआ। किसी कारण मेरा भोजन गायब था और एक आदमी मेरे पड़ोसी मराठा प्रोफेसरके यहां जाकर मेरे लिये खाना ले आया। मैंने एक ग्रास लिया और बस एक ही। राम रे! मुँहमें एकाएक आग लग जाती तो भी उससे अधिक आश्चर्य न होता। संपूर्ण लन्दन-को एक ही लहरकी प्रचण्ड दुःखदायी चपेटमें भूमिसात् कर डालने पर्याप्त था वह ग्रास।

काश्मीरकी मोहकता

तुम्हारे काश्मीरके आकलनसे मैं सर्वथा सहमत हूँ। उसके पर्वतों और नदियोंका मोहक सौन्दर्य और शिकारेके धीमे-धीमे गुजरते विश्रांति-कालमें निरतिशय सुषमाके बीच आवारागर्दीका आदर्श-जीवन — वह एक प्रकारका पृथ्वीगत स्वर्ग ही था — इसके साथ ही जहां झेलम काश्मीरसे निचाईपर मैदानोंकी ओर तेजीसे भागी चली जाती है वहां उसके तटोंपर बैठ काव्य लिखना भी। दुर्भाग्यवश इस स्वर्ग-कालमें कटौती करनेके लिये अति परिश्रमी गायकवाड़ हमारे साथ थे! स्वर्गके सम्बन्धमें उनकी धारणा यह थी — प्रशासनिक कागज़-पत्रोंको पूरी तरह देखना-भुगताना और मुझसे तथा दूसरोंसे भाषण लिखवाना जिनका सारा श्रेय उन्हींको मिलता था। किन्तु आखिरकार हर-एक का अपनी प्रकृतिके अनुसार अपना ही ईडन (Eden) स्वर्ग होता है।

७-११-१९३८

गायकवाड़

गायकवाड़से जब मेरा परिचय हुआ तब वे किसी भी धर्म-मतको न मानने-वाले स्वतन्त्र विचारक थे; यदि उसके बाद उन्होंने अपने विचार बदल लिये हों तो मुझे मालूम नहीं। लोकरीतिके अनुसार वे निःसंदेह हिन्दू हैं।

७-७-१९३६

स्वामी ब्रह्मानन्दकी आयु

निर्विवाद प्रमाण कोई नहीं। ४०० वर्ष तो अत्युक्ति है। तथापि यह सुविदित है कि वे नर्मदाके तटपर ८० वर्ष रहे और जब वे वहां पहुँचे थे तब भी देखनेमें ऐसी आयुके लगते थे जिसमें प्रौढ़ता जराकी ओर मुड़ने लगती है। उनकी मृत्युसे जरा पहले जब मैं उनसे मिला तब वे भव्य डील-डौल-वाले व्यक्ति लगते थे जिनमें सफेद दाढ़ी और धौले बालोंके सिवा बुढ़ापेके कोई भी चिह्न नहीं दिखते थे, वे बहुत ही लम्बे, तगड़े, प्रतिदिन मीलों चलनेमें समर्थ और अपने युवा शिष्योंको थका देनेवाले थे, चलते भी इतना तेज़ थे कि शिष्यगण पिछड़ जाते थे, उनका था विशाल मस्तक एवं भव्य मुखमण्डल जो अधिक प्राचीन युगोंके आदमियोंका लगता था। उनके मुँहसे लगभग संयोग-वश जो वचन निकले उनके सिवा उन्होंने अपनी आयु या अपने अतीतकी भी चर्चा कभी नहीं की। इनमेंसे एक वचन उन्होंने अपने शिष्य, बड़ौदाके सरदार, मजूमदारसे, कहा था जो मेरे सुपरिचित थे (यहां प्रसंगवश यह कह दूँ कि इन्हींके घरकी सबसे उपरली मंजिल पर मैं जनवरी १९०९में लेलेके साथ बैठा था और मुझे वहां मोक्ष और निर्वाणका निर्णयात्मक अनुभव हुआ था)। मजूमदारको पता चला कि स्वामी जीके एक दांतमें कुछ खराबी है और वे दन्तव्यथासे पीड़ित हैं। वे उनके लिये दांत साफ करनेकी एक दवा, फ्लोरिलीनकी, जो उन दिनों बहुत प्रचलित थी, एक बोतल ले आये। उन योगीने यह कहते हुए दवा लेनेसे इन्कार कर दिया, "मैं दवाइयोंका प्रयोग कभी नहीं करता। मेरी एकमात्र ओषधि है नर्मदाका जल। जहांतक दांतकी बात है, मैं भाओ गिरडीके दिनोंसे इसकी पीड़ा भोगता आ रहा हूँ। भाओ गिरडी मराठा सेनापति सदाशिव राव भाओ थे जो पानीपतके युद्धमें* तिरोहित हो गये थे और उनका शरीर फिर कभी नहीं मिला। बहुतोंने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि ब्रह्मानन्दजी स्वयं भाओ गिरडी थे, पर यह कल्पना ही थी। जो भी व्यक्ति ब्रह्मानन्दजीको जानता था वह उनके किसी भी वक्तव्य पर संदेह नहीं करेगा — वे पूर्ण सादगी और सचाईके धनी थे, न वे यश चाहते थे न अपनेको दूसरोंपर थोपना ही। जब उनकी मृत्यु हुई तब भी वे पूर्ण बल-वीर्यसे संपन्न थे। उनका निधन जरा-जर्जरित होनेसे नहीं बल्कि इस दुर्घटनाके कारण हुआ कि एक दिन नर्मदा की रेतीपर चलते समय एक जंगदार कील पैरमें घुस जानेसे उनका रक्त विषाक्त हो गया। मैंने माताजीको उनके बारेमें

*१४-१-१७६१ को।

बताया था। इसीलिये उन्होंने अपनी पुस्तक 'मातृवाणी (Conversation) *' में, जो सार्वजनिक प्रचारके लिये नहीं लिखी गई थी, उनका उल्लेख किया था — अन्यथा वे कुछ भी न कहतीं, क्योंकि ब्रह्मानन्दजीका २०० वर्षोंसे अधिकका दीर्घ जीवन उनके अपने आकस्मिक वचनपर ही निर्भर करता है और उनके वचनमें श्रद्धा होनेका विषय है। उसका "वैध" प्रमाण कोई नहीं है। मैं कह सकता हूँ कि, जहांतक मेरी जानकारी है, उनके शिष्योंमेंसे कम-से-कम तीनने यौवनका एक असाधारण रूप एवं ऊर्जा अपेक्षाकृत लम्बी या काफी परिपक्व वयतक बनाये रखी — परन्तु जो राजयोग और हठयोग दोनों-का साथ-साथ अभ्यास करते हैं उनमें यह अवस्था शायद असामान्य नहीं होगी।

१-२-१९३६

बहिन निवेदिता और बहिन क्रिस्तीन

बहिन निवेदिताको मैं अच्छी तरह जानता था (वर्षोंतक वे मेरी मित्र रहीं और राजनीतिक क्षेत्रमें सहयोगिनी भी रहीं) और बहिन क्रिस्तीनसे भी मेरी भेंट हुई थी,—वे दोनों विवेकानन्दकी अन्तरंग यूरोपीय शिष्याएं थीं। दोनों पूरी तरहसे पश्चिमीय थीं और उनमें हिंदू दृष्टिकोण लेशमात्र भी नहीं था। यद्यपि बहिन निवेदितामें, जो आयरिश महिला थीं, तीव्र सहानुभूतिके द्वारा अपने समीपवर्ती लोगोंकी जीवन-प्रणालीमें पैठनेकी शक्ति थी, फिर भी उनकी अपनी प्रकृति अन्ततक पूर्ववालोंसे भिन्न ही रही। तथापि वेदान्तकी पद्धतिके अनु-सार उपलब्धि लाभ करनेमें उन्हें कोई कठिनाई अनुभव नहीं हुई।

"भारतके अत्यन्त खतरनाक व्यक्ति"

भगवान्‌को पाना कठिन हो सकता है, परन्तु यदि कोई उन्हींमें लगा रहे तो उनकी प्राप्तिकी कठिनाइयां जीती जा सकती हैं। यहांतक कि मेरा कभी न मुस्करानेका स्वभाव भी पराभूत हो गया था जिसपर नेविन्सनने बीससे भी अधिक वर्ष पहले भयपूर्वक टिप्पणी की थी — "भारतके अत्यन्त खतरनाक व्यक्ति", अरविन्द घोष जो "कभी नहीं मुस्कराते"। उसे यह भी जोड़ देना चाहिये था: "किन्तु जो सदा मजाक करते हैं" — पर उसे यह मालूम ही नहीं था, क्योंकि मैं उसके सामने बहुत गंभीर रहता था, या शायद उन दिनों

*जुलाई १९७१का संस्करण पृ. १०३ देखें।

इस दिशामें मेरा पर्याप्त विकास नहीं हुआ था। जो भी हो, यदि तुम 'उसपर' —कभी न मुस्करानेकी मेरी वृत्तिपर— विजय पा सको तो तुम अन्य सब कठिनाइयोंको भी अवश्य जीत लोगे।

११-२-१९३७

कठोर और गुरु-गम्भीर !

प्र०— अधिमानस हमसे इतनी दूर प्रतीत होता है, और आपकी हिमालय-की-सी कठोर तपस्या और गुरु-गम्भीरता देखकर तो मेरा दम फूलने और हृदय धक-धक करने लगता है !

उ०— ओह वाहियात ! कठोर और गुरु-गम्भीर, निष्ठुर और दारुण हूँ मैं ! इन जिन निन्दनीय वस्तुओंका गोला मुझपर फेंका जाता है उन वस्तुओंमेंसे कोई भी मुझमें कभी नहीं रही ! जब मैं ऐसी बातें सुनता हूँ तो अरविन्द-विपरीत निराशाके भावमें कराहने लगता हूँ। तुम सब लोगोंकी साधारण बुद्धिको क्या हो गया है ? अधिमानसतक पहुँचनेके लिये इस सीधे-सादेपर उपयोगी गुणसे विदा लेनेकी जरा भी जरूरत नहीं। प्रसंगवश, साधारण-बुद्धि तर्क नहीं है (जो संसारमें कम-से-कम साधारण बुद्धि-जैसी चीज है), इसका अर्थ बस यह है —वस्तुओंको बिना घटाये-बढ़ाये वैसी देखना जैसी वे हैं, जंगली कल्पनाएं न करना, इसी प्रकार "न मालूम क्यों" इस ढंगकी निराशाजनक बातें कहकर निराश भी न होना।

२३-२-१९३५

पीड़ा और भौतिक आनन्द

दिव्य हर्षातिरेकके सम्बन्धमें बात यह है कि सिर या पैर या और कहीं लगी हुई चोटको पीड़ाके भौतिक आनन्दके साथ अथवा पीड़ा और आनन्द या शुद्ध भौतिक आनन्दके साथ ग्रहण किया जा सकता है—क्योंकि मैंने स्वयं अनेक बार इच्छाके बिना ही ऐसा परीक्षण किया है और उसमें सम्मान ('आनर्स') के साथ ही उत्तीर्ण हुआ हूँ। प्रसंगतः यह परीक्षण बहुत पहले अलीपुर जेलमें आरम्भ हुआ जब कि मुझे कोठरी में एक प्रकारकी लाल और डरावनी सूरत-वाली लड़ाकू चींटियोंने काट खाया था। तब मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि सुख-दुःख हमारी इंद्रियोंके अभ्यास हैं। परन्तु दूसरोंसे मैं उस असामान्य

प्रतिक्रियाकी आशा नहीं करता। और शायद उसकी भी अपनी सीमाएं हैं।
१३-२-१९३२

प्रार्थना कोई मशीन नहीं

प्रार्थनाके विषयमें कोई पक्का नियम नहीं निर्धारित किया जा सकता। कुछ प्रार्थनाओंका उत्तर मिलता है, सबका नहीं। कोई उदाहरण? 'संजीवनी'के संपादक मेरे मेशो केके मित्र किंचित् भी भावुक, गुह्यविद् एवं अतीन्द्रियदर्शी व्यक्ति नहीं थे, यहां तक कि कल्पनाशील भी नहीं। उनकी ज्येष्ठ कन्याको डाक्टरोंने प्रत्येक साधन-उपचारका प्रयोग करनेके बाद असाध्य रोगी कहकर छोड़ दिया था। सब दवाइयां वेकार समझकर बन्द कर दी गईं। उसके पिताने कहा "अब केवल ईश्वर का ही सहारा है, आओ हम प्रार्थना करें"। उसने वैसा ही किया, और उसी क्षणसे लड़की अच्छी होने लगी, आन्त्रज्वर (टाइफॉइड) और उसके सभी लक्षण चले गये, मृत्यु भी। इस प्रकारके कितने ही दृष्टान्त मुझे ज्ञात हैं। ठीक? तुम पूछ सकते हो तो फिर सभी प्रार्थनाओंका उत्तर क्यों नहीं मिलना चाहिये? पर मिलना क्यों चाहिये? यह कोई मशीन नहीं — छेदमें अर्जी डाली कि मुँहमांगी वस्तु मिल गई। इसके अतिरिक्त, मनुष्यजाति एक ही क्षण जो परस्पर-विरोधी वस्तुएं मांगती रहती है उन सब-पर विचार करते हुए ईश्वर, यदि उसे वे सभी स्वीकारनी और देनी पड़ें तो, अत्यन्त असमंजसमें पड़ जायगा — इससे काम नहीं चलेगा।

७-१०-१९३६

गुरुगिरी

कृपाके विषयमें 'क्ष' का आक्षेप तभी उचित ठहरता यदि धार्मिकोंकी बात होती, पर आध्यात्मिक विषयोंमें उनके लिये कोई स्थान नहीं। स्वभावतः ही उनका कार्य कृपा का ही नहीं, वरन् प्रत्येक वस्तुका एक सूत्र एवं शुष्क ढांचा बना डालना होता है। यहांतक कि "उठो, जागो (उत्तिष्ठत, जाग्रत*)" की उद्बोधक वाणी भी एक प्रकारके अहंकार या एक सूत्रकी ओर ही ले जाती है — जब हर-एक ही दिव्य वस्तुओंके साथ व्यवहार करता है तब ऐसी बातोंसे नहीं बचा जा सकता। मुझे भी गुरुगिरी पर इसी प्रकारकी प्रबल आपत्ति थी,

*कठोपनिषद् १-३-१४

वस्तुओंके व्यंग या यों कहें कि उनके पीछे विद्यमान कठोर सत्यने मुझे गुरु बनने और गुरुवादका प्रचार करनेके लिये विवश कर दिया। ऐसी है विधिकी लीला।

१६-१-१९३६

शिव-स्वभाव

मेरे अन्दर शिवके आदर्शके लिये कोई विशेष रुचि नहीं है, यद्यपि शिव-स्वभाव-का कुछ अंश मेरे अन्दर जरूर होगा। मेरे अन्दर न तो कभी धन-शक्तिका त्याग करनेकी प्रवृत्ति रही और न उसके प्रति आसक्ति ही। मनुष्यको इन चीजों-से ऊपर उठना ही चाहिये और इनसे ऊपर उठकर ही इनपर भली-भांति अधिकार किया जा सकता है।

१५-१-१९३६

सच्चा संन्यास

यह इसपर निर्भर है कि संन्यास शब्दसे तुम क्या समझते हो। मेरे अन्दर कोई कामनाएं नहीं हैं, किंतु मैं बाहरसे संन्यासी का-सा जीवन नहीं बिताता; हां, केवल एकांतवास करता हूँ। गीताके अनुसार, त्याग अर्थात् कामना और आसक्तिसे आन्तरिक मुक्ति ही सच्चा संन्यास है।

९-७-१९३७

निर्धनता

निर्धनता मेरे लिये न तो कभी किसी प्रकारकी विभीषिका रही है, न ही वह मेरे कार्यकी प्रेरणाका स्रोत है। लगता है तुम यह भुला देते हो कि मैंने बड़ौदेका अपना अत्यन्त सुरक्षित और "अच्छा खासा" पद त्याग दिया जब कि मुझे ऐसा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं आ पड़ी थी, और कि मैंने राष्ट्रिय कालिज-के आचार्य-पदके १५० रु० भी त्याग दिये, अपने पास निर्वाहका कोई साधन नहीं रहने दिया। यदि धन मेरे कार्यका प्रेरक होता तो मैं ऐसा नहीं कर सकता था।

यदि तुम यह नहीं अनुभव करते कि एक ऐसे देशमें, जो स्वाधीनताके हित क्रांतिकारी आन्दोलनके लिये बिलकुल ही तैयार नहीं, ऐसा आन्दोलन

शुरू करने तथा दस वर्ष और इससे भी अधिक उसे जारी रखनेका अर्थ जोखिम-भरा जीवन बिताना नहीं है, तो तुम्हारी खोपड़ीको शब्दोंसे कितना ही क्यों न कुरेदा जाय तुम्हें यह मामूली-सी अनुभूति नहीं हो पायगी। और अब रही योगकी बात, तुम स्वयं गला फाड़-फाड़कर इसके भीषण, वीभत्स, करुणाजनक और त्रासकारक संकटोंके सम्बन्धमें लम्बी वक्तृता झाड़ रहे थे। अतः—

सामाजिक शिष्टाचार और आध्यात्मिक जीवन

लेकिन आखिर भद्रता और सामाजिक शिष्टाचार आध्यात्मिक अनुभव या सच्ची योग-सिद्धिके अंग या कसौटी कबसे बन गए? आध्यात्मिकताकी कसौटी-के रूपमें इनका मूल्य अच्छा नाच सकने या सुन्दर कपड़े पहन सकनेसे बढ़कर नहीं है। जिस प्रकार ऐसे बहुत अच्छे और दयालु व्यक्ति देखनेमें आते हैं जो अपने व्यवहारमें गंवार और असभ्य होते हैं, उसी प्रकार ऐसे अत्यन्त आध्यात्मिक मनुष्य भी हो सकते हैं (यहां आध्यात्मिक मनुष्योंसे मेरा मतलब उनसे है जिन्हें गम्भीर आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त हों) जिन्हें भौतिक कर्म-जीवन पर कुछ भी अधिकार प्राप्त न हो (प्रसंगतः, अनेक बहुश्रुत व्यक्ति भी ऐसे ही होते हैं) और जो शिष्टाचारके विषयमें तनिक भी सावधान न हों। मैं समझता हूँ स्वयं मुझपर भी असभ्य और उच्छृंखल व्यवहारका दोष लगाया जाता है, क्योंकि मैं लोगोंसे मिलना अस्वीकार कर देता हूँ, पत्रोंका जवाब नहीं देता, तथा और भी कितनी तरहसे दुर्व्यवहार करता हूँ। मैंने एक प्रसिद्ध संन्यासीके विषयमें सुन रखा है कि वह अपनी एकान्त कुटीमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको पत्थर मारा करता था, क्योंकि उसे शिष्योंकी चाह नहीं थी और प्रार्थियोंकी बाढ़को रोकनेका उसे और कोई उपाय नहीं दीखता था। कम-से-कम मैं यह फैसला करते हुए सकुचाता हूँ कि ऐसे लोगोंको आध्यात्मिक जीवन या अनुभव-की प्राप्ति नहीं हुई। निःसंदेह, मैं यह अधिक अच्छा समझता हूँ कि साधक एक दूसरेके साथ उचित रूपसे समझ-बूझकर व्यवहार करें, पर यह बात सामू-हिक जीवन एवं सामंजस्यके नियमके लिये है, योगकी सिद्धि या आन्तरिक अनुभूतिके अपरिहार्य चिह्नके रूपमें नहीं है।

दिसम्बर १९३५

यौगिक शांति और सात्त्विक स्वभाव

प्र०— सामान्य जीवनमें 'सात्त्विक' स्वभावके लोग क्रियात्मक रूपमें

उन साधकोंकी भांति व्यवहार करते हैं जिन्हें योगके फलस्वरूप आध्यात्मिक शान्ति उपलब्ध होती है। क्या यह कहा जा सकता है कि 'सात्त्विक' लोगोंमें भी शान्ति उतरती है पर गुप्त रूपमें ही, अथवा क्या उनका स्वभाव उनके अतीत जीवनोंके कारण ही सात्त्विक होता है?

उ०– निःसंदेह, मनमें निवास करनेकी शक्ति उन्हें विगत विकासके द्वारा ही प्राप्त होती है। परन्तु आध्यात्मिक शान्ति कुछ और ही वस्तु है तथा मानसिक शान्तिसे अनन्तगुना अधिक है, और उसके परिणाम भी अलग ही होते हैं, केवल स्पष्ट चिन्तन या कुछ संयम या सन्तुलन या सात्त्विक अवस्था ही नहीं। पर उसके महत्तर परिणाम केवल तभी पूर्ण एवं स्थायी रूपसे प्रकट हो सकते हैं जव वह देह-संस्थानमें काफी देरतक स्थिर रहे अथवा जव व्यक्ति अपनेको सिरके ऊपर उसीके अन्दर फैला हुआ और साथ ही सब तरफ अनन्तताकी ओर फैलता हुआ एवं ठेठ कोषाणुओंतक उसीके द्वारा ओतप्रोत अनुभव करे। तव वह शान्ति अपने संग उस गम्भीर, विशाल और ठोस सुस्थिरताको वहन करती है जिसे कोई भी वस्तु चलायमान नहीं कर सकती — ऊपर-ऊपर तूफान और युद्ध भले ही चलता रहे। यौवनकालमें मैं भी वैसी सात्त्विक प्रकृतिका था जिसका तुमने वर्णन किया है, परन्तु जब ऊर्ध्वकी शान्तिका अवतरण हुआ, तो वह बिलकुल और ही चीज थी। सत्त्वगुण निर्गुणमें लीन हो गया और अभावात्मक निर्गुण भावात्मक त्रैगुण्यातीतमें।

२२-७-१९३५

शारीरिक कर्मके लिये प्रशिक्षण

यह रुचिका नहीं, बल्कि क्षमताका प्रश्न है — यद्यपि साधारणतया (पर सदा नहीं) रुचि क्षमताके साथ ही रहा करती है। परन्तु क्षमता भी विकसित की जा सकती है और रुचि भी, अथवा यूँ कहना चाहिये कि रस भी, जिसकी तुम बात करते हो, विकसित किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति अपने-आपको सौंपे हुए किसी भी कर्मको भगवान्‌के प्रति अर्घ्यके रूपमें सहर्ष नहीं अपना सकता तो यह नही कहा जा सकता कि — इस योगके प्रयोजनके लिये — वह पूर्ण यौगिक अवस्थामें प्रतिष्ठित है। एक समय था जब मैं किसी भी शारीरिक कर्मके लिये सर्वथा अयोग्य था और केवल मानसिक कर्मकी ओर ही ध्यान देता था, परन्तु अपनी सत्ताके इस ज्वलन्त दोषको दूर करने तथा

देह-यन्त्रको उपयुक्त एवं सचेतन बनानेके लिये मैंने शारीरिक कार्योंको सावधानी तथा पूर्णताके साथ करनेका अभ्यास किया। यहां रहनेवाले और कइयोंकी भी ऐसी ही अवस्था थी: ऐसी प्रकृति, जो बाहरी कार्य और कर्मशीलताको स्वीकार करनेके लिये अभ्यस्त नहीं होती, मानसिक रूपमें अत्यन्त भारी-भरकम हो जाती है—पर शारीरिक रूपमें बेकारं और तामसिक रहती है। शारीरिक कर्मको केवल तभी एकदम छोड़ा जा सकता है यदि कोई अपाहिज हो गया हो या शरीरसे अत्यन्त दुर्वल हो। अवश्य ही मैं आदर्शकी बात कह रहा हूँ—बाकी सब तो व्यक्तिकी प्रकृतिपर निर्भर करता है।

सेवकोंपर नियन्त्रण करनेका कार्य हो या गोदामका कार्य, काव्य हो या चित्रकला, सभी कार्योंकी अधिष्ठात्री देवी सदा वही एक हैं—शक्ति, श्रीमां।

११-१२-१९३४

सुस्तानेकी शक्ति

अच्छा तो, भारी कामकी बारी खतम करके कुछ सुस्ता लेनेकी तुम्हारी सत्कामनाके विषयमें 'कैसे' का कोई प्रश्न नहीं है: मनुष्य बस जरा सुस्ता लेता है यदि उसमें वैसा करनेकी क्षमता हो! मुझमें वह क्षमता है, उसे दिखानेके अवसर अब नहीं मिलते; परन्तु उसकी शिक्षा नहीं दी जा सकती न उसकी किसी प्रक्रियाका ही आविष्कार किया जा सकता है: बस वह तो प्रकृतिकी एक देन है।

अपरिचित लोगोंको अन्तर्दर्शनद्वारा देखना

हां, निश्चय ही, मुझे 'ब' की याद है। मैं यह नहीं कह सकता कि वह मेरी स्मृतिमें है क्योंकि मैंने उसे कम-से-कम शारीरिक रूपसे कभी नहीं देखा। संभवतः वह अतिमानससे जो अभिप्राय समझता है वह ऊर्ध्व मन है—जिसे मैं अब प्रबुद्ध मन—संबोधि-मन—अधिमानस कहता हूँ—प्रारम्भमें मैं भी ऐसा ही घपला किया करता था।

यह चर्चा करनेका कुछ विशेष लाभ नहीं कि क्या वह वास्तवमें माताजीको देखता है या अपने मनमें प्रतिबिंबित उनकी प्रतिमाको। किंतु किसी ऐसे व्यक्तिको, जिसे हमने पहले कभी नहीं देखा, अन्तर्दर्शन द्वारा देखना असम्भव तो क्यों कोई असाधारण बात भी नहीं, तुम यों सोचते हो मानों आन्तर मन और इंद्रिय अर्थात् आन्तर दर्शन बाह्य मन और इंद्रिय अर्थात् बहिर्दर्शनसे ही परिसीमित

हो अथवा केवल उसीकी प्रतिच्छाया हो। आन्तर मन, इंद्रिय और दर्शन यदि केवल यही हों और इससे अधिक और कुछ भी न हों तो उनका कुछ विशेष प्रयोजन नहीं होगा। अन्तर्दर्शनकी क्षमता अन्तरिंद्रिय एवं अन्तर्दृष्टिकी एक अन्यतम आरम्भिक शक्ति है और यह केवल योगियोंमें ही नहीं बल्कि साधारण पारदर्शियों, स्फटिकदर्शियों आदिमें भी होती है। साधारण पारदर्शी, स्फटिक-दर्शी आदि ऐसे लोगोंको, जिन्हें उन्होंने पहले कभी नहीं देखा होता न उनके बारेमें कभी सुना ही होता है, किन्हीं सुनिश्चित परिस्थितियोंमें कुछ खास क्रियाएं करते हुए देख सकते हैं, और उस अन्तर्दर्शनकी प्रत्येक छोटी-मोटी बात बादमें उन देखे हुए व्यक्तियोंके द्वारा संपुष्ट होती है—इस प्रकारके अनेक असंदिग्ध तथा आश्चर्यजनक दृष्टान्त पाये जाते हैं। माताजी ऐसे लोगोंको जिन्हें वे नहीं जानतीं, सदा ही देखा करती हैं, उनमेंसे कई बादमें यहां आते हैं अथवा उनके फोटो यहां आते हैं। स्वयं मुझे भी ऐसे अन्तर्दर्शन हुए हैं, हां, साधारणतया मैं उन्हें स्मरण करने या परखनेका यत्न नहीं करता। परन्तु शुरू-शुरूमें इस प्रकारके जो अन्तर्दर्शन हुए उनमें दो विलक्षण कोटिके थे और इसीलिये वे मुझे अभीतक स्मरण हैं। एक बार मैं यहांके नव-निर्वाचित प्रति-निधिको देखनेका यत्न कर रहा था, पर मुझे उनसे सर्वथा भिन्न कोई व्यक्ति, वह व्यक्ति जो यहां बादमें गवर्नर होकर आया, दिखाई दे गया। साधारण घटनाक्रममें मेरा उनसे मिलना कभी सम्भव न होता, परन्तु एक अनोखी भूल हो गयी और उसके परिणामस्वरूप मैं उनके दफ्तरमें जा पहुँचा, उनसे मिला और देखते ही पहचान लिया। दूसरा कोई वी० आर० था जिससे मुझे मिलना था, परन्तु उसका अन्तर्दर्शन मुझे उस रूपमें नहीं हुआ जो मेरे यहां वस्तुतः आनेके दिन उसका था, बल्कि उस रूपमें हुआ जो मेरे घरमें एक वर्ष रहनेके बाद उसका हो गया। वह उस अन्तर्दर्शनकी हू-ब-हू प्रतिमूर्त्ति बन गया, बारीक-छँटे बाल, रूखा-सूखा, भद्दा, फुर्तीला चेहरा, मेरे पास जो चिकने-चुपड़े मुँह-वाला उत्साही वैष्णव आया था उससे ठीक उल्टा। इस प्रकार, वह एक ऐसे मनुष्यका अन्तर्दर्शन था जिसे मैंने नहीं देखा था, परन्तु जैसा उसे भविष्यमें बनना था उसीका दर्शन, अर्थात् एक भविष्य-संबंधी अन्तर्दर्शन था।

२४-१०-१९३४

हिलनेका संवेदन

प्र०— मैं एक मचानपर (भित्तिपर) खड़ा था जो इधर-उधर हिल रही थी। एक बार मैंने पासकी दीवारोंको पेंडुलमकी न्याईं हिलते

देखा। उसका कारण मुझे समझमें आ गया, परन्तु दीवारें ऐसे स्पष्ट रूपमें झूमती दिखाई देती थी कि मैंने यह निश्चय करनेके लिये कि वे हिल नहीं रही हैं पासकी दीवारपर हाथ रखा —— तथापि "दृष्टि-मानस"ने "स्पर्श-मानस" की साक्षीको माननेसे इन्कार कर दिया !

उ०— परन्तु उसका कारण क्या था ? मानों मस्तिष्कके किसी केंद्रपर पड़े हुए संस्कारके अन्दर मचानके हिलनेका अनुभव अपनेको दीवारोंमें संक्रांत कर रहा हो। एक समय नौकामें बहुत देरतक यात्रा करनेके बाद उससे बाहर आनेपर मुझे दो-एक बार उसके हिलनेका संवेदन हुआ था, मानो मेरे चारों ओरकी धरती नौकाकी तरह डोल रही हो —— निःसंदेह वह एक सूक्ष्म भौतिक अनुभव था पर था अत्यन्त सुस्पष्ट।

४-४-१९३५

शरीरके बहिःस्थित किसी स्तरसे चिन्तन करना

प्र०— अधिक पढ़नेके कारण मुझे सिरमें थकान एवं खुश्की अनुभव होती है और नींद भी मुश्किलसे आती है। परन्तु पढ़ते और स्मरण करते हुए मुझे ऐसा अनुभव होता है मानों उसकी क्रिया सिरमें नहीं बल्कि छातीमें चल रही हो और फिर भी थकावट सिरमें अनुभूत होती है। ऐसा क्यों होता है ?

उ०— छातीमें क्रियाका अनुभव होना वास्तवमें एक विचित्र बात है, क्योंकि वहां तो प्राणिक मनका स्थान है और रोमन विचारक मनके सम्बन्धमें सदा इस प्रकारकी बातें किया करते थे मानों वह हृदयमें हो। परन्तु सच पूछो तो स्मरण और अध्ययन भौतिक मनमें ही होते हैं। अस्तु, मस्तिष्क इन सब व्यापारोंके लिये वाहक यंत्र है और यदि कोई थकान हो तो उसे वह अनुभव कर सकता है। मस्तिष्कको सर्वोत्तम विश्राम तब प्राप्त होता है जब चिंतनकी क्रिया शरीरसे बाहर तथा सिरसे ऊपर हो (अथवा आकाशमें या अन्य स्तरों-पर, किन्तु फिर भी शरीरसे बाहर)। कुछ भी हो, मेरे प्रसंगमें ऐसा ही हुआ; क्योंकि ज्यों ही ऐसा हुआ, अत्यधिक विश्रांति अनुभव हुई। उसके बादसे मुझे शारीरिक थकान तो यदा-कदा अनुभव हुई पर मस्तिष्ककी किसी प्रकारकी

भी थकान कभी नहीं हुई। दूसरोंसे भी मैंने यही बात सुनी है।

१६-१२-१९३४

एक संकेत

प्र०— अध्ययनमें मैं इतना अधिक एकाग्र हो जाता हूँ कि साधना-सम्वन्धी चिन्तनके लिये अवकाश ही नहीं रह जाता। परिणाम यह होता है कि ज्यों ही मैं उस एकाग्र अवस्थासे बाहर आता हूँ, त्यों ही कोई भी बात मेरे मनमें प्रवेश कर सकती है। क्या यह साधनाकी दृष्टिसे अवांछनीय अभ्यास नहीं है?

उ०— मुझे कहना होगा कि यदि तुम अध्ययन और साधना-चिन्तन एवं एकाग्रता-के बीच अपने ध्यानको अधिक विभक्त कर सको तो यह उस दृष्टिसे, जिसका तुमने उल्लेख किया है, अधिक अच्छा हो सकता है। मेरा मतलब यह है कि तुम्हारे मनमें साधनाके प्रति इतनी काफी एकाग्रता होनी चाहिये कि उसके अन्दर साधनाका एक वातावरण उत्पन्न हो जाय जिसे तुम पढ़ना समाप्त होते ही अथवा जब कभी किसी आक्रमण करनेवाली चेष्टाको ठीक करनेकी आवश्यकता हो तब, उपरितल पर ला सको। अन्यथा अवचेतन शक्तियां खुलकर खेलना शुरू कर देती हैं और बलवत्तर हो जाती हैं। साथ ही, व्यक्तिकी स्थिति अव-चेतनमय अर्थात् जड़ तथा आंधीके पत्तेकी-सी हो जाती है। कम-से-कम, हाल हीमें अपने अवचेतनके ऊपर क्रिया करते हुए मैंने जो देखा है वह यही है, अतएव, तुम्हें भी मैं यह संकेत दे रहा हूँ।

२७-५-१९३५

अवचेतन स्वप्न

प्र०— अपने स्वप्नोंके स्वरूपमें मैं अभीतक कोई परिवर्त्तन नहीं देखता — अभी मुझे घरेलू जीवन, खाना-पीना, विचित्र प्रकारके लोगोंसे मिलना, इधर-उधर घूमना-फिरना आदि विषयक सामान्य कोटिके स्वप्न ही आते हैं। यहां तीन वर्ष साधना करनेपर भी इस दिशामें परिवर्त्तन क्यों नहीं हुआ?

उ०— जब जाग्रत् चेतना इस प्रकारकी चीजोंमें दिलचस्पी लेना छोड़ चुकती

है उसके बाद भी वर्षोंतक इस प्रकारके स्वप्न आते रह सकते हैं। अपने पुराने संस्कारोंको सुरक्षित रखनेमें अवचेतन अत्यन्त हठी होता है। अभी हालमें भी मुझे क्रांतिकारी कार्योंका एक स्वप्न आया है अथवा एक और स्वप्न भी आया है जिसमें बड़ौदेके महाराज आ घुसे थे, ऐसी चीजें और ऐसे लोग स्वप्नमें देखे जिनके बारेमें लगभग पिछले बीस वर्षोंसे अकस्मात् भी विचार नहीं आया। मेरी समझमें इसका कारण यह है कि मानव मनोविज्ञानमें अवचेतनका कार्य ही यह है कि वह सम्पूर्ण भूतको अपने अन्दर सुरक्षित रखता है और, सचेतन मनःशक्तिसे रहित होनेके कारण, यह अंपने कर्त्तव्यसे तब तक चिपका रहता है जबतक इसके अन्दर प्रकाश पूर्ण रूपसे उतरकर इसके कोने-कोने और रंध्र-रंध्र तकको आलोकित नहीं कर देता।

१७-१२-१६३४

प्र०— पिछले कुछ दिनोंसे मुझे वारंवार खानेके स्वप्न आ रहे हैं। क्या यह भोजनकी लालसा या शारीरिक आवश्यकताको सूचित करता है अथवा क्या यह किसी आनेवाली बीमारीका चिह्न है जैसा कि गांवोंमें लोग विश्वास करते हैं?

उ०— मैं ऐसा नही समझता — ये सम्भवतः पुराने संस्कार हैं जो नींदमें अव-चेतन चीजोंसे उठ रहे हैं (प्राणसे नहीं — अतएव ये कामना नहीं वरंच एक स्मृति हैं)। मुझे वह समय याद आता है जब मुझे सदा भोजनकी थालियां ही दीखा करती थीं यद्यपि उन दिनों मैं भोजनकी तिलमात्र भी पर्वाह नहीं करता था।

२-४-१६३४

विभिन्न व्यक्तित्व

प्र०— अभीतक मैं अपनी साधनामें समुचित मनोवृत्ति बनाये रखनेमें समर्थ नहीं हुआ हूँ और फिर भी दूसरोंको उनकी कठिनाइयोंमें परामर्श देता हूँ। क्या यह कपट और असत्यता नहीं है?

उ०— हां साहब! आदमीं अच्छी सलाह तो दे ही सकता है फिर अपने-आप चाहे उसपर चले या न चले — एक प्राचीन वचन है, "मेरे उपदेशका अनुसरण करो, आचरणका नहीं।" अधिक गम्भीरतापूर्वक कहूँ तो, व्यक्तिमें विभिन्न

प्रकारके व्यक्तित्व होते हैं और उनमेंसे जो उपदेश तथा सहायता देनेके लिये उत्कंठित होता है वह सर्वथा सच्चा हो सकता है। मुझे बहुत पहलेकी बात याद है जब वैयक्तिक संघर्ष एवं कठिनाइयां अभीतक मेरे सामने थीं, बाहरसे लोग परामर्श आदिके लिये मेरे पास आते थे; तब मैं घोर विषादमें डूबा हुआ था और निराशा एवं विफलताकी अवस्थामेंसे निकलनेका मार्ग नहीं देख पाता था, फिर भी उसके सम्बन्धमें एक भी शब्द मेरे मुँहसे बाहर न निकलता और मैं सुनिश्चित विश्वासके साथ परामर्श देता। क्या वह असत्यता थी? मैं समझता हूँ, नहीं, — मेरे अन्दर जो बोलता था वह जो कुछ बोलता था उसके विषयमें एकदम निश्चित था। अपनी संपूर्ण सत्ताको भगवान्‌की ओर मोड़ना सुगम कार्य नहीं है और यदि इसमें समय लगे तथा अन्य क्रियाएं फिर भी हस्तक्षेप करती रहें तो भी हमें निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। मनुष्यको ध्यानपूर्वक देखना, सुधारना तथा आगे बढ़ते जाना चाहिये — अनिर्विण्णेन चेतसा।

२४-२-१९३५

मनुष्यका उत्तरदायित्व

मेरा अनुभव मुझे बताता है कि मनुष्य उससे बहुत ही कम सावधान तथा अपने कार्योंके लिये उत्तरदायी होते हैं जितना कि नैतिकवादी, उपन्यासलेखक तथा नाटककार उन्हें बना देते हैं। सुतरां, मैं यह देखनेकी जगह कि आदमीने अपने-आप अनुमानके अनुसार क्या करनेकी ठानी थी या उसका उद्देश्य क्या था, यह देखता हूँ कि उसे किन शक्तियोंने प्रेरित किया। हमारे अनुमान तो प्रायः ही गलत होते हैं और जब वे ठीक होते भी हैं, तब भी वे केवल विषयके ऊपरी तलको ही स्पर्श करते हैं।

२२-६-१९३४

जन्मपत्री और फलित ज्योतिष

जन्मपत्रीके सम्बन्धमें मैं कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि जो थोड़ा-बहुत फलित ज्योतिष मुझे आता भी था वह सब भी अब भूल चुका हूँ।

१४-९-१९३६

*

फलित ज्योतिषी सब तरहकी बातें बतलाते हैं जो सच्ची नहीं निकलतीं। एक ज्योतिषीके अनुसार मेरा देहान्त गत वर्ष हो जाना चाहिये था, एक दूसरेके कथनानुसार मुझे गत वर्ष मार्च या मईमें पांडिचेरी छोड़कर अपने शिष्योंके साथ भारतका तबतक भ्रमण करना चाहिये था जबतक मैं नदीमें अन्तर्धान न हो जाता। चाहे कोई भविष्यवाणी जन्मपत्रीके अनुसार ठीक भी हो फिर भी उसका पूरा होना जरूरी नहीं, क्योंकि आध्यात्मिक जीवनमें प्रवेश करनेके कारण मनुष्य एक नई शक्तिकी ओर खुल जाता है जो उसके भाग्यको बदल सकती है।

२२-८-१९३७

*

प्र०— 'क्ष' ने मुझे बताया कि आज (४ अप्रैल १९३६) पांडिचेरी-का जन्मदिन है, क्योंकि आप इसी तिथिको यहां आये थे। यदि कोई अपनेको सन् २०३६ की स्थितिमें रख सके तो वह संभवत: देखेगा कि ४ अप्रैल भूतलके आध्यात्मिक जीवनके जन्मदिनके रूपमें मनायी जा रही है। शायद पृथ्वीकी जन्मपत्री इस बातको अधिक ठीक रूपमें दिखा सकती है; परन्तु जैसे कुछ गांवोंकी जन्मपत्रियां होती हैं वैसे ही क्या पृथ्वीकी भी जन्मपत्री है?

उ०— पांडिचेरीका जन्म हुए तो चिरकाल हो गया है, पर यदि 'स' का मतलब उसके पुनर्जन्मसे हो तो यह बात सम्भव है, क्योंकि जब मैं आया था तब यह सर्वथा निर्जीव थी। मुझे मालूम नहीं कि पृथ्वीकी भी जन्मपत्री है या नहीं। जब उसका जन्म हुआ तब तो वर्ष, दिन, घंटे तथा मिनटको नोट करनेके लिये कोई व्यक्ति विद्यमान ही नहीं था। परन्तु शायद कोई ज्योतिषी मेरे नौकासे उतरनेके समयकी ग्रह-स्थितिका चक्र बनाकर उसके आधारपर संसारके घटना-चक्रका निर्धारण कर सकता है! दुर्भाग्यवश वह शायद सभी गलत परिणामों-पर पहुँचेगा उस ज्योतिषीकी तरह जिसने कहा था कि मैं (श्रीअरविन्द) मार्च, १९३६में पांडिचेरी छोड़कर १९४८तक भारतमें पर्यटन करूँगा और फिर अपने शिष्योंके साथ नदीमें स्नान करते समय अन्तर्धान हो जाऊंगा। मेरे विचारमें उसने भृगु-संहिता — उस पुराने कूटग्रंथ — के बलपर भविष्यवाणी की थी; परन्तु मुझे इस बातका निश्चित पता नहीं है। बहुत समय पहले भी उसी पुराने पौराणिक भृगुके आधारपर मुझे बताया गया था कि मेरा

भविष्य मुसोलिनी-नेपोलियन जैसा शानदार होगा।

४-५-१९३६

पुराने और नये मकान

प्र०— यहां कुछ लोग यह जानकर अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं कि मैं घरकी छत उस पुरानी विधिको अपनाकर बनवा रहा हूँ जिसका प्रयोग हमारे पूर्वज पीढ़ियोंतक करते रहे हैं। इस मामलेमें पुरानी चीज अच्छी हो सकती है पर कुछ लोगोंके लिये पुराना सब कुछ ही सोना है। शायद उन्हें इससे प्रसन्नता होगी यदि होमियोपैथी और प्राकृतिक चिकित्सा-जैसी नयी यूरोपीय चिकित्सा-पद्धतियोंको त्यागकर केवल पुराने आयुर्वेदको ही स्वीकार कर लिया जाय। किन्तु मुझे आश्चर्य होता है कि वे नहीं देख पाते कि कंकरीटसे बनाये सुदृढ़ मकान और सड़कें पुरानी विधियोंसे (बने मकानों व सड़कों-से) कितने बढ़िया होते हैं—और जहांतक भूचालोंका सम्बन्ध है, क्या 'आयुर्वैदिक' मकान उसके धक्के सह सकेंगे ?

उ०— हां, यदि सचमुचमें पुरानी विधियोंके अनुसार 'आयुर्वैदिक' मकान बनाया जाय तो वह अनेकों भूचाल सह सकता है। मुझे याद है कि बंगालके भूकम्पके समय, जिस स्थानपर प्रान्तीय सम्मेलन हुआ करता था वहांकी सभी नई इमारतें ढह गई थीं, जबकि उस स्थानके राजाका पुराना घर ही एकमात्र मकान था जो जरा भी हिले-डुले बिना अविचल खड़ा रहा। अपि च, जब 'गैस्ट हाउस' Guest House की छतकी मरम्मत हो रही थी (वह एक पुराना मकान ही था) तो उसके राजने (अबतक हमने जितने अतिकुशल राज देखें हैं उन्हींमें एक वह भी था) कहा कि यह छत जिस ढंगसे बनी है उसे देख मैं दंग रह गया हूँ, इतनी ठोस और मजबूत है यह, आजकल कोई भी घर ऐसा नहीं बन रहा। अतः शायद आयुर्वेद नहीं वरन् चरकके वंशजोंके अवनत तरीके ही उस दीन-हीन रचनाके लिये उत्तरदायी हैं जिसे हम अपने चारों ओर देख रहे हैं। मैंने मद्रासके एक अंग्रेज भवन-शिल्पीका यह वक्तव्य भी पढ़ा है कि यह देखकर अचम्भा होता है कि कैसे पुरानी टूटी-फूटी इमारतें सभी धक्के सहकर भी बची रहीं जबकि अत्यन्त वैज्ञानिक एवं आधुनिक ढंगसे बनी इमारतें अप्रत्याशित ही "बैठ गईं"। सचमुच-में-पुरानी चीजें, भारतमें हों या यूरोपमें, सदा ही ठोस होती थीं; मेरे विचारमें, रद्दी चीजें कंकरीटके आविष्कारसे

पहले बीचके कालमें बननी शुरू हुईं। हमें पुरानी चीजोंको छोड़ना किन्तु उतनी ही या उनसे भी अधिक ठोस नई चीजोंकी ओर बढ़ना होगा।

२६-३-१९३७

फ्रेंच सीखना

प्र०— लगता है कि अधिकतर लोग जो फ्रेंच सीखना चाहते हैं, उससे अधिक पढ़ते हैं जितना कि वे हजम कर सकते हैं। वे ढेर-की-ढेर फ्रेंच कहानियां, उपन्यास, नाटक तेजीसे पढ़ जाते हैं, और परिणामस्वरूप मुहावरों, पदावलियों, व्याकरण-सम्बन्धी विशेषता-ओं आदिको कदाचित् ही पचा पाते हैं। मैं समझता हूं व्यक्तिको एक पुस्तक तीन-चार बार पढ़नी चाहिये। फ्रेंच पुस्तकोंका द्रुत वाचन यह भ्रम पैदा कर देता है कि व्यक्ति जो कुछ पढ़ता है वह सब-का-सब समझता है।

उ०— मेरी समझमें बहुतेरे केवल फ्रेंच पुस्तकें पढ़ सकनेके लिये ही फ्रेंच सीखते हैं, न कि भाषा अच्छी तरह जाननेके लिये...ऐसे लोग अधिक नहीं जो फ्रेंच ठीक-ठीक और मुहावरेदार जानते हों...मैं नहीं समझता कि कोई अधिक लोग तुम्हारे द्वारा समर्पित तरीकेसे प्रत्येक पुस्तक ३-४ बार पढ़नेका नियम बनानेको सहमत होंगे, क्योंकि विद्वानोंका-सा मन तो बहुत कम लोगोंका होता है— पर हां, दो या तीन पुस्तकें इस ढंगसे पढ़नी ही चाहियें। मैंने संस्कृतभाषा महाभारतमें नल-दमयन्ती-उपख्यान इसी प्रकार सूक्ष्म ध्यानके साथ कई बार पढ़कर ही सीखी थी।

२५-३-१९३७

आध्यात्मिक जीवन और बाह्य उपयोगिता

प्र०— यहां इतने सारे लोगोंके फ्रेंच सीखनेकी क्या जरूरत है? क्या आप उन्हें फ्रांसमें या फ्रेंच जाननेवाले देशोंमें भाषण देने या केन्द्र खोलनेके लिये तैयार कर रहे हैं?

उ०— क्या जीवन और मनको केवल भौतिक उपयोगिता या बाह्य व्यवहार्यता-से ही शासित होना है? तब तो आध्यात्मिक जीवन उस साधारण मानसिक

जीवनसे भी हीन होगा जिसमें लोग केवल किसी बाहरी प्रयोजनके लिये नहीं अपितु ज्ञान अर्जित करने और मनको सुसंस्कृत बनानेके लिये पढ़ते-सीखते हैं।

२४-३-१९३७

अतिपरिचयकी हानि

प्र०– क्या यह सच है कि "ओम् शान्तिः"-जैसे मंत्रों और "Paix" (पे, फ्रेंचका एक शब्द जिसका अर्थ शान्ति है) जैसे शब्दोंका गहरा महत्त्व अतिपरिचयके कारण विनष्ट हो जाता है?

उ०– हां, इसका कारण अतिपरिचय ही होना चाहिये — क्योंकि मुझे याद है कि जब मैंने उपनिषदोंका 'ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः' पहले-पहल पढ़ा तो उसका मुझपर अति प्रबल प्रभाव पड़ा। फ्रेंचमें यह उस आकार-प्रकारपर निर्भर करता है जिसमें इसे रखा जाता है।

१४-१२-१९३६

पुस्तकें लिखनेका रिकार्ड

प्र०– 'क्ष'ने बताया कि 'य'ने एक उपन्यासका अंग्रेजीमें अनुवाद किया है जिसका आधा हिस्सा आपने संशोधित किया है; कार्यतः इसका अभिप्राय यह है कि 'क्ष' स्वयं "आर्य"का अनुवाद करनेके स्थानपर, जो कि अधिक उचित होता, आपसे किसीके उपन्यासका अनुवाद कराता है। आह! आपको कैसी कठिनाइयोंमेंसे गुजरना पड़ता है! लन्दनके किसी पत्रमें एक व्यक्तिने जो यह टिप्पणी लिखी थी कि आपने ५०० पुस्तकें लिखी हैं वह शायद सर्वथा गलत बात नहीं थी। इस समयतक साधककोंको आपने जो पत्र लिखे हैं उन्हींसे प्रति साधक तीन-चार पुस्तकें बन जायेंगी। फिर यदि उनमें आपकी कविताएं, अनुवाद तथा अन्य लेख जोड़ दिये जायं तो सब मिलकर पांच सौ पुस्तकोंसे कम नहीं होंगे।

उ०– 'य' के "आर्य" का अनुवाद करनेके विचारसे मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं! उससे तो पांच सौ पुस्तकें लिखना मेरे लिये कहीं आसान होगा। शायद मैं लिख भी चुका हूं — मैंने जितना भी घसीटा है वह सब यदि मेरे नाम जमा

किया जाय तो। परन्तु उसमेंसे अधिकांश, कम-से-कम सार्वजनिक रूपसे, प्रकाश-में नहीं आयेगा। इस प्रकार मैं पुस्तक-रचनाका रिकार्ड कायम करनेसे बच भी सकता हूँ।

३-२-१९३५

"ARYA" (आर्य)

प्र०— कहा जाता है कि (Arya) (आर्य)का प्रकाशन विश्वयुद्धके आरम्भ होनेके दिन या उससे ठीक पहले शुरू हुआ था। क्या यह बात अर्थ-पूर्ण नहीं है? क्या वह एक प्रकारका समानांतर आन्दोलन नहीं था?

उ०— "आर्य" के प्रकाशनका निश्चय पहली जून (१९१४)को किया गया था और यह तै हुआ था कि इसका आरम्भ १५ अगस्तको होगा। इस बीच चौथी तारीखको युद्ध शुरू हो गया। तुम चाहो तो इसे तिथियोंकी "समानांतरता" कह सकते हो, पर वह अत्यन्त निकट नहीं थी और इतना तो निश्चित ही है कि उस समय कोई भी अवतरण नहीं हुआ।

९-९-१९३५

* * *

'आर्य' सचमुच ही आर्थिक दृष्टिसे सफल पत्र था। इसके सारे खर्चेके बाद भी बहुत अधिक बचत होती थी।

***

"ग्लोबल" (global) शब्द भी अब चल पड़ा है। यह इतना उपयोगी है और सच पूछो तो इतना अनिवार्य है कि इसे त्यागा नहीं जा सकता। ऐसा कोई और शब्द है ही नहीं जो अर्थके ठीक इसी सूक्ष्म भेदको व्यक्त कर सके। मैंने यह शब्द पहले-पहल आर्जवके मुँहसे सुना था जिसने "आर्य" की भाषाका इन शब्दोंमें वर्णन किया था कि यह सर्वग्राही चिंतन (global thinking) को प्रकट करती है। मैंने इसे तुरन्त ही इस रूपमें पकड़ लिया कि यह कई भावोंके लिये एकमात्र उपयुक्त शब्द है उदाहरणार्थ समष्टि-चिंतनके लिये जो

अधिमानसका नित्य स्वभाव है।

२-४-१९४७

"THE SYNTHESIS OF YOGA" (योग-समन्वय)

The Synthesis of Yoga (योग-समन्वय) सबके अनुसरण करने योग्य एक विधिके रूपमें नहीं लिखा गया था। योगके प्रत्येक पक्षका पृथक् वर्णन करते हुए इस बातकी ओर संकेत किया गया था कि किस प्रकार वे सब एक ही बिंदुपर आ मिलते हैं जिससे कोई व्यक्ति ज्ञानमार्गसे आरम्भ करके भी कर्म तथा भक्तिको प्राप्त हो सकता है और यही बात हरएक पथके लिये कही जा सकती है। "Self-perfection" (आत्म-सिद्धि)* की लेखमाला समाप्त करके एक ऐसे मार्गका निर्देश करनेका विचार था जिसमें सभी मार्गोंको एक किया जा सके, परन्तु उस विषयपर कभी लिखा नहीं गया। The Mother (माता) और Lights on Yoga (योग-प्रदीप) सम्पूर्ण साधनका क्रमबद्ध वर्णन करनेके लिये अभिप्रेत नहीं थीं; वे तो उसके विविध तथ्योंको छू देती हैं।

१८-५-१९३६

***

जब The Synthesis of Yoga (योग-समन्वय) के अन्तिम अध्याय 'आर्य' में लिखे गये थे उस समय 'अधिमानस' शब्द नहीं मिला था, इसलिये वहां इसका कोई जिक्र नहीं है। उन अध्यायोंमें अतिमानसकी उस समयकी क्रियाका वर्णन किया गया है जब वह अधिमानस-स्तरमें अवतरित होता है तथा अधिमानसकी क्रियाओंको हाथमें लेकर उन्हें रूपान्तरित करता है। उच्चतम अतिमानस या स्वतःस्थित दिव्य विज्ञान तो इससे भी परेकी वस्तु है और वह बहुत ऊपर है। पिछले अध्यायोंमें यह दिखानेका विचार था कि अतिमानसको प्राप्त करना ही कितना कठिन है और मानव मन तथा अतिमानसके बीच कितने स्तर हैं और यहांतक कि किस प्रकार अतिमानस अवतरण करता हुआ निम्नतर क्रियाके साथ मिलकर वास्तविक सत्यसे हीन वस्तुमें परिणत हो सकता

*"आत्मसिद्धि-योग", योग-समन्वय, भाग ४, पृ० ७०३

है। परन्तु ये पिछले अध्याय लिखे ही नहीं गये।

१३-४-१९३२

***

प्र०—"आर्य"में अधिमानस (Overmined)का उल्लेख नहीं है। आपने अतिमानसके क्रमिक सोपानोंमें अतिमानसिक या दिव्य तर्कबुद्धि-का उल्लेख किया है, किन्तु अपने वर्णनके आधारपर यह अधिमानस-से सर्वथा भिन्न है। "आर्य" में अधिमानसका जिक्र और अतिमानससे उसका स्पष्ट भेद क्यों नहीं किया गया ?

उ०— "आर्य" में इन दोनोंमें भेद इसलिये नहीं किया गया कि जिसे मैं आज अधिमानस कहता हूँ उसे उस समय अतिमानसका एक निम्न स्तर समझा जाता था। पर इसका कारण यह था कि मैं उन्हें मनके स्तरसे देख रहा था। अधिमानसकी असली त्रुटि, इसकी वह सीमितता एवं न्यूनता जो अज्ञानके जगत्‌को जन्म देती है पूरी तरहसे तभी दिखाई देती है जब व्यक्ति उसे भौतिक चेतनाके धरातलसे देखता है, परिणामसे (अर्थात् जड़तत्त्वमें विद्यमान अज्ञानसे) कारणकी ओर (अर्थात् सत्यके अधिमानस-कृत विभाजनकी ओर) दृष्टिपात करता है। अपनी भूमिकामें अधिमानस सत्यकी विभक्त एवं बहुमुखी क्रीड़ा-मात्र दीख पड़ता है, अतः उसे मन सहज ही अतिमानसिक प्रदेश समझ सकता है। मन भी अधिमानसिक ज्योतियोंसे परिप्लावित होनेपर अपनेको भागवत सत्यके आश्चर्यकारक साक्षात्कारमें निवास करता अनुभव करता है। कठिनाई तब आती है जब हम प्राणसे निपटते हैं और फिर जब शरीरसे निपटते हैं तब तो और भी अधिक। तब कठिनाईका सामना करना तथा अधिमानस और अतिमानसमें सुनिश्चित भेद करना अनिवार्य हो जाता है— क्योंकि तब यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि अधिमानस-शक्ति (अपनी ज्योतियों और वैभवोंके होते हुए भी) अज्ञानपर विजय पानेके लिये पर्याप्त नहीं, क्योंकि वह स्वयं विभाजनके उस नियमके अधीन है जिसमेंसे अज्ञान उत्पन्न हुआ था। व्यक्ति-को और भी परे जाकर अधिमानसको अतिमानस-भावसे भावित करना होता है जिससे मन और शेष सभी स्तर अन्तिम परिवर्तन प्राप्त कर सकें।

२०-११-१९३३

***

प्र०– "The Synthesis of Yoga" (योग-समन्वय) के प्रकाशनके विषयमें आपका क्या विचार है? लोग इस विषयमें मुझसे पूछ रहे हैं। बहुतसे इसके लिये उत्सुक हैं कि वह अब प्रकाशमें आये, क्योंकि हम सब-के-सब ही मनकी सायंस तथा प्राणके अज्ञान द्वारा किये हुए जगत्के विश्लेषणसे ऊब गये हैं, सो आपका क्या विचार है?

उ०– मैं आशा करता हूँ कि तुम The Synthesis of Yoga (योग-समन्वय) की संपूर्ण बृहत् लेखमालाके सम्बन्धमें नहीं पूछ रहे हो,—यद्यपि वह भी आगामी विश्व-युद्ध (?) से पहले या सत्य-युग (नवीन विश्व-व्यवस्था?) के आरंभ होनेके बाद प्रकाशनके लिये तैयार हो सकती है। यदि तुम्हारा मतलब "कर्म-योग"से है, तो उसके लिये मैं और चार-पांच अध्याय लिख रहा हूँ या लिखनेका यत्न कर रहा हूँ। मुझे आशा है कि वे समुचित समयमें तैयार हो जायंगे; परन्तु इसके लिये मैं प्रतिदिन जो समय देता हूँ वह थोड़ा ही है और अध्याय अपेक्षाकृत लंबे हैं। (निश्चित समयकी) भविष्यवाणी करनेकी निर्भ्रांत शक्तिके अभावमें मैं बस केवल इतना ही कह सकता हूँ।

२-३-१९४४

"ESSAYS ON THE GITA" (गीता-प्रबन्ध)

प्र०– आपकी Essays on the Gita (गीता-प्रबन्ध) मैं तीन बार पहले पढ़ चुका था, फिर भी हालमें जब मैंने पुनः उसे पढ़ना शुरू किया तो मुझे पता लगा कि उसमें कितने ही ऐसे विचार हैं जो पहले मेरी पकड़से छूट गये थे। मेरी समझमें यदि मैं इसे पुनः-पुनः पढ़ूँ तो प्रत्येक बार मुझे नए-नए विचार मिलेंगे।

उ०– यह एक सर्वसामान्य अनुभव है—कुछ गम्भीर ज्ञानवाली अधिकतर पुस्तकोंका ऐसा ही प्रभाव होता है। गीतामें प्रायः सभी आध्यात्मिक समस्याओं-का संक्षिप्त पर गम्भीर विवेचन किया गया है और मैंने "एसेज" में उस समस्त रहस्यको पूर्ण रूपसे व्यक्त करनेका यत्न किया है।

१-११-१९३६

"THE FUTURE POETRY" (भावी-काव्य)

The Future Poetry (भावी काव्य) में कजिन्स (Cousins) की पुस्तककी विस्तृत समालोचना करनेका विचार नहीं था, वह तो केवल एक आरम्भबिंदु था। शेष सब सामग्री श्रीअरविन्दकी अपनी धारणाओं तथा कला और जीवन-विषयक उनकी पूर्व-चिंतित विचारधारासे ली गई।

"THE MOTHER" (माता)

The Mother (माता) पुस्तककी रचना उसी प्रकार नहीं हुई थी जिस प्रकार कि अन्य उल्लिखित पुस्तकों Lights on Yoga, Bases of Yoga, The Riddle of This World ('योग-प्रदीप', 'योगके आधार', 'इस जगत्की पहेली') की। इस पुस्तकका मुख्य भाग, जिसमें चार शक्तियों आदिका वर्णन है, स्वतन्त्र रूपसे लिखा गया था, पत्रके रूपमें नहीं, और इसी प्रकार आरंभिक भाग भी।

***

प्र०— कुछ दिन हुए मैंने आपके पास The Mother (माता) की एक आलोचना भेजी थी। क्या आपने वह देख ली है?

उ०— हां। मेरे विचारमें इससे पाठकपर यह प्रभाव पड़ेगा कि The Mother (माता) योगकी दार्शनिक या व्यावहारिक व्याख्या है—जब कि वास्तवमें इसका वातावरण ऐसा बिलकुल ही नहीं।

१-३-१९३७

आरम्भिक राजनीतिक विचार और वर्तमान समस्याएं

प्र०— क्या आपने "The ideal of the Karmayogin" (कर्मयोगी-का आदर्श) पर मेरी समालोचना देखी है?

उ०— हां, देखी है, पर मेरे विचारमें इसे इसके वर्तमान रूपमें नहीं छापा जा सकता क्योंकि यह उस समयके राजनीतिक अरविन्दको बढ़ा-चढ़ाकर इस समयके

अरविन्दका रूप दे देती है। तुमने यहांतक कह डाला है कि मैंने (श्रीअरविन्दने) इस पुस्तकको "अच्छी तरहसे" दुहराया है और ये लेख आजके ज्वलन्त प्रश्नों-पर मेरे बिलकुल ताजे विचारोंके सूचक हैं और २७ वर्षोंमें मेरे विचारोंमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ (जो वस्तुतः अप्रगतिशील मनका एक निश्चित प्रमाण होगा)। यह सब तुम्हें कहांसे मिल गया? उस समयकी मेरी आध्यात्मिक चेतना एवं ज्ञान आजकी तुलनामें नहींके बराबर था — कैसे भला वह परि-वर्तन राजनीति और जीवनके सम्बन्धमें मेरे दृष्टिकोणको बिलकुल बिना बदले छोड़ देगा? उक्त पुस्तकका समग्र पुनरालोचन किया ही नहीं गया; मैंने पुस्तकको ज्यों-की-त्यों रहने दिया है, क्योंकि जो कुछ इतने साल पहले लिखा गया था उसमें थोड़ा-सा हेर-फेर भर कर देना बेकार होगा — इस पुस्तककी भी स्थिति The Yoga and its objects (दि योग ऐण्ड इट्स ओब्जेक्ट्स, 'हमारा योग और उसके उद्देश्य') की तरह ही है। जो हो, तुम्हारी समीक्षा बहुत कुछ मेरे वर्तमान राजनीतिक विचारोंकी उद्घोषणाके समान होगी — जब कि मैं, इसके विपरीत, न मालूम पिछले कितने ही वर्षोंसे सतर्क रहा हूँ कि राजनीतिक प्रश्नोंपर कुछ भी, कोई भी विचार, प्रकट न करूँ।

२१-४-१९३७

"THE YOGA AND ITS OBJECTS" (दि योग ऐण्ड इट्स ओब्जेक्ट्स, "हमारा योग और उसके उद्देश्य")

यह पुस्तक श्रीअरविन्दकी साधनाकी एक आरम्भिक अवस्थाका प्रतिनिधित्व करती है और इसका केवल कुछ भाग ही उनके योगपर, जैसा कि उसने इस समय, बीससे भी अधिक वर्ष बीत जानेके बाद रूप ले लिया है, लागू हो सकता है।

२८-१०-१९३४

"YOGIC SADHAN" (यौगिक साधन)

तुम्हारा मित्र लिखता है कि Yogic Sadhan (यौगिक साधन) में मैंने वैराग्य का निषेध किया है। परन्तु 'यौगिक साधन' मेरी रचना 'नहीं' है, न इसके अन्तर्गत तथ्य मेरे योगका सार ही है, भले ही इसके प्रकाशक, प्रतिवादोंके

रहते भी, इसकी मिथ्या प्रशंसामें कुछ भी क्यों न कहते रहें।

४-५-१९३४

उत्तर योगी (उत्तरसे आनेवाला योगी) मेरा ही नाम था जो मुझें एक प्रसिद्ध तामिल योगीकी बहुत पहलेकी भविष्यवाणीके आधारपर दिया गया था। उनकी भविष्यवाणी यह थी कि ३० वर्ष बाद (मेरे पांडिचेरी पहुँचनेके समयसे यह संगत है) उत्तरसे एक योगी भागकर दक्षिणमें आयेगा और यहां पूर्णयोगका अभ्यास करेगा, और यह भारतकी आनेवाली स्वतन्त्रताका एक चिह्न होगा। उन्होंने उस योगीकी पहचान कर सकनेके लिये लक्षणके रूपमें तीन वचन कहे और वे तीनों ही अपनी पत्नीके नाम मेरे पत्रोंमें पाये गये।

"Yogic Sadhan" (यौगिक साधन) के विषयमें यह कहना है कि यथार्थ में यह मैंने ही नहीं लिखा, यद्यपि यह भी ठीक है कि मैं मायावादी नहीं हूँ।

A. G. (ए. जी.)

A. G. (ए. जी.) इन आद्यक्षरोंका प्रयोग मैं नहीं करता — इन्हें छोड़े बहुत समय हो गया है।

१४-९-१९३३

"श्रीअरविन्द-प्रसंगे"

यह न तो बड़ौदेसे संबद्ध है और न मेरी रचना ही है — यह एक युवकके साथ हुए कुछ वार्तालापोंका संग्रह है जो यहां थोड़े समयके लिये चन्दननगरसे आया था। मैं नहीं जानता कि उसने उन वार्तालापोंका विवरण कहांतक ठीक दिया है। मैं नहीं समझता कि इस पुस्तकका कोई मूल्य है। यह बहुत पुरानी चीज है और तबसे अवस्थाएं बहुत अधिक बदल गई हैं।

२५-१-१९३५

तार्किक युक्तिसे रहित दर्शन

प्र०— तर्कके बारेमें मैं आपसे एक और बात पूछना चाहूँगा। आपने 'क्ष'को लिखा था कि यद्यपि लोग आपको दार्शनिक कहते हैं, आपने

> दर्शन कभी नहीं पढ़ा। अच्छा तो आपने "आर्य" में जो कुछ लिखा है वह इतना दार्शनिक है कि संसारका बड़े-से-बड़ा दार्शनिक भी उसे लिखनेकी कभी आशा नहीं कर सकता। मेरा आशय यहां नये सत्यको उतार लानेसे 'नहीं, बल्कि भाव-व्यंजनाकी शक्ति और बुद्धि एवं तर्कशक्तिके द्वारा तर्क-वितर्क करने एवं युक्ति देनेकी कलासे है।

उ०— मेरे दर्शनमें युक्ति वहुत ही कम है — उसमें अमूर्त शब्दोंसे भरा वह विस्तृत दार्शनिक तर्क है ही नहीं जिसके द्वारा तत्त्वचिन्तक अपने निष्कर्षोंको प्रस्थापित करनेका यत्न करता है। वहां है केवल बहुमुखी ज्ञानके विभिन्न भागोंमें सामंजस्यपूर्ण समन्वय जिससे सब कुछ परस्पर युक्तियुक्त ढंगसे मिलकर एक हो जाय। पर वह समन्वय तर्कशास्त्रीय युक्तिके बलपर नहीं बल्कि ज्ञानके परस्पर-सम्बन्धों एवं अनुक्रमोंके विषयमें स्पष्ट अन्तर्दृष्टिसे किया गया है।

४-११-१९३६

दर्शन लिखना — यश और प्रोपेगेंडा

देखो तो! क्या ये लोग मुझसे पुनः अपनेको लेख लिखनेकी मशीन बना देने की आशा करते हैं? शुक्र है ईश्वरका कि 'वंदे मातरम्' और 'आर्य' का जमाना गुजर गया। अब मेरे पास केवल आश्रमकी चिट्ठी-पत्रीका काम है और वह सचमुच ही इतना "भारी" है कि प्रामाणिक पुस्तकोंके लिये दार्शनिक लेख लिखना आदि कार्य आरम्भ नहीं किया जा सकता।

और फिर दर्शन! मैं तुम्हें गुप्त रूपसे यह बता दूं कि मैं कभी दार्शनिक नहीं था, कभी नहीं,—यद्यपि मैंने दर्शन लिखा है जो एक बिलकुल और ही कहानी है। योग करने तथा पांडिचेरी आनेसे पहले मैं दर्शनके सम्बन्धमें बहुत ही कम जानता था — मैं कवि और राजनीतिज्ञ था, दार्शनिक नहीं। तब मैं इसे कैसे लिख पाया और क्यों? प्रथम तो इसलिये कि 'क्ष' ने एक दार्शनिक पत्रमें सहयोग देनेके लिये मेरे सामने प्रस्ताव रखा — और चूँकि मेरा सिद्धांत यह था कि योगीको किसी काममें हाथ डालनेमें समर्थ होना चाहिये, मैं एकदम इन्कार न कर सका। फिर उसे युद्धमें जाना पड़ा और प्रति मास दर्शनके चौसठ पृष्ठ अकेले ही लिखनेके लिये वह मुझे बिना सहायताके छोड़ गया। दूसरे, इसलिये कि प्रतिदिन योगाभ्यास करते हुए मैंने जो देखा तथा जाना था वह सब मुझे केवल बुद्धि की भाषामें लिखना था और इस प्रकार अपने-आप

ही दर्शनकी रचना हो गई। पर यह तो दार्शनिक होना नहीं है!

मुझे नहीं मालूम कि 'र' के सामने मैं क्या बहाना बनाऊं — क्योंकि यह सब बात तो मैं उससे नहीं कह सकता। शायद तुम मेरे लिये कोई सूत्र ढूंढ़ सकते हो? शायद :—"इतने व्यस्त हैं, और किसी कामके लिये क्षण भरकी भी फुरसत नहीं, वे यह काम हाथमें नहीं ले सकते क्योंकि शायद अपने वचनको पूरा न कर सकें।" क्यों, तुम्हारी क्या राय है?

४-६-१९३४

***

अब 'य' के सम्बन्धमें। मुझसे कृपापूर्ण लेख प्राप्त करनेकी अपनी उत्कंठामें वह सही है या गलत इसकी मुझे भी परवाह नहीं। परन्तु पहली बात यह है कि मांगके अनुसार दर्शन लिखना मेरे लिये सर्वथा असम्भव है। यदि कोई चीज़ मेरे अन्दर अपने-आप उठे तो मैं लिख सकता हूँ, वह भी यदि मुझे समय हो। परन्तु मेरे पास समय ही नहीं है। मुझे 'अ' को लिखनेका कुछ विचार आया था कि चेतना और अन्तर्ज्ञान-विषयक मेरे विचारोंकी आलोचनामें उसने गलती की है और मैं इन चीजोंके बारेमें अपने वास्तविक विचार संक्षेपमें प्रतिपादित करना चाहता था। परन्तु वह मैं कभी न कर सका। इस तरह तो मैं चांदको अपनी बगलमें दबाकर हनुमान्‌की भांति — यद्यपि उन्होंने सूर्यको बगलमें दबाया था — सैरके लिये जानेकी सोच सकता हूँ। पर न चांद मिलेगा न सैर होगी। यदि मैं 'र' को कोई लेख देनेका वचन दूं तो बस ऐसी ही बात होगी — वह पूरा नहीं होगा और यह इन्कार करनेसे भी बहुत अधिक बुरा होगा।

दूसरी बात यह है कि किसी गौरवपूर्ण स्थानपर अपना नाम छपवानेकी मैं रत्ती भर भी परवा नहीं करता। यहांतक कि राजनीतिक कार्यके दिनोंमें भी मैं यशके लिये कभी उत्कंठित नहीं हुआ। मुझे तो पर्देके पीछे रहना, लोगोंको उनके जाने बिना ही आगे बढ़ाना और कार्य पूरा करा लेना अधिक पसन्द था। पर यह तो घबड़ायी हुई ब्रिटिश सरकारका काम था जिसने मुझपर मुकदमा चलाकर जबर्दस्ती मुझे जनतामें प्रसिद्ध कर दिया और नेता बना करके मेरा खेल ही बिगाड़ दिया। और फिर पुस्तकों आदिके सिवाय अन्य चीजोंके विज्ञापन भी मुझे पसन्द नहीं और राजनीति तथा पेटेंट दवाइयोंको छोड़कर अन्य वस्तुओंके प्रचारका भी कोई उपयोग नहीं देखता। गम्भीर कार्यके लिये तो प्रचार विष ही है। इसका मतलब होता है प्रदर्शन और नारे-

बाजी। प्रदर्शन तथा हो-हुल्लड़ जिस चीजका नारा बुलन्द करते हैं उसे निःसत्त्व कर डालते हैं तथा शून्य सागरके तीरपर दूर कहीं निष्प्राण एवं छिन्न-भिन्न छोड़ देते हैं। अथवा इस विज्ञापन एवं प्रचारका अर्थ होता है आन्दोलन। जैसा मेरा काम है वैसे कामके लिये आन्दोलनका आशय होता है किसी मत या सम्प्रदाय या और किसी निरर्थक चीजकी स्थापना करना। इसका मतलब होता है कि सैकड़ों या हजारों निकम्मे आदमी सम्मिलित हों और कार्यको बिगाड़ दें अथवा उसे एक आडम्बरपूर्ण तमाशेका रूप दे दें और इस तरह जो सत्य उतर रहा था वह पीछे हटकर एकांत तथा नीरवतामें चला जाय। "धर्ममतों" के साथ भी यही किस्सा हुआ है और उनकी असफलताका कारण भी यही है। यदि मैं अपने विषयमें कुछ लिखना सहन कर लेता हूँ तो वह केवल इसलिये कि इस अज्ञानमय जगत्में नये क्रियाशील सत्य का प्रकाश होनेपर उसके प्रति जो द्वेषभाव सदा ही पैदा हुआ करता है उसके प्रति-कारके लिये उस बेढंगी अव्यवस्थामें — यानी जनताके मनमें — पर्याप्त भार डालकर दोनों पलड़े बराबर कर दूँ। परन्तु इसकी उपयोगिता बस इतनी ही है और अत्यधिक विज्ञापन इस उद्देश्यको निष्फल कर देगा। मैं तुम्हें निश्चय-पूर्वक कहता हूँ कि मैं अपनी विधियोंमें पूरी तरह "युक्तिसंगत" हूँ और मैं केवल इस आधारपर कार्य नहीं करता कि मुझे यशके प्रति एक प्रकारकी वैयक्तिक अरुचि है। जहांतक प्रचारसे सत्यकी सेवा होती है, वहांतक मैं इसे सहनेको सर्वथा उद्यत हूँ; परन्तु मुझे ऐसा नहीं लगता कि प्रचार अपने-आपमें कोई वांछनीय वस्तु है।

यह "समकालीन दर्शन", ब्रिटिश हो या भारतीय, मुझे बहुत कुछ ऐसा जान पड़ता है जैसे यह पुस्तकें तैयार करनेका धन्धा हो और (चाहे फ्रेंच मुहावरे-के अनुसार ज्ञानको पुस्तक-रचना द्वारा "सर्वसाधारणकी चीज बनाने — "Vul-garisation"— का कुछ लाभ अवश्य हो सकता है। उसे दूसरोंके लिये छोड़कर ठोस काम करना ही मुझे अधिक पसन्द है। शायद तुम कहोगे कि मैं ऐसा कर सकता हूँ कि दर्शनपर कुछ ठोस चीज लिखकर उसे पुस्तकाकार प्रका-शित होने दूँ। परन्तु ऐसी परिस्थितिमें ठोस चीज भी नकली दीखने लगती है। इसके अतिरिक्त, फिलहाल मेरा ठोस काम दर्शन नहीं वरन् ऐसी चीज है जिसमें शब्दाडम्बर कम है और जो अधिक उपयुक्त है। यदि वह काम पूरा हो जाय तो उसके जितने प्रचार की आवश्यकता है उतना वह अपने-आप ही कर लेगी — और यदि वह पूरा न होना हो तो, प्रचार व्यर्थ ही सिद्ध होगा।

ये ही मेरी युक्तियां हैं। तो भी पुस्तक आनेतक ठहरो, देखो वह कैसी

चीज है।

२-१०-१९३४

सन्देशके लिये प्रार्थनाका उत्तर

प्र०—"Mother India"(मदर इण्डिया) के १५ अगस्तके विशेषांककी श्रीवृद्धिके लिये आपसे सन्देशकी प्रार्थना करते हुए मैंने आपको जो पत्र लिखा था उसका क्या हुआ है? उसका मुझे आपसे कोई उत्तर नहीं मिला।

उ०—मैं तुम्हें यह सूचना भिजवानेका यत्न करता रहा हूँ,—पर अभीतक सफल नहीं हुआ,—कि यह सम्भव नहीं कि तुम १५ अगस्तके लिये मुझसे प्रत्याशित सन्देश पा सको। इस वर्ष अपने जन्मदिनके लिये सन्देश लिखनेका मेरा विचार नहीं था और न है। आदेशानुसार सन्देश तैयार कर देना मेरे मानस स्वभावकी दृष्टिसे मेरे लिये असम्भव है। इसके लिये अन्तःप्रेरणाका आना आवश्यक है और इस थोड़ी-सी अवधिमें कोई अन्तःप्रेरणा आये इसकी सम्भावना बहुत ही कम है। स्वयं मेरी तो सन्देश लिखनेकी ओर कोई प्रवृत्ति नहीं होती। पर यह कैसी बात है कि बाहरके वृत्तपत्र या पत्र-पत्रिकाके लिये — मेरा मतलब है आश्रमसे आश्रमके द्वारा ही संचालित पत्र-पत्रिकाओंसे भिन्न किसी पत्र-पत्रिकाके लिये — कोई लेख न लिखनेका मेरा नियम तुम साफ भूल गये हो। माताजीके अनुरोधसे "बुलेटिन"के लिये मैं जो कुछ लिखता हूँ उसे छोड़कर आश्रमकी अन्य पत्र-पत्रिकाओंके लिये भी नया कुछ नहीं लिखता। और फिर मेरे यह निश्चित नियम बनानेके कारण क्या हैं? यदि मैंने ऐसा करना शुरू किया तो मेरी स्वतन्त्रता जाती रहेगी; मुझे हर एकके हुक्म पर लिखना पड़ेगा, केवल लेख ही नहीं वरन् आशीर्वाद, सार्वजनिक प्रश्नोंके उत्तर और इस प्रकारकी शेष सब रूढ़िगत निरर्थक बातें भी। मैं किसी भी साधारण राजनीतिज्ञके समान हर एक मामलेमें और एक साथ सभी मामलोंमें अपने विचार प्रकाशित करता और सभी प्रकारके विषयोंपर भाषण देता फिरूंगा, जनताके अधीन एक सार्वजनिक आदमी हूँगा। यह स्वयं मुझे, मेरे आशीर्वादों, मेरे विचारों और मेरे सन्देशोंको अतीव सस्ता बना देगा; वास्तवमें, तब मैं श्रीअरविन्द रहूँगा ही नहीं। अब भी हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड, मद्रास मेल और न जाने क्या-क्या और पत्रिकाएं तथा सामाजिक संस्थाएं जोर-जबर्दस्तीसे अपने लिये विशेष सन्देश मांग रही हैं और यह समझा जाता है कि मुझे बिना न-नु-

न-चके सन्देश दे देना चाहिये। मैं तो देनेका नहीं। खेद है कि मुझे तुमको निराश ही करना पड़ेगा, पर आत्मरक्षा प्रकृतिका पहला नियम है।

३-८-१९४९

विशेषांकों*का उद्देश्य

ऐसे विशेषोंका उद्देश्य मेरी नुमाइश करना और जनताको मेरे सभी पक्ष दिखाना, अर्थात् सार्वजनिक स्टेजपर मुझसे मेरे सभी सम्भवनीय करतब करवाना नहीं है। उद्देश्य यह है कि पाठकोंको इस योगके स्वरूप तथा आश्रममें किये जानेवाले कार्यके मूल स्वरूपका परिचय कराया जाय। स्वयं आश्रमके निजी विषय जनताके लिये 'नहीं' हैं—जनताके लिये तो अधिक-से-अधिक उतना ही हो सकता है जितना वह देख सके। इससे भी अधिक युक्तियुक्त रूपमें यह कहा जा सकता है कि मेरे सम्बन्धमें कोई व्यक्तिगत तथा निजी बात भी सर्वथा निषिद्ध है। मेरी चर्चा केवल वहीं तक हो जहांतक मेरे विचारको तथा उस कार्यको जिसका मैं प्रतिनिधि हूँ, जाननेके लिये जनताको इसकी आवश्यकता है। तुम देखोगे कि स्वयं मेरा जीवन भी विना तड़क-भड़कके और ऊपरी घटनाओंको गिनाते हुए ही लिखा गया है, इससे बढ़कर कुछ नहीं। पुरस्कार के लिये लड़नेवाले जोजोन्स (Jeo Zones), डग्लस फेअरबैंक्स (Douglas Fairbanks), एच० जी० वेल्स, किंग जार्ज और क्वीन मेरी, हेल सेलासी (Haile Sellassie), होब्स (Hobbs), हिटलर, जैक रिपर (Jack Ripper) (या उसके जैसा, कोई आधुनिक मनुष्य) तथा मुसोलिनीके साथ या इनके मुकावलेमें पत्रकार जगत्-के "विशिष्ट व्यक्तियों" के बड़े बारनम सरकस (Barnum Circus) में मुझे प्रदर्शित करनेकी समस्त प्रवृत्तिको अपने मनसे सदाके लिये कठोरतापूर्वक बहिष्कृत कर देना चाहिये।

२४-९-१९३५

एक जीवनी-लेखकके प्रति

मैं देखता हूँ कि तुम जीवनी लिखनेमें दृढ़तापूर्वक लगे हुए हो—क्या यह सचमुच आवश्यक या उपयोगी है? तुम्हारा प्रयत्न अवश्य ही असफल होगा, क्योंकि मेरे जीवनके बारेमें कुछ भी न तो तुम जानते हो न कोई और ही

*श्रीअरविन्दके विषयमें कई दैनिक या साप्ताहिक पत्रोंके विशेषांक।

जानता है; यह उपरितलपर नहीं रहा है कि मनुष्य इसे देख सकें।

तुमने मेरे राजनीतिक कार्यका एक प्रकारका वर्णन-सा किया है, परन्तु मुझपर यह जो प्रभाव डालता है और, मेरी समझमें, तुम्हारे पाठकोंपर इसका जो प्रभाव पड़ेगा वह यही है कि मैं एक प्रचण्ड आदर्शवादी हूँ जो यथार्थ तथ्यों-की पकड़ तथा किसी बुद्धिगम्य राजनीतिक प्रणाली या कार्य-योजनाके बिना ही असम्भव लक्ष्य की ओर बेतहाशा दौड़ पड़ता है (पत्थरकी दीवारसे अपना सिर टकराता है, जो कोई बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नहीं है)। पश्चिमके कार्य-कुशल लोगोंपर ऐसे चित्रका कदाचित् ही कोई अच्छा प्रभाव पड़े और इससे उन्हें यह सन्देह भी होगा कि सम्भवतः मेरा योग भी इसी प्रकारकी चीज है!

श्रीअरविन्दके लेखोंको गलत समझना

जो कुछ मैं लिखता हूँ उसे लोग नहीं समझते क्योंकि मन अपने ही बलपर अपनेसे परेकी चीजोंको न्हीं समझ सकता। वह जिस बातको ग्रहण कर लेता है या ग्रहण कर चुका है उसीके द्वारा अपना विचार गढ़ लेता है तथा उस विचारको लेखके सम्पूर्ण अर्थका स्थान दे देता है। प्रत्येक व्यक्तिका मन सत्यके स्थानपर अपने-अपने विचारोंको बिठा देता है।

६-६-१९३६

***

मुझे कोई परवाह नहीं यदि तुम मेरे कथनोंमें असंगतियां पाते हो। जिसे लोग असंगति कहते हैं वह सामान्यतया संकुचित मनवालोंकी या कठोर असमर्थता होती है जिसके कारण वे सत्यके एकसे अधिक पक्ष या वस्तुओंके सम्बन्धमें अपने संकीर्ण वैयक्तिक विचार या अनुभवसे अधिक कुछ नहीं देख पाते। सत्यके बहुत-से पहलू हैं और जबतक तुम उन सबको शान्त और सम दृष्टिसे नहीं देखते, तुम्हें सच्चा या समग्र ज्ञान कभी प्राप्त नहीं होगा।

***

मैं मानवीय निर्णयोंपर विश्वास नहीं करता; क्योंकि मैंने उन्हें सदा ही भूल-चूक-भरा पाया है—और शायद इस कारण भी कि स्वयं मुझे मानवीय निर्णयों-ने इतना बदनाम किया है कि दूसरोंके सम्बन्धमें उनके अनुसार चलनेकी मैं

परवा नहीं करता। तथापि यह सब मैं अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करनेके लिये लिख रहा हूँ; मैं इसे दूसरोंके लिये एक नियम बनानेका आग्रह नहीं कर रहा हूँ। मुझे ऐसा आग्रह करनेकी कभी आदत नहीं रही है कि प्रत्येक मनुष्यको मेरी तरह ही सोचना चाहिये — जैसे कि मैंने यह आग्रह भी कभी नहीं किया है कि प्रत्येक व्यक्तिको मेरा तथा मेरे योगका अनुसरण करना चाहिये।

दिसम्बर १९३४

यदि मैं इन विषयोंपर,—जैसे चमत्कार, इंद्रियगोचर तथ्योंके द्वारा निर्णय करनेकी सीमाओं आदिपर — यौगिक दृष्टिसे देखूँ तो वह चाहे तर्कसंगत आधार पर ही हो, फिर भी उसमें निश्चय ही बहुत-सी बातें प्रचलित मतोंके विरुद्ध होंगी। मैं यथासम्भव इन विषयोंपर लिखनेसे बचता रहा हूँ, क्योंकि इसके लिये मुझे ऐसी बातोंका प्रतिपादन करना होगा जो स्थूल इंद्रियों या इनपर ही आश्रित तर्कबुद्धिके द्वारा ज्ञात तथ्योंसे भिन्न तथ्योंके उल्लेखके बिना नहीं समझी जा सकतीं। मुझे ऐसे नियमों एवं शक्तियोंकी चर्चा भी करनी पड़ सकती है जो बुद्धि या भौतिक विज्ञानके द्वारा स्वीकृत नहीं हैं। जनता तथा साधकोंके लिये लिखे गये अपने लेखोंमें मैंने इसकी चर्चा नहीं की है क्योंकि ये साधारण ज्ञान तथा उसपर आधारित बुद्धिके क्षेत्रसे बाहर हैं। कुछ लोग इन विषयोंको जानते हैं पर साधारणतया इनके बारेमें वे बोलते नहीं, जब कि जो विषय ज्ञात हैं उनमेंसे अधिकांशके सम्बन्धमें जनसाधारणकी राय या तो अन्धविश्वासपूर्ण है या अविश्वासपूर्ण, पर दोनों ही अवस्थाओंमें वह अनुभव या ज्ञानसे शून्य है।

दिसम्बर १९३५

आध्यात्मिक विषयोंमें रहस्य-गोपन

प्र०— क्या कभी-कभी सत्य बोलना संकटपूर्ण नहीं होगा, उदाहरणार्थ, राजनीति, युद्ध तथा विप्लवमें? सत्यभाषी नैतिकवादी, जो सदा किसी भी बातको न छिपानेपर आग्रह करता है, एक पक्षकी योजनाओं तथा चेष्टाओंको विरोधी पक्षके सम्मुख प्रकट करके संकट उत्पन्न कर सकता है।

उ०— राजनीति, युद्ध और क्रांति छल-कौशल तथा दांव-घातके विषय हैं — वहां मनुष्य सत्यकी आशा नहीं कर सकता। 'द' ने मुझे बताया कि बिना

लंबी-चौड़ी झूठी बातें हांके राजनीतिमें लोगोंका मार्गप्रदर्शन करना या अपने लक्ष्योंको प्राप्त करना असम्भव है। वह बहुधा अपने-आपसे तथा अपने कार्यसे अत्यन्त विरक्ति अनुभव करता था, परन्तु उसका ख्याल था कि उसे अन्ततक इस कार्यका भार उठाना ही पड़ेगा।

हमारी योजनाओं एवं प्रवृत्तियोंको जाननेसे जिन लोगोंका कुछ मतलब नहीं और जो उन्हें समझनेमें असमर्थ हैं अथवा जो शत्रुवत् व्यवहार करेंगे या अपने ज्ञानके परिणाम-स्वरूप सब कुछ बिगाड़ डालेंगे उन्हें अपनी योजनाएं तथा प्रवृत्तियां बतानेकी कोई आवश्यकता नहीं। आध्यात्मिक विषयोंमें रहस्यको गुप्त रखना सर्वथा उचित है और ऐसा प्रायः ही किया जाता है। केवल गुरु-शिष्यसम्बन्ध जैसे विशेष सम्बन्धोंमें ही इस नियमका अपवाद किया जाता है। हम बाहरके लोगोंको यह नहीं पता लगने देते कि आश्रममें क्या हो रहा है, परन्तु इस बारेमें हम झूठ भी नहीं बोलते। अधिकतर योगी आध्यात्मिक अनुभवोंके सम्बन्धमें दूसरोंको कुछ नहीं बताते अथवा बहुत दिनों बादतक नहीं बताते। रहस्यको गुप्त रखना प्राचीन गुह्यवेत्ताओंका एक साधारण नियम था। कोई भी नैतिक या आध्यात्मिक नियम हमें जगत्के सामने अपनेको नग्न रूपमें उपस्थित कर देने या जनसाधारणके निरीक्षणके लिये अपने मन और हृदयको खोलकर रख देनेका आदेश नहीं देता। गांधीजी कहते थे कि कोई बात गुप्त रखना पाप है पर वह तो उनकी अतियोंमेंसे एक अति ही है।

१७-५-१९३६

***

विरोधी मनवालों या अविश्वासियोंके साथ मेरे आश्रम या आध्यात्मिक विषयोंके सम्बन्धमें तर्क-वितर्क करना बहुत ठीक नहीं है। ये तर्क साधारणतया साधकपर विरोधी वातावरणका दबाव डालते हैं और उसकी उन्नतिमें सहायक नहीं हो सकते। मौन रहना सर्वोत्तम मनोवृत्ति है; मनुष्यको उनकी दुर्भावना या अज्ञान-को दूर करनेके लिये चिंतित होनेकी जरूरत नहीं।

१३-९-१९३२

आश्रमकी प्रतिष्ठा

"आश्रमकी प्रतिष्ठा" के विषयमें तुम सब लोग विचित्र विचार रखते दीखते हो। आध्यात्मिकताका केन्द्र होनेका दावा करनेवाली संस्थाकी प्रतिष्ठा उसकी

आध्यात्मिकतामें निहित है, न कि समाचारपत्रोंके स्तम्भों या प्रसिद्ध व्यक्तियोंमें।

३०-६-१९३८

एक अच्छे चिन्तककी भ्रांति

प्र०— किन्हीं 'क्ष' ने एक पुस्तक लिखी है जिसमें वे कहते हैं कि आपकी "भाषा" भ्रान्ति आदि पैदा करनेके लिये उत्तरदायी रही है। लगता है कि 'य'ने उन्हें इस बारेमें कुछ लिखा है और उसे यह उत्तर मिला है कि वे आपके दर्शनसे संतुष्ट नहीं, न ही वे, आपके जिन शिष्योंसे मिले हैं उनमें से किसीसे भी संतुष्ट हुए हैं, पर यह कि वे अपने विचार बदल सकते हैं यदि उन्हें आपसे पन्द्रह मिनट बात करनेको मिल जायं। "आर्य" को तो उन्होंने बस इतना ही समझा है कि कुछ वर्ष पूर्व जब मैंने उनसे पूछा कि अतिमानस Supermind क्या है तो उन्होंने उत्तर दिया था कि वह अतीन्द्रिय दर्शनकी शक्ति-जैसी कोई चीज है! मैं यह सोच मन-ही-मन हंसता रह गया कि उन्हें एक अच्छा चिन्तक समझा जाता है।

उ०— हां, प्रत्यक्ष ही मेरे दर्शनके सम्बन्धमें उनके विचारोंमें कुछ भ्रांति प्रतीत होती है यद्यपि उसे पैदा करनेके लिये जो चीज उत्तरदायी रही है, अच्छा तो, वह शायद उनके अपने चिन्तनकी खूबी ही है! मुझे आशंका है कि 'क्ष' योगीसे पन्द्रह मिनटकी बातचीतका सम्मान और आनन्द प्राप्त करना मेरे लिये इतनी बड़ी चीज है कि उसे इस जीवनमें पानेकी इच्छा भी मैं नहीं कर सकता। इसका अधिकारी बननेके लिये मुझे पहले तो पुण्य अर्जित करना और फिर दुबारा जन्म लेनेका यत्न करना होगा।

१३-४-१९३५

नीतिशास्त्र और साधना

प्र०— मैं आपकी शिक्षाओंपर पद्धतिबद्ध पाश्चात्य ढंगसे एक पुस्तक लिखनेका विचार कर रहा हूँ जो तीन मुख्य विभागोंमें विभक्त होगी: 1. तत्त्वचिन्तन 2. मनोविज्ञान 3. आचारशास्त्र। किन्तु उसे

विद्वत्तापूर्ण ढंगसे प्रस्तुत करने योग्य बनानेके लिये कुछ-एक अतीत और वर्तमान पश्चिमीय दार्शनिकों एवं मनोवैज्ञानिकोंका विस्तृत अध्ययन करना आवश्यक होगा। और उसके लिये समय ही कहां है ?

उ०— मुझे खेद है कि यह वास्तवमें अतीव विराट् कार्य होगा। पर उसमें आचारशास्त्र क्यों ? मैं नहीं समझता कि साधनामें कोई आचारशास्त्र भी है; क्योंकि आचारशास्त्र आचार-व्यवहारके बंधे-बंधाये सिद्धान्तों और नियमों-पर निर्भर करता है, जब कि यहां कोई ऐसी चीज केवल साधनाके प्रयोजनोंके लिये आध्यात्मिक या उच्चतर चेतना पानेकी शर्तोंके रूपमें ही हो सकती है और बादमें तो प्रत्येक चीज उस चेतनाके और उसकी गतियों एवं आदेशोंके द्वारा, स्वतन्त्र रूपसे ही निर्धारित होती है।

२६-७-१९३६

प्रत्यक्ष चौर्य

प्र०— 'क्ष' ने "हिन्दू" में प्रकाशित अपने भाषणमें न केवल आपके बहुत-से विचार चुराये हैं वरन् वास्तवमें कई-सारे वाक्य पूरे-के-पूरे ले लिये हैं। लगता है कि वह ऐसा धन्धा करनेमें प्रसिद्ध है। पर मुझे आश्चर्य यह है कि कैसे दार्शनिक साहित्यमें ऐसी डकैती बिना दण्ड पाये छूट जाती है। मैं सोच रहा हूँ कि या तो उसे लिखूँ कि दुःखकी बात है कि तुमने ऐसी चोरी की है या फिर "हिन्दू" वालोंको इसकी सूचना दे दूँ।

उ०— मैं नहीं समझता ऐसा कुछ भी करनेसे लाभ होगा। चोरियां तो प्रत्यक्ष ही हैं पर यदि वह अपने मटमैले रंगोंमें कुछ मोरपंख खोंसना चाहता है तो !

२३-७-१९३६

आश्रममें दबावका अनुभव बाहरकी घटनाएं

प्र०— यहां जो दबाव अनुभूत होता है उसका यदि बाह्य जगत्पर किसी रूपमें प्रभाव पड़ता है, तो क्या यहां घटनेवाली घटनाओंका

बाहरकी घटनाओंसे कोई सम्बन्ध है? उदाहरणार्थ, मैंने देखा कि जिस दिन 'क्ष' और 'य' यहांसे गये, इटलीवालोंने अबिसीनियाको अन्तिम रूपसे जीत लिया। (लगभग १६वीं सदीकी) अहमदाबादके एक गुह्यविद्‌की कहानी है जिसमें कहा गया है कि वह चटाइयां बना और तोड़ रहा था और उसी प्रकार नगरकी चारों ओरकी दीवार जो दिनमें बनाई जाती थी रातको गिर पड़ती थी — उसी समय जब वह चटाईके टुकड़े अलग कर रहा होता था।

उ०— गुह्यविद्‌की कहानीमें एक सत्य है, और यह मान लेना भूल होगा कि यहांके दबाव और बाहरकी घटनाओंमें कोई सम्बन्ध नहीं। पर एक ही समयपर घटी किन्हीं विशेष घटनाओंके विषयमें मुझे कुछ पता नहीं। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि 'क्ष' और 'य' के जानेका सम्बन्ध अबिसीनियाकी घटनाके साथ आसानी-से जोड़ा जा सकता है।

१०-१०-१९३६

विवेकानन्द

प्र०— मैं विवेकानन्दकी पुस्तकें पढ़नेकी सोच रहा हूँ। उन्होंने अपने व्याख्यानोंमें जो कहा है, क्या वह सब सत्य है, कोई सीधी अन्तःप्रेरित वस्तु है?

उ०— वह सभी सत्य है ऐसा मैं नहीं कह सकता — (अन्य प्रत्येक व्यक्तिकी तरह) कुछ विषयोंमें उनके अपने मत थे जिनपर शङ्का की जा सकती है। पर उन्होंने जो कुछ कहा था उसका अधिकांश बहुत मूल्यवान् है।

२५-९-१९३५

***

प्र०— मैं कुछ पुस्तकें पढ़ना चाहता हूँ। क्या आप कृपया मुझे कुछ नाम बतायेंगे?

उ०— मुझे निश्चित पता नहीं कि तुम्हारी रुचि किन पुस्तकोंमें होगी और स्वयं मैं पुस्तकोंसे इतना दूर हूँ कि नाम याद आना कठिन है। यदि तुमने

विवेकानन्दकी पुस्तकें नहीं पढ़ीं तो पढ़ सकते हो या फिर और कोई भी पुस्तकें जिनसे तुम्हें वेदान्तके सम्प्रदायों और सांख्यकें सम्बन्धमें कुछ बोध प्राप्त हो। इस विषयमें महेन्द्र सरकारकी एक पुस्तक "Eastern Lights" (पूर्वीय प्रकाश) भी है। मैं समझता हूँ तुम शायद भारतीय दर्शन पढ़ना चाहते हो।

२५-६-१९३५

अरस्तुका नीरस दर्शन

प्र०— मैंने अरस्तूका दर्शन पढ़नेका यत्न किया, पर उसे अत्यन्त नीरस और दुरूह पाया।

उ०— मुझे भी वह हमेशा अत्यन्त नीरस लगा। वह निरा मानसिक दर्शन है, अफलातूनके दर्शन जैसा नहीं है।

(W. James) विलियम जेम्स

जेम्सकी पुस्तक* निश्चय ही अत्यन्त रोचक है। बहुत समय हुआ मैंने वह पढ़ी थी और अब वह मुझे बहुत अच्छी तरह याद नहीं। इतना ही स्मरण है कि वह बहुत मनोरंजक थी, अपनी श्रेणीकी साधारण पुस्तक बिलकुल नहीं थी, बल्कि बहुमूल्य सुझावोंसे भरी थी।

१-७-१९३३

जड़वादी विज्ञान तथा गुह्यवाद

खेद है कि ऐसे विचार-वितर्कमें मुझे कुछ भी रुचि नहीं है; मेरे लिये स्थिति इतनी गम्भीर होती जा रही है कि मैं इन निष्फल ऊहापोहोंमें समय नहीं गंवा सकता। मुझे इसकी तनिक भी परवाह नहीं कि तुम अपनी बात सफलतापूर्वक सिद्ध कर लो और जड़वादी विज्ञानके मतवादको उसके आधी सदी पहलेके सिंहासन-पर पुन: स्थापित कर दो, उस सिंहासनपर जहांसे वह अपनी संकीर्ण सीमाओंके परेके सभी विचारोंको निरा दार्शनिक शब्दजाल, रहस्यवाद और कपोल-कल्पना कहकर जयघोषपूर्वक बहिष्कृत कर सकता है। स्पष्ट है कि यदि इस जड़

*विलियम जेम्स द्वारा लिखित "Psychology" (साइकोलोजी, मनोविज्ञान)।

जगत्में जड़ शक्तियां ही रह सकती हैं तो इस भूतलपर दिव्य जीवनकी किंचित् भी सम्भावना नहीं हो सकती। विज्ञानमूलक नास्तिकवाद तथा प्रत्यक्ष सामान्य बुद्धिके आक्षेपोंके विरोधमें निरा दार्शनिक "मन-बुद्धि" का कौशल — जैसा कि इसे कहा जा सकता है — दिव्य जीवनका समर्थन नहीं कर सकता। मेरा ख्याल था कि यूरोपके अनेक वैज्ञानिक विचारक भी यह मानने लगे हैं कि विज्ञान अब जगत्के वास्तविक सत्यका निर्णय करनेका दावा नहीं कर सकता, इसका निर्णय करनेके साधन ही इसके पास नहीं हैं और यह तो केवल इतना ही जान सकता और जतला सकता है कि जगत्के स्थूल ऊपरी तलमें जड़शक्ति-की जो क्रियाएं होती हैं वे कैसे होती हैं और उनकी पद्धति तथा प्रणाली क्या है। फलस्वरूप, उच्चतर विचारवितर्क और आध्यात्मिक अनुभवके लिये, यहां-तक कि रहस्यविद्या, गुह्यविद्या और उन सब महत्तर चीजोंके लिये क्षेत्र खुला रह जाता है जिन्हें प्रायः प्रत्येक मनुष्य असम्भव प्रलाप कहकर अविश्वसनीय मानने लग पड़ा था। जब मैं इंगलैण्डमें था तब वस्तुस्थिति ऐसी ही थी। यदि फिर वही स्थिति लौट आनी है या यदि रूस और उसके द्वंद्वात्मक जड़-वादको संसारका नेता बनना है तब तो भावीके आगे सिर झुकाना होगा और दिव्य जीवनको शायद सहस्र वर्ष और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी होगी। परन्तु यह विचार मुझे पसन्द नहीं कि हमारी कोई पत्रिका इस प्रकारके दंगलका अखाड़ा बने। बस इतना ही। यह सब मैं इस विषयपर तुम्हारे पिछले लेखकी स्मृतिके आधारपर लिख रहा हूं, क्योंकि अभी हालके लेख मैंने आद्योपांत ध्यानसे नहीं पढ़ें हैं; सम्भवतः ये नए लेख पूरी तरह जंचने लायक होंगे और इन्हें पढ़ लेनेपर मुझे पता चलेगा कि मेरा अपना पक्ष अशुद्ध है तथा अब कोई आग्रही गुह्यवित् ही प्रकृतिपर आत्माकी ऐसी विजयमें विश्वास रख सकता है जिसे मैं निश्चित रूपसे सम्भव समझता रहा हूं। परन्तु मैं ठीक ऐसा ही आग्रह-शील गुह्यवादी हूं; अतः, यदि मैंने अपनी किसी पत्रिकामें इस विषयपर तुम्हारा विस्तृत लेख प्रकाशित होने दिया तो मुझे भी बाध्य होकर अपने पक्षकी पुनः स्थापना करनेके लिये फिरसे यह विषय हाथमें लेना होगा जब कि इसमें मुझे रस नहीं रहा है और इसलिये लिखनेकी रुचि भी नहीं है। इसके अतिरिक्त, विज्ञान इन विषयोंपर सब प्रकारका निर्णय देनेका अपना जो अधिकार समझता है उसका भी मुझे प्रतिरोध करना होगा; क्योंकि न तो इसके पास इनकी छानबीन करनेका कोई साधन है न ही युक्तियुक्त निर्णयपर पहुँचनेकी कोई सम्भावना। तब तो वास्तवमें जड़वादीकी विजयशाली अस्वीकृतिके उत्तरमें मुझे शायद सारा ही 'लाइफ डिवाइन (दिव्य जीवन)' नए सिरेसे लिखना होगा। अपनी लंबी और निराशाजनक चुप्पीके विषयमें, इस विषयकी चर्चा

करनेके लिये महज समयके अभावके साथ-साथ, बस यही व्याख्या दे सकता हूँ।

रसेल, एडिंग्टन, जीन्स*

मुझे समझमें नहीं आता क्यों 'क्ष' मुझसे बर्ट्राण्ड रसेल (Bertrand Russell) की आलोचनाके सामने शीश नवानेकी आशा करता है।

1 रसेलकी सम्मतियां भी उतनी ही उसकी शिक्षा-दीक्षा और स्वभाव आदिसे निर्धारित हैं जितनी जीन्स या एडिंग्टनकी। वह अत्यन्त हठीले जड़वादके यौवन-कालमें उत्पन्न हुआ था; जो विचार उसकी प्रकृतिमें घर कर गये हैं उन्हें बदलनेको वह उद्यत नहीं। विज्ञानकी हालकी प्रगतियोंके परिणामके बारेमें उसके विचारका निर्धारण यही चीज करती है न कि स्पष्ट अचूक तर्क; तर्क तो मनकी पसन्दगियों द्वारा उसके सामने रखे गये किसी भी पक्षका पोषण कर सकता है। न ही रसेलका विचार एडिंग्टनकी वैयक्तिक दृष्टि, कल्पनात्मक अनुमानों और आदर्शवादी पूर्वग्रहोंके विपरीत, तथ्योंका कोई ऐसा तटस्थ निर्वैयक्तिक अवलोकन है जो निष्पक्ष तर्कबुद्धि द्वारा प्रेरित हो। मानव तर्क-बुद्धिमें शुद्ध मानसिक निर्वैयक्तिकताका यह विचार तर्कवादी मनका एक ऐसा अन्धविश्वास है जिसका भण्डाफोड़ हो चुका है। मनोविज्ञानने अपनी हालकी खोजोंमें यह दिखा दिया है कि शुद्ध विषयगत तथ्योंका यह कल्पित निर्वैयक्तिक निरीक्षण और उनके आधारपर निष्पक्ष निष्कर्ष, शुद्ध मनके कोरे कागजपर सत्यका स्वचालित लेखन एक मिथ्या-कल्पना है। उसने सिद्ध कर दिया है कि वैयक्तिक तत्त्व अनिवार्य है; हम जो कुछ हैं उमके अनुसार ही हम सोचते हैं।

2. मेरी समझमें रसेल कोई महान् वैज्ञानिक या विज्ञानके किसी भी क्षेत्रमें सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति नहीं। मुझे बताया गया है कि एडिंग्टन खगोल-भौतिकी-के क्षेत्रमें सर्वोत्कृष्ट अधिकारी विद्वानोंमें एक है। जीन्स और एडिंग्टन चाहे महान् आविष्कारक नहीं फिर भी वैसे अग्रगण्य हैं। रसेल महान् गणितज्ञके

*ये अधूरी टिप्पणियां हैं जो श्रीअरविन्दने १९४२के आसपास लिखी थीं। ये एक पत्रके साथ उसके अङ्गके रूपमें भेजनेके उद्देश्यसे लिखी गई थीं, पर वह पत्र भेजा कभी नहीं गया। इनमेंसे एक संदर्भ पृथक् रूपमें लिखा गया था यद्यपि उसे भी पत्रमें सम्मिलित करना अभीष्ट था। उसे अब पत्रमें उसके अत्यन्त उपयुक्त स्थानपर, अन्तिमसे पहले पैरेके रूपमें, बिठा दिया गया है।

रूपमें समादृत है, पर वहां भी एडिंग्टनमें उससे अधिक एक विशिष्टता है; ऐसा समझा जाता है कि वह, कुछ लोगोंके कथनानुसार, आइन्स्टाइनके गाणितिक सूत्र-सिद्धान्तको पूर्णरूपेण समझनेवाला एकमात्र गणितज्ञ है, कुछ दूसरोंके कथनानुसार, वह ऐसे केवल पांच व्यक्तियोंमेंसे एक है। रसेलको उनमें नहीं गिना जाता और यह त्रुटि शायद उसे 'सापेक्षता' (Relativity) के पूरे परिणामोंको समझनेके अयोग्य बना देती है। तथापि रसेल एक प्रमुख दार्शनिक है, यद्यपि वह महान् दार्शनिकोंमें एक नहीं। मैं उसे वास्तवमें दर्शन और विज्ञानके विषयमें शक्तिशाली और प्रखर चिन्तक मानूंगा। यहां उसमें एक विशिष्टता है, क्योंकि जीन्स और एडिंग्टन केवल शौकिया दार्शनिक हैं जिनके पास इस व्यवसायके लिये कुछ एक सामान्य विचारोंकी ही पूंजी है।

3. जहांतक उनकी सामान्य बौद्धिक स्थितिका प्रश्न है, रसेलमें स्पष्ट और सुतीव्र भौतिकवादीय बुद्धि है जिसका अपने ढंग और स्तरका विशाल एवं सर्वजनीन क्रियाक्षेत्र है। बाकी दोनों अपने क्षेत्रमें शक्तिशाली हैं, वैज्ञानिक ज्ञान और निर्णयमें सधे हुए इस क्षेत्रसे बाहर उनकी कोई पूछ नहीं: एडिंग्टनका मन अपनी सीमाओंके भीतर अधिक अन्तर्ज्ञानमय और मौलिक है पर प्रायः ही वह अपने लक्ष्यसे परेकी उड़ान भरता है। रसेल जब अपनी सीमाओंके बाहर जाता है तो वह लड़खड़ाकर भारी भूलें कर सकता है। अच्छा तो फिर अन्य दोनोंको बलि देकर रसेलकी प्रामाणिकताके गीत गानेके लिये कोई आधार ही कहां है? मैं तो तीनोंके ही निष्कर्षोंसे सहमत नहीं; मैं न तो मनोबुद्धिवादी हूँ, न प्राणवादी और न भौतिकवादी। तो फिर मुझपर रसेलको क्यों थोपते हो? उसके जड़वादीय पूर्वग्रहका सम्मान कर मैं प्रस्तुत विषयमें अपना निर्णय बदल दूँ यह सम्भव नहीं। और उसके निर्णय या उसके तर्कका अर्थ क्या है? 'क्ष' के विपरीत, वह यह मानता है कि "विज्ञान" में क्रांति हुई है; उसकी मान्यता है कि पुराने जड़वादीय दर्शनके पास अब खड़े रहनेको आधी गली-सड़ी टांग भी नहीं रही; उसका जड़तत्त्ववादीय कट्टर सिद्धान्त भगवान् जाने कहां ठुकरा दिया गया है। इसपर भी, रसेल कहता है, जड़तत्त्वका अस्तित्व है और इस संसारमें प्रत्येक वस्तु भौतिक विज्ञानके नियमोंका (? वे जो भी हों या समय-समयपर वे जो भी बन जायं?) पालन करती है। यह एक ऐसे विषयपर, जो अब बहुत संदेहग्रस्त है, एक निरी वैयक्तिक सम्मति है: जो उसे भविष्यकी अग्रसर शक्तियां लगती हैं उनके विरुद्ध वह पीछेकी पंक्तिमें तैनात होकर मोर्चा ले रहा है; उसका वीरतामय पर संकोचपूर्ण दृढ़ कथन प्रतिरक्षात्मक कवायद है न कि आक्रामक प्रहार, उसमें वह पहलेवाला सुनिश्चित आत्मविश्वास बिलकुल ही नहीं।

अब रसेलके तर्कके सम्बन्धमें। शुष्क और प्रबल या, यहांतक कि, कठोर एवं गम्भीर तर्क भी सत्य की कुंजी नहीं; उत्साहपूर्ण अन्तर्दृष्टि वहुधा उसे अधिक शीघ्र पा लेती है। तर्कका काम है चिन्तकके विचारोंको क्रमवद्ध करना, उनमें दृढ़ सम्बन्ध और अन्य लोगोंके विचारोंसे सुस्थिर भेद स्थापित करना, पर जब ऐसा हो जाता है तो हम पहलेकी अपेक्षा निर्विवाद सत्यके कोई अधिक निकट नहीं पहुँच जाते। जो शक्ति सत्यको देखती है वह तर्क नहीं, वह है दृष्टि — बाह्य दृष्टि जो तथ्योंको देखती है पर उनका आन्तरिक अर्थ नहीं, अन्तर्दृष्टि जो आन्तरिक तथ्योंको देखती है और उनका आन्तरिक अर्थ भी देख सकती है, समग्र दृष्टि (यह मनकी संपदा नहीं) जो समष्टिको देखती है। तीव्र और स्पष्ट एवं शक्तिशालिनी बुद्धि, यह है रसेल, पर इससे अधिक कुछ नहीं — निश्चय ही विज्ञान हो या कोई और विषय, उसमें वे निर्भ्रांत प्रमाण नहीं। जीन्स और एडिंग्टनकी भी अपनी-अपनी तार्किक विवेचना है; उसे भी मैं रसेलकी विवेचनासे किंचित् भी अधिक स्वीकार नहीं करता।

परन्तु हम प्रमाणोंके तीर मारना छोड़ दें,—प्रायः तो परस्पर-विरोधी निष्कर्षोंके लिये एक ही व्यक्तिको प्रमाण-रूपमें उद्धृत किया जाता है, रसेलके विरुद्ध रसेल और डार्विनके विरुद्ध डार्विनको,—ऐसा न कर हम प्रकृत विषयपर आयें......

लियोनार्ड वूल्फ*को उत्तर

वूल्फको उत्तर दीर्घकाल पूर्व लिखा गया था, उस समय जब उसका लेख लन्दन-के एक साप्ताहिक New Statesman and Nation (न्यू स्टेट्समैन ऐण्ड नेशन) में निकला था। 'क्ष' ने ही मेरा ध्यान उसकी ओर खींचकर उसका उत्तर लिखनेके लिये प्रार्थना की थी। इस बार 'य' (Onward) (ऑनवर्ड) के १५ अगस्तके अंकके लिये मेरी कोई कृति चाहता था और उसने इसे ही पसन्द किया।

२४-८-१९३४

लेनिन

प्र०— किसी व्यक्तिने 'क्ष' को बताया कि श्रीअरविन्दने लेनिनके

*देखो 'श्रीअरविन्दके पत्र' श्रीअरविन्द-साहित्य संग्रह, खण्ड १६ पृ० २१७-२२३।

द्वारा रूसी क्रांतिको जन्म दिया था। 'क्ष' ने 'य' से कहा कि यहां लोग अतिविश्वासी हैं और ऐसी चीजोंमें विश्वास कर लेते हैं। 'य' ने कहा यदि यौगिकशक्तिसे शरीरके भयानक रोग ठीक करना सम्भव है तो दूसरे व्यक्तिके मनपर कार्य कर उसके अन्दर ऐसी अमित प्राण-शक्ति डालना क्यों नहीं सम्भव होना चाहिये जो रूसी क्रान्ति जैसे परिणाम उत्पन्न कर सके ?

उ०– 'क्ष' को जो बताया गया वह पूर्णरूपेण ठीक नहीं था; यह तो बातोंको अतीव स्थूल रूप में प्रस्तुत करना है। आध्यात्मिक एवं गुह्य क्रियाशक्तियां प्रदान करती है और किसी जागतिक घटनाको क्रियान्वित करनेवाले व्यक्तियोंकी देख-भाल कर सकती है, पर इस बातको उपर्युक्त ढंगसे प्रस्तुत करनेसे तो वास्तविक कर्मी अत्यन्त ही स्वचालित यन्त्र-से बन जाते हैं जैसे वे होते नहीं।

२५-१-१९३७

हिटलर — गोऑरिंग — गोब्बल्स

हिटलर और उसके मुख्य उपसेनापति गोअरिंग और गोब्बल्स निश्चय ही प्राणिक सत्ताएं हैं या प्राणिक सत्ताओंसे अधिकृत हैं, अतः तुम उनसे साधारण बुद्धिकी आशा नहीं कर सकते। केसर चाहे पूरी तरहसे पैशाचिक था फिर भी वह इनकी अपेक्षा कहीं अधिक मानवीय व्यक्ति था; ये लोग तो कदाचित् मनुष्य हैं ही नहीं। यूरोपमें उन्नीसवीं सदी प्रधान रूपसे मानवीय युग थी — अब वहां प्राणिक जगत्का अवतरण होता दीख रहा है।

१८-९-१९३६

भारत माता

प्र०– जब आपने लिखा था कि आप भारतको पृथ्वीके जड़ और निर्जीव लोंदेके रूपमें नहीं वरन् साक्षात् माता, जीवन्त माताके रूपमें देखते हैं तो मैं समझता हूँ आपने यह परम सत्य देखा था —अथवा क्या वह काव्यमय या देशभक्तिपूर्ण भावनाका प्रकाश भर था ?

उ०– प्रिय महाशय, मैं जड़वादी नहीं हूँ। यदि मैंने भारतको केवल एक ऐसे

भौगोलिक भूखण्डके रूपमें देखा होता जिसमें कुछ संख्यामें थोड़े-बहुत मनोरंजक व्यक्ति हैं, तो मैं कदाचित् भू-भागके लिये अकारण वह सब करनेका कष्ट मोल न लेता।

कोरी काव्यमय या देशभक्तिपूर्ण भावना — ठीक वैसे ही जैसे तुम्हारे अन्दर केवल तुम्हारा मांस, त्वचा, हड्डियां और दूसरी चीजें...वास्तविक हैं; पर जिन्हें तुम अपना मन एवं आत्मा कहते हो उनका कोई अपना अस्तित्व नहीं है, वे तो केवल मानसिक आभास हैं जो तुम्हारे खाये भोजनसे और ग्रंथियोंकी क्रियासे उत्पन्न होते हैं। निःसंदेह काव्य और देशभक्तिका भी यही उद्‌गम है और जिन वस्तुओंकी ये बात करते हैं वे सर्वथा अवास्तविक हैं।

स्वतन्त्रताके बाद भारतके लिये प्रश्न

प्र०— कुछ मुसलमानोंने बंगालमें हिन्दू परिवारोंपर जो अत्याचार किये हैं उनके बारेमें सुनकर बहुत निराशा होती है।

आशा है स्वतन्त्रताके आनेके साथ ऐसी चीजें बन्द हो जायंगी। अब मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ। क्या आप वस्तुओं-संबन्धी अपनी योजनामें स्वतन्त्र भारतको सुनिश्चितरूपमें देखते हैं? आपने कहा है कि संसारमें आध्यात्मिकताके प्रसारके लिये भारतका स्वतन्त्र होना आवश्यक है। मैं समझता हूँ आप उसके लिये अवश्य कार्य कर रहे होंगे! आप ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जो अपनी आध्यात्मिक शक्तिके प्रयोगसे कोई सचमुचमें फलप्रद कार्य कर सकते हैं।

उ०— यह सब तै हो चुका है। अब तो केवल निर्णयको कार्यान्वित करनेका प्रश्न है। प्रश्न यह है कि भारत अपनी स्वतन्त्रताका क्या उपयोग करने जा रहा है? क्या उपर्युक्त ढंगका काम? बोल्शविज्म (Bolshevism)? गुण्डा-राज? स्थिति अनिष्टसूचक दिखाई देती है।

१६-६-१६३५

राजनीतिज्ञोंकी विवेकशीलता

बेचारा 'क्ष' परन्तु वह राजनीतिज्ञ है और राजनीतिज्ञोंकी विवेकशीलताको विवश होकर एक घेरेके अन्दर ही रहना पड़ता है: यदि वे अपनेको इतना स्पष्ट विचारक बनने दें तो उनका पेशा ही जाता रहे! यह हर-एकके बसकी

बात नहीं कि वह किसी बर्कनहैड-जैसा नकचढ़ा या किसी सी. आर. दास-जैसा दार्शनिक होता हुआ भी राजनीतिक तर्क-वितर्क या राजनीतिक छल-कपट करता रह सके, जब कि वह यह भी जानता हो कि पहले दृष्टांतमें तो पेशेकी दृष्टिसे और दूसरेमें देशभक्तिके दृष्टिकोणसे इस सबका क्या अर्थ है।

चित्तरंजन दास (सी. आर. दास) पर एक सन्देश[1]

चित्तरंजनका निधन एक बहुत ही बड़ी क्षति है। राजनीतिक प्रतिभा; रचनात्मक कल्पना; आकर्षण-शक्ति; तीव्र संकल्प, अन्तर्दृष्टिके लिये मनकी असाधारण नमनीयता और समयानुकूल युक्तिकौशलको मिलानेवाली नेतृत्वशक्ति — इन सब गुणोंसे पूर्णतया विभूषित वे ही तिलकके बाद एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो भारतको स्वराज्यकी मंजिलतक पहुँचा सकते थे।

बहुत पहलेकी एक भविष्यवाणी[2]

१९०७से हम एक नये युगमें रह रहे हैं जो भारतके लिये आशापूर्ण है। भारत-में ही नहीं, वरन् सारे संसारमें सहसा नाना प्रकारकी उथल-पुथल एवं क्रांतिपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होंगे। ऊंचा नीचा हो जायगा और नीचा ऊंचा। उत्पीड़ित और पददलित ऊंचे उठ जायंगे। राष्ट्र और मानवजाति नयी चेतना एवं नयी विचारधारासे अनुप्राणित हो उठेंगे और नये लक्ष्योंतक पहुँचनेके लिये नये प्रयत्न किये जायंगे। इन क्रांतिमय परिवर्तनोंके बीच भारत स्वतन्त्र हो जायगा।

जनवरी १९१०

[1] चित्तरञ्जनदास (सी. आर. दास) के निधनके अवसरपर Bombay Chronicle (बॉम्बे क्रॉनिकल) के अनुरोधके उत्तरमें दिया गया और उसके २२-६-१९२५ के अंकमें प्रकाशित सन्देश।

[2] जनवरी १९१०में श्रीअरविन्दने यह भविष्यवाणी तमिल राष्ट्रीय साप्ताहिक 'इण्डिया' के संवाददाता को दी थी जो उन्हें कलकत्तेमें कृष्णकुमारके घरपर मिले थे। श्रीअरविन्द-से अनुमति लेकर ही इसे छापा गया था।

विभाग आठ

सन्देश

सन्देश

युद्धके विषयमें

[1]कुछ शक्तियां भगवान्‌के लिये कार्य कर रही हैं, कुछ अपने उद्देश्य एवं प्रयोजन-में सर्वथा भगवद्विद्वेषी हैं।

यदि वे राष्ट्र या सरकारें, जो अन्धवत् दिव्य शक्तियोंके यन्त्रोंका काम कर रही हैं, अपने कार्यकी पद्धतियोंमें और उसके रूपोंमें तथा उस अन्तःप्रेरणामें जिसे वे इतने अज्ञानपूर्वक ग्रहण करती हैं, पूर्णतया पवित्र और दिव्य हों तो वे अजेय होंगी, क्योंकि दिव्य शक्तियां स्वयं अजेय हैं। बाह्य अभिव्यक्तिमें मिश्रण ही असुरको उन्हें पराजित करनेका अधिकार देता है।

आसुरिक शक्तियोंका सफल यन्त्र होना आसान है, क्योंकि वे तुम्हारी निम्नतर प्रकृतिकी सभी गतियोंको हाथमें ले उनका प्रयोग करती हैं, जिससे तुम्हें कोई आध्यात्मिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसके विपरीत, यदि तुम्हें भागवत शक्तिका ठीक यन्त्र बनना है तो तुम्हें अपने-आपको पूर्णतया पवित्र बनाना होगा, क्योंकि समग्र रूपसे दिव्य बने यन्त्रमें ही भागवत शक्तिका पूरा बल एवं प्रभाव प्रकट होगा।

४-७-१९४०

* * *

[2]हम अनुभव करते हैं कि यह केवल एक ऐसा युद्ध नहीं जो महज आत्मरक्षाके लिये तथा उन राष्ट्रोंकी रक्षाके लिये लड़ा जा रहा है जो सारे संसारपर जर्मनी के प्रभुत्वकी तथा नाज़ी जीवन-प्रणालीकी विभीषिकासे ग्रस्त हैं, बल्कि यह सभ्यता और उसके उपलब्ध उच्चतम सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्योंकी तथा मानवजातिके सम्पूर्ण भविष्यकी रक्षाके लिये किया जा रहा

[1]एक शिष्यको लिखे पत्रसे।

[2]मित्रराष्ट्रोंके ध्येयके प्रति पूर्ण निष्ठाके चिह्न-स्वरूप, वाइसरायकी युद्ध-निमित्तक निधि-के लिये दान भेजते समय यह पत्र मद्रासके गवर्नरको लिखा गया था। यह फ्रांसके पतन और ब्रिटेनके आशंकित पतनके समय लिखा गया था। जरूरत पड़नेपर इसे प्रकाशित करनेका अधिकार भी गवर्नरको दिया गया था।

है। कुछ भी क्यों न हो इस ध्येयके लिये हमारी सहायता एवं सहानुभूति अटल रहेगी। हम टकटकी लगाये देख रहे हैं ब्रिटेनकी विजयकी ओर, उसके अन्तिम परिणामके रूपमें, राष्ट्रोंमें शान्ति एवं ऐक्यके युग और एक अधिक श्रेष्ठ एवं सुरक्षित विश्व-व्यवस्थाकी ओर।

१९-९-१९४०

* * *

*तुमने कहा है कि तुम्हें संदेह होने लगा है कि यह माताजीका युद्ध है या नहीं और तुमने मुझसे प्रार्थना की है कि मैं तुम्हें फिर अनुभव करा दूँ कि यह ऐसा ही है। मैं तुम्हें फिर अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहता हूँ कि यह माताजीका ही युद्ध है। तुम्हें यों नहीं सोचना चाहिये कि यह कुछ राष्ट्रोंके लिये अन्य राष्ट्रोंके विरुद्ध लड़ाई है या, यहांतक कि, यह भारतके लिये लड़ाई है। यह तो एक संघर्ष है आदर्शके लिये जिसे अपने-आपको पृथ्वीपर मानव जातिके जीवनमें स्थापित करना है, एक सत्यके लिये जिसे अभी अपने-आपको पूरी तरहसे चरितार्थ करना है और है यह उस अन्धकार एवं मिथ्यात्वके विरुद्ध जो निकटतम भविष्यमें पृथ्वी और मानवजातिको अभिभूत करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। हमें देखना है युद्धके पीछे कार्यरत शक्तियोंको, न कि इस या उस ऊपरी घटनाको। राष्ट्रोंकी त्रुटियों या भूलोंपर ध्यान देनेसे कोई लाभ नहीं; त्रुटियां सभीमें हैं और सभी भारी भूलें करते हैं। पर महत्त्व केवल इस बातका है कि संघर्षमें उन्होंने अपनेको किस पक्षमें खड़े किया है। यह संघर्ष है मनुष्यजातिके हित विकास करनेकी स्वतन्त्रता पानेके लिये, उन अवस्थाओंको उत्पन्न करनेके लिये जिनमें मनुष्योंको अपने अन्दरके प्रकाशके अनुसार सोचने और कार्य करनेकी तथा सत्यमें एवं आत्मामें वर्धित होनेकी स्वतन्त्रता और गुंजायश हो। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता कि यदि एक पक्ष जीत जाता है तो ऐसी सब स्वतन्त्रताका और प्रकाश और सत्यकी प्राप्तिकी समस्त आशाका अन्त हो जायगा और जो काम हमें करना है उसे ऐसी शर्तोंके अधीन रहकर करना पड़ेगा जो उसे मानवके लिये असम्भव ही बना देंगी। अधिकांश मनुष्य जातिके लिये असत्य और अन्धकारका, क्रूरतापूर्ण दमन और पतनका एक ऐसा राज्य स्थापित हो जायगा जिसकी कल्पना इस देशके लोगोंको स्वप्नमें भी

*यह पत्र एक शिष्यको युद्धके सम्बन्धमें सार्वजनिक तौरपर घोषित श्रीअरविन्दके दृष्टिकोणपर उसकी शंकाओंके उत्तरमें लिखा गया था।

नहीं हो सकती और जिसे वे अभी ठीक-ठीक समझ तक नहीं सकते। यदि दूसरे पक्षकी, जिसने अपनेको मानवजातिके स्वतन्त्र भविष्यका पोषक घोषित किया है, जीत हो जाय तो यह भयानक संकट टल जायगा और ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न हो जायंगी जिनमें आदर्शको विकसित होनेका अवसर मिलेगा, भगवान्का कार्य सम्पन्न हो सकेगा, जिस आध्यात्मिक सत्यके हम पक्ष-पोषक हैं वह अपनेको भूतलपर प्रतिष्ठित कर सकेगा। जो इस ध्येयके लिये युद्ध करते हैं वे भगवान्के लिये और असुरके आशंकित शासनके विरुद्ध युद्ध कर रहे हैं।

२९-७-१९४२

* * *

*जो कुछ हम कहते हैं वह यह नहीं है कि मित्रराष्ट्रोंने कोई खराब काम नहीं किये, परन्तु यह कि वे विकासकारिणी शक्तियोंके पक्षमें खड़े हैं। यह मैंने यूँ ही नहीं कहा है किन्तु मेरे लिये जो सत्यके स्पष्ट आधार हैं उनके बलपर कहा है। तुम जिसकी बात करते हो वह काला पार्श्व है। सभी सरकारें और राष्ट्र एक दूसरेके साथ अपने व्यवहारोंमें वैसे काले पार्श्ववाले रहे हैं — कम-से-कम वे सब जिनके पास कि शक्ति थी और जिन्हें मौका मिला। मैं आशा करता हूँ कि तुम मुझसे यह विश्वास करनेकी आशा नहीं कर रहे हो कि संसारमें धर्मयुक्त सरकारें और स्वार्थहीन तथा निर्दोष प्रजाएं हैं या रही हैं? परन्तु एक दूसरा पहलू भी है। तुम मित्रराष्ट्रोंकी निन्दा उस आधारपर कर रहे हो जिसकी तरफ देख भूतकालके लोग आश्चर्यचकित रह जाते — अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारके वर्तमान आदर्शोंके आधारपर; इस तरहसे देखा जाय तो सबका ही इतिहास कालिमायुक्त दिखाई देगा। परन्तु किन लोगोंने इन आदर्शोंको जन्म दिया या इन्हें (स्वाधीनता, जनतन्त्र, समानंता, अन्तर्राष्ट्रीय न्याय और ऐसे ही अन्य आदर्शोंको) जन्म देनेके लिये बड़ा प्रयत्न किया? हां, अमरीका, फ्रांस, इंगलैण्डने — इस समय के मित्रराष्ट्रोंने। बेशक वे सब ही साम्राज्य-वादी रहे हैं और अबतक भी अपने अतीतके भारको उठाये हुए हैं, परन्तु उन्होंने उन आदर्शोंको भी सोच-समझकर फैलाया है और उन संस्थाओंको भी विस्तारित किया है जो उन आदर्शोंको मूर्त्त रूप देनेका प्रयत्न करती हैं।

*युद्धमें मित्रराष्ट्रोंको श्रीअरविन्दके द्वारा दी गई बिना शर्त सब प्रकारकी सहायताके सम्बन्धमें कतिपय शंकाओं एवं भ्रांतियोंके उत्तरमें एक शिष्यको लिखे गये पत्रसे ये सन्दर्भ संकलित किये गये हैं।

इन चीजोंका आपेक्षिक मूल्य चाहे जो भी हो, ये अग्रगामी विकासकी एक अवस्था रही हैं, चाहे वह थी अभी अपूर्ण अवस्था ही। (दूसरोंकी क्या हालत है? उदाहरणार्थ, हिटलर कहता है कि रंगीन [जो गोरी नहीं हैं] जातियोंको शिक्षित करना गुनाह है, उन्हें तो अवश्य गुलामों और मजदूरोंकी तरह रखना चाहिये)। इंगलैण्डने किसी निजी लाभको चाहे बगैर कुछ जातियोंको स्वतन्त्र होनेमें सहायता दी है; और इसके अतिरिक्त उसने मिश्र और आयर्लैंण्डको संघर्षके बाद, ईराकको संघर्षके बिना ही स्वतन्त्रता प्रदान कर दी है। वह स्थिरताके साथ, चाहे धीमे-धीमे ही, साम्राज्यवाद से परे हटता हुआ सहयोगकी ओर बढ़ता चला आ रहा है; इंगलैण्ड और उपनिवेशोंका ब्रिटिश प्रजातन्त्र-राज्य एक ऐसी चीज है जो अद्वितीय और अपूर्व है, उस दिशामें नई चीजोंका प्रारम्भ है: वह विचारमें एक इस प्रकारके विश्व-संघकी ओर गति कर रहा है जिसमें कि दूसरेपर आक्रमण कर सकना असम्भव बना दिया जाय; उसकी नयी पीढ़ीके लोगोंमें अब मिशन और साम्राज्यमें पहलेसा दृढ़ विश्वास नहीं रहा है, उसने युद्धके बाद भारतको भी औपनिवेशिक स्वाधीनता —या यदि भारत चाहे तो दूसरोंसे असम्बद्ध उसकी केवल जुदी स्वाधीनता भी —देनेका प्रस्ताव किया है, जिस स्वाधीनताका सर्वसम्मत स्वतन्त्र शासनविधान स्वयं भारतीयोंकी ही पसन्द से तैयार किया जायगा.........यह सब वही चीज है जिसे मैं 'ठीक दिशामें विकास' कहता हूँ—चाहे यह अभी भी कितना ही धीमा, अधूरा और लड़खड़ाता-सा क्यों न हो। जहां तक अमेरिकाका सम्बन्ध है उसने मध्य और दक्षिण अमरीकाके बारेमें अपनी अतीत साम्राज्यवादी नीतियोंको शपथ खाकर त्याग दिया है, उसने क्यूबा और फिलिपाइन्सको स्वाधीनता दे दी है......क्या धुरीराष्ट्रोंके दलमें भी कोई वैसी प्रवृत्ति है? मनुष्यको वस्तुओंपर सब पहलुओंसे विचार करना तथा उन्हें धीरताके साथ और समग्र रूपमें देखना होता है। यहां फिर मुझे पीछे कार्य कर रही शक्तियोंको ही देखना है, मैं ऊपरी ब्योरोंके बीच अन्धा नहीं हो जाना चाहता। भविष्यकी सुरक्षा करनी ही होगी,: केवल तभी वर्तमान दुःखों और विरोधोंका हल और निवारण किये जानेका अवसर आ सकता है......

हमारे लिये यह सवाल उठता ही नहीं। हमने इस बातको एक चिट्ठीमें स्पष्ट कर दिया था, जो चिट्ठी कि जनताके लिये प्रकाशित की जा चुकी है, कि हम इस युद्धको राष्ट्रों और सरकारोंके बीचमें हो रही लड़ाईके रूपमें नहीं (अच्छी जनता और बुरी जनताके बीचमें तो और भी नहीं) किन्तु दो शक्तियों, दैवी और आसुरी शक्तियोंके बीचमें हो रही मानते हैं। अतः हमें देखना यह है कि मनुष्य और राष्ट्र अपने आपको किस पक्षमें रखते हैं; अगर वे अपने-

आपको ठीक पक्षमें रखते हैं, तो वे तुरन्त ही अपने-आपको दिव्य प्रयोजनके यन्त्र बना लेते हैं बावजूद उन सभी दोषों, भूलों, कुत्सित चेष्टाओं और कार्योंके जो मानवीय प्रकृतिमें और सब मानवीय समुदायोंमें सर्वसामान्य रूपसे पाये जाते हैं। एक पक्ष (मित्रपक्ष) की विजय विकासपरायण शक्तियोंके लिये मार्ग खुला रखेगी: दूसरे पक्षकी विजय मनुष्यजातिको पीछे खींच ले जायगी, इसे भयंकर रूपसे अधःपतित कर देगी और, बुरे-से-बुरा परिणाम निकलनेकी अवस्था-में, इसे जातिके तौरपर (कायम रहनेमें) चरम असफलतातक प्राप्त करायेगी जैसे कि अतीतकालीन विकासमें अन्य जातियां असफल हुईं और नष्ट हो गईं। यही है सारा प्रश्न और अन्य सब विचारणाएं या तो असंगत हैं या कम महत्त्वकी हैं। मित्रराष्ट्र — अधिक नहीं तो — मानवीय मूल्योंके लिये खड़े हुए हैं, यद्यपि वे बहुधा अपने सर्वश्रेष्ठ आदर्शोंके विपरीत भी काम कर जायं (मानव प्राणी सदा ही वैसा करते हैं); हिटलर आसुरी मूल्योंका या ऐसे मानवीय मूल्योंका जो गलत ढंगसे यहांतक अतिशयित किये जाते हैं कि वे आसुरी हो जाते हैं (उदाहरणार्थ, हेरेनवोक, स्वामी - जातिके गुणोंका) प्रति-निधित्व करता है। इससे न तो अंग्रेज या अमरीकन निष्कलङ्क देवताओंकी जाति बन जाते हैं, न ही जर्मन दुष्ट और पापमय जाति, परन्तु एक निदर्शकके तौरपर यह बात प्रमुख महत्त्व रखती है......

कुरुक्षेत्रके दृष्टांतको बिलकुल ठीक समानान्तर उदाहरणके रूपमें नहीं ले लेना है बल्कि दो विश्वशक्तियोंके बीच हुए युद्धके परम्परागत उदाहरणके रूपमें, जिस युद्धमें कि भगवान्‌की कृपाको प्राप्त पक्ष विजयी हुआ, क्योंकि उस पक्षके नेताओंने अपने आपको उसका यन्त्र बनाया। इसे इस रूपमें नहीं देखना है कि यह पुण्य और पापके, अच्छे और बुरे मनुष्योंके बीचमें युद्ध है। आखिर, भला पाण्डव भी क्या निष्कलङ्क पुण्यात्मा, सर्वथा निःस्वार्थ और विकारोंसे रहित थे ?......

क्या पाण्डव अपने ही दावों और स्वार्थों — निःसंदेह न्याय्य और ठीक, पर तो भी निजी दावे और निज-स्वार्थ — को प्रतिष्ठापित करनेके लिये नहीं लड़ रहे थे ? उनका युद्ध बेशक सत्यानुकूल, 'धर्म्य युद्ध' था, परन्तु यह, उनके अपने मामलेमें, सत्य और न्यायके लिये था। परन्तु अगर साम्राज्यवाद, शस्त्रास्त्रसज्जित सेनाके द्वारा साम्राज्यका निर्माण करना, सभी अवस्थाओंमें पाप है, तो पाण्डव भी उस पापसे कलंकित हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी विजयका प्रयोग अपने साम्राज्यको कायम करनेके लिये किया जो साम्राज्य कि उनके बाद परिक्षित् और जनमेजय द्वारा जारी रखा गया। क्या आधुनिक मानव-हितवाद और शांतिवाद पाण्डवोंपर यह दूषण नहीं लगा सकते कि इन भले

आदमियोंने (कृष्ण समेत) एक बड़ा भारी संहार ला उपस्थित किया ताकि वे भारतकी बहुत-सी स्वाधीन और स्वतन्त्र प्रजाओं के ऊपर सर्वोपरि शासक बन सकें? पुरानी घटनाओंको आधुनिक आदर्शोंके पलड़ोंमें तोलनेका यही परिणाम होगा। सच पूछो तो ऐसा साम्राज्य उस समय ठीक दिशामें उठाया गया कदम था, ठीक वैसे ही जैसे कि स्वतन्त्र जातियोंका विश्व-संघ इस समय ठीक दिशामें कदम होगा,—दोनों ही अवस्थाओंमें भीषण संहार सही परिणाम उत्पन्न करनेवाला हुआ या होगा......

हमें स्मरण रखना चाहिये कि विजय और अधीन प्रजाजनोंपर शासन प्राचीन या मध्य या बिलकुल हालके समयमें बुरे नहीं बल्कि महान् और शानदार वस्तु समझे जाते थे। लोग विजेताओं अथवा विजयशाली राष्ट्रोंमें कोई विशेष बुराई नहीं देखते थे। अधीन प्रजाजनोंपर न्याययुक्त शासन हो यह दृष्टिमें रखा जाता था परन्तु इससे अधिक कुछ नहीं — शोषण वर्जित नहीं था। इस विषयपर आधुनिक विचार सबको स्वतन्त्रताका अधिकार, व्यक्तियों और राष्ट्रों दोनोंको, विजय और साम्राज्यकी अनैतिकता, या ऐसे समझौतेके तरीके जैसे कि अधीन जातियोंको जनतंत्रीय स्वाधीनताके लिये शिक्षित करनेका ब्रिटिश विचार, तो नये मूल्य हैं, विकासात्मक गति हैं; यह एक नया धर्म है जिसने, धीमे-धीमे और अभी आरम्भिक रूपमें व्यवहार पर प्रभाव डालना शुरू ही किया है,—एक शिशु धर्म है जिसका कि सदाके लिये गलाघोंट हो जायगा अगर हिटलर अपने "अवतारके" कार्यमें सफल हो जाय और वह सारे भूमण्डलपर अपना नया "धर्म" स्थापित कर दे। पराधीन राष्ट्र स्वभावतया नये धर्मको स्वीकार कर लेते हैं और पुराने साम्राज्यवादोंकी कठोरतापूर्वक आलोचना करते हैं; अतः यह आशा की जानी चाहिये कि जिस चीजका वे अब प्रचार करते हैं उसपर वे अमल करेंगे जब कि वे स्वय प्रबल और समृद्धिशाली और शक्तिशाली हो जायेंगे। परन्तु सबसे अच्छा तो तब होगा अगर एक नयी विश्व-व्यवस्था विकसित हो जाय, चाहे प्रारम्भमें लड़खड़ाते हुए और अधूरे तरीकेसे ही सही, जो कि पुरानी चीजोंको असम्भव — यदि पूर्णतया असम्भव नहीं तो एक कठिन कार्य — बना दे।

भगवान् मनुष्योंको स्वीकार कर लेता है वैसे ही जैसे कि वे हैं और मनुष्योंको अपने यन्त्रोंके तौरपर इस्तेमाल करता है चाहे वे गुणमें त्रुटिरहित, देवतुल्य, विशुद्ध और पवित्र न भी हों। यदि वे सदिच्छासे युक्त हैं, अगर, बाइबलकी भाषामें, वे प्रभुके पक्षमें हैं, तो यह ही किये जानेवाले कार्यके लिये काफी चीज है। अगर मुझे यह मालूम हो कि मित्रराष्ट्र अपनी विजयका दुरुपयोग करेंगे या शांतिमें गड़बड़ी डालेंगे या उस विजयके द्वारा मानव संसारके

लिये खुले हुए अवसरोंको कम-से-कम अंशतः बिगाड़ देंगे, तो भी मैं अपनी शक्ति उनके पीछे लगाऊंगा। कुछ भी हो अवस्थाएं उसका शतांश भी खराब नहीं हो सकतीं जैसी कि वे हिटलरके नीचे होंगी। भगवान्के मार्ग फिर भी खुले रहेंगे — उन्हें खुला रखना ही है जो कि महत्त्व की चीज है। आइये, हम वास्तविक, केन्द्रीय तथ्यको — जघन्य दासता और पुनरुज्जीवित बर्बरता-का जो खतरा भारत और संसारको संत्रस्त कर रहा है उसे दूर हटानेकी आवश्यकताको — दृढ़तासे पकड़ लें, और उन सब गौण मामलों और तुच्छ मामलों या कल्पनाश्रित समस्याओंको आगेके लिये छोड़ दें जो कि हमारे सामने उपस्थित, एकमात्र, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण दुरन्त मामलेको आच्छादित कर देंगी।

३-९-१९४२

पुनश्च — हमारी साधना एक ऐसी साधना है जिसमें केवल भक्ति या भगवान्के साथ मिलन या सब पदार्थों और प्राणियोंमें उनका साक्षात्कार ही अन्तर्गत नहीं बल्कि कर्मियों और यन्त्रोंके रूपमें कार्य करना और जगत्में कर्मका सम्पादन करना या कठिन अवस्थाओंके बीच संसारमें एक शक्ति उतार लाना भी उसमें समाविष्ट है। ऐसी दशामें हमें अपने ढंगसे देखना और भगवान्के आदेशानुसार करना है तथा जिसकी सहायता करनेकी जरूरत है उसकी सहायता करनी है, भले ही इसका अर्थ हो संघर्ष एवं युद्ध जो चाहे रथों और तीर-कमानोंसे लडा जाय या टैंकों, कारों, अमरीकन बमों और विमानोंसे, दोनों ही अवस्था-ओंमें वह होगा घोर कर्म ही, घोरं कर्म। भेद है साधनों, युगों और व्यक्तियोंमें, पर मुझे नहीं लगता कि 'क्ष' जो इसमें कुरुक्षेत्र-जैसी ही समस्या देखता है तो वह कोई गलती करता है। जहांतक हिंसा आदिका प्रश्न है, वह प्राचीन आदेश अनेक युगोंके बाद एक बार फिर हमारे लिये गूँज उठता है: "मयैवैते निहताः पूर्व-मेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।"*

कौन हैं ये लोग जिनके हृदयमें हिटलरके लिये ऐसा स्नेह है और जो दुर्योधनसे उसकी तुलना किये जानेपर आपत्ति करते हैं? मैं आशा करता हूँ वे उन लोगोंमेंसे नहीं — (जो, मुझे बताया गया है कि, उनमेंसे आध्यात्मिक पुरुष हैं),—जिनका विश्वास है कि हिटलर नया अवतार है और उसका धर्म (भगवान् ही बचाये!) सच्चा धर्म है जिसे हमें इस सम्पूर्ण विशाल जगत्में स्थापित करनेमें सहायता करनी ही चाहिये। अथवा उन लोगोंमेंसे भी नहीं

*"मेरे द्वारा, किसी औरके द्वारा नहीं उनका वध पहले ही किया जा चुका है, अवश्य ही तू केवल निमित्त बन, हे सव्यसाचिन्।" गीता अ०, ११. ३३।

जो हिटलरको महान् और श्रेष्ठ पुरुष, एक सन्त एवं तपस्वी और वह सब कुछ भी मानते हैं जो उदात्त एवं देवोपम है ?

जर्मनी — युद्धके बाद

यह समय जर्मनोंकी पीठ थपथपाने या उन्हें आलिङ्गन एवं सान्त्वना देनेका नहीं। यदि उन्हें बिना किसी कष्टके, या जगत्को जो उन्होंने अन्धकार और यातनाकी विभीषिकासे दहला दिया उसके लिये पश्चात्ताप किये बिना फिर अपने पैरोंपर खड़े होने दिया गया तो वे फिर अपनी करतूत दुहरानेके लिये ही उठ खड़े होंगे — जबतक कि कोई अन्य व्यक्ति पहलेसे ही उनकी रोकथाम करनेका प्रबन्ध न कर दे। इस समय हम जर्मनीको जो एकमात्र सहायता दे सकते हैं वह है चुप रहना।

१६-३-१९४६

सर स्टैफ्फर्ड क्रिप्सको सन्देश

मैंने आकाशवाणीसे प्रसारित आपके प्रस्तावकी घोषणा सुनी है। यद्यपि आजकल मेरी क्रिया-प्रवृत्ति राजनीतिक नहीं आध्यात्मिक क्षेत्रमें है तथापि एक ऐसे व्यक्तिके रूपमें जो राष्ट्रवादी नेता और भारत की स्वाधीनताके लिये कर्मठ कार्यकर्ता रहा है, मैं इस प्रस्तावको प्रस्तुत करनेके निमित्त किये गये आपके सारे प्रयत्नके लिये समादरका भाव प्रकट करना चाहता हूँ। मैं इसका स्वागत इस रूपमें करता हूँ कि यह भारतको अपने लिये अपनी स्वतन्त्रता और एकताका आप ही निर्धारण करने और पूर्ण स्वतन्त्र इच्छाके साथ उसकी व्यवस्था करने तथा संसारके स्वतन्त्र राष्ट्रोंमें प्रभावशाली स्थान ग्रहण करनेके लिये प्रदान किया गया एक सुयोग है। मुझे आशा है कि सभी भेदों और विरोधोंको एक ओर रखकर इसे स्वीकार कर लिया जायगा और इसका ठीक उपयोग किया जायगा। मुझे यह भी आशा है कि ब्रिटेन और भारत में विगत संघर्षोंके स्थानपर स्थापित मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध एक महत्तर विश्व-ऐक्यकी ओर एक पग होंगे जिस ऐक्यमें स्वतन्त्र राष्ट्रके रूपमें उसकी आध्यात्मिक शक्ति मनुष्यजातिके लिये अधिक अच्छे और सुखमय जीवनके निर्माणमें योगदान करेगी। इस विचारके प्रकाशमें मैं आपके प्रस्तावके प्रति अपनी निष्ठा खुले आम प्रकाशित

करता हूँ। शायद यह आपके कार्यमें किसी प्रकार सहायक हो सके।[1]

३१-३-१९४२

भारतकी स्वाधीनताके विषयमें श्रीअरविन्दका दृष्टिकोण[2]

श्रीअरविन्द इस विषयमें स्वेच्छासे कोई वैयक्तिक घोषणा करना अनावश्यक समझते हैं, पर यदि उनके विचार जाननेके लिये आधिकारिक रूपसे उनके पास पहुँचकर प्रार्थना की जाय तो वे बताना पसन्द करेंगे। उनका दृष्टिकोण विदित ही है। वे सदा भारतकी पूर्ण स्वाधीनताके पक्षमें रहे हैं। वे सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने पूर्ण स्वाधीनताका, खुले आम तथा बिना किसी सम-झौतेके, यह कहकर समर्थन किया कि यही आत्मसम्मानी राष्ट्रके योग्य एक-मात्र आदर्श है। १९१०में उन्होंने अपनी इस भविष्यवाणी[3]के प्रकाशनकी अनु-मति प्रदान कर दी कि चार वर्ष बाद युद्धों, जगद्व्यापी महा-परिवर्तनों एवं क्रांतियोंका एक लंबा काल आरम्भ होगा जिसके पश्चात् भारत अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेगा। हाल ही में उन्होंने कहा है कि स्वाधीनता शीघ्र ही आ रही है और कोई भी चीज उसे रोक नहीं सकती। उन्होंने अपनी भाविदृष्टिसे सदा ही यह देखा है कि अन्ततोगत्वा ब्रिटेन भारतके सामने मैत्रीपूर्ण समझौते-का प्रस्ताव रखेगा और उसे स्वतन्त्रता प्रदान कर देगा। जो उन्होंने पहले ही देख लिया था वह अब होने जा रहा है और ब्रिटिश कैबिनेट मिशन उसीका चिह्न है। इस अवसरका ठीक और पूर्ण उपयोग करना राष्ट्रके नेताओंका कर्तव्य है। तात्कालिक परिणाम जो भी हो, कम-से-कम जो शक्ति इस घटनाके लिये कार्य करती आ रही है उसे नकारा नहीं जा सकेगा, अन्तिम परिणाम,

[1]श्रीअरविन्दके सन्देशके उत्तरमें सर ऐस. क्रिप्सका तार :

"मैं आपके कृपापूर्ण सन्देशसे अत्यन्त प्रभावित और प्रसन्न हुआ हूँ जिसके द्वारा आपने मुझे भारतको यह सूचित करनेकी अनुमति दी है कि आपको, जिन्हें भारतीय युवकगणके कल्पना-मानसमें अद्वितीय स्थान प्राप्त है, विश्वास है कि ब्रिटिश सरकारकी घोषणा उस स्वतन्त्रताको सचमुचमें प्रदान करती है जिसके लिये भारतीय राष्ट्रवादने इतने दीर्घकालतक संघर्ष किया है। १-४-१९४२

[2]यह वक्तव्य १९४६के 'ब्रिटिश कैबिनेट मिशन' पर श्रीअरविन्दके विचार जाननेके लिये 'अमृत बाजार पत्रिका' के सम्पादककी प्रार्थनाके उत्तरमें दिया गया था।

[3]देखो पृष्ठ ३२७

भारतकी स्वाधीनता, अवश्यम्भावी है।

२४-३-१९४६

पन्द्रहवीं अगस्त १९४७

I

*१५ अगस्त स्वाधीन भारतका जन्मदिन है। यह दिन भारतके लिये पुराने युगकी समाप्ति और नये युग का प्रारम्भ सूचित करता है। परन्तु इसका महत्त्व हमारे लिये ही नहीं, अपितु एशिया और सम्पूर्ण संसारके लिये भी है; क्योंकि यह राष्ट्रोंकी बिरादरीमें एक नयी शक्तिके प्रवेशका सूचक है जिसमें अवर्णनीय सम्भाव्यशक्तियां हैं और जिसे मानवजातिके राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक भविष्यके निर्धारणमें एक बड़ी भूमिका अदा करनी है। व्यक्ति-गत रूपमें मेरे लिये यह स्वभावतः ही प्रसन्नताकी बात है कि इस दिनने, जो केवल मेरे लिये ही महत्त्वपूर्ण था क्योंकि यह मेरा जन्मदिन है जिसे जीवन-सम्बन्धी मेरी शिक्षाको माननेवाले लोग प्रतिवर्ष मनाते हैं, यह विशाल अर्थ तथा महत्त्व प्राप्त कर लिया है। एक गुह्यवेत्ताके रूपमें मैं, अपने जन्मदिनके भारतीय स्वाधीनता-दिवसके साथ इस प्रकार एक हो जानेको कोई दैवयोग या आकस्मिक संयोग नहीं मानता बल्कि यों मानता हूँ कि जिस कार्यको लेकर मैंने अपना जीवन आरम्भ किया था उसे मेरा पथप्रदर्शन करनेवाली भागवत शक्तिने अपनी अनुमति दे दी है और उसपर अपनी मुहर भी लगा दी है। निःसंदेह, आजके दिन मैं प्रायः उन सभी जागतिक आन्दोलनोंको, जिन्हें मैंने अपने जीवन-कालमें ही सफल होते देखनेकी आशा की थी, पर जो उस समय असम्भव स्वप्न-जैसे ही दिखाई देते थे, सफलताके निकट पहुँचते देख सकता हूँ या फिर उनका समारम्भ हो गया है और वे अपनी सफलताकी ओर बढ़ रहे हैं।

इस महान् अवसरपर मुझसे सन्देश देनेकी प्रार्थना की गई है, पर शायद

*यह सन्देश १५ अगस्त १९४७के उपलक्ष्यमें अखिलभारतीय आकाशवाणी, त्रिचना-पल्ली, की प्रार्थनापर दिया गया था। इसके दो पाठ (रूप) हैं। मूल पाठको सन्देशके लिये नियत समयकी दृष्टिसे कुछ अधिक लम्बा पाया गया; अतः दूसरे पाठके लिये उसे कुछ संक्षिप्त और नये रूपमें लिखा गया। यह दूसरा पाठ ही अखिल-भारतीय आकाशवाणीसे १४ अगस्त १९४७को प्रसारित किया गया था। यहां दोनों पाठ एकके बाद एक दिये जा रहे हैं।

मैं सन्देश देनेकी स्थितिमें नहीं हूँ। मैं बस इतना ही कर सकता हूँ कि उन लक्ष्यों और आदर्शोंकी व्यक्तिगत घोषणा कर दूँ जिन्हें मैं अपनी बाल्यावस्था और यौवनमें कल्पनामें लाया था और जिनकी पूर्तिको मैं अब आरम्भ होते देख रहा हूँ, क्योंकि वे भारतकी स्वाधीनतासे सम्बद्ध हैं और उस कार्यके अंग हैं जिसे मैं भारतका भावी कार्य मानता हूँ और जिसमें वह प्रमुख स्थान लिये बिना नहीं रह सकता। वस्तुतः मेरा सदा ही यह विश्वास रहा है और मैंने सदा यह कहा भी है कि भारत केवल अपने भौतिक हितोंकी सिद्धिके लिये, विस्तार, महानता, शक्ति और समृद्धि पानेके लिये नहीं उठ रहा,—यद्यपि इनकी भी उसे उपेक्षा नहीं करनी होगी,—और निश्चय ही वह दूसरोंकी तरह अन्य देशोंपर आधिपत्य जमानेके लिये भी नहीं उठ रहा, अपितु वह उठ रहा है सारी मनुष्यजातिके सहायक और नेताके रूपमें परमेश्वर और जगत्के हित जीनेके लिये। वे लक्ष्य और आदर्श अपने स्वाभाविक क्रममें ये थे: एक क्रांति जो भारतकी स्वाधीनता और एकता साधित करे; एशियाका पुनरुत्थान तथा स्वातन्त्र्य और उसका उस महान् भूमिकाको फिरसे प्राप्त करना जो उसने मानव सभ्यताकी उन्नतिमें अदा की थी; मानवजातिके लिये एक नये, अधिक महान्, उज्ज्वल और श्रेष्ठ जीवनका उदय जो अपनी सम्पूर्ण चरितार्थताके लिये बाहरी तौरपर राष्ट्रोंकी पृथक् सत्ताके अन्ताराष्ट्रिय एकीकरणपर आधारित होगा, उनके राष्ट्रीय जीवनको सुरक्षित और सुदृढ़ करेगा पर उन्हें एक दूसरेके पास लाकर एक सर्व-अभिभावी चरम-परम एकत्वका रूप दे देगा; भारतके द्वारा अपने आध्यात्मिक ज्ञानका और जीवनको आध्यात्मिक बनानेके साधनोंका सारी जातिको दान; अन्तमें, क्रमविकासमें एक नया कदम जो चेतनाको उच्चतर स्तरपर उठाकर जीवनकी उन अनेक समस्याओंका हल करना प्रारम्भ कर देगा जिन्होंने मनुष्यजातिको तभी से हैरान और परेशान कर रखा है जबसे मनुष्योंने वैयक्तिक पूर्णता और पूर्ण समाजके विषयमें सोचना और स्वप्न देखना शुरू किया था।

भारत स्वाधीन हो गया है पर उसने एकता प्राप्त नहीं की, पाई है केवल टूटी-फूटी स्वतन्त्रता। एक समय प्रायः ऐसा दीखता था मानों वह शायद फिरसे पृथक्-पृथक् राज्योंकी उस अव्यवस्थापूर्ण स्थितिमें जा गिरेगा जो ब्रिटिश विजयसे पहले विद्यमान थी। भाग्यवश अब ऐसी प्रबल सम्भावना उत्पन्न हो गई है कि इस प्रकारका संकटपूर्ण पुनःपतन टल जायगा। संविधान-सभाकी बुद्धिमत्तापूर्ण उग्र नीतिने इस बातको सम्भव बना दिया है कि दलित वर्गोंकी समस्या बिना फूट-फटावके हल हो जायगी। परन्तु हिन्दुओं और मुसलमानोंका पुराना सांप्रदायिक भेद देशके स्थायी राजनीतिक विभाजनके रूपमें सुदृढ़ हो गया

दीखता है। यह आशा करनी चाहिये कि कांग्रेस और राष्ट्र इस तै किये गये विभाजनको सदाके लिये निर्णीत नहीं मान लेंगे, न वे इसे एक कामचलाऊ अस्थायी उपायसे अधिक कुछ समझेंगे। क्योंकि यदि यह कायम रहा तो भारत भयानक रूपमें दुर्बल और अपंगतक हो सकता है; गृह-कलहका होना सदा ही सम्भव बना रह सकता है, नये आक्रमण और विदेशी राज्यका हो जाना तक सम्भव हो सकता है। देशके विभाजनको मिटना ही होगा,—हम आशा करें कि तनावके ढीले पड़नेसे, शांति और मेल-मिलापकी आवश्यकताको उत्तरोत्तर अधिक समझते जानेसे, साझे और संयुक्त कार्यकी और यहांतक कि इस प्रयोजन-के लिये ऐक्यके किसी साधनकी भी सतत आवश्यकता अनुभव करनेसे यह विभाजन दूर हो जायगा। इस प्रकार एकता चाहे किसी भी रूपमें आ सकती है — उसके ठीक-ठीक रूपका व्यावहारिक महत्त्व भले ही हो, कोई आधार-भूत महत्त्व नहीं है। परन्तु चाहे किसी भी उपायसे हो, विभाजनको मिटना ही होगा और वह मिटकर रहेगा। क्योंकि ऐसा हुए विना भारतका भविष्य भीषण रूपसे कुण्ठित यहांतक कि विफल भी हो सकता है। परन्तु ऐसा बिलकुल नहीं होगा।

एशिया जग गया है और उसके बड़े-बड़े भाग स्वतन्त्र हो गये हैं या इस समय बन्धन-मुक्त हो रहे हैं, इसके अन्य भाग जो अभी परतन्त्र हैं, कैसे भी संघर्षोंमेंसे क्यों न हो, स्वतन्त्रताकी ओर बढ़ रहे हैं। केवल थोड़ा ही करना बाकी है और वह आज न सही कल पूरा हो जायगा। उसमें भारतको अपना पार्ट अदा करना है और उसे उसने ऐसी सामर्थ्य और योग्यताके साथ करना शुरू कर दिया है जो अभीसे उसकी सम्भावनाओंकी मात्राको तथा उस स्थानको सूचित करती हैं जिसे वह राष्ट्रोंकी सभामें ग्रहण कर सकता है।

मानवजातिका एकीकरण प्रगतिके पथपर है, चाहे है अभी अधूरे प्रारम्भके रूपमें ही, वह संगठित तो किया जा चुका है पर बड़ी भारी कठिनाइयोंके विरुद्ध संघर्ष कर रहा है। पर उसमें बल और वेग है और, यदि इतिहासके अनुभवको मार्गदर्शक माना जा सके तो, वह अनिवार्य रूपसे बढ़ता चला जायगा और अन्तमें विजयी होगा। इस कार्यमें भी भारतवर्षने प्रमुख भाग लेना प्रारम्भ कर दिया है और, यदि वह उस विशालतर राजनीतिज्ञताको विकसित कर सके जो वर्तमान घटनाओं और तात्कालिक सम्भावनाओंसे ही सीमित नहीं होती, बल्कि भविष्यमें पैठकर उसे देख लेती और निकट ले आती है, तो इस क्षेत्रमें भारतकी उपस्थिति यह दर्शा सकती है कि मन्द एवं भीरुतापूर्ण विकास और द्रुत एवं साहसपूर्ण विकासमें कितना अधिक भेद है। जो कार्य किया जा रहा है उसमें महान् विपत्ति आ सकती है और वह उसमें बाधा डाल सकती

या उसे नष्ट कर सकती है किन्तु फिर भी अन्तिम परिणाम निश्चित है। क्योंकि, चाहे जो हो, एकीकरण प्रकृतिके विकासक्रममें एक आवश्यक क्रिया है, अनिवार्य गति है और उसकी उपलब्धिकी सुरक्षित रूपसे भविष्यवाणीकी जा सकती है। राष्ट्रोंके लिये भी इसकी आवश्यकता स्पष्ट है, क्योंकि इसके बिना छोटे-छोटे राष्ट्रोंकी स्वाधीनता भविष्यमें कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकती और बड़े तथा शक्तिशाली राष्ट्र भी वास्तवमें सुरक्षित एवं निश्चित नहीं रह सकते। स्वयं भारत भी यदि विभक्त रहा तो अपनी सुरक्षाके बारेमें निश्चित रूपसे आश्वस्त नहीं रहेगा। अतएव एकीकरणका साधित होना सबके हितकी बात है। केवल मानवीय अशक्तता एवं मूर्खतापूर्ण स्वार्थपरता ही उसे रोक सकती है। इसके विरुद्ध तो, कहा गया है कि, देवताओंका प्रयत्न भी वृथा जाता है; परन्तु यह भी प्रकृतिकी आवश्यकता और भगवान्‌की इच्छाके विरुद्ध हमेशा नहीं ठहर सकती। एकीकरणके साधित हो जानेपर राष्ट्रवाद पूर्णरूपसे चरितार्थ हो चुकेगा; तब अन्तराष्ट्रिय भावना और दृष्टि भी अवश्य विकसित होंगी और अन्ताराष्ट्रिय पद्धति तथा संस्थाएं भी। यहांतक कि यह भी सम्भव है कि इस परिवर्तनकी प्रक्रियामें ऐसी प्रगतियां भी दिखाई दें जैसी कि दो या अनेक देशोंका एकसंग नागरिक होना, संस्कृतियोंका स्वेच्छापूर्वक घुलना-मिलना आदि, और राष्ट्रीयताकी भावना अपनी युद्धप्रियता छोड़ इन चीजोंको अपनी दृष्टिकी अखण्डताके साथ पूर्णतया संगत अनुभव करे। एकत्वकी एक नई भावना मनुष्यजातिको अपने अधिकारमें कर लेगी।

संसारको भारतका आध्यात्मिक दान प्रारम्भ हो ही चुका है। भारतकी आध्यात्मिकता यूरोप और अमरीकामें नित्य बढ़ती हुई मात्रामें प्रवेश कर रही है। यह आन्दोलन बढ़ेगा; वर्तमान कालकी विपदाओंके बीच अधिकाधिक लोगोंकी आंखें आशाके साथ भारतकी ओर मुड़ रही हैं और न केवल उसकी शिक्षाओंका अपितु उसकी आन्तरात्मिक और आध्यात्मिक साधनाका भी अधिकाधिक आश्रय लिया जा रहा है।

शेष तो अभी एक व्यक्तिगत आशा है, एक विचार और आदर्श है जिसने भारत और पश्चिममें, दोनों जगह, दूरदर्शी विचारकोंको अपने वशमें करना शुरू कर दिया है। इस मार्गकी कठिनाइयां प्रयासके किसी भी अन्य क्षेत्रकी अपेक्षा बहुत अधिक जबर्दस्त हैं, परन्तु कठिनाइयां जीती जानेके लिये ही बनी थीं और यदि 'परम इच्छाशक्ति'का अस्तित्व है तो वे अवश्य ही पराजित होंगी। यहां भी, यदि इस विकासको घटित होना है तो, चूंकि यह आत्मा और आंतर चेतनाकी अभिवृद्धि द्वारा ही होगा, इसका समारम्भ भारतवर्ष ही कर सकता है और यद्यपि इसका क्षेत्र विश्वव्यापी होगा तथापि केन्द्रीय आन्दोलन भारत

ही कर सकता है।

ये हैं वे भाव और भावनाएं जिन्हें मैं भारतीय स्वाधीनताकी इस तिथिके साथ सम्बद्ध करता हूँ। क्या यह घटनाक्रम पूरा होगा या कहांतक या कितनी शीघ्र पूरा होगा यह बात इस नये और स्वाधीन भारतपर निर्भर करती है।

पन्द्रहवीं अगस्त १९४७

II

१५ अगस्त १९४७ स्वाधीन भारतका जन्मदिन है। यह दिन भारतके लिये पुराने युगकी समाप्ति और नये युगका प्रारम्भ सूचित करता है। परन्तु हम एक स्वाधीन राष्ट्रके रूपमें अपने जीवन और कार्योंके द्वारा इसे ऐसा महत्त्व-पूर्ण दिन भी बना सकते हैं जो सम्पूर्ण जगत्‌के लिये, सारी मानवजातिके राज-नीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक भविष्यके लिये, नवयुग लानेवाला सिद्ध हो।

१५ अगस्त मेरा अपना जन्मदिन है और स्वभावतः ही यह मेरे लिये प्रसन्नताकी बात है कि इस दिनने इतना विशाल अर्थ तथा महत्त्व प्राप्त कर लिया है। परन्तु इसके भारतीय स्वाधीनता-दिवस भी हो जानेको मैं कोई आकस्मिक संयोग नहीं मानता, बल्कि यह मानता हूँ कि जिस कर्मको लेकर मैंने अपना जीवन आरम्भ किया था उसको मेरा पथ-प्रदर्शन करनेवाली भागवती शक्तिने इस तरह मंजूर कर लिया है और उसपर मुहर भी लगा दी है और वह कार्य पूर्ण रूपसे सफल होना आरम्भ हो गया है। निःसंदेह, आजके दिन मैं प्रायः उन सभी जागतिक आन्दोलनोंको,—जिन्हें मैंने अपने जीवनकालमें ही सफल देखनेकी आशा की थी, यद्यपि उस समय वे असम्भव स्वप्न जैसे ही दिखाई देते थे,—सफल होते हुए या अपनी सफलताके मार्गपर जाते हुए देख सकता हूँ। इन सभी आन्दोलनोंमें स्वाधीन भारत एक बड़ा पार्ट अच्छी तरह अदा कर सकता और एक प्रमुख स्थान ग्रहण कर सकता है।

इन स्वप्नोंमें पहिला था एक क्रांतिकारी आन्दोलन जो स्वाधीन और एकीभूत भारतको जन्म दे। भारत आज स्वाधीन हो गया है पर उसने एकता नहीं प्राप्त की। एक समय प्रायः ऐसा दीखता था मानों अपने स्वाधीन होनेकी प्रक्रियामें ही वह फिरसे उस पृथक्-पृथक् राज्योंकी अव्यवस्थापूर्ण स्थिति-में जा गिरेगा जो विजयसे पहले विद्यमान थी। परन्तु सौभाग्यसे अब ऐसी प्रबल सम्भावना हो गई है कि यह संकट टल जायगा और अभी पूर्ण न सही

पर एक विशाल तथा शक्तिशाली एकत्व अवश्य स्थापित हो जायगा। विधान-परिषद्की दूरदर्शितापूर्ण प्रबल नीतिने इस बातको सम्भव बना दिया है कि दलित वर्गोंकी समस्या बिना फूट-फटावके हल हो जायगी। परन्तु हिंदुओं और मुसलमानोंका पुराना सांप्रदायिक भेद देशके स्थायी राजनीतिक विभाजनके रूपमें सुदृढ़ हो गया दीखता है। यह आशा करनी चाहिये कि इस तै किये गये विभाजनको पत्थरकी लकीर नहीं मान लिया जायगा और इसे एक कामचलाऊ अस्थायी उपायसे बढ़कर और कुछ न माना जायगा। क्योंकि यदि यह कायम रहे तो भारत भयानक रूपमें दुर्बल और अपंग तक हो सकता है; गृह-कलह का होना सदा ही सम्भव बना रह सकता है, नये आक्रमण और विदेशी राज्यका हो जाना तक सम्भव हो सकता है। भारतकी आन्तरिक उन्नति और समृद्धि रुक सकती है, राष्ट्रोंके बीच उसकी स्थिति दुर्बल हो सकती है, उसका भविष्य कुंठित, यहांतक कि व्यर्थ भी हो सकता है। यह नहीं होना चाहिये; देशका विभाजन अवश्य दूर होना चाहिये। हम आशा करें कि यह कार्य स्वाभाविक रूपसे ही हो जायगा, न केवल शांति और मेल-मिलापकी, बल्कि मिल-जुलकर काम करनेकी भी आवश्यकता को उत्तरोत्तर समझ लेने तथा मिल-जुलकर काम करनेके अभ्यास और उसके लिये साधनोंको उत्पन्न कर लेनेसे सम्पन्न हो जायगा। इस प्रकार अन्तमें एकता चाहे किसी भी रूपमें आ सकती है—उसके ठीक-ठीक रूपका व्यावहारिक महत्त्व भले ही हो, पर कोई प्रधान महत्त्व नहीं। परन्तु चाहे किसी भी उपायसे हो, चाहे किसी भी प्रकारसे हो, विभाजन अवश्य हटना चाहिये, एकता अवश्य स्थापित होनी चाहिये और स्थापित होगी ही, क्योंकि भारतके भविष्यकी महानताके लिये यह आवश्यक है।

दूसरा स्वप्न था एशियाकी जातियोंका पुनरुत्थान तथा स्वातन्त्र्य और मानव-सभ्यताकी उन्नतिके कार्यमें एशियाका जो महान् स्थान पहले था उसी स्थानपर उसका लौट जाना। एशिया जग गया है; उसके बड़े-बड़े भाग स्वतन्त्र हो गये हैं या इस समय बंधन-मुक्त हो रहे हैं; इसके अन्य भाग जो अभी परतन्त्र या अंशतः परतन्त्र हैं वे भी, चाहे कैसे भी घोर संघर्षोंमेंसे गुजरते हुए, स्वतन्त्रताकी ओर बढ़ रहे हैं। केवल थोड़ा ही करना बाकी है और वह आज न सही कल पूरा हो जायगा। उसमें भारतको अपना पार्ट अदा करना है और उसे उसने एक ऐसी सामर्थ्य और योग्यताके साथ करना शुरू कर दिया है जो अभीसे उसकी सम्भावनाओंकी मात्राको तथा उस स्थानको सूचित करती हैं जिसे वह राष्ट्रोंकी सभामें ग्रहण कर सकता है।

तीसरा स्वप्न था एक विश्व-संघ जो समस्त मानवजातिके लिये एक सुन्दरतर, उज्ज्वलतर और महत्तर जीवनका बाहरी आधार निर्मित करे। मानव

संसारका वह एकीकरण प्रगतिके पथपर है। एक अधूरा प्रारम्भ संगठित किया गया है पर वह बड़ी भारी कठिनाइयोंके विरुद्ध संघर्ष कर रहा है। किन्तु उसमें एक वेग है और वह अनिवार्य रूपसे बढ़ता चला जायगा और विजयी होगा। इस कार्यमें भी भारतवर्षने प्रमुख भाग लेना प्रारम्भ कर दिया है और, यदि वह उस अधिक विशाल राजनीतिज्ञताको विकसित कर सके जो वर्तमान घटनाओं और तात्कालिक सम्भावनाओंसे ही सीमित नहीं होती, बल्कि भविष्य-को देख लेती और उसे निकट लाती है, तो भारतकी उपस्थिति मन्द एवं भीरुता-पूर्ण विकास और द्रुत एवं साहसपूर्ण विकासमें जो महान् भेद है उसे प्रदर्शित कर सकती है। जो कार्य किया जा रहा है उसमें महान् विपत्ति आ सकती है और वह उसमें वाधा डाल सकती है या उसे नष्ट कर सकती है, किन्तु तो भी अन्तिम परिणाम निश्चित है। क्योंकि एकीकरण प्रकृतिकी आवश्यकता है, अनिवार्य गति है। इसकी आवश्यकता राष्ट्रोंके लिये भी स्पष्ट है; क्योंकि इसके बिना छोटे-छोटे राष्ट्रोंकी स्वाधीनता किसी भी क्षण खतरेमें पड़ सकती है और बड़े तथा शक्तिशाली राष्ट्रोंका भी जीवन असुरक्षित हो सकता है। इसलिये इस एकीकरणमें ही सबका हित है और केवल मानवीय निःशक्तता तथा मूर्खतापूर्ण स्वार्थपरता ही इसे रोक सकती है; परन्तु ये भी प्रकृतिकी आवश्यकता और भगवान्‌की इच्छाके विरुद्ध हमेशा नहीं ठहर सकतीं। परन्तु एक बाहरी आधार ही पर्याप्त नहीं है, अन्ता-राष्ट्रिय भाव और दृष्टिकोण भी अवश्य विकसित होने चाहियें, अन्ता-राष्ट्रिय पद्धति तथा संस्थाएं भी अवश्य प्रादुर्भूत होनी चाहियें, शायद इस प्रकारकी प्रगतियां भी पैदा हों जैसे कि दो या अनेक देशोंका एकसंग नागरिक होना, संस्कृतियोंका आपसमें ऐच्छिक दान-प्रतिदान या उनका स्वेच्छापूर्वक घुलना-मिलना। राष्ट्रीयता तब अपने-आपको चरितार्थ कर चुकी होगी और अपनी युद्धप्रियताको छोड़ चुकी होगी, और तब वह ऐसी चीजोंको आत्म-संरक्षण तथा अपनी दृष्टिकी अखण्डतासे असंगत नहीं अनुभव करेगी। एकत्वकी एक नई भावना मनुष्यजातिपर आधिपत्य जमा लेगी।

चौथा स्वप्न, संसारको भारतका आध्यात्मिक दान, पहिलेसे ही प्रारम्भ हो चुका है। भारतकी आध्यात्मिकता यूरोप और अमेरिकामें नित्य बढ़ती हुई मात्रामें प्रवेश कर रही है। यह आन्दोलन बढ़ेगा; वर्तमान कालकी विपदा-ओंके बीच अधिकाधिक लोगोंकी आंखें आशाके साथ भारतकी ओर मुड़ रही हैं और न केवल उसकी शिक्षाओंका अपितु उसकी आंतरात्मिक और आध्या-त्मिक साधनाका भी उत्तरोत्तर आश्रय लिया जा रहा है।

अन्तिम स्वप्न था क्रमविकासमें अगला कदम जो मनुष्यको एक उच्चतर

और विशालतर चेतनामें उठा ले जायगा और उन समस्याओंका हल करना प्रारम्भ कर देगा जिन समस्याओंने मनुष्यको तभीसे हैरान और परेशान कर रखा है जबसे कि उसने वैयक्तिक पूर्णता और पूर्ण समाजके विषयमें सोचना विचारना शुरू किया था। यह अभीतक एक व्यक्तिगत आशा और विचार और आदर्शमात्र है जिसने भारत और पश्चिममें दोनों जगह दूरदर्शी विचारकों-को वशमें करना शुरू कर दिया है। इस मार्गकी कठिनाइयां प्रयासके किसी भी अन्य क्षेत्रकी अपेक्षा बहुत अधिक जबर्दस्त हैं, परन्तु कठिनाइयां जीती जानेकें लिये ही बनी थीं और यदि दिव्य परम इच्छाशक्तिका अस्तित्व है तो वे दूर होंगी ही। यहां भी, यदि इस विकासको घटित होना है तो, चूँकि यह आत्मा और आंतर चेतनाकी अभिवृद्धि द्वारा ही होगा, इसका प्रारम्भ भारतवर्ष ही कर सकता है और यद्यपि इसका क्षेत्र सार्वभौम होगा, तथापि केंद्रीय आन्दोलन भारत ही करेगा।

ये हैं वे भाव और भावनाएं जिनको मैं भारतीय स्वाधीनताकी इस तिथिके साथ सम्बद्ध करता हूँ। क्या ये आशाएं ठीक सिद्ध होंगी, या कहांतक सिद्ध होंगी, यह बात नये और स्वाधीन भारतपर निर्भर करती है।

एक सन्देश*

आज हमारे चारों ओर यह जो परिस्थिति है उसके सामने मैं मौन रहना ही अधिक पसन्द करता। क्योंकि ऐसी घटनाओंके समय हम जो भी शब्द कहनेके लिये ढूँढ़ पायें वे बेकार सिद्ध होते हैं। तो भी मैं इतना अवश्य कहूँगा कि जो ज्योति हमें स्वतन्त्रता तक, अभी एकता तक न सही, ले आयी है वह अब भी जल रही है और तबतक जलती रहेगी जबतक विजय प्राप्त न कर लेगी। मेरा दृढ़ विश्वास है कि एक महान् और संगठित भविष्य ही इस राष्ट्र तथा इसकी जनताकी भवितव्यता है। जो शक्ति हमें इतने संघर्ष और दुःख-कष्टके भीतरसे स्वतन्त्रता तक ले आयी है वह, चाहे कैसे भी कलह और कष्ट-क्लेशमेंसे क्यों न हो, उस लक्ष्यको भी अधिगत करेगी जो हमारे धराशायी हुए नेताके विचारोंको उनके दुःखद अवसानके समय इतनी तीव्रताके साथ अधिकृत किये हुए था। जैसे उसने हमें स्वतन्त्रता प्राप्त करायी वैसे ही वह

*महात्मा गांधीके निधनके अवसरपर अखिल-भारतीय रेडियो, त्रिचनापल्ली, की प्रार्थनाके उत्तरमें दिया गया।

हमें एकता भी प्राप्त करायेगी। निश्चय ही, स्वतन्त्र और संयुक्त भारत अस्तित्व-में आयगा और माता अपने बच्चोंको अपने पास चारों ओर इकट्ठा करेगी, उन्हें एक महान् और ऐक्यबद्ध जातिके जीवनमें एक अखण्ड राष्ट्रीय शक्तिके रूपमें ढालकर एक कर देगी।

५-२-१९४८

आन्ध्र-विश्वविद्यालयको सन्देश*

आपने मुझसे सन्देश मांगा है और क्योंकि मैं अपना सन्देश —— यदि इसे यह नाम दिया जा सकता हो —— आन्ध्र-विश्वविद्यालयके लिये ही दे रहा हूँ, अतः जो कुछ भी मैं लिखूँ वह आपके विश्वविद्यालय, उसके कार्य, उसकी विशेषता तथा उसके कर्त्तव्य कर्मसे संबद्ध होना चाहिये। परन्तु इस संधिक्षणमें, इस विकट कालमें, जबकि इस देशके शासन एवं प्रबन्धका रूप-स्वरूप ही नहीं अपितु इसके भविष्यका आदर्श, राष्ट्रके चरित्रका गठन एवं निर्माण, अन्य राष्ट्रों-के साथ संबन्धकी दृष्टिसे संसारमें इसकी स्थिति तथा इसे स्वयं क्या बनना है इस विषयमें इसकी अभिरुचि निर्धारित करनेवाले महत्त्वपूर्ण निर्णय किये जा रहे हैं तब इस ओर दृष्टिपात न करना मेरे लिये कठिन है। आज देशके सामने एक समस्या उपस्थित है जिसका हमसे निकट सम्बन्ध है। अब मैं इसीकी ओर आता हूँ और इसपर संक्षेपमें विचार करता हूँ। यह समस्या है ब्रिटिश राज्यके बनाये कृत्रिम मंडलों तथा प्रांतोंकी पुनः रचना करके उन्हें स्वाभाविक विभागोंकी एक नई व्यवस्थामें —— नई किन्तु प्राचीन भारत द्वारा परीक्षित 'एकतामें विविधता' के सिद्धांतपर प्रतिष्ठित व्यवस्थामें परिणत करनेकी मांग। हिमालय तथा समुद्रसे परिवेष्टित, पृथक् अस्तित्व रखता हुआ भारत सदा ही एक विलक्षण जातिका घर रहा है। इस जातिकी दूसरोंसे स्पष्ट भिन्न अपनी ही विशेषताएं रही हैं, अपनी ही विशिष्ट सभ्यता, जीवन-शैली, आध्या-त्मिक गतिविधि, पृथक् संस्कृति, कला-कलाप एवं समाज-व्यवस्था रही है। इसमें जो कुछ भी प्रविष्ट हुआ है वह सब इसने अपने आपमें घुला-मिला लिया है, सबपर भारतीय छाप लगा दी है, अत्यन्त विभिन्न तत्त्वोंको भी अपनी आधारभूत एकताके सांचेमें ढालकर एकीभूत कर डाला है। परन्तु यह लगातार

*यह सन्देश श्रीअरविन्दने ११ दिसम्बर १९४८को आन्ध्र-विश्वविद्यालयमें आयोजित दीक्षान्त-समारोहमें उन्हें सर कट्टमञ्ची रामलिङ्ग रेड्डी राष्ट्रीय पुरस्कार अर्पित किये जानेके अवसरपर विश्वविद्यालयके लिये दिया था।

ही विविध जातियों, प्रदेशों, राज्यों तथा, प्राचीनतर कालमें, जनतंत्र राज्योंका भी और नाना उपजातियों एवं उपराष्ट्रोंका संघात रहा है जिनका अपना-अपना विशेष स्वभाव था और जिन्होंने सभ्यता एवं संस्कृतिके नानाविध नमूने या रूप तथा कला एवं स्थापत्यके अनेक संप्रदाय विकसित किये। ये संप्रदाय भिन्न होते हुए भी सभ्यता तथा संस्कृतिके सामान्य भारतीय आदर्शोंसे अपना मेल बैठानेमें सफल रहे। भारतको राजनीतिक तथा सांस्कृतिक तौरपर एक करनेके लिये इन सब अनेकविध तत्त्वोंको मिलाकर एक केंद्रीय चक्रवर्ती राज्यके अधीन, अभिन्न राजनीतिक अखण्डताके सूत्रमें पिरो देनेकी प्रवृत्ति एवं अनवरत चेष्टा भारतके इतिहासमें निरन्तर देखनेमें आती है। यहांतक कि अतिभिन्न धर्म एवं समाजरचनावली मुस्लिम जातियोंके अकस्मात् आक्रमणसे फूट-फुटाव पैदा होनेके बाद भी राजनीतिक एकीकरणके लिए सतत प्रयत्न जारी रहा और संस्कृतियोंके मिलन तथा पारस्परिक प्रभावकी प्रवृत्ति बनी रही; इन दो प्रत्यक्षतः विरुद्ध धर्म-विश्वासोंसे बने हुए साझे धर्मकी खोज एवं रचनाके लिये भी कई वीरतापूर्ण पुरुषार्थ किये गये और इस क्षेत्रमें भी एक दूसरेपर प्रभाव पड़े। किंतु भारतके संपूर्ण इतिहासमें राजनीतिक एकता पूरी तरहसे कभी सम्पन्न नहीं हुई और इसके अनेक कारण थे,—प्रथम, देशकी विशालता तथा यातायातके साधनोंकी कमी जिससे इन सब विभिन्न जातियोंको पास-पास लानेमें बाधा पड़ती थी; दूसरे, इसके लिये प्रयुक्त विधि, अर्थात् यह कि एक जाति या एक राजवंश शेष सारे देशपर सैनिक आधिपत्य करता था जिसके परिणाम-स्वरूप एकके बाद एक कितने ही राज्य हुए पर उनमेंसे कोई भी स्थायी नहीं रहा, अन्तमें, इन सब भिन्न-भिन्न राज्योंकी सत्ता कुचलकर इन विभिन्न जातियोंको घुला-मिला देने तथा इन्हें एक ही सारवस्तु और एक ही आकृतिमें बलपूर्वक ढाल देनेके लिए किसी भी इच्छाशक्तिका अभाव। फिर भारतमें ब्रिटिश साम्राज्यका पदार्पण हुआ। इसने केवल अपनी सुविधाके लिये ही सारे देशको नये सिरेसे कृत्रिम प्रांतोंमें गठित किया। इसने प्रादेशिक जात्यनुसारी विभाजनके सिद्धान्तकी उपेक्षा की पर वह विभाजन मिटा नहीं डाला। क्योंकि मूल जातियोंमेंसे उपराष्ट्रोंकी एक स्वाभाविक व्यवस्था विकसित हो चुकी थी; ये उपराष्ट्र थे — चार द्रविड़ जातियां, बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, सिंध, आसाम, उड़ीसा, नेपाल, उत्तरकी हिन्दीभाषी जातियां, राजपूताना और बिहार; इनकी अपनी भिन्न-भिन्न भाषाएं, साहित्य तथा अन्य परम्पराएं थीं। ब्रिटिश राज्यने प्रांतीय-शासन-प्रणालीसे राज्य-प्रबन्ध करते हुए इन जातियोंको मिलाया तो नहीं किन्तु एक ही प्रकारके शासन-प्रबन्ध तथा अंग्रेजी भाषा द्वारा निकटतर परस्पर-व्यवहारका स्वभाव उनमें अवश्य डाल दिया और जिस प्रकारकी शिक्षा

इसने दी उससे एक अधिक विस्तृत और अधिक संग्रामशील रूपवाली देश-भक्ति, स्वतन्त्र होनेकी इच्छा और स्वतन्त्रताप्राप्तिके संघर्षमें एकताकी आवश्यकता का जन्म हुआ। स्वतन्त्रता अधिगत करनेके लिये पर्याप्त संघर्षकारी एकता संपादित हो गयी, किन्तु जो स्वतन्त्रता प्राप्त हुई वह देशकी पूर्ण एकता नहीं लायी। इसके विपरीत, भारत दो-राष्ट्रोंके सिद्धांतके आधारपर पाकिस्तान और हिन्दुस्तानमें जानबूझकर बांट दिया गया और इसके जो घातक परिणाम हुए उन्हें हम जानते ही हैं।

ब्रिटेनसे शासन-प्रबन्ध अपने हाथोंमें लेनेपर यह अनिवार्य था कि हम न्यूनतम प्रतिरोधके मार्गका अनुसरण करें तथा, कम-से-कम अभी, ब्रिटेन-निर्मित कृत्रिम प्रांतोंके आधारपर अग्रसर हों; यह अल्पकालीन व्यवस्था अब, कम-से-कम अपने मुख्य अंशोंमें, स्थायी होनेके लिये विभीषिकाका रूप धारण कर रही है और कुछ लोंग इसके स्थायी रहनेमें लाभ देखते हैं। क्योंकि वे समझते हैं कि यह देशके एकीकरणमें सहायक होगी और उन प्रादेशिक उपराष्ट्रोंको कायम रखनेकी आवश्यकतासे हमें मुक्त करेगी जिन्होंने भूतकालमें देशको अखण्ड एवं पूर्ण ऐक्य तथा एकरूपतासे दूर रखा। कठोर एकीकरणमें ही वे एकमात्र सच्ची एकता देखते हैं, अर्थात् एक ऐसा राष्ट्र देखते हैं जिसमें नियत तथा एकसार राज्य-प्रबन्ध, भाषा, साहित्य, संस्कृति, कला, शिक्षा हों,—और ये सबके सब एक ही राष्ट्रीय भाषाके माध्यमसे संचालित हों। ऐसा विचार भविष्यमें कहांतक कार्यान्वित हो सकता है यह कोई अभीसे नहीं कह सकता, पर अभी तो यह स्पष्टतया अव्यवहार्य है, और यह भी संदिग्ध है कि यह भारत-के लिये वस्तुतः वांछनीय भी है कि नहीं। देशकी प्राचीन विविधताओंके महान् लाभ भी थे और हानियां भी। इन भेदोंने देशको जीवन कला, तथा संस्कृतिका और एकतामें भी समृद्ध एवं सुचारु रूपसे रंजित विविधताके अनेक सप्राण एक स्पन्दनशील केन्द्रोंका घर बनाया; सारा देश कुछ एक प्रान्तीय राजधानियों या एक राजकीय मुख्य नगरमें इस प्रकार नहीं सजा दिया गया था कि अन्य नगर और प्रदेश गौण तथा अप्रसिद्ध या यहांतक कि सांस्कृतिक तौरपर प्रसुप्त रहें; संपूर्ण राष्ट्रके अंग अंगमें प्राणोंका पूर्ण संचार होता था और इससे समष्टि-की सर्जनशील शक्ति अत्यधिक बढ़ती थी। अब आगे ऐसी कोई सम्भावना नहीं है कि यह विषमता भारतकी एकताको संकटमें डाल देगी या क्षति पहुँचा-वेगी। जो विशाल अंतराल उसकी जनताको घनिष्ठता तथा यथेष्ट परस्पर-व्यवहार दूर रखते थे उनका पृथक्कारी प्रभाव आज विज्ञानकी उन्नति एवं यातायात साधनोंकी आशु गतिने मिटा दिया है। संघशासनका विचार तथा उसके पूरी तरहसे काम करनेके लिये पूर्ण साधन उपलब्ध हो गये हैं और वे

पूरे बलसे क्रिया करेंगे। सबसे बढ़कर, देशभक्तिमय एकताकी भावना जनतामें इतनी दृढ़तासे जड़ पकड़ चुकी है कि वह आसानीसे उखाड़ी नहीं जा सकती और न ही कम की जा सकती है, और यह भावना तब अधिक संकटमें पड़ जायगी यदि उपराष्ट्रोंकी उचित अभीप्साएं तृप्त करनेकी अपेक्षा उनके जीवनकी स्वाभाविक क्रीड़ा में बाधा डाली जायगी। स्वयं कांग्रेसने भी स्वाधीनता-प्राप्तिसे पहलेके दिनोंमें भाषाके आधारपर प्रांतोंके निर्माणका वचन दिया था, और इसे यदि तुरन्त नहीं तो सुविधापूर्वक यथाशीघ्र कार्यान्वित करना सचमुच अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण कार्यक्रम होगा। भारतका राष्ट्रीय जीवन तब अपने स्वाभाविक सामर्थ्योंपर सुप्रतिष्ठित हो जायगा और जो विभिन्नतामें एकता'का सिद्धांत सदा ही उसके लिये सहज एवं सामान्य रहा है तथा जिसकी चरितार्थता उसकी सत्ता तथा उसकी प्रकृतिकी मूल गतिविधि रही है, वह 'एक' में 'बहु' का सिद्धांत, उसे अपने स्वभाव एवं स्वधर्मके सुनिश्चित आधार-पर स्थापित कर देगा।

यह प्रगति वास्तवमें उसके भविष्यकी अनिवार्य दिशा समझी जा सकती है। क्योंकि द्राविड़ प्रादेशिक जातियां स्वशासक अस्तित्वके लिये अपना पृथक् अधिकार मांग रही हैं; महाराष्ट्र भी वैसी ही रियायतकी आशा करता है और इसका अर्थ यह होगा कि गुजरातमें भी ऐसी ही अवस्था उत्पन्न होगी और फिर ब्रिटिश शासन द्वारा निर्मित मद्रास तथा बम्बईके महाप्रांत लुप्त हो जायंगे। पुरानी बंगाल प्रेजिडेंसी पहले ही भंग हो चुकी थी और उड़ीसा, बिहार तथा आसाम अब स्व-शासित प्रादेशिक जनपद हैं। मध्यप्रांत तथा युक्तप्रांतके हिन्दीभाषी भागके विलीनीकरणसे यह प्रक्रिया पूरी हो जायगी। भारतका विभाजन मिटनेसे, व्यापक प्रवृत्तिके इस परिणाममें कुछ हेर-फेर भले ही हो पर उसमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होगा। तब फिर रियासतों तथा प्रादेशिक जनपदोंका संगठन ही संयुक्त भारतका स्वरूप होगा।

इस नई शासनव्यवस्थामें आपका विश्वविद्यालय अपना विशेष कार्य और सार्थकता प्राप्त करेगा। इसका जन्म अन्य भारतीय विश्वविद्यालयोंके जन्म की अपेक्षा भिन्न प्रकारसे हुआ है; उनकी स्थापना विदेशी सरकारकी प्रेरणासे भारतमें उनकी ही सभ्यता प्रचलित करनेके साधनके रूपमें की गई थी तथा वे प्रांतोंके प्रधान-प्रधान नगरोंमें स्थित थे और केवल विश्वविद्यालयसंबन्धी उद्देश्योंवाले, शिक्षा देने तथा परीक्षा लेनेवाले संगठन थे: बनारस तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालयोंका उद्भव भिन्न प्रकारसे हुआ पर वे देशके दो मुख्य धार्मिक समाजोंकी सेवा करनेवाली अखिलभारतीय संस्थाएं थीं। आंध्र यूनिवर्सिटीका निर्माण आंध्रके देशभक्तोंके उपक्रमसे हुआ है और यह प्रांतकी राजधानीमें नहीं

किंतु एक आंध्र नगरमें स्थित है और एक प्रादेशिक जातिके जीवनकी सजग रूपमें सेवा कर रही है। बलिष्ठ और वीर्यवान् और पराक्रमी जातिका वास-स्थान, भारतके राजनीतिक जीवनमें भूतमें इसने जो भाग लिया उसके कारण महिमाशाली, कला, स्थापत्य, मूर्त्तिनिर्माण, संगीतमें अपनी सफलताओंसे गौरवान्वित आंध्र अपने अतीतकी सर्वश्रेष्ठ स्मृतियोंपर दृक्पात करता हुआ उन राज्यों और राजवंशोंकी शृंखलामें अपना स्थान देखता है जिन्होंने देशके बहुत बड़े भागपर शासन किया; यह विजयनगरके अन्तिम हिंदू साम्राज्यकी गौरव-गरिमाकी अधिक नई स्मृतिपर दृष्टि डालता है,—यह किसी भी जातिका मुख उज्ज्वल कर सकनेवाला भव्य इतिहास है। आपका विश्वविद्यालय ज्ञान-ज्योति और विद्या, शिक्षा और संस्कृतिके केन्द्रके रूपमें अपना उच्च स्थान ग्रहण कर सकता है, वह केन्द्र आंध्रके युवकोंको अपने पूर्वजोंके अनुरूप एवं योग्य बननेके लिये प्रशिक्षित कर सकता है: महान् भूतके परिणामस्वरूप उतने ही महान् या उससे अधिक महान् भविष्यका जन्म होना चाहिये। केवल विज्ञान ही नहीं वरन् कला भी, केवल पुस्तकीय शिक्षा तथा अभिज्ञता एवं ज्ञान-संग्रह ही नहीं अपितु संस्कृति तथा चरित्रमें विकास, सच्ची शिक्षाके अंग हैं; व्यक्तिको अपनी क्षमताएं विकसित करनेमें सहायता देना, भावी विचारक एवं रचयिता तथा सूक्ष्मदर्शी एवं कर्मवीर व्यक्ति पैदा करनेमें सहायक होना, इसके कर्तव्यका अंग है। इसके अतिरिक्त, प्रादेशिक जातिका जीवन अपनी ही चारदीवारीके भीतर बन्द नहीं रहना चाहिये; इसके युवकोंको भारतकी अपने जैसी अन्य जातियोंके जीवनसे भी संपर्क रखना होगा; व्यापार एवं व्यवसायमें तथा जीवनके अन्य व्यावहारिक क्षेत्रोंमें और साथ ही मन तथा आत्माके विषयोंमें भी उनसे मिलकर काम करना होगा। और फिर, उन्हें आंध्रके नागरिक ही नहीं अपितु भारतके नागरिक होना सीखना है; राष्ट्रका जीवन उनका जीवन है। आज हमें ऐसे सर्वोत्कृष्ट व्यक्तियोंके निर्माणकी आवश्यकता है जिन्हें सब महान् राष्ट्रीय मामलों या प्रश्नोंकी पूरी समझ हो और जो राष्ट्र की सभाओंमें तथा राष्ट्रीय हितके प्रत्येक काम-धंधेमें, जहां प्रदेशवासियोंके सहयोग एवं सहायताकी आवश्यकता हो, आंध्रका प्रतिनिधित्व कर सकें। पर अभी एक और विशालतर क्षेत्र है, अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्र, जिसमें भारतको देशके सभी भागोंसे सुयोग्य एवं सच्चरित्र व्यक्तियोंकी जरूरत होगी। क्योंकि वह अभीसे अन्ताराष्ट्रिय जगत्में गण्यमान्य एवं ख्यातिप्राप्त राष्ट्र है और समय बीतनेपर यह स्थिति अति महान् अनुपातमें उन्नत होती जायगी; समय पाकर सम्भवतः वह उन प्रभावशाली राष्ट्रोंमें अपना आसन ग्रहण करेगा जिनकी वाणियां सबसे प्रबल तथा जिनका नेतृत्व एवं कार्य संसारके भविष्यका निर्णय

करनेवाले होंगे। इस सबके लिये उसे ऐसे व्यक्तियोंकी आवश्यकता है जिनकी शिक्षा एवं बुद्धि, प्रतिभा एवं चरित्रबल अत्युच्च कोटिके हों। इन सब क्षेत्रोंमें आपका विश्व-विद्यालय महान् सेवा तथा बड़े भारी महत्त्वका कार्य कर सकता है।

इस समय, अपनी स्वाधीनताके द्वितीय वर्षमें, राष्ट्रको और अनेक अति महत्त्वपूर्ण समस्याओं तथा अपने समक्ष खुलती हुई वृहत् सम्भाव्यताओंके प्रति जागरित तथा सतर्क होना है और साथ ही उन विपत्तियों एवं कठिनाइयोंके प्रति भी जिनका यदि बुद्धिमत्तासे प्रतिकार न किया गया तो वे उग्र रूप धारण कर लेंगी। युद्धके बादकी अस्तव्यस्त जागतिक स्थिति हमारे सामने है जो संकटों तथा क्लेशों एवं अभावोंसे पूर्ण है और एक अन्य विपदाकी विभीषिकासे हमें त्रस्त कर रही है। उस विपदाका निराकरण सब देशोंके सम्मिलित प्रयत्न-से ही किया जा सकता है और उसका सच्चे अर्थोंमें प्रतिकार तभी किया जा सकता है यदि एक ऐसे विश्व-सम्मेलनके लिये प्रयत्न किया जाय जैसा सान-फ्रांसिस्कोमें आयोजित किया गया था पर जो कार्यरूपमें अबतक भी बहुत सफल नहीं हुआ है; अब भी प्रयत्न जारी रखने तथा ऐसे नए उपाय ढूँढ़ निकालनेकी आवश्यकता है जो अतीत तथा वर्तमानके भयानक विभाजनोंसे समस्वर विश्वव्यवस्थाकी ओर कठिन संक्रमणको अधिक सहज बना दें, क्योंकि इसके बिना सतत संकट एवं संहारसे छुटकारा कदापि नहीं हो सकता। स्वतः भारतके लिए और भी अधिक गंभीर प्रश्न है, क्योंकि सम्भव है कि कुछ एक प्रलोभिक पथोंका अनुसरण करके वह अन्य राष्ट्रों-जैसा एक राष्ट्र बन जाय, समृद्ध वाणिज्य-व्यवसाय, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवनका प्रबल संगठन तथा अपरिमित सैनिक बल विकसित कर ले, शक्ति-राजनीति (Power-Politics) के दांव-पेंच खेलनेमें उच्च कोटिकी सफलता पा ले, अपनी प्राप्ति-यों और अपने हितोंकी उत्साहपूर्वक रक्षा तथा वृद्धि करने लगे, संसारके विस्तृत भागपर प्रभुत्व भी पा ले, परन्तु इस प्रत्यक्ष गौरवशाली अभ्युदयमें अपने स्वधर्म-का परित्याग कर दे तथा अपनी आत्मा खो बैठे। उस अवस्थामें प्राचीन भारत और उसकी भावना सम्भवतः सर्वथा विलुप्त हो जायगी और केवल अन्य देशोंके समान एक और देश हमारे देखनेमें आयगा और यह न तो संसारके लिये और न हमारे लिये ही कोई वास्तविक लाभकी वस्तु होगी। प्रश्न यह है कि क्या वह बाह्य जीवनमें अधिक निर्बाध रूपमें उन्नति करे पर अपने आध्या-त्मिक अनुभव एवं ज्ञानकी दृढ़रक्षित ऐश्वर्यराशि सर्वथा खो दे? यह विधिका दुःखद व्यंग होगा यदि भारतने अपनी आध्यात्मिक पितृसंपत्ति ठीक ऐसे समय गंवा दी जब शेष सारा जगत् आध्यात्मिक सहायता तथा रक्षक प्रकाश पानेके

लिये उत्तरोत्तर उसकी ओर झुक रहा है। ऐसा नहीं होना चाहिये और निःसंदेह ऐसा होगा भी नहीं; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसी आशंका ही नहीं है। अवश्य ही अन्य अनेक विकट समस्याएं भी इस देशके सामने हैं या बहुत शीघ्र ही सामने आवेंगी। इसमें संशय नहीं कि हम इन्हें सफलता-पूर्वक पार करेंगे, किंतु हमें यह सचाई अपने आपसे ओझल नहीं कर देनी चाहिये कि पराधीनताके सुदीर्घकाल तथा हमें पंगु एवं क्षत-विक्षत करनेवाले उसके परिणामोंके पश्चात् यदि हमें भारतका सच्चा भविष्य चरितार्थ करना है तो महान् आन्तर एवं बाह्य उद्धार तथा परिवर्तन, विशाल आन्तर तथा बाह्य विकास नितान्त आवश्यक है।

वर्त्तमान राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक विचार[1]

श्रीअरविन्द वर्तमान जगत्की रीति-नीतियों या प्रचलित धारणाओंसे, वे चाहे राजनीतिक या सामाजिक क्षेत्रकी हों या आर्थिक क्षेत्रकी, किसी प्रकार भी बंधे नहीं। उनके विषयमें सहमति या असहमति प्रकट करना उनके लिये आवश्यक नहीं। वे न तो पूंजीवादको विश्वके भविष्यका ठीक समाधान मानते हैं न रूढ़िबद्ध समाजवादको। वे यह भी नहीं स्वीकार कर सकते कि निजी या गैर-सरकारी उद्योग-व्यवसायको मान्यता देने मात्रसे समाज पूंजीवादी बन जाता है, समाजवादीय अर्थनीति भी नियंत्रित या अधीनस्थ निजी उद्योगको कुछ मात्रामें अपनी कार्यप्रणालीके सहायकके रूपमें या एक आंशिक सुविधाजनक साधनके तौरपर भली भांति स्वीकार कर सकती है और फिर भी समाजवादी बनी रह सकती है। कहांतक कांग्रेसको अपनी अर्थ-नीतिका उद्देश्य सचमुचमें समाजवादी होना अभिमत है या वह केवल एक आवरण ही है इस विषयमें श्रीअरविन्दके अपने विचार हैं, किन्तु इसपर अपने विचार प्रकट करनेका अभी उनका मन नहीं।

१५-४-१९४९

अमरीकाको सन्देश[2]

पन्द्रहवीं अगस्तके इस अवसरपर पश्चिमके लिये संदेश भेजनेके लिये मुझसे

[1]एक साधकको लिखा गया पत्र।

[2]१५ अगस्त १९४९को न्यूयार्कमें श्रीअरविन्द-जन्म-जयन्ती-समारोहके उपलक्ष्यमें सन्देश देनेके लिये की गई प्रार्थनाके उत्तरमें दिया गया।

प्रार्थना की गई है, पर जो मुझे कहना है वह समान रूपसे पूर्वके लिये भी सन्देश-रूपमें दिया जा सकता है। मानव-परिवारके इन दो हिस्सोंमें भेद और विभाजनपर विस्तारपूर्वक विचार करने और यहांतक कि इन्हें एक दूसरेके विरोधमें उपस्थित करनेकी प्रथा चली आयी है। पर मैं तो स्वभाववश भेद और विभाजनकी अपेक्षा कहीं अधिक एकत्व और अभेदपर ही विचार करना चाहूँगा।

पूर्व और पश्चिमकी एक-सी मानव प्रकृति है, समान मानव भवितव्यता है, अधिक महान् पूर्णताके लिये एक-सी अभीप्सा है और है अपनेसे अधिक ऊंची किसी वस्तुकी एक-सी खोज, किसी ऐसी वस्तुकी जिसकी ओर हम अन्दरसे और बाहरसे भी गति कर रहे हैं। कुछ विचारकोंके मनोंमें पूर्वकी आध्यात्मिकता या रहस्यविद्या और पश्चिमके जड़वादपर अपना ध्यान केन्द्रित करने एवं उनपर विस्तृत विचार करनेकी प्रवृत्ति रही है। पर पश्चिममें भी आध्यात्मिक जिज्ञासा पूर्वसे कम नहीं रही और वहां, बड़ी संख्यामें न सही, साधु-सन्त और गुह्यदर्शी भी हुए हैं। उधर पूर्व की भी अपनी भौतिकतावादी प्रवृत्तियां रही हैं, अपने भौतिक ऐश्वर्य-वैभव, जीवन और जड़तत्त्वके साथ तथा जिस जगत्में हम रहते हैं उसके साथ पश्चिमके समान या उससे अभिन्न व्यवहार रहे हैं। पूर्व और पश्चिम सदा ही एक-दूसरेके साथ कम-अधिक घनिष्ठताके साथ मिलते-जुलते रहे हैं, उन्होंने एक दूसरेको प्रबल रूपसे प्रभावित भी किया है और आज तो प्रकृति और नियति उन्हें पहलेसे भी अधिक ऐसा करनेके लिये अधिकाधिक विवश कर रही हैं।

आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकारकी एक साझी आशा एवं साझी भवितव्यता है जिसके लिये दोनोंके एक साथ सहकर्मियोंके रूपमें काम करनेकी जरूरत है। हमें अपने मन अब और भेद और विभाजनकी ओर नहीं बल्कि मेल-मिलाप एवं संघभावकी ओर, यहांतक कि एकत्वकी ओर मोड़ने चाहियें क्योंकि ये एक साझे आदर्श एवं देवनिर्दिष्ट लक्ष्यके अनुसरण एवं संसिद्धि तथा उस चरितार्थताके लिये आवश्यक हैं जिसकी ओर विश्व-प्रकृतिने आरम्भमें अन्धवत् पग रखा था और जिधर अब उसे अपने आरंभिक अज्ञानका स्थान लेनेवाले बढ़ते ज्ञानालोकके साथ निरन्तर अडिग-भावसे अग्रसर होना होगा।

परन्तु वह आदर्श एवं वह लक्ष्य होगा क्या? यह जीवनकी यथार्थताओं तथा परम सद्वस्तुके विषयमें हमारी धारणापर निर्भर करता है।

यहां हमें यह बात ध्यानमें रखनी होगी कि इस विषयमें पूर्व और पश्चिमकी प्रवृत्तियोंमें कोई ऐकांतिक भेद तो नहीं रहा पर दिशाभेद बढ़ता ही गया है। उच्चतम सत्य है परम आत्माका सत्य; एक परात्पर आत्मा जो जगत्के

ऊपर स्थित है और फिर भी जगत्‌में तथा जो कुछ भी सत् है उस सबमें अंतर्यामी रूपसे विद्यमान है, उस सबको धारण कर रही है और चेतनाके विकास द्वारा उस ध्येयकी ओर ले जा रही है जो विश्वप्रकृतिका तभीसे उद्देश्य, लक्ष्य और चरितार्थ स्वरूप रहा है जबसे उसने अंधेरेमें निश्चेतनासे विकासका कार्य आरम्भ किया था — यह सत्ताका एक पक्ष है जो हमें हमारी सत्ताके रहस्यका एक सूत्र पकड़ा देता है और जगत्‌को एक अर्थ प्रदान करता है। पूर्वने सदा आत्माके परम सत्यपर ही अधिकाधिक और सर्वोपरि बल दिया है; यहां तक कि अपने ऐकांतिक चरम कोटिके दर्शनोंमें उसने जगत्‌को माया कहकर बहिष्कृत कर दिया है और परम आत्माको ही एकमात्र सद्वस्तु माना है। पश्चिमने अपना ध्यान जगत्‌पर, हमारी भौतिक सत्ताके साथ मन और प्राणके व्यवहारोंपर, उसके ऊपर हमारे प्रभुत्वपर, मन और प्राणकी पूर्णतापर और यहां मानव सत्ताकी किसी प्रकारकी चरितार्थतापर उत्तरोत्तर अधिकाधिक केन्द्रित किया है। हालमें उसकी यह प्रवृत्ति इतनी दूरतक बढ़ गई है कि उसने आत्माका निषेध कर दिया है और यहां तक कि जड़प्रकृतिको एकमात्र सद्वस्तुके सिंहासनपर आसीन कर दिया है। एक ओर तो अनन्य आदर्शके रूपमें आध्यात्मिक पूर्णता, दूसरी ओर, जातिके पूर्णता प्राप्त कर सकनेकी सम्भावना एवं सामर्थ्य, पूर्णताप्राप्त समाज, मानवीय मन और प्राणका तथा मानवके भौतिक जीवनका सर्वांगपूर्ण विकास भविष्यका महान्-से-महान् स्वप्न बन गये हैं। तथापि दोनों ही सत्य हैं और विश्व-प्रकृतिमें परम आत्माके उद्देश्यके अंग माने जा सकते हैं; वे एक दूसरेसे असंगत नहीं: वरंच उनकी विषमता दूर कर दोनोंको भविष्यसम्बन्धी अपनी दृष्टिमें समाविष्ट तथा एक-दूसरेके साथ समन्वित करना होगा।

पश्चिमके विज्ञानने, क्रमविकासको इस जड़ जगत्‌में जीवन तथा उसकी प्रक्रियाके रहस्यके रूपमें खोज निकाला है; पर उसने चेतनाके विकासकी अपेक्षा रूप और उपजातिके विकासपर अधिक बल दिया है: कि बहुना, चेतना को क्रमविकासकी एक घटनामात्र माना गया है न कि उसके प्रयोजनका संपूर्ण रहस्य। पूर्वमें भी कुछ मनीषियोंने, कुछ दर्शनों एवं धर्मग्रन्थोंने क्रमविकासको अंगीकार किया है, पर वहां इसका अर्थ रहा है — व्यष्टिसत्ताके विकसनशील या क्रमिक रूपों एवं अनेक जीवनोंसे होते हुए आत्माका अपने उच्चतम सत्स्वरूपकी ओर विकास। क्योंकि यदि एक रूप-विशेषमें एक चेतन सत्ता होती है तो वह सत्ता चेतनाका एक अस्थायी तथ्य नहीं हो सकती; वह तो अपने-आपको परिपूर्ण बनानेवाली आत्मा ही होनी चाहिये और यह परिपूर्णता तभी साधित हो सकती है यदि आत्मा अनेकों क्रमिक जीवनोंमें, अनेकों क्रमिक देहोंमें पृथ्वीपर लौटकर आये।

क्रमविकासकी प्रक्रिया रही है निश्चेतन जड़तत्त्वसे और उसके अन्दर अव-चेतन और फिर सचेतन जीवनका विकास, उसके बाद पहले तो पशु-जीवनमें और फिर सचेतन एवं विचारशील मानवमें सचेतन मनका पूर्ण रूपसे विकास, ऐसे मानवमें जो इस समय विकासकारिणी प्रकृतिकी उच्चतम उपलब्धि है। मनोमय प्राणीकी उपलब्धि इस समय उसकी उच्चतम कृति है और उसे उसकी अन्तिम कृति माननेकी प्रवृत्ति देखी जाती है। पर क्रमविकासके एक और भी अगले सोपानकी परिकल्पना करना सम्भव है: मनुष्यके अपूर्ण मनसे परे प्रकृति-की दृष्टिके सम्मुख एक ऐसी चेतना हो सकती है जो मनके अज्ञानसे बाहर निकलकर अपने सहजात अधिकार एवं स्वभावके रूपमें सत्यको अधिगत कर ले। एक सत्य-चेतना है जिसे वेदमें ऋतचित् कहा गया है और मैंने Supermind (सुपरमाइण्ड, अतिमानस) का नाम दिया है, जिसे ज्ञान उपलब्ध है और अतएव उसे उसकी खोज नहीं करनी होती और न उसे पानेसे बारंबार वंचित ही रहना पड़ता है। एक उपनिषद्‌में विज्ञानमय पुरुषको मनोमय पुरुष-के ऊपरका अगला सोपान कहा गया है। हमारी आत्माको उसमें आरोहण कर उसके द्वारा आध्यात्मिक सत्ताका पूर्ण आनन्द प्राप्त करना होता है। यदि उसे यहां क्रमविकासकी प्रक्रियामें प्रकृतिके अगले सोपानके रूपमें उपलब्ध किया जा सके तो प्रकृतिका उद्देश्य चरितार्थ हो जायगा और हम यह परिकल्पना कर सकेंगे कि जीवन यहीं परिपूर्णता प्राप्त कर लेगा और इस शरीरमें ही या सम्भवतः एक पूर्णताप्राप्त शरीरमें पूर्ण आध्यात्मिक जीवनकी उपलब्धि हो जायगी। यहांतक कि हम इस भूतलपर दिव्य जीवनकी चर्चा भी कर सकेंगे; पूर्णता प्राप्त कर सकनेका हमारा मानव स्वप्न भी चरितार्थ हो जायगा और उसके साथ पृथ्वीपर स्वर्गकी हमारी वह अभीप्सा भी पूरी हो जायगी जो कई धर्म-सम्प्रदायोंमें तथा आध्यात्मिक द्रष्टाओं और मनीषियोंमें समान रूपसे पाई जाती है।

मानव आत्माका परमोच्च आत्माकी ओर आरोहण ही आत्माका उच्चतम लक्ष्य एवं प्रयोजन है, क्योंकि वही परम सद्वस्तु है; किन्तु परम आत्मा और उसकी शक्तियोंका जगत्‌में अवतरण भी हो सकता है और वह भौतिक जगत्‌के अस्तित्वको भी सार्थक सिद्ध करेगा, सृष्टिको एक अर्थ एवं दिव्य आशय प्रदान कर उसकी पहेली हल कर देगा। इस उच्चतम और विशालतम आदर्शके अनु-सरणमें पूर्व और पश्चिमका समन्वय साधित हो सकता है, आत्मा जड़तत्त्वका का आलिङ्गन कर सकता है और जड़तत्त्व आत्मामें अपनी सच्ची एवं वास्तविक सत्ताको और सब वस्तुओंकी निगूढ़ वास्तविक सत्ताको पा सकता है।

११-८-१९४९

कोरियाके विषयमें*

मुझे नहीं मालूम क्यों तुम कोरियाके मामलेमें अपने पथप्रदर्शनके लिये मुझसे चिन्तनकी दिशाका निर्देश पाना चाहते हो। उसमें सन्देह-द्विविधाके लिये कोई स्थान ही नहीं, सारा मामला हस्तामलकवत् स्पष्ट है। पहले तो इन उत्तरीय प्रदेशों और फिर दक्षिणपूर्वी एशियापर प्रभुत्व जमाने और उन्हें अपने अधिकार में कर लेनेके लिये उनपर चढ़ाई की साम्यवादी योजनामें यह पहला कदम है जो शेष महाद्वीपके सम्बन्धमें, उदाहरणार्थ, भारतपर अभियानके लिये द्वार खोलनेवाले तिब्बतमेंसे गुजरना आदिके सम्बन्धमें साम्यवादियोंकी चालबाजियों-का पूर्वरूप है। यदि वे इसमें सफल हो जाते हैं तो कोई कारण नहीं कि उसके बाद वे क्रमशः सारे संसारपर ही आधिपत्य जमानेका यत्न न करें जिससे अन्तमें वे अमरीकाके साथ निपटनेके लिये तैयार हो जायं, अर्थात्, यदि स्टालिनके अपनी पसन्दका समय चुन सकनेतक अमरीकाके साथ युद्ध टाला जा सका तो। यदि हम कोरियामें ट्रुमैनकी कार्रवाइयोंसे परख सकें तो जान पड़ता है कि उसने स्थिति समझ ली है, पर देखना यह है कि क्या इस मामलेमें अपनी कार्रवाई पूरी करनेके लिये उसमें काफी दम है और उसका संकल्प काफी पक्का है या नहीं। जिन उपायोंका उसने अवलम्बन किया है वे सम्भवतः अपूर्ण और असफल रहेंगे, क्योंकि जल और नभको छोड़ और कहीं किसी प्रकारका असली सैनिक हस्तक्षेप उनके अन्तर्गत नहीं। स्थिति ऐसी ही दिखाई देती हैं; हमें देखना है कि वह क्या-क्या रूप लेती है। एक बात निश्चित है कि यदि अत्यधिक ढुलमुल नीति बरती गई और यदि अमरीकाने अब कोरियाकी प्रतिरक्षाका कार्य त्याग दिया तो उसे एकके-बाद-एक मोर्चेपर घुटने टेकने पड़ेंगे और फिर स्थिति सुधारनेका समय निकल जायगा। एक-न-एक समय उसे डटकर कठोर कार्रवाईकी अनि-वार्यताका सामना करना ही पड़ेगा चाहे वह युद्धकी ओर ही क्यों न ले जाय। स्टालिन भी तुरन्त विश्वयुद्धके खतरेका सामना कर सकनेको तैयार नहीं दीखता और, यदि ऐसी बात है तो, ट्रुमैन उसे या तो युद्धका खतरा मोल लेनेकी जिम्मेवारीका सामना करनेके लिये या एकके-बाद-एक मोर्चेमें अमरीकाके आगे झुकनेके लिये बारम्बार विवशकर पासा पलट सकता है। मैं समझता हूँ इस समय मैं जो देख सकता हूँ वह यही है; इस क्षण तो स्थिति इतनी अधिक गंभीर है जितनी हो सकती है।

२८-६-१९५०

*एक साधकको लिखा गया पत्र।

एक टिप्पणी*

मुझे नहीं मालूम कि इस परियोजना (projet) के ब्योरोंके विषयमें अधिक कुछ कहना मेरे लिये आवश्यक है, सिवा इसके कि मुझे लगता है कि इसे परिवर्धित और स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है जिससे यह नये प्रदेशके लिये अभिप्रेत संविधानका अधिक पूर्ण एवं ठीक विचार दे सके, अर्थात् यह बता सके कि इस प्रदेशके लिये तथा केन्द्रीय सत्ताके लिये क्या-क्या अधिकार आरक्षित रहेंगे और समझौतेके अन्तर्गत फ्रांसकी सरकार और फ्रेंच नागरिकोंको भारत-सरकार द्वारा दिये जानेवाले अधिकारोंका क्षेत्र एवं सीमाएं क्या होंगी।

प्रसंगवश, स्थानीय सरकार विदेशी चुंगीघरों-सम्बन्धी जिन अधिकारोंका प्रयोग करेगी उनका ठीक-ठीक अभिप्राय क्या है? मेरा अनुमान है कि बन्दरगाहपर पुराना सीमाशुल्क-विभाग फिरसे स्थापित हो जायगा और इस प्रदेश तथा शेष भारतके बीच ऐसा कोई विभाग नहीं रहेगा: हां, फ्रांसके मालके प्रवेशके लिये कुछ सीमित अधिकार दिये जायंगे जो स्थानीय प्रयोगके लिये आवश्यक मात्रा तक ही सावधानतापूर्वक सीमित रखे जायंगे। यदि ऐसा हो तो स्थानीय अधिकारियों द्वारा सीमा-कर की किसी प्रकारकी उगाहीके लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। जहांतक संयुक्तराष्ट्र-संघ (यू.एन.ओ.) की बात है मैं माने लेता हूं कि, जैसी आज वस्तुस्थिति है उसमें, भारत सरकार और उसके अधीनस्थ प्रदेशकी जनताकी सरकारके बीच के किसी भी मामलेको वह इन दोनोंके बीचका मामला समझकर, किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं कर सकता, वह तो उसमें केवल भारत-सरकार और फ्रांसकी सरकारके बीचके मामलेके रूपमें ही दखल दे सकता है।

एक विषय है जिसपर मैं टिप्पणी करना चाहूंगा और उस टिप्पणीको मैं प्रमुख महत्त्वकी समझता हूं। फ्रेंच सरकार स्वभावतः ही यह चाहेगी कि उसने स्थानीय विधानसभा तथा स्थानीय संस्थाओंको जो जनतन्त्रीय अधिकार दे रखे हैं वे पूर्णरूपसे ज्यों-के-त्यों रहें और भारत-सरकार भी, निःसंदेह, यह पसन्द करेगी कि उसके इस नये प्रदेशका संविधान उतना जनतांत्रिक हो जितना

*भारतमें फ्रेंच बस्तियोंकी सत्ताके हस्तान्तरणके सम्बन्धमें सन् १९५०में पांडिचेरीके कुछ स्थानीय लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियोंने एक विधि-परियोजनाका प्रारूप तैयार कर श्रीअरविन्दके सम्मुख उनकी राय और टिप्पणीके लिये प्रस्तुत किया था। उस परियोजनापर की गई श्रीअरविन्दकी यह टिप्पणी १९५०में पांडिचेरी-स्थित महावाणि जयदूत (कौंसल जनरल) श्री ऐस.के. बैनर्जीको संबोधित की गई थी।

भारतके अन्य भागोंका है। परन्तु यदि स्थानीय अवस्थाओंमें कुछ भी परिवर्तन न हो और एक विशेष प्रकारके राजनीतिज्ञों तथा दलोंके नेताओंको अपने लाभके लिये हर एक वस्तुको दूषित करनेके अवसरोंका लाभ उठानेके लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो पुरानी वस्तुस्थितिको और आगे भी जारी रखनेसे उन्हें कैसे रोका जायगा। ऐसी दशामें यह प्रदेश सहज ही कुशासन और भ्रष्टाचार का अड्डा बन जायगा और अवस्था अतीतकी अपेक्षा भी खराब हो जायगी। प्रशासनपर एक प्रबल नियन्त्रण एवं उसका साङ्गोपाङ्ग शोधन और राजनीतिक अनुशासनका एक ऐसा काल जिसमें जनता जन-भावनाका, तथा उसके हाथमें जो अधिकार एवं प्रजातान्त्रिक संस्थाएं सौंपी गई हैं उनके उपयोग और सही उपयोगका विकास कर सके — केवल ये चीजें ही सुधारकारी परिवर्तनका निश्चय दिला सकती हैं और वह साधित होगा केवल दीर्घकालके बाद ही। कागजी संविधानसे उसकी सुनिश्चित व्यवस्था नहीं की जा सकती; ठीक स्थान-पर ठीक प्रकारके आदमी ही उसका दृढ़ आश्वासन दे सकते हैं।

मैं स्वयं इसे अधिक निरापद समझता कि दो सरकारोंके बीच समझौतेका सिद्धान्त तथा उसकी मुख्य रूपरेखा पहले तै हो जाती और शेष सब बादमें सतर्क विचार-विमर्शके बाद निर्धारित किया जाता। अन्यथा इस बातका खतरा है कि कहीं दृष्टिकोणोंमें विरोध और विसंवाद उठ खड़े हों और समझौतेके सफल निर्धारणको रोक दें या यहांतक कि संकटमें डाल दें। पर मैं समझता हूँ कि इस विषयमें पेरिसकी सरकारका जो दृष्टिकोण है उसने उसे वह विधि पसन्द करनेके लिये बाध्य कर दिया है जो उसने वस्तुतः अपनाई है। मुझे आशा है भारत-सरकारको आप जो सलाह देंगे वह वर्तमान स्थितिका अच्छे-से-अच्छा उपयोग करनेमें उसकी सहायक होगी।

१२-२-१९५०

विभाग नौ

पहलेके कुछ पत्र

इस परिच्छेदमें वे कतिपय पत्र हैं जो श्रीअरविन्दने १९१०में पांडिचेरी पहुँचने-के बाद वहां अपने निवासके आरम्भिक कालमें लिखे थे।

भाग १ में सन् १९११से १९१६के बीच लिखे गये उनके व्यक्तिगत-साधना-सम्वन्धी पत्र समाविष्ट हैं।

भाग २ में वे दो पत्र हैं जो उन्होंने १९२०में भारतके दो राष्ट्रवादी नेता-ओंके आवेदनोंके उत्तरमें लिखे थे जिनमें उन्होंने उनसे प्रार्थना की थी कि आप ब्रिटिश भारतमें वापिस आकर भारतीय राजनीतिका नेतृत्व पुनः ग्रहण कर लें।

भाग ३ में उनके सन् १९२२के लिखे तीन पत्र हैं। वे उस योजनाके संबंध-में हैं जो उन्होंने अपनी अन्तःसाधनाके लिये दीर्घ एकान्तवासके बाद अपने कार्यका बाहर विस्तार करनेके लिये उस समय बनाई थी।

पहलेके कुछ पत्र

पांडिचेरीमें प्रारंभिक साधना*

मुझे किसी आश्रय-स्थलकी आवश्यकता है जहां मैं आक्रमणोंसे बचकर अपना योग पूरा कर सकूँ और अपने चारों ओर अन्य आत्माओंको तैयार कर सकूँ। मुझे ऐसा लगता है कि जो 'परे' हैं उनके द्वारा निर्दिष्ट वह स्थान पांडिचेरी ही है। परन्तु तुम जानते ही हो कि जिस चीजको पार्थिव स्तरमें स्थापित करनेका उद्देश्य रखा गया है उसे स्थापित करनेके लिये कितने अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता है.........।

मैं आध्यात्मिक शक्तिको भौतिक स्तरपर उतार लानेके लिये आवश्यक शक्तियोंका विकास कर रहा हूँ, और अब मैं इस योग्य हो गया हूँ कि मैं स्वयं मनुष्योंमें घुस सकूँ और उन्हें बदल सकूँ, उनका अन्धकार दूर कर उनमें ज्योति ला सकूँ और उन्हें नया हृदय और नया मन दे सकूँ। यह कार्य मैं उन लोगोंमें अधिक तेजी और पूर्णताके साथ कर सकता हूँ जो मेरे निकट हैं, परन्तु मैं उन लोगोंमें भी करनेमें सफल हुआ हूँ जो मुझसे सैकड़ों मील दूर हैं। मुझे मनुष्यका चरित्र और हृदय, यहांतक कि उनके विचार भी, जान लेनेकी शक्ति प्राप्त हो गयी है, परन्तु यह शक्ति अभी एकदम पूर्ण नहीं है और न मैं इसका सर्वदा और सब मनुष्योंके लिये ही व्यवहार कर सकता हूँ। महज संकल्प-शक्तिका प्रयोग कर क्रिया करानेकी शक्ति भी विकसित हो रही है, पर अभी यह अन्य शक्तियोंकी जैसी शक्तिशालिनी नहीं है। अन्य जगतोंके साथका मेरा सम्बन्ध अभीतक चंचल अवस्थामें ही है, यद्यपि कुछ अति महान् शक्तियोंके साथ मेरा निश्चय ही सम्बन्ध हो गया है। परन्तु इन सब चीजोंके विषयमें मैं उस समय अधिक लिखूँगा जब मेरे रास्तेकी अन्तिम बाधाएं साफ हो जायंगी।

जो कुछ मैं अत्यन्त स्पष्ट रूपमें देख रहा हूँ वह यह है कि मेरे योगका प्रधान लक्ष्य है भूल-भ्रांति और असफलताकी प्रत्येक सम्भावनाको सम्पूर्ण और अखण्ड रूपसे दूर कर देना, भूल-भ्रांतिकी सम्भावनाको इसलिये कि जो सत्य मैं मनुष्योंको अन्तमें दिखाऊं वह पूर्ण हो सके, और असफलताकी संभावना-को इसलिये कि संसारको बदलनेका कार्य, जहांतक मुझे उस कार्यमें सहायता करनी है वहां तक, पूर्ण रूपसे विजयपूर्ण और अजेय हो सके। यही कारण

*पहले दो पत्रोंको छोड़कर बाकी सब पत्र श्रीअरविन्द द्वारा माताजीको लिखे गये थे।

है कि मैं इतनी लंबी साधना के भीतरसे चलता आ रहा हूँ और योगसे अधिक प्रोज्ज्वल और शक्तिशाली परिणाम इतने दीर्घ कालसे रुके पड़े हैं। मुझे नींव डालनेके कठिन और दुःखदायी कार्यमें अबतक व्यस्त रखा गया है। केवल अब जाकर उस सुनिश्चित और पूर्ण नींवपर, जो स्थापित की गयी है, भवन उठना आरम्भ हो रहा है।

१२-७-१९११

* * *

मेरा योग बड़ी तेजीसे अग्रसर हो रहा है, पर मैं तुम्हें उसके परिणामोंके बारे-में लिखना तबतक स्थगित रखता हूँ जबतक कि अभी मैं जिन प्रयोगोंमें लगा हुआ हूँ उनका फल इतना पर्याप्त नहीं प्राप्त हो जाता कि जिस योगको मैंने तैयार किया है और जो केवल मुझे ही नहीं वरन् मेरे साथ रहनेवाले नवयुवकों-को भी महान् फल दे रहा है, उसका सिद्धान्त और पद्धति निस्संदिग्ध रूपमें स्थापित हो जाय...।अगर सब कुछ ठीक चलता रहे तो मैं एक महीनेके भीतर उन परिणामोंकी आशा करता हूँ।

२०-९-१९११

* * *

सब कुछ सर्वदा अच्छे-से-अच्छेके लिये होता है, परन्तु कभी-कभी बाहरी दृष्टि-कोणसे वह अच्छे-से-अच्छा भद्दा-सा मालूम होता है......।

आज समस्त पृथ्वी एक विधानके अधीन है और एक ही तरहके स्पन्दनों-का प्रत्युत्तर देती है और मुझे सन्देह है कि हमें ऐसा कोई स्थान शायद ही मिले जहां संघर्षकी टक्कर हमारा पीछा न करे। अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि सफल एकान्तवास मेरे भाग्यमें नहीं बदा है। मुझे तबतक संसारके साथ सम्पर्क बनाये रहना ही होगा जबतक मैं या तो विपरीत परिस्थितियोंको जीत न लूँ या मर न मिटूँ या आध्यात्मिक और भौतिक के बीच चलनेवाले युद्धको उतनी दूरतक न ले जाऊं जितनी दूर तक ले जाना मेरे लिये दैव-निर्दिष्ट है। इसी दृष्टिसे मैं बराबर चीजोंको देखता रहा हूँ और अब भी उन्हें देखता हूँ। असफलता, कठिनाई और दृश्यमान असम्भवताका जहांतक प्रश्न है, मैं उनका इतना अधिक अभ्यस्त हो गया हूँ कि मैं उनके लगातार सामने प्रकट होनेसे बहुत अधिक प्रभावित नहीं होता और उन्हें कुछ अस्थायी क्षणोंकी चीज

समझता हूँ......।

ऐसे समयोंमें, जो वास्तवमें विश्वव्यापी विनाशके काल हैं, निरुत्साहित न होनेके लिये शांत हृदय, सुदृढ़ संकल्प, सम्पूर्ण आत्मोत्सर्ग तथा आंखोंको परेकी ओर निरन्तर लगाये रहनेकी आवश्यकता होती है। मैं स्वयं बस दिव्य वाणीका अनुसरण करता हूँ और अपने दाहिने या बायें किसी ओर नहीं ताकता। परिणाम मेरा नहीं है और अब तो प्रयास भी एकदम मेरा नहीं है।

६-५-१९१५

* * *

हमने स्वर्गको अधिकृत कर लिया है, पर पृथ्वीको नहीं; परन्तु योगकी पूर्णता है वेदके सिद्धांतके अनुसार, "स्वर्ग और पृथ्वीको समान और एक" बना देना।

२०-५-१९१५

* * *

भीतरकी प्रत्येक चीज परिपक्व हो गयी है या हो रही है, पर अब भी एक प्रकारका द्वन्द्व-युद्ध चल रहा है जिसमें कोई भी पक्ष कोई विशेष प्रगति नहीं कर पाता (यह स्थिति कुछ-कुछ यूरोपके खाई-युद्धकी-सी है), आध्यात्मिक शक्ति भौतिक जगत्‌के प्रतिरोधके विरुद्ध बार-बार आक्रमण कर रही है और वह प्रतिरोध एक-एक इंचके लिये युद्ध कर रहा है और न्यूनाधिक सफलताके साथ प्रत्याक्रमण भी कर रहा है...। और यदि अन्दर शक्ति और आनन्द न होते तो यह कार्य बड़ा ही कष्टदायक और उकता देनेवाला होता; पर ज्ञानकी आंख उससे परे जाकर देखती है कि यह महज एक सामयिक, यद्यपि विलंबित, क्षुद्र घटना है।

२८-७-१९१५

* * *

कोई भी चीज बाह्य वस्तुओंकी गतिशून्य स्थितिको परिवर्तित करनेमें समर्थ नहीं प्रतीत होती, और हमारी अपनी सत्तासे बाहर जो कुछ सक्रिय है वह सब एक अन्धतमसाच्छन्न गड़बड़झाला है जिसमें से कोई भी मूर्त्त या प्रकाश-मय वस्तु प्रकट नहीं हो सकती। जगत्‌की यह एक विचित्र स्थिति है, अस्त-

व्यस्तता ही यहां साकार रूपमें उपस्थित है जिसमें ऊपरी सतहपर पुराने जगत्का वाह्य स्वरूप ज्यों-का-त्यों दिखायी देता है। परन्तु क्या यह एक दीर्घ-कालव्यापी विघटनकी अस्तव्यस्तता है या किसी आसन्न नवजन्म की? इसी-का निर्णय करनेके लिये दिन-प्रति-दिन युद्ध हो रहा है, पर अभीतक कोई निश्चित परिणाम नहीं दिखाई देता।

१६-६-१६१५

* * *

आध्यात्मिक प्रगतिमें तुम जो कठिनाइयां अनुभव कर रहे हो वे हम सबकी सर्वसामान्य कठिनाइयां हैं। इस योगमें प्रगतिके साथ-साथ साधारण मनमें इस प्रकारके पुनः-पतन सदा ही होते रहते हैं जबतक सारी सत्ता इस प्रकार नये सांचेमें नहीं ढल जाती कि हमारी अपनी प्रकृतिकी किसी अधोमुखी प्रवृत्तिसे या बाहरके विसंवादी जगत्के संस्कारोंसे अथवा यहांतक कि योगमें हमारे साथ अत्यन्त घनिष्ठतया सम्बद्ध लोगोंकी मानसिक अवस्थासे भी अब और प्रभावित न हो सके। साधारण योग सामान्यतया एक ही लक्ष्यपर केन्द्रित होनेके कारण ऐसे अधःपतनोंकी ओर कम खुला होता है। हमारा योग इतना जटिल और बहुमुखी है तथा ऐसे विशाल लक्ष्योंको अपने अन्दर समाये है कि जबतक हम प्रयत्नकी पूर्तिके निकट नहीं पहुँच जाते तब तक किसी निर्विघ्न प्रगतिकी आशा नहीं कर सकते, —विशेषकर इसलिये कि आध्यात्मिक जगत्में स्थित सभी विरोधी शक्तियां निरन्तर विरोधकी स्थितिमें तैनात रहती हैं और हमारी प्राप्तियोंपर घेरा डाल देती हैं; क्योंकि हममें से किसी एककी भी पूर्ण विजयका अर्थ होगा उनका सर्व-सामान्य अधःपतन। सच तो यह है कि किसीकी सहायता-के बिना केवल अपने प्रयत्नसे हम सफल होनेकी आशा नहीं कर सकते। जिस अनुपातमें हम परमोच्च सत्ताके साथ अधिकाधिक वैश्व सम्पर्क प्राप्त करते हैं उसी अनुपातमें हम किसी प्रकारके अन्तिम रूपमें विजय पानेकी आशा कर सकते हैं। जहांतक मेरी बात है, जो चीजें मुझे सुरक्षित रूपसे प्राप्त दिखाई देती थीं उनसे भी मुझे इतनी अधिक बार पीछे हटना पड़ा है कि मैं अपने योगके किसी भी भागके विषयमें केवल सापेक्ष रूपसे ही यह कह सकता हूँ कि "यह पूरा हो गया है।" फिर भी मैंने सदा यह पाया है कि जब मैं इन परावर्तनोंमेंसे किसीसे मुक्त होकर अपनी पूर्वस्थिति फिरसे पा लेता हूँ तो उसके साथ सदैव एक नया आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होता है जो सम्भवतः उपेक्षित या त्यक्त ही रह जाता यदि मैं अपनी आंशिक तुष्टिकी पहली अवस्थामें ही

निश्चित बना रहता। विशेषकर, क्योंकि मैं चिरकालसे अपनी प्रगतिका मानचित्र अपने सामने खिंचा रखता आया हूँ मैं पग-पगपर अपनी उन्नतिको माप सकता हूँ और जो सामान्य प्रगतिकी जा चुकी है उसकी स्पष्ट चेतनाके द्वारा उन-उन विशेष हानियोंकी क्षति-पूर्ति हो जाती है। अन्तिम लक्ष्य दूर अवश्य है पर इतने अनवरत और बृहत् विरोधके सामने की गई प्रगति इस बातका पक्का आश्वासन है कि अन्तमें वह प्राप्त हो ही जायगा। परन्तु समय हमारे नहीं, दूसरेके हाथमें है। इसलिये अधैर्य और असन्तोषको मैंने अपनेसे कोसों दूर रखा है।

मन और हृदयकी परिपूर्ण समता और सत्ताके सभी अङ्गोंमें विशद पवित्रता एवं शान्त सामर्थ्य चिरकालसे वह प्राथमिक शर्त रही हैं जिसपर मेरे अन्दर कार्यरत शक्तिने ऐसे अक्षय धैर्य एवं अविचल और अटूट संकल्पबलके साथ आग्रह किया है जो इन प्रथम आवश्यक गुणोंकी उपेक्षा कर तेजीसे आगे बढ़नेके लिये किये गये अन्य शक्तियोंके सभी प्रयत्नोंका निराकरण करता है। जहां कहीं वे क्षीण हो जाते हैं वहां वह उनकी ओर वापिस आ अपने कामकी त्रुटियोंको धैर्यपूर्वक सुधारनेवाले कारीगरकी भांति दुर्बल स्थलोंपर फिर-फिर क्रिया करती है। ये मुझे शेष सबकी नींव और शर्त प्रतीत होते हैं। जैसे-जैसे ये अधिक दृढ़ और पूर्ण होते जाते हैं वैसे-वैसे हमारा आधार इस सुनिश्चित प्रत्यक्ष-बोधको सुस्थिर और सजीव रूपसे धारण करनेमें समर्थ होता जाता है कि एकमेव सब पदार्थों और प्राणियोंमें, सब गुणों, शक्तियों और घटनाओंमें, इस समस्त विश्व-चेतना और इसकी क्रियाओंकी क्रीड़ामें विद्यमान है। यह बोध एकताका आधार रख देता है और उसपर एकता-लभ्य गभीर तृप्ति एवं वर्धमान हर्षोल्लासको प्रतिष्ठित कर देता है। यही वह चीज है जिसका हमारी प्रकृति अत्यन्त दुराग्रहपूर्वक विरोध करती है। वह भेद-विरोध, द्वन्द्वों, शोक और असंतुष्ट आवेग एवं श्रमकी अवस्थापर ही अड़ी रहती है, वह अपनेको दिव्य विशालता, हर्ष और समतोलताकी अभ्यासी बनानेमें कठिनाई अनुभव करती है—हमारी प्रकृतिके प्राणिक और भौतिक भाग तो विशेष रूपसे ऐसी कठिनाई अनुभव करते हैं। वे ही मनको जो नई अवस्थाको स्वीकार कर चुका होता है तब भी नीचे खींच लाते हैं जब वह आनन्द, शान्ति और एकत्वमे दीर्घकालतक निवास कर चुकता है। मेरी समझमें यही कारण है कि धर्मों और दर्शनोंका जीवन और जड़प्रकृतिके तिरस्कार और निराकरणकी ओर इतना तीव्र झुकाव रहा है और उन्होंने विजयके स्थानपर पलायनको ही अपना लक्ष्य रखा है। परन्तु विजय प्राप्त करनी ही होगी; विद्रोही तत्त्वोंका उद्धार और रूपान्तर करना होगा, परित्याग या बहिष्कार नहीं।

जब एकत्व सुस्थापित हो जाता है, तब हमारे कार्यका निष्क्रिय अर्धभाग पूरा हो जाता है, पर सक्रिय अर्धभाग शेष रह जाता है। उस अवस्थामें ही हमें एकमेवमें प्रभु और उनकी शक्तिको देखना होगा,——जिन्हें मैं भारतीय धर्मोंके शब्दोंका प्रयोग करता हुआ कृष्ण और कालीके नाम देता हूँ। शक्ति मेरी सम्पूर्ण सत्ता और प्रकृतिको अधिकृत कर लेती है जो तब काली ही बन जाती है, और कुछ भी नहीं रहती, प्रभु मेरे नही अपने उद्देश्योंके लिये शक्तिका उपयोग, संचालन और उपभोग करते हैं, जिसे मैं अपनी सत्ता कहता हूँ वह तब उनकी वैश्व सत्ताका एक केन्द्रमात्र होती है और उनकी क्रियाओंका उस प्रकार प्रत्युत्तर देती है जिस प्रकार आत्मा वैश्व आत्माको, स्वयं उनका रूप ओढ़ लेती है जबतक ऐसा नहीं हो जाता कि कृष्ण और कालीके सिवा कुछ और शेष ही न रहे। यही वह अवस्था है जिसे मैंने समस्त गतिरोधों और परावर्तनोंके होते हुए भी प्राप्त कर लिया है, इसकी सुरक्षितता और तीव्रताकी दृष्टिसे मैंने इसे अपूर्ण रूपमें भले ही पाया हो, पर इसके सामान्य स्वरूपकी दृष्टिसे इसे काफी अच्छी तरह प्राप्त कर लिया है। जब ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाय तब हम अपने अन्दर उनके उस दिव्य ज्ञानकी लीलाको सुरक्षित रूपसे प्रतिष्ठित करनेकी आशा कर सकते हैं जो उनकी दिव्य शक्तिकी क्रियाको शासित एवं संचालित करता है। फिर शेष रह जाता है उनकी विश्व-लीलाके विभिन्न स्तरोंका पूर्ण उन्मीलन और जड़तत्त्व तथा देह और जड़ जगत्को सत्यके उच्चतर धुलोकोंके नियमके अधीन करना। इन उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये मैं अपनी बहुत शुरूकी अज्ञानावस्थामें, प्राथमिक शर्तोंको पूरा करनेसे पहले ही, अधीर भावसे आग्रहपूर्वक जोर मारा करता था —— तथापि प्रयत्नकी आवश्यकता तो थी ही और उससे भौतिक करणोंकी आवश्यक तैयारी सम्पादित हो गई। परन्तु अब मैं इन चीजोंकी ओर केवल इस रूपमें आशा भरी निगाहसे ही देख सकता हूँ कि ये वस्तुओंके अभीतक दूरस्थ दृश्यक्षेत्रमें एक पीछे आनेवाला परिणाम हैं।

अतिमानसिक सत्ताकी ज्योति और शक्तिको सुस्थिर रूपसे प्राप्त करना ही वह प्रधान लक्ष्य है जिसकी ओर शक्ति अब मुड़ रही है। किंतु बौद्धिक विचार और मानसिक संकल्पके बचे-खुचे पुराने अभ्यास अपने बने रहनेके निश्चयमें इतने हठीले होते हैं कि प्रगति अवरुद्ध और अनिश्चित हो जाती है और जो थोड़ी-सी सफलता पहले हुई होती है उससे सदा ही पीछे जा पड़ती है। वे अब मेरे अन्दर नहीं रहे, वे अन्ध, मूढ़ और यान्त्रिक हो गये हैं, अपनी अक्षमताको देखते हुए भी सुधरनेमें असमर्थ हैं, परन्तु जब-कभी मन केवल अतिमानसिक प्रकाश और उच्चतर आदेशकी ओर ही खुले रहनेका यत्न करता

है तो वे उसके इर्द-गिर्द जमा हो जाते हैं और अपने सुझावोंकी झड़ी लगा देते हैं। परिणामतः ज्ञान और संकल्प मनके पास अस्तव्यस्त, विकृत और प्रायः-भ्रामक रूपमें ही पहुँचते हैं। तथापि यह केवल समयका प्रश्न है: उनके घेरेका बल कम होता जायगा और वह अन्तिम रूपसे समाप्त कर दिया जायगा।

२६-६-१९१६

II भारतीय राजनीतिक क्षेत्रमें वापिस आनेके लिये बुलावे*

पांडिचेरी
जन. ५, १९२०

प्रिय बैप्टिस्टा,

आपका प्रस्ताव प्रलोभक है, पर मुझे खेद है कि मैं इसका उत्तर हांमें नहीं दे सकता। मेरा कर्तव्य है कि मैं आपको अपने कारण साफ-साफ बताऊं। पहली बात तो यह है कि अभी मैं ब्रिटिश भारत लौटनेको तैयार नहीं। यह बात किसी राजनीतिक बाधासे बिलकुल अलग है। मैं जानता हूँ कि गत सितंबर तक बंगालकी सरकार (और बहुत सम्भवत: मद्रासकी सरकार भी) मेरे ब्रिटिश भारत लौटनेके विरुद्ध थीं और कि व्यवहारत: इस विरोधका अर्थ यह था कि यदि मैं वापिस गया तो मुझे उन हितकर अधिनियमोंमेंसे किसी-न-किसीके अधीन नजरबन्द या कैद कर लिया जायगा जिन्हें प्रत्यक्षत: ही विश्वास और सहयोगका नया युग प्रारम्भ करनेके लिये सहायकोंके रूपमें अभी भी बने रहना है। मैं नहीं समझता कि अन्य सरकारें उनके अपने-अपने प्रान्तोंमें मेरी उपस्थिति-से कुछ अधिक प्रसन्न होंगी। शायद राजाकी घोषणासे कुछ अन्तर पड़ जाय, पर यह बात निश्चित नहीं क्योंकि, जैसा मैं इसे समझता हूँ, इसका अर्थ निर्मुक्ति नहीं, बल्कि कृपापूर्ण रियायत और शुभेच्छाका कार्य है जो वायसरायके अपने विवेक एवं निर्णय द्वारा मर्यादित है। इस समय मेरे पास इतना अधिक काम है कि अनिच्छापूर्ण सरकारी अतिथिकी सावकाश सुख-सुविधामें समय नहीं गंवा सकता।

*श्रीअरविन्दके भारतीय राजनीतिक मञ्चसे हटकर पांडिचेरीमें बस जानेके लगभग दस वर्ष बाद दो प्रमुख राष्ट्रवादी नेताओंने उन्हें लिखकर प्रार्थना की कि वे ब्रिटिश भारत आकर भारतीय राजनीति के नेतृत्वका कार्य फिरसे सम्भाल लें।

उनमें एक थे जोसेफ बैप्टिस्टा जिन्होंने श्रीअरविन्दसे प्रार्थना की कि ब्रिटिश भारत लौटकर एक अंग्रेजी दैनिकके सम्पादनका कार्य हाथमें ले लें। इस दैनिकको एक नयी राजनीतिक पार्टीके, जिसे तिलक तथा अन्य नेता उस समय बनानेका इरादा कर रहे थे, पत्रके रूपमें बम्बईसे प्रकाशित करनेका विचार था।

दूसरे थे डा. मुञ्जे जिन्होंने श्रीअरविन्दसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसका अध्यक्षपद ग्रहण करनेके लिये ब्रिटिश भारत वापिस आनेकी प्रार्थना की। डा. मुञ्जे नागपुर-कांग्रेसके अत्यन्त प्रमुख नेताओंमेंसे एक थे। वे १९२०में पांडिचेरी भी आये थे और श्रीअरविन्दसे उस समयकी भारतीय राजनीतिपर लंबी बातचीत की थी।

इन दोनों प्रार्थनाओंपर श्रीअरविन्दके उत्तर यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

परन्तु चाहे मुझे बिलकुल बेरोकटोक गतिविधि एवं क्रिया-चेष्टा कर सकनेके लिये आश्वासन दे दिया जाय तो भी अभी मैं नहीं जाना चाहूँगा। वर्तमान राजनीतिसे कुछ भी वास्ता न रखते हुए एक निश्चित लक्ष्यके निमित्त स्वतन्त्रता और स्थिर शान्ति पानेके लिये मैं पांडिचेरी आया था। यहां आनेके समयसे मैंने राजनीतिमें कोई सीधा भाग नहीं लिया, यद्यपि अपने ढंगसे मैं देशके लिये जो कुछ कर सकता था वह बराबर करता रहा हूँ। जब तक मेरा वह लक्ष्य पूरा नहीं हो जाता किसी प्रकारका सार्वजनिक कार्य फिरसे शुरू करना मेरे लिये सम्भव नहीं। यदि मैं ब्रिटिश भारतमें होऊं तो मुझे तुरन्त नाना प्रकारके कार्योंमें डूब जाना पड़ेगा। पांडिचेरी मेरी साधना-स्थली है, मेरी तपस्याकी गुहा है, वैरागियोंकी-सी नहीं, मेरे द्वारा आविष्कृत मार्केकी तपस्याकी। मुझे वह पूरी करनी होगी, उसे छोड़नेसे पहले मुझे अपने कार्यके लिये भीतरी तौर-पर शस्त्रसज्जित और सन्नद्ध हो जाना होगा।

अब स्वयं इस कार्यके विषयमें। मैं राजनीतिको या राजनीतिक कार्यको जरा भी नीची निगाहसे नहीं देखता, न यह समझता हूँ कि मैं उनसे ऊंपर उठ गया हूँ। मैंने आध्यात्मिक जीवनपर सदा ही सर्वोपरि बल दिया है और अब तो सारा बल उसीपर देता हूँ पर आध्यात्मिकताके विषयमें मेरा जो विचार है उसका सांसारिक विषयोंसे तपस्वियोंकी-सी निवृत्ति या घृणा या विरक्तिसे कोई नाता नहीं। मेरे लिये सांसारिक नामकी कोई वस्तु नहीं, समस्त मानवीय कार्यकलाप मेरे लिये एक ऐसी वस्तु है जो पूर्ण आध्यात्मिक जीवनमें समाविष्ट करने योग्य है और वर्तमान समयमें राजनीतिका महत्त्व बहुत ही अधिक है। परन्तु राजनीतिक कार्यकी मेरी दिशा एवं उद्देश्य इस क्षेत्रमें इस समय प्रचलित किसी भी वस्तुसे बहुत-कुछ भिन्न होगा। राजनीतिक कार्यके क्षेत्रमें मैं एक और केवल एक ही लक्ष्यके साथ प्रविष्ट हुआ और १९०३से १९१०तक यह कार्य जारी रखा। वह लक्ष्य था स्वाधीनताके लिये सुस्थिर संकल्पको तथा उसकी प्राप्तिके लिये कांग्रेसकी उस समयतक प्रचलित निरर्थक, मन्द-मन्थर विधियोंके स्थानपर संघर्षकी आवश्यकताको लोगोंके मनमें प्रविष्ट करना। वह लक्ष्य अब साधित हो गया है और अमृतसर-कांग्रेसने उसपर ठप्पा लगा दिया हैं। संकल्प जितना होना चाहिये उतना व्यावहारिक एवं ठोस नहीं, न वह अपनी क्रियामें किसी भी प्रकार उतना संगठित एवं अविच्छिन्न ही है, पर संकल्प वहां है और हैं उसे परिचालित करनेके लिये अनेकों शक्तिशाली और योग्य नेता भी। मेरे विचारमें सुधारोंके पर्याप्त न होनेपर भी, आत्म-निर्णयका संकल्प,—यदि देश अपने वर्तमान भावावेगको बनाये रखे और मुझे इसमें सन्देह नहीं कि वह बनाये ही रखेगा,—शीघ्र विजयी होकर रहेगा।

जो प्रश्न मुझे अब मुख्य रूपसे घेरे हुए है वह यह है कि वह अपने आत्म-निर्णयके अधिकारके द्वारा क्या करेगा, अपनी स्वतन्त्रताका किस प्रकार प्रयोग करेगा, अपने भविष्यका निर्धारण किन पद्धतियोंके अनुसार करेगा ?

आप पूछ सकते हैं कि मैं स्वयं बाहर आकर, जहांतक बन पड़े, नेतृत्व करनेमें सहायता क्यों नहीं करता ? परन्तु मेरे मनको असुविधापूर्ण ढंगसे युग से आगे दौड़नेकी आदत है,—कोई यों कह सकता है कि समयके सर्वथा विपरीत आदर्शके जगत्में प्रवेश कर दौड़ लगानेकी। आप कहते हैं कि आपकी पार्टी समाज-मूलक जनतन्त्रीय पार्टी होने जा रही है। अब, मेरा विश्वास एक ऐसी चीजमें है जिसे समाजमूलक जनतन्त्र कहा जा सकता है, पर उसके जो रूप आज प्रचलित हैं उनमेंसे किसीमें भी नहीं, उसके यूरोपीय रूपसे तो मेरा तनिक भी प्रेम नहीं, भूतकालकी अपेक्षा उसमें कितना ही महान् सुधार क्यों न हो गया हो। भारतकी एक अपनी आत्मा है और अपनी सभ्यताके अनुरूप उसका एक विशिष्ट प्रभुत्वशाली स्वभाव है। अतएव, मेरे मनमें, उसे अन्य प्रत्येक वस्तुकी भांति राजनीतिमें भी अपना मौलिक मार्ग निर्मित करना चाहिये न कि यूरोपके पीछे चलकर ठोकरें खानी चाहियें। परन्तु यदि उसे अपने मनकी वर्तमान अस्तव्यस्त और तैयारी-रहित अवस्थामें मार्गपर पग रखना है तो वह ठीक ऐसा ही करनेको बाध्य होगा। निःसंदेह लोग ऐसी बातें करते हैं कि भारत अपनी सरणियोंके अनुसार अपना विकास करेगा पर लगता है कि इस विषयमें किसीके सामने अत्यन्त स्पष्ट या पर्याप्त विचार नहीं हैं कि वे सरणियां क्या होंगी। इस सम्बन्धमें मैंने अपने आदर्श और कतिपय सुनिश्चित विचार बनाये हैं जिनके रहते इस समय सम्भवतः बहुत कम ही लोग मेरा अनुसरण करेंगे,—क्योंकि वे एक रूढ़िमुक्त ढंगके, अटल आध्यात्मिक आदर्शवादसे शासित हैं और बहुतोंको तो समझमें ही नहीं आयेंगे तथा कितनों ही के लिये रोषजनक एवं बाधक होंगे। परन्तु क्रियात्मक सरणियोंकी अभी मुझे कोई स्पष्ट एवं पूर्ण धारणा नहीं; मेरे पास कोई बना-बनाया प्रोग्राम नहीं। एक शब्दमें, मैं अपना मार्ग अपने मनमें तो अनुभव कर रहा हूँ पर प्रोपेगण्डा या कार्रवाईके लिये तैयार नहीं। चाहे मैं तैयार होता तो भी कुछ समयके लिये उसका अर्थ होता अपनी अलग लीक बनाना या कम-से-कम अपनी राह चलने की स्वतन्त्रता। आपके दैनिक पत्रके सम्पादकके रूपमें मैं अपने मतको ताकमें रखकर दूसरोंके मतकी तूती बजानेके लिये बाध्य हूँगा, और जहां मैं इस मसयकी कार्रवाईके सम्बन्धमें उन्नत पार्टियोंके सामान्य विचारोंसे पूरी सहानुभूति रखता हूँ और, यदि मैं कार्यक्षेत्रमें होता तो, उनकी सहायताके लिये जो भी बन पड़ता करता, वहां मैं अपने स्वभाववश, अपनेको इस प्रकार घेरेमें बांध देनेमें असमर्थ-सा हूँ, कम-से-कम जितना मुझे बंधना पड़ेगा उतना बंधकर नहीं रह सकता।

इस लम्बी-चौड़ी रामकहानीके लिये क्षमा करना। मैंने पूरी तरह खोलकर समझाना आवश्यक समझा ताकि आपपर यह छाप न पड़े कि मैंने आध्यात्मिक तटस्थताकी किसी प्रकारकी ढोंगबाजी या सचाईके कारण अथवा देश-की पुकारसे कतरानेकी इच्छासे या आप और दूसरे लोग इतने सराहनीय ढंगसे जो काम कर रहे हैं उससे सहानुभूति न होनेके कारण आपकी प्रार्थना-को ठुकरा दिया। मैं पुनः खेद-प्रकाश करता हूँ कि मुझे बाध्य होकर आपको निराश करना पड़ रहा है।

सच्चे हृदयसे आपका,
अरविन्द घोष

* * *

पांडिचेरी
३० अगस्त, १९२०

प्रिय डा. मुञ्जे,

जैसा कि मैं आपको तार कर चुका हूँ, नागपुर-कांग्रेसके सभापतित्वके लिये आपका प्रस्ताव स्वीकार करनेमें मैं अपनेको असमर्थ अनुभव करता हूँ। स्वयं राजनीतिक क्षेत्रके भीतर भी कुछ ऐसे कारण हैं जो हर हालतमें मेरे मार्गमें आड़े आते। सर्वप्रथम, मैंने कांग्रेसके सिद्धान्त-पत्रपर विश्वासकी वैयक्तिक घोषणाके रूपमें कभी हस्ताक्षर नहीं किये और न कभी करना ही चाहूँगा, क्योंकि मेरा अपना विश्वास और ही प्रकारका है। दूसरे, ब्रिटिश भारत छोड़ एकान्तमें चले जानेके बादसे मैंने ऐसे दृष्टिकोण एवं विचारोंका विकास किया है जो मेरे उस समयके दृष्टिकोण एवं विचारोंसे अत्यधिक भिन्न हैं और, क्यों-कि वे वर्तमान समयकी यथार्थ अवस्थाओंसे बहुत दूर हैं और राजनीतिक कार्य-की वर्तमान धाराका अनुसरण नहीं करते, अतएव मैं कांग्रेसके सामने क्या कहूँ इस विषयमें मैं अपनेको अत्यन्त हतप्रभ अनुभव करूँगा। जो कुछ आप लोग कर रहे हैं, उस सबके साथ वहां तक मेरी पूरी-पूरी सहानुभूति है जहांतक उसका उद्देश्य भारतके लिये स्वाधीनता प्राप्त करना है, पर किसी भी पार्टीके प्रोग्रामके साथ एकमत होनेमें मैं अक्षम हूँगा। कांग्रेसका सभापति वास्तवमें कांग्रेसका प्रवक्ता होता है और सभापतिके आसनसे एक ऐसी शुद्ध वैयक्तिक घोषणा करना जो कांग्रेसकी विचारधारा और कार्यसे कोसों दूर हो; भद्दे रूपसे अनुपयुक्त होगा। इतना ही नहीं, बल्कि आजकल अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमेटीका, सारे वर्षमें कांग्रेसकी नीतिका तथा दूसरे जो भी आकस्मिक संकट

या प्रसंग उठ खड़े हों उन सबका भार सभापतिके ऊपर होता है। मेरी वैधानिक आपत्तिको और, बहुत सम्भवतः, पद-सम्बन्धी किसी प्रकारके कर्तव्योंको निभाने या किसी प्रकारका बीड़ा उठानेमें मेरी असमर्थताको छोड़ भी दिया जाय तो भी मैं उक्त कार्यभारका पूरी तरह निर्वाह नहीं कर सकूँगा, क्योंकि अपने सुनिश्चित प्रोग्रामको सहसा छोड़-छाड़ तुरन्त ब्रिटिश भारतमें जा बसना मेरे लिये असम्भव है। ये कारण, हर हालतमें, मेरे लिये आपका प्रस्ताव स्वीकार करनेके मार्गमें बाधक होते।

परन्तु केन्द्रीय कारण यह है कि मैं अब पहलेकी तरह प्रथम और प्रधान रूपसे राजनीतिज्ञ नहीं हूँ, बल्कि मैंने निश्चित रूपसे एक और प्रकारका कार्य शुरू कर दिया है जिसका आधार आध्यात्मिक है और जो प्रायः क्रांतिकारी ढंगका, एक आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक पुनर्निर्माणका कार्य है, और साथ ही मैं इस अर्थमें एक प्रकारका क्रियात्मक या प्रयोगशालीय परीक्षण भी कर रहा हूँ या कम-से-कम उसका अधीक्षण कर रहा हूँ। यह कार्य मेरे सारे ध्यान और शक्तिकी, जितनी कि मैं अधिक-से-अधिक लगा सकता हूँ, अपेक्षा करता है। शुरू-शुरूमें इस कार्यको और प्रचलित ढंगके राजनीतिक कार्यको मिलाना मेरे लिये असम्भव है। क्रियात्मक रूपसे मुझे इसको एक ओर रख देना होगा, और ऐसा मैं नहीं कर सकता, क्योंकि इसे मैंने अपने शेष जीवनके लिये ध्येयके रूपमें अपनाया है। आपकी पुकारके अनुरूप कार्य करनेमें मेरी असमर्थताका सच्चा कारण यही है।

मैं कह सकता हूँ कि, जो भी हो, मेरे विचारमें आप तिलकके स्थानपर मुझे आपका नेतृत्व करनेके लिये कहकर एक गलत चुनाव कर रहे होंगे। भारतमें इस समय जीवित कोई भी व्यक्ति, या कम-से-कम अबतक ज्ञात कोई भी व्यक्ति उनका स्थान ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं, मैं तो सबसे कम सक्षम हूँ। मै तो रग-रगसे आदर्शवादी हूँ, और केवल तभी उपयोगी हो सकता हूँ जब कोई अमोघ उपाय करना हो, एक मूलगामी या क्रांतिकारी (इस शब्दसे मेरा मतलब हिंसात्मक ढंगसे क्रांतिकारी नहीं) दिशाका अनुसरण करना हो, आदर्श लक्ष्य और प्रत्यक्ष पद्धतिवाले किसी आन्दोलनकी प्रेरणा देनी और संगठन करना हो। तिलककी नीति है "प्रत्युत्तरशील सहयोग", अनवरत आन्दोलन और जरूरत पड़नेपर प्रतिरोध—और वर्तमान परिस्थितियोंमें तो बहुधा आन्दोलन एवं प्रतिरोधकी ही जरूरत होगी। यह नीति निःसंदेह किसी प्रकारके असहयोग या निष्क्रिय प्रतिरोधका एकमात्र विकल्प है। पर इसे फलप्रद बनानेके लिये इसके नेतृत्वके लिये एक ऐसे व्यक्तिकी जरूरत होगी जिसमें उनकी तरह नमनीयता, निपुणता और संकल्पकी दृढ़ताका संयोग हो। मेरे अन्दर वह नम-

नीयता और निपुणता नहीं — कम-से-कम जिस ढंगकी चाहियें वैसी नहीं—मैं तो केवल संकल्पकी दृढ़ता ही जुटा सकता हूँ। मान लो कि मैंने यह नीति स्वीकार कर भी ली,—जैसा कि मैं वस्तुतः क्रियात्मक रूपसे नहीं कर सकता, क्योंकि, मेरे कुछ निजी कारणोंसे, कोई भी चीज मुझे नई कौंसिलों (विधान-परिषदों) में प्रवेश करनेके लिये प्रेरित नहीं कर सकती,—तो भी इस नीति-को सफल बनानेके लिये अपेक्षित गुण मुझमें नहीं। दूसरी ओर, केवल पंजाबके कुछ अफसरोंको दण्ड दिलाने या गये-बीते और मृत तुर्की साम्राज्यको फिरसे स्थापित करनेके लिये असहयोगका विराट् आन्दोलन संतुलन और साधारण बुद्धिके विषयमें मेरे विचारोंको गहरी चोट पहुँचाता है। मुझे तो यह केवल तभी समझमें आ सकता है यदि यह "सरकारको हैरान करने"का और तात्कालिक शिकायतों के मौकेसे लाभ उठाकर स्वायत्त-शासनके लिये मिश्र और आयर-लैण्डके ढंगका प्रचण्ड संघर्ष — पर निःसंदेह हिंसाके तत्त्वसे रहित संघर्ष — चलानेका साधन हो। तथापि, यदि वह दूसरा कारण न होता जिसकी मैंने ऊपर चर्चा की है तो मैं केवल एक ऐसे प्रोग्रामके आधारपर ही राजनीतिक क्षेत्रमें पुनः प्रवेश कर सकता जिसमें कांग्रेसके सिद्धान्त, कार्य, संगठन और नीतिका आमूलचूल परिवर्तन अन्तर्गत हो और जो उसे केवल राजनीतिक आन्दोलनका नहीं अपितु राष्ट्रीय पुनर्निर्माणका केन्द्र बना दे। दुर्भाग्यवश, कांग्रेसकी अतीत पद्धतियोंसे निर्मित राजनीतिक चिन्तन और अभ्यासोंके कारण इस समय वह प्रोग्राम व्यवहार्य नहीं हो सकता। मैं समझता हूँ आप देख पायंगे कि इन विचारों-को रखते हुए मेरे लिये अन्तःक्षेप करना सम्भव नहीं, सभापतिके पदपर कार्य करना तो सबसे कम सम्भव है।

क्या मैं यह विचार प्रस्तुत कर सकता हूँ कि कांग्रेसकी सफलता किसी एक व्यक्तिकी, और सो भी एक ऐसे व्यक्तिकी जो दीर्घकालसे पर्देके पीछे रहा है, उपस्थितिपर कदाचित् ही निर्भर कर सकती है? जो मित्र मुझे आमन्त्रित करते हैं उनका यह सोचना निश्चित रूपसे गलत है कि नागपुर-कांग्रेस मेरे बिना प्रेरणाप्रद नहीं होगी। राष्ट्रीय आन्दोलन अब निश्चय ही इतना शक्ति-शाली है कि अपने ही विचारके द्वारा अनुप्राणित हो सकता है, विशेषकर आज-जैसे दबावके समयमें। मुझे खेद है कि आपको निराश कर रहा हूँ, पर मैंने वे कारण आपको बता दिये हैं जिनसे मैं लाचार हूँ और मैं नहीं देख पाता कि उनसे कैसे बचा जा सकता है।

सच्चे हृदयसे आपका,
अरविन्द घोष

III बाहरका काम हाथमें लेनेके पहलेकी योजनाएं

आर्य कार्यालय,
पांडिचेरी
१८ नवम्बर १९२२

प्रिय बारीन,*

तुम्हारे पत्रसे मैं यह समझा हूँ कि तुम्हें मैंने जो कार्य सौंपा है उसके लिये तुम्हें मुझसे लिखित अधिकारकी और एक वक्तव्यकी आवश्यकता है जिससे कि इस सम्बन्धमें तुम्हें जिनके पास जाना है उनके सामने तुम्हारी स्थिति स्पष्ट हो जाय। तुम जिसे चाहो उसे यह पत्र प्रमाणके रूपमें दिखा सकते हो और मुझे आशा है कि यह तुम्हारे लिये कार्यको सरल करनेके लिये पर्याप्त होगा।

आजतक मैं एक ऐसे योगकी साधनामें अन्तर्मुख रूपसे निरत रहा हूँ और अभी कुछ और समय रहूँगा जिसके लिये यह देवनिर्दिष्ट है कि वह जीवनसे विरति का नहीं, वरन् मानव जीवनके रूपान्तरका आधार बनेगा। यह एक ऐसा योग है जिसमें अन्तरनुभूतिके विशाल अपरीक्षित प्रदेशों और नये साधना पथोंको खोलना था और अतएव जो अपनी परिपूर्तिके लिये एकान्तवास और दीर्घकालकी अपेक्षा रखता था। परन्तु वह समय पास आ रहा है, यद्यपि अभी आया नहीं, जब मुझे इस योगके आध्यात्मिक आधारसे उद्भूत होनेवाले विशाल बाह्य कर्मको हाथमें लेना होगा।

अतएव इस साधनाकी प्रशिक्षा देनेके लिये ऐसे कुछ केन्द्र स्थापित करना आवश्यक है जो शुरूमें छोटे और थोड़े-से होंगे, किन्तु, जैसे-जैसे मैं आगे बढ़ूँगा, वैसे-वैसे वे बड़े और संख्यामें अधिक होते जायंगे, उनमेंसे एक सीधे मेरी देख-रेखमें होगा, अन्योंका सम्बन्ध सीधा मेरे साथ होगा। जो लोग वहां प्रशिक्षित होंगे वे बादमें मेरे उस कार्य में सहायक होंगे जो मुझे करना होगा, किन्तु इस समय ये केन्द्र बाहरी कार्यके लिये नहीं, आध्यात्मिक साधना और तपस्याके लिये ही होंगे।

पहला केन्द्र, जो मेरे ब्रिटिश भारत जानेपर वहां स्थानान्तरित किया जायगा, यहां पांडिचेरीमें इस समय विद्यमान है, पर उसे चलाने और बढ़ानेके लिये मुझे धनकी जरूरत है। दूसरा मैं तुम्हारे द्वारा बंगालमें स्थापित कर रहा हूँ। एक और अगले वर्ष गुजरातमें स्थापित करनेकी आशा है।

*श्रीअरविन्दके छोटे भाई बारीन्द्र कुमार घोष।

इस समय मैं जितने लोगोंको केन्द्रमें प्रविष्ट कर सकता हूँ उसकी अपेक्षा बहुत अधिक लोग यह साधना करना चाहते हैं और इसे करनेके लिये योग्य भी हैं और इस कार्यको, जो स्वयं मेरे कार्यक्षेत्रमें वापिस आनेके लिये तैयारीके रूपमें आवश्यक है, मैं तभी चलाता रह सकता हूँ यदि मुझे इसके लिये विपुल साधन-संपदा उपलब्ध हो।

मैंने तुम्हें अधिकार दिया है कि तुम धन-संग्रह तथा अन्य सम्बद्ध कार्योंमें मेरे लिये कार्य करो। मुझे तुमपर पूर्ण विश्वास है और मैं अपने सभी शुभ-चिन्तकोंसे प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे भी तुमपर वैसा ही विश्वास रखें।

मैं इतना और कह दूँ कि यह कार्य जिसका मैंने उल्लेख किया है वैयक्तिक रूपसे और विशालतर अर्थमें मेरा अपना है और इसे कोई अन्य व्यक्ति मेरे लिये नहीं कर रहा और न कर सकता है। यह अन्य किसी भी ऐसे कार्यसे पृथक् और भिन्न है जिसे अन्य लोग मेरे नामसे या मेरी स्वीकृतिसे कर चुके या कर रहे हैं। इसे तो-तुम जैसे लोगोंकी, जो सीधे मेरे अधीन मेरी आध्यात्मिक साधनाका प्रशिक्षण पा रहे हैं या भविष्यमें पायेंगे, घनिष्ठ सहायतासे स्वयं मैं ही कर सकता हूँ।

अरविन्द घोष

* * *

आर्य कार्यालय
पांडिचेरी,
१८ नवम्बर, १९२२

प्रिय चित्त,*

लंबे समयसे, मैं समझता हूँ लगभग दो वर्षोंसे मैंने किसीको कोई पत्र नहीं लिखा। मैं इतना अधिक एकान्तसेवी और अपनी साधनामें लीन रहा हूँ कि अभी हालतक बाह्य जगत्से सम्पर्क कम-से-कम ही रहा है। अब क्योंकि मैंने पुनः बाहर दृष्टि डालनी शुरू की है, मैं देखता हूँ कि परिस्थितियां मुझे सबसे पहले आपको लिखनेके लिये प्रेरित कर रही हैं – 'परिस्थितियों' शब्दका प्रयोग मैंने इसलिये किया है कि एक आवश्यकता ही मुझे, इतने लम्बे समयतकके अप्रयोगके बाद, कलम उठानेको प्रेरित कर रही है।

*चित्तरञ्जनदास, श्रीअरविन्दके राष्ट्रीयवादी सहयोगियोंमेंसे अन्यतम और एक प्रसिद्ध वकील। उन्होंने अलीपुर-बमकाण्डमें श्रीअरविन्दकी पैरवी की थी।

इस आवश्यकताका सम्बन्ध उस सबसे पहले बाहरी कार्यसे है जिसे मैं इस लम्बे आन्तरिक एकान्तवासके बाद हाथमें ले रहा हूँ। बारीन बंगाल गया है और इसके सम्बन्धमें आपसे मिलेगा, पर शायद अपनी ओरसे दो-एक शब्द लिखना भी आवश्यक है और इसलिये मैं बारीनके हाथ यह पत्र भेज रहा हूँ। मैं उसे एक अधिकारपत्र भी दे रहा हूँ जिससे आप उस आवश्यकताका तात्कालिक स्वरूप समझ जायंगे जिसके लिये निधि जमा करनेके हेतु मैंने उसे भेजा है। पर उसे अधिक सुनिश्चित रूप देनेके लिये मैं कुछ और शब्द जोड़ दूँ।

मेरे ख्यालमें तुम्हें यह मालूम है कि मेरी वर्तमान विचारधारा क्या है और उसके परिणामस्वरूप जीवन एवं कर्मके प्रति मेरी क्या वृत्ति है। मेरे अन्दर यह अनुभव दृढ़ हो गया है कि कर्म तथा जीवनका सच्चा आधार है अध्यात्म अर्थात् एक नवीन चेतना जिसका विकास केवल योगसे ही किया जा सकता है। यह अनुभव मुझमें था तो सदा ही पर पहले यह कम स्पष्ट एवं कम क्रियाशील रूपमें था और अब यह मुझे अधिकाधिक प्रत्यक्ष होने लगा है। मैं यह अधिकाधिक स्पष्ट रूपमें देख रहा हूँ कि मानवजाति जिस व्यर्थके घेरेमें सदासे चक्कर काट रही है उसमें से मनुष्य तबतक कदापि बाहर नहीं निकल सकता जबतक वह अपनेको ऊंचा उठाकर नये आधारपर प्रतिष्ठित नहीं कर लेता। मेरा यह भी विश्वास है कि इस महान् विजयको संसारके लिये साधित करना भारतका ध्येय है। परन्तु इस महत्तर चेतनाकी क्रियाशील शक्तिका ठीक-ठीक स्वरूप क्या है? इसके प्रभावकारी सत्यका नियम क्या है? इसे कैसे अवतरित, गतियुक्त तथा संगठित करके जीवनपर प्रयुक्त किया जा सकता है? कैसे हमारे वर्तमान करण, बुद्धि, मन, प्राण, शरीर, इस महान् रूपांतरकी सच्ची एवं पूर्ण प्रणालिकाएं बनाये जा सकते हैं? यही समस्या थी जिसे मैं अपने अनुभवमें सुलझानेका यत्न करता रहा हूँ और अब मुझे इसके रहस्यका निश्चित आधार, विशाल ज्ञान तथा कुछ-न-कुछ प्रभुत्व प्राप्त हो गया है। किन्तु इसकी पूर्णता और सर्वांगीण अटल उपस्थिति मुझे अभी प्राप्त नहीं हुई — अतः मुझे अभी भी एकान्तसेवन करना है। क्योंकि मैंने दृढ़ निश्चय कर रखा है कि जबतक मुझे कार्य करनेकी इस नई शक्तिकी निश्चित एवं पूर्ण उपलब्धि नहीं हो जाती तबतक मैं बाह्य क्षेत्रमें कार्य नहीं करूँगा,—पूर्ण आधार तैयार हुए बिना निर्माण नहीं करूँगा।

फिर भी मैंने इतनी काफी प्रगति कर ली है कि एक कार्य पहलेसे अधिक बड़े पैमानेपर हाथमें ले सकता हूँ — वह है दूसरोंको प्रशिक्षण देना जिससे वे इस साधनाकी दीक्षा ग्रहण कर मेरी तरह अपनेको तैयार कर सकें, क्योंकि

उसके विना मेरे भावी कार्यका आरम्भतक नहीं हो सकता। ऐसे अनेक लोग हैं जो इस प्रयोजनसे यहां आना चाहते हैं और जिन्हें मैं अनुमति भी दे सकता हूं, उससे भी अधिक बड़ी संख्यामें ऐसे लोग हैं जिन्हें दूर बैठे प्रशिक्षण दिया जा सकता है। किन्तु मैं इस कार्यका संचालन करते रहनेमें असमर्थ हूं जबतक कि मेरे पास एक केन्द्र यहां और कम-से-कम दो-एक बाहर चला सकनेके लिये पर्याप्त निधि न हो। अतएव इस समय जितनी साधन-सम्पदा मेरे अधिकारमें अपेक्षा कहीं अधिककी मुझे जरूरत है। मुझे विचार आया है कि आप अपनी सिफारिश और प्रभावसे बारीनको मेरे लिये धन-साधन एकत्र करनेमें सहायता दे सकते हैं। क्या मैं आशा करूं कि आप मेरे लिये यह कार्य करेंगे?

अब एक शब्द संभावित गलतफहमी दूर करनेके लिये। बहुत समय पहले मैंने चन्दननगरके मोतीलाल रायको नये सामाजिक और आर्थिक संगठन और शिक्षाके विषयमें कुछ विचार, सिद्धान्त और कार्यप्रणालियां बतलाई थीं और उन्हें वे उनके पीछे कार्य कर रही मेरी आध्यात्मिक शक्तिसे अपने संघमें अपने ढंगसे क्रियान्वित करनेका यत्न करते आ रहे हैं। यह चीज उससे बिलकुल अलग है जिसके विषयमें इस समय मैं लिख रहा हूं,—जो मेरा अपना काम है और मुझे अपने-आप ही करना होगा और जिसे मेरे लिये दूसरा कोई नहीं कर सकता।

मैं आपकी राजनीतिक कार्य-प्रवृत्तियोंको, विशेषकर असहयोग आन्दोलनको एक अधिक लचीला और क्रियात्मक दृष्टिसे प्रभावशाली मोड़ देनेके आपके हालके प्रयत्नको दिलचस्पीसे देखता आ रहा हूं। मुझे सन्देह है कि आप ऐसी प्रतिकूल शक्तियोंके विरुद्ध सफल हो पायेंगे, पर आपके प्रयत्नमें मैं आपकी सफलता चाहता हूं। तथापि स्वराज्यके बारेमें आपके निर्देशोंमें मुझे बहुत अधिक रुचि है; क्योंकि सच्चे भारतीय स्वराज्यके संगठनके विषयमें मैं अपने निजी विचारोंका विकास करता आ रहा हूं और यह जाननेके लिये मैं आशा-भरी दृष्टिसे देखूंगा कि कहांतक आपके विचार मेरे विचारोंसे मेल खायेंगे।

आपका,
अरविन्द

* * *

पांडिचेरी
१ दिसम्बर १९२२

प्रिय बारीन,

मैं तुम्हारे पत्रकी प्रतीक्षा कर रहा था ताकि मुझे ठीक-ठीक पता चले कि चित्तरञ्जन किन अंशोंको प्रकाशित करना चाहते हैं और क्यों। वे ठीक वही निकले जो मेरी दृष्टिमें आये थे पर मैं पक्का मालूम करना चाहता था। अब मुझे उन कारणोंको स्पष्ट करना होगा जिनके वश मैं प्रकाशनकी अनुमति देनेसे झिझकता था।

जीवनके आध्यात्मिक आधारवाले अंश या स्वराज्य-विषयक अन्तिम पैरेके प्रकाशनपर मुझे कोई आपत्ति न होगी। पर मैं समझता हूँ असहयोग-विषयक अंशका प्रकाशन मेरे वास्तविक दृष्टिकोणके विषयमें सरासर गलतफहमी उत्पन्न करेगा। कुछ लोग तो उसका यह अर्थ समझेंगे कि मैं गांधीजीका प्रोग्राम स्वीकार करता हूँ बशर्ते कि उसमें कमेटी द्वारा प्रस्तावित संशोधन कर दिये जायं। जैसा कि तुम्हें मालूम है, मैं यह नहीं मानता कि भारतकी वास्तविक स्वतन्त्रता और महानताको, उसके स्वराज्य और साम्राज्यको लानेके लिये महात्मा गांधीका सिद्धांत एक सच्चा आधार या उनका प्रोग्राम एक सच्चा साधन बन सकता है। उधर, दूसरे लोग यह सोचेंगे कि मैं तिलककी राष्ट्रवादी विचारधारा पर ही डटा हुआ हूँ। पर वह भी सच नहीं, क्योंकि मेरे मतमें वह विचारधारा भी पुरानी पड़ गई है। यदि मैं कार्यक्षेत्रमें होता तो मेरी अपनी नीति सिद्धांत और प्रोग्राममें दोनोंसे मूलतः भिन्न होती, चाहे वह कुछ बातोंमें शायद एक भी होती। परन्तु उसके सिद्धान्तको समझने या प्रोग्रामको कार्यान्वित करनेके लिये देश अभी तैयार नहीं।

क्योंकि मैं यह बात भलीभांति जानता हूँ, अतः मैं अभी आध्यात्मिक और चैत्य स्तरपर कार्य करने और वहां ऐसे विचारों एवं शक्तियोंको तैयार करनेसे ही संतुष्ट हूँ जो आगे चलकर ठीक समयपर और ठीक अवस्थाओंमें अपने-आपको वेगपूर्वक प्राणिक और भौतिक क्षेत्रमें झोंक सकती हैं और इस विषयमें मैं सतर्क रहा हूँ कि कोई सार्वजनिक घोषणा न करूँ क्योंकि वह मेरे भावी कार्यकी सम्भावनाओंपर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती है। वह कार्य क्या होगा यह घटनाओंके विकासपर निर्भर करेगा। राजनीतिकी वर्तमान कार्य-दिशाका अन्त विफलताजन्य अशान्तिमें हो सकता है, पर बाहरी परिस्थितियोंकी सहायता से वह गिरते-पड़ते किसी प्रकारके नकली स्व-शासनतक भी पहुँच सकती है। दोनों ही अवस्थाओंमें असली काम सारे-का-सारा करनेको शेष रह जायगा। हर हालतमें मैं अपनेको उसे करनेके लिये मुक्त रखना चाहता हूँ।

व्यक्तिगत मित्रताके समस्त विचारसे अलग, चित्तरञ्जनदासके कार्यों और कथनोंमें मेरी रुचिका कारण सर्वप्रथम तो यह तथ्य है कि जो प्रबल प्रेरणा वे दे रहे हैं वह चाहे, मेरे विचारमें, इस समय शायद सफल नहीं हो सकती, फिर भी "रचनात्मक" बारडोली-कार्यक्रमके संकुचित और कठोर संगठनको तोड़नेमें सहायक हो सकती है। मुझे लगता है कि यह कार्यक्रम कुछ भी रचना नहीं कर रहा और असहयोगको अपने-आपमें साधनकी अपेक्षा कहीं अधिक साध्य मानकर उसकी जड़-पूजा कर रहा है। चित्तरञ्जनकी प्रबल प्रेरणा इस कार्यक्रमके ढांचेको तोड़कर सच्चे स्वराज्यको तैयार करनेके लिये आवश्यक विशाल और जटिल कार्यके हित अधिक अनुकूल अवस्थाएं उत्पन्न करनेमें सहायता दे सकती है। दूसरे, उनमें मेरी रुचि इसलिये पैदा हुई कि वे कितने अधिक वेगसे उनमेंसे अनेक विचारोंको विकसित करते दिखाई देते हैं जिन्हें मैंने चिर-कालसे अपने मनमें भविष्यके मूलतत्त्वोंके रूपमें स्थान दे रखा है। इस पत्रमें मैंने जो कुछ लिखा है उसका यदि वे व्यक्तिगत रूपसे प्रयोग करें तो मुझे उसमें कोई आपत्ति नहीं। पर मुझे आशा है कि इससे वे समझ जायंगे कि क्यों इसका प्रकाशन मुझे वांछनीय नहीं प्रतीत होता।

अरविन्द

द्वितीय भाग

श्रीअरविन्द अपने तथा माताजीके विषयमें

विभाग एक
क्रमविकासके नेता

क्रमविकासके नेता

श्रीअरविन्द और माताजी — अवतार-स्वरूप

प्र०— हमारा विश्वास है कि आप और श्रीमां दोनों अवतार हैं। पर क्या केवल इस जीवनमें ही आप दोनोंने अपना भागवत स्वरूप दिखाया है? कहा जाता है कि आप और वे इस पृथ्वीपर इसकी उत्पत्तिसे लेकर बराबर रहते आये हैं। तो फिर अपने विगत जन्मों-में आप क्या कर रहे थे?

उ०— हम क्रमविकासका कार्य चला रहे थे।

* * *

प्र०— इतने संक्षिप्त कथनको समझनेमें मुझे कठिनाई अनुभव होती है। क्या आप इसे खोलकर नहीं समझा सकते?

उ०— इसे समझानेका अर्थ होगा मानवका सम्पूर्ण इतिहास लिखना। मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि जैसे क्रमविकासको और आगेकी अवस्थामें ले जानेके लिये चेतनाके विशेष अवतरण होते हैं, वैसे ही भगवान्‌का कुछ अंश भी प्रत्येक अवस्थामें एक न एक दिशामें सहायता करनेके लिये हमेशा उपस्थित रहता है।

* * *

प्र०— हो सकता है कि भूतकालमें मानवजातिके जनसाधारणने अपने बीच आपकी उपस्थितिको न पहचाना हो, विशेषतया तब जब आप दोनोंके व्यक्तित्व बाहरी तौरपर साधारण मनुष्योंके व्यक्तित्व-जैसे रहे हों। पर यह कैसी बात है कि श्रीकृष्ण, बुद्ध या ईसा भी इस जगत्‌में आपकी उपस्थितिको नहीं पहचान सके?

उ०— उपस्थिति कहां और किसमें? यदि वे हमें नहीं मिले तो पहचानेंगे

भी नही, और यदि वे हमें मिले भी हों तो भी कोई कारण नहीं कि माताजी और मैं अपने इन व्यक्तित्वोंपर पड़ा पर्दा हटाकर इनके पीछे स्थित भगवान्‌को दरशा दें। वे जीवन किसी ऐसे प्रयोजनके लिये अभिप्रेत नहीं थे।

* * *

प्र०— यदि आप सब समय बराबर इस भूतलपर रहे तो इसका अर्थ हुआ कि जब वे महान् व्यक्ति अवतरित हुए तब भी आप यहां थे। आपका बाहरी वेष कोई भी क्यों न रहा हो, आप-अपने आन्तर आत्मा —सच्चे देवत्व—को उनसे कैसे छुपा सकते थे? इस बातका कुछ भी महत्त्व नहीं हो सकता था कि आप और उनमेंसे कोई एक ही देशमें पैदा हुए या नहीं। उन्हें अपनी उच्चतर ज्योतिसे ढूँढ़ लेना चाहिये था, कि जिस भागवत चेतनासे वे अवतीर्ण हुए हैं वह भौतिक विग्रहमें पहलेसे ही यहां है।

उ०— पर ऐसे जीवनोंमें आन्तर आत्मा सबसे छुपा क्यों नहीं रह सकता? तुम्हारे तर्कमें केवल तभी कुछ बल होगा यदि उस समय पृथ्वीपर भागवत उपस्थिति अवतारके रूपमें रही हो, किन्तु तब नहीं यदि वह केवल विभूतिके रूपमें रही हो।

* * *

प्र०— आपने पूछा है, "उपस्थिति कहां और किसमें?" आपने ये प्रश्नात्मक शब्द क्यों प्रयुक्त किये हैं? इनका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

उ०— ... "उपस्थिति" किसी व्यक्तिमें या उसके पीछे और किसी बाह्य व्यक्तित्वके पीछे होती है। और फिर "उपस्थिति" जगत्‌के किस भागमें? यदि बुद्धके समय माताजी रोममें थीं तो बुद्ध उन्हें कैसे जान सकते थे क्योंकि उन्हें तो रोमके अस्तित्वतकका पता नहीं था?

* * *

प्र०— मेरा मतलब यह नहीं था कि आपको या माताजीको अपने परसे पर्दा हटानेकी आवश्यकता थी। उन महान् पुरुषोंको ही पर्देके रहते हुए भी आपको पहचान लेना चाहिये था।

उ०— ऐसी चीजोंको जाने बिना भी व्यक्ति महान् पुरुष हो सकता है। महान् पुरुषों या यहांतक कि महान् विभूतियोंके लिये भी यह जरूरी नहीं कि वे सर्वज्ञ हों या उन वस्तुओंको जानें जिन्हें जानना उनके लिये उपयोगी नहीं।

* * *

प्र०— आपने कहा था, "पर क्यों आन्तर आत्मा ऐसे जीवनोंमें सबसे छुपा नहीं रह सकता?" मैं यह समझनेमें असमर्थ हूँ कि कैसे कोई अवतारों और विभूतियोंसे अपने आन्तर आत्माको छुपा सकता है।

उ०— अवतार या विभूतिको अपने कर्मके लिये आवश्यक ज्ञान होता है, उससे अधिक होना आवश्यक नहीं। इसमें तनिक भी कारण नहीं कि बुद्धको यह पता होना चाहिये था कि रोममें क्या हो रहा है। अवतार भी भगवान्‌की संपूर्ण सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ताको प्रकट नहीं करता; वह ऐसे किसी अनावश्यक प्रदर्शनके लिये नहीं आया होता; वह सब उसके पीछे होता है पर उसकी चेतनाके अग्रभागमें नहीं। जहांतक विभूतिकी बात है, उसे यह भी जाननेकी जरूरत नहीं कि वह भगवान्‌की शक्ति है। कुछ विभूतियां, उदाहरणार्थ, जूलियस सीज़र आदि नास्तिक रहे हैं। स्वयं बुद्ध वैयक्तिक ईश्वरमें विश्वास नहीं रखते थे, उनका विश्वास केवल किसी निर्वैयक्तिक एवं अवर्णनीय 'नित्य' सत्तामें था।

* * *

प्र०— एक बात मैं अभीतक नहीं समझ पाया: भले ही आपने अपने ऊपरका पर्दा न उतार फेंका हो, कैसे बुद्ध या ईसा-जैसे व्यक्ति आपको पहचाननेके लिये अपना (अज्ञानका) पर्दा उतार फेंकनेके लिये कुछ नहीं कर पाये?

उ०— वे ऐसा करें ही क्यों? पर्दा तो उनके कामके लिये आवश्यक था। उसे

क्यों उतार फेंका जाय ? इसी प्रकार यदि माताजी ईसाके जीवन-कालमें विद्य-मान थीं, तो वे यहां भागवत अभिव्यक्तिके रूपमें नहीं वरन् सर्वथा मानवीय अभिव्यक्तिके रूपमें उपस्थित थीं। उनके लिये भगवान्‌के रूपमें पहचाना जाना एक भीषण अव्यवस्था उत्पन्न कर देता और ईसा जो कार्य करने आये थे उसकी समुचित सीमाएं तोड़कर उसे विफल ही कर देता।

* * *

प्र०— आपने सुना ही होगा कि ईसाके जन्मसे किंचित् पूर्व भारतके कुछ ऋषियोंने भागवत अवतरण होनेकी बात जान ली थी और अपने अन्तर्ज्ञानके बलपर ही वे यरुशलमकी ओर चल पड़े थे, यद्यपि उन्हें यह भी मालूम नहीं था कि यरुशलम क्या और कहां है।

उ०— भारतसे ऋषियोंके उधर जानेकी बात मैंने कभी नहीं सुनी। एक दन्त-कथा है कि कुछ मेजाइ (Magi) को अन्तःस्फुरणा हुई कि भूतलपर दिव्य जन्म हो गया है और तब उन्होंने एक नक्षत्रके मार्गका अनुसरण किया जो उन्हें उस अस्तबलमें ले गया जहां ईसाका जन्म हुआ था। पर यह दन्तकथा है, इति-हास नहीं।

* * *

प्र०— जब आप और माताजी आदिकालसे निरन्तर पृथ्वीपर रहे तो फिर अवतारोंके यहां एक-के-बाद एक आनेकी आवश्यकता ही क्या थी ?

उ०— हम पृथ्वीपर अवतारोंके रूपमें नहीं थे।

* * *

प्र०— आप कहते हैं कि आप दोनों अवतारोंके रूपमें पृथ्वीपर नहीं थे। और फिर भी आप क्रमविकासका संचालन कर रहे थे। जब स्वयं भगवान् क्रमविकासका संचालन करते हुए पृथ्वीपर विद्यमान थे तो फिर अवतारोंके, जो स्वयं उन्हींके अंश हैं, पृथ्वीपर आनेकी

आवश्यकता ही क्या थी ?

उ०— जब कोई विशिष्ट कर्म करना हो तब और क्रमविकासके सन्धिक्षणोंमें अवतारकी आवश्यकता होती है। अवतार एक विशिष्ट आविर्भाव होता है जब कि शेष समयमें भगवान् साधारण मानव मर्यादाओंके अधीन विभूतिके रूपमें कार्य कर रहे होते हैं।

२५-९-१९३५ — २५-७-१९३६

अभिव्यक्तिका रहस्य

प्र०— माताजीने लिखा है: 'अपने दैनिक कार्य-व्यवहारमें हम भागवत अभिव्यक्तिके महान् रहस्यको व्यक्त करनेका यत्न कर रहे हैं।" इसका क्या मतलब है ?

उ०— इसका मतलब है, हम जो कुछ कर रहे हैं, उसका कारण यह है कि हम इस बातको सत्य मानते हैं कि भगवान् मानव शरीरमें प्रकट हो सकते हैं और हुए हैं।

सर्वोच्च अनुभूति और प्रयत्न

प्र०— जब एक बार हम यह परम रहस्य (उत्तम रहस्यम्) जान जाते हैं कि आप मूर्तिमंत भगवान् हैं और माताजी पराशक्ति, तो फिर अन्य अनुभूतियोंके लिये प्रयत्न करनेकी उपयोगिता ही क्या ? यही, मेरी समझमें, सर्वोच्च अनुभूति है और अन्य सभी — वैश्व चेतनाकी, या अन्तर्यामी भगवान्‌की उपस्थितिकी, अथवा यहांतक कि शान्त अक्षर ब्रह्मकी अनुभूति — इसकी तुलनामें निम्न-कोटिकी या गौण हैं। जगत्में जो कुछ भी करना है वह भी आपके या माताजीके द्वारा ही किया जायगा और दूसरा कोई कदाचित् उस कार्यका यन्त्र भी नहीं।

उ०— हां, किन्तु यह अनुभूति अपनी परिपूर्णता-सहित एक सतत अनुभूति हो इसके लिये वैसा ही प्रयत्न करनेकी जरूरत है और यदि वह किया जाय तो

प्रधान अनुभूतिके अंगोंके रूपमें अपने साथ अन्य अनुभूतियां भी लायगा।
३०-१०-१९३६

वैयक्तिक भगवान्की अभिव्यक्ति

यह आश्चर्यकी बात है कि तुम ऐसी सीधी और परिचित बातको न समझ पाओ; क्योंकि इस योगका सम्पूर्ण तर्क ही सदा यह रहा है कि केवल निर्वैयक्तिक ब्रह्मका अनुसरण करनेसे आन्तरिक अनुभूति अथवा, अधिक-से-अधिक, मुक्ति प्राप्त होती है और समग्र भगवान्की क्रियाके विना सम्पूर्ण प्रकृति का परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि ऐसी बात न होती, तो श्रीमाताजी यहां न होतीं और यदि निर्वैयक्तिक ब्रह्मका अनुभव ही पर्याप्त होता तो मैं यहां न होता।
१५-९-१९३६

मानवसे मिलनेके लिये भगवान्का अपने-आपको छिपाना

प्र०— मुझे ऐसा लगता है कि यदि माताजीकी देह-चेतनामें अति-मानस प्रतिष्ठित नहीं हुआ है तो इसका कारण यह नहीं कि वे भी हमारी तरह इसके लिये तैयार नहीं हैं, बल्कि यह कि इसे प्रतिष्ठित करनेके लिये उन्हें पहले साधकों तथा पृथ्वीके स्थूल शरीरको कुछ हदतक तैयार करना है। परन्तु कुछ लोग इस बात-को गलत रूपमें ग्रहण करते हैं; वे मानते हैं कि अतिमानस माताजीके शरीरमें इस कारण प्रतिष्ठित नहीं हुआ है कि अभीतक उन्हें पूर्णता नहीं प्राप्त हुई। क्या मेरा कहना ठीक है?

उ०— निःसंदेह। यदि हम आरम्भसे ही भौतिक तौरपर अतिमानसमें रहते तो कोई भी आदमी हमारे पास न पहुँच सकता और न कोई साधना ही हो पाती। हमारे तथा संसार और मनुष्योंके बीच सम्पर्क स्थापित होनेकी कोई आशा ही न होती। यहांतक कि जैसी अवस्था अब है उसमें भी माताजीको सदा अपनी चेतनामें रहनेके बजाय साधकोंकी निम्नतर चेतनाकी ओर उतरना पड़ता है, अन्यथा वे कहने लगते हैं "ओह, आप कितनी दूर, कितनी कठोर हैं; आप मुझसे प्रेम नहीं करतीं, मुझे आपसे कोई सहायता नहीं मिलती, आदि-आदि।" मानवसे मिलनेके लिये भगवान्को अपने-आपको छिपाना पड़ता है।

अभिव्यक्तिकी तैयारी

हां, अवश्य । जो कुछ किया जा रहा है उसका उद्देश्य है पृथ्वी-चेतनामें, ठेठ जड़तत्त्वतकमें, अतिमानसकी अभिव्यक्तिके लिये तैयारी करना। अतएव यह सब केवल मेरी या माताजीकी देहके लिये ही नहीं हो सकता।

क्रमविकासके नेता

यदि वह (अतिमानस) हमारी देहमें अवतरित हो तो इसका अर्थ यह होगा कि वह जड़तत्त्वमें उतर आया है और कोई कारण नहीं कि वह साधकोंमें अभिव्यक्त न हो।

१५-६-१६३५

युग-युग-व्यापी कार्य

प्र०– अपनी पुस्तक "मातृवाणी" (conversation) में माताजी कहती हैं: "हम सभी गत जीवनोंमें मिल चुके हैं......और युग-युगमें भगवान्‌की विजयके लिये कार्य कर चुके हैं।" क्या यह उन सब लोगोंके बारेमें सत्य है जो यहां आते तथा रहते हैं? उन सब लोंगोंके बारेमें क्या कहा जायगा जो आये और चले गये?

उ०– जो चले गये वे भी इन्हींमेंसे थे और अब भी इसी दलके हैं। अस्थायी बाधाएं अन्तरात्माकी खोजके मूल सत्यमें कोई अन्तर नहीं डालतीं।

१८-६-१६३३

* * *

प्र०– किस प्रकार हम सबने "युग-युगमें भगवान्‌की विजयके लिये कार्य किया है?" अबतक कितना कार्य सम्पन्न हुआ है?

उ०– विजयका अभिप्राय है धरतीपर देहधारी चेतनाका अज्ञानके बन्धनसे अन्तिम छुटकारा पाना। इसके लिये युग-युगमें आध्यात्मिक विकासके द्वारा तैयारी करनेकी आवश्यकता थी। स्वभावतः ही, अबतकका कार्य तैयारीके

रूपमें ही रहा है जिसका परिणाम है अतीतका सुदीर्घ आध्यात्मिक प्रयास तथा अनुभव। वह अब ऐसे बिन्दुपर पहुँच गया है जहां निर्णायक प्रयत्न करना सम्भव हो गया है।

१८-६-१९३३

विभाग दो

श्रीअरविन्द और माताजीकी चेतनाकी अभिन्नता

श्रीअरविन्द और माताजीकी चेतनाकी अभिन्नता

चेतना और पथकी अभिन्नता

माताजीकी चेतना और मेरी चेतनाके बीचका विरोध पुराने दिनोंका आविष्कार था (जिसके कारण मुख्यतया 'क्ष', 'त्र' तथा उस समयके अन्य व्यक्ति थे)। यह विरोध उस समय पैदा हुआ जब आरम्भमें यहां रहनेवाले लोगोंमेंसे कुछ एक माताजीको पूर्ण रूपसे नहीं पहचानते थे या उन्हें स्वीकार नहीं करते थे। और फिर उन्हें पहचान लेनेके बाद भी वे इस निरर्थक विरोधपर अड़े रहे और उन्होंने अपने-आपको और दूसरोंको बड़ी हानि पहुँचाई। माताजीकी और मेरी चेतना एक ही है, एक ही भागवत चेतना दोनोंमें है, क्योंकि लीलाके लिये यह आवश्यक है। माताजीके ज्ञान और बलके विना, उनकी चेतनाके विना कुछ भी नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति सचमुच उनकी चेतनाको अनुभव करता है तो उसे जानना चाहिये कि उसके पीछे मैं उपस्थित हूँ और यदि वह मुझे अनुभव करता है तो वैसे ही माताजी भी मेरे पीछे उपस्थित होती हैं। यदि इस प्रकार भेद किया जाय (उन लोगोंके मन इन चीजोंको इतने प्रबल रूपमें जो आकार दे देते हैं उन्हें तो मैं एक ओर ही छोड़ देता हूँ), तो भला सत्य अपनेको कैसे स्थापित कर सकता है—सत्यकी दृष्टिसे ऐसा कोई भेद नहीं है।

१३-११-१९३४

* * *

श्रीमाताजीकी चेतना दिव्य चेतना है और उससे जो ज्योति आती है वह दिव्य सत्यकी ज्योति है। जो मनुष्य माताजीकी ज्योतिको ग्रहण करता, स्वीकार करता और उसमें निवास करता है, वह मनोमय, प्राणमय और अन्नमय आदि सभी स्तरोंपर सत्यको देखना आरम्भ कर देता है। जो कुछ अदिव्य है उस सबका वह त्याग करता है—और अदिव्य है मिथ्यापन, अज्ञान, अन्धकारकी शक्तियोंकी भूल-भ्रांति; वह सब कुछ अदिव्य है जो अंधकारपूर्ण है और दिव्य सत्य और उसकी ज्योति और शक्तिको स्वीकार करनेके लिये इच्छुक नहीं है। अतएव अदिव्य वह सब कुछ है जो श्रीमांकी ज्योति और शक्तिको स्वीकार करना नहीं चाहता। यही कारण है कि मैं बराबर ही तुमसे कहता रहता

हूँ कि तुम श्रीमांके साथ और उनकी ज्योति और शक्तिके साथ संस्पर्श बनाये रखो। क्योंकि केवल ऐसा करनेपर ही तुम इस गोलमाल और अंधकारसे बाहर निकल सकते हो और ऊपरसे आनेवाले सत्यको ग्रहण कर सकते हो।

जब हम एक विशेष अर्थमें मांकी ज्योति या मेरी ज्योतिकी बात कहते हैं तब हम एक विशिष्ट गुह्य क्रियाकी बात कहते हैं—हम किन्हीं ऐसी ज्योतियोंकी बात कहते हैं जो अतिमानससे आती हैं। इस क्रियामें श्रीमांकी ज्योति श्वेत होती है जो पवित्र बनाती, आलोकित करती, सत्यके समस्त सारतत्त्व और शक्तिको नीचे लाती और रूपान्तरको सम्भव बनाती है। परन्तु सच पूछा जाय तो जो ज्योतियां ऊपरसे, उच्चतम दिव्य सत्यसे आती हैं वे सब-की-सब श्रीमांकी ही हैं।

श्रीमां और मेरे पथमें कोई अन्तर नहीं है; हमारा पथ एक ही है और सदा एक ही रहा है—यह वह पथ है जो अतिमानसिक परिवर्तन और दिव्य सिद्धितक ले जाता है; हमारा पथ केवल अन्तमें ही एक नहीं है, बल्कि वह आरम्भसे ही एक रहा है।

श्रीमांको एक ओर और मुझे दूसरी ओर एक-दूसरेके विरुद्ध या एकदम भिन्न पक्षमें रखकर एक विभेद और विरोध खड़ा करनेकी चेष्टा करना सदा ही मिथ्यापनकी शक्तियोंकी एक चालबाजी रही है और वे इसे उस समय प्रयुक्त करती हैं जब वे साधकको सत्यपर पहुँचनेसे रोकना चाहती हैं। ऐसे सभी मिथ्यापनोंको अपने मनसे बाहर निकाल दो।

जान लो कि श्रीमांकी ज्योति और शक्ति सत्यकी ज्योति और शक्ति है; बराबर श्रीमांकी ज्योति और शक्तिके साथ सम्पर्क बनाये रखो, केवल तभी तुम दिव्य सत्यमें बढ़ सकते हो।

१०-९-१९३१

* * *

जो कुछ भी साधक माताजीसे प्राप्त करता है, वह मुझसे भी आता है—इसमें कुछ भी भेद नहीं है। इसी प्रकार यदि मैं कोई चीज देता हूँ तो वह माताजीकी शक्तिके द्वारा ही साधकके पास पहुँचती है।

२०-८-१९३६

तुम समझते हो कि श्रीमां तुम्हें कोई मदद नहीं दे सकतीं।....अगर उनकी सहायतासे तुम्हें कोई लाभ नहीं हो सकता तो फिर मेरी सहायतासे तुम्हें उससे भी कहीं कम लाभ मिलेगा। पर, कुछ भी हो, मैं अपनी उस व्यवस्थामें, जिसे मैंने विना किसी अपवादके सभी शिष्योंके लिये बनाया है, कोई भी हेरफेर नहीं करना चाहता। वह व्यवस्था यह है कि साधकोंको श्रीमांसे ही ज्योति और शक्ति ग्रहण करनी चाहिये, सीधे मुझसे नहीं, और अपनी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये पथप्रदर्शन भी उन्हींसे ग्रहण करना चाहिये। यह व्यवस्था मैंने किसी सामयिक उद्देश्यसे नहीं की बल्कि इस कारण की है कि (यह देखते हुए कि माताजी क्या हैं और उनकी शक्ति क्या है) यही एक तरीका है जो सच्चा और फलप्रद है, बशर्ते कि शिष्य बराबर खुला रहे और ग्रहण करता रहे।

* * *

माताजी और मैं एक ही शक्तिके दो रूपोंके प्रतिनिधि हैं — अतएव तुम्हें स्वप्न में जो अनुभव प्राप्त हुआ वह पूर्णतः युक्तिसंगत था। ईश्वर-शक्ति किंवा पुरुष-प्रकृति केवल एकमेव भगवान् (ब्रह्मन्) के दो पक्ष हैं।

१९३३

* * *

मेरी तथा माताजीकी एकात्मताका अनुभव (यह अनुभव कि हम एक ही हैं) जो दो मूर्त्तियोंके घुल-मिलकर एक हो जानेके रूपमें प्रकट हुआ है, एक अत्यन्त सामान्य अनुभव है।

४-११-१९३५

* * *

प्र०— अन्तर्दर्शनोंमें दृष्ट प्रकाशोंकी क्रीड़ासे मुझे बारंबार जो संकेत प्राप्त हुए हैं उनके कारण मुझे यह गहरा अनुभव हो रहा है कि श्रीअरविन्द और माताजी एक ही हैं, यद्यपि हम उन्हें भिन्न-भिन्न शरीरोंमें देखते हैं। क्या मेरा यह अनुभव ठीक है?

उ०– हां।

२५-४-१९३३

* * *

स्वप्न इस बातका सूचक था कि माताजी और मैं क्या हैं तथा किस चीजके प्रतिनिधि हैं — मेरी समझमें इससे अधिक कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं। यह इस बातको सूचित करता है कि जिस चीजके हम प्रतिनिधि हैं उसकी परिपूर्त्ति है भागवत प्रेम और आनन्द।

१९३३

* * *

माताजी और मैं एक ही हैं पर दो शरीरोंमें; यह आवश्यक नहीं कि दोनों शरीर सदा एक ही काम करें। इसके विपरीत, क्योंकि हम एक ही हैं, एकका ही हस्ताक्षर करना बिलकुल पर्याप्त है, जिस प्रकार प्रणाम ग्रहण करने या ध्यान करानेके लिये एकका ही नीचे जाना सर्वथा पर्याप्त है।

* * *

प्र०– आपकी और माताजीकी क्रियामें शक्ति या प्रभावकी दृष्टिसे कोई भेद है या होगा क्या ?

उ०– नहीं, वह एक ही शक्ति है।

२३-५-१९३३

प्र०– हम श्रीअरविन्दको लिखें या माताजीको, क्या यह एक ही बात है ? कुछ लोग कहते हैं कि दोनों एक ही हैं, इसलिये चाहे हम श्रीअरविन्दको लिखें या माताजीको हम माताजीकी ओर खुले होते हैं; क्या यह ठीक है ?

उ०– यह सत्य है कि हम दोनों एक ही हैं, पर सम्बन्धका अस्तित्व भी है, जिसके कारण यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति माताजीकी ओर खुला हो।

* * *

प्र०— क्या यह हो सकता है कि एक व्यक्ति जो श्रीअरविन्दकी ओर खुला है माताजीकी ओर खुला न हो? क्या यह बात ठीक है कि जो कोई भी माताजीकी ओर खुला हो वह श्रीअरविन्दकी ओर-भी खुला है?

उ०— माताजीवाली स्थापना (व्याप्ति) ठीक है। यदि कोई श्रीअरविन्दकी ओर तो खुला है माताजीकी ओर नहीं, तो उसका अर्थ यह है कि वास्तवमें वह श्रीअरविन्दकी ओर भी खुला नहीं है।

* * *

प्र०— प्रायः ही श्रीअरविन्द कहते हैं कि व्यक्तिको माताजीकी शक्तिको शासन करने देना चाहिये। क्या इसका यह अर्थ है कि दोनोंकी शक्तियोंमें कुछ भेद है?

उ०— केवल एक ही शक्ति है, माताजीकी शक्ति — या, यदि तुम इसे यों कहना चाहो, माताजी श्रीअरविन्दकी शक्ति हैं।

माताजीकी दिव्यताका ज्ञान

प्र०— मेरा विश्वास है कि २४ नवम्बर १९२६को श्रीअरविन्दको यह साक्षात्कार हुआ कि माताजी भागवत चेतना और शक्ति हैं। केवल वे ही पृथ्वी-चेतनाको परात्परकी ओर ऊपर उठा ले जा सकती हैं और इसी लिये उन्होंने यह कार्य हाथमें लिया है। क्या ऐसा कहना ठीक हो सकता है?

उ०— नहीं। यह बात मैं बहुत पहलेसे जानता था।

२४-११-१९३५

साधनाको पूर्ण बनानेमें एक दूसरेकी सहायता

यौगिक या आध्यात्मिक जीवनमें किसी व्यक्तिकी अतीत कथाका ज्ञान कुछ विशेष संगति नहीं रखता; हमें उसकी आध्यात्मिक उपलब्धियोंको ही देखना

होता है।

माताजी श्रीअरविन्दसे परिचय होने या मिलनेसे पहले ही योग कर रही थीं; पर उनकी साधना-पद्धतियां स्वतन्त्र रूपसे एक ही मार्गका अनुसरण कर रही थीं। जब उनकी भेंट हुई तो उन्होंने एक दूसरेको साधनाके पूर्ण बनानेमें सहायता दी। जो योग 'श्रीअरविन्दका योग' के नामसे प्रसिद्ध है वह श्रीअरविन्द और माताजीकी संयुक्त रचना है; अब वे दोनों पूर्ण रूपसे एक हो गये हैं— आश्रममें साधनाके लिये मार्गदर्शन और आश्रमकी सम्पूर्ण व्यवस्था सीधे माताजी ही करती हैं, श्रीअरविन्द उन्हें पीछेसे सहायता देते हैं। जो भी यहां योग-साधनाके लिये आते हैं उन सबको अपने-आपको माताजीके प्रति समर्पण करना होता है और तब माताजी उन्हें सदा सहायता देती तथा उनके आध्यात्मिक जीवन-का निर्माण करती हैं।

माताजीके आनेसे पूर्वकी साधना

यह स्पष्ट नहीं है कि 'मेरे पथपर बैठे होने' से तुम्हारे गुरु का क्या अभिप्राय था। १९१५से १९२०के बीचके समयके बारेमें यह कथन सत्य हो सकता था जबकि मैं 'आर्य'के लिये लिख रहा था और साधना तथा कार्य माताजीके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। जहांतक साधनाका सम्बन्ध है, १९२३ या १९२४में मुझे पथपर बैठा हुआ नहीं कहा जा सकता था, परन्तु यह कार्यके बाह्य स्वरूपके तबतक तैयार न होनेको सूचित करनेके लिये शायद एक उपमा या प्रतीकमात्र हो सकता है। एक और योगीने भी लगभग इन्हीं शब्दोंमें वक्तव्य दिया था कि मैं इतना ऊंचा चला गया हूँ कि जगत्‌में कार्य करनेके लिये वापस नीचे नहीं उतर सकता। वह बात मेरी उस समयकी स्थितिकी ओर संकेत करती थी और उसे इससे अधिक कुछ नहीं समझा जा सकता।

१६-९-१९३५

* * *

प्र०— सुना है 'क्ष' ने 'य' को कहा है कि १९२६में माताजीके काम हाथमें लेनेसे पहले यहां जो पुराने साधक थे उन्हें वैश्व चेतनाके अनेक अनुभव प्राप्त हुए थे और साधना आजकी अपेक्षा अधिक अच्छी तथा अधिक गम्भीर थी। यह कहांतक सत्य है?

उ०– माताजीके आनेसे पहले सभी मनमें निवास कर रहे थे, उन्हें केवल कुछ मानसिक उपलब्धियां एवं अनुभूतियां ही हुई थीं। प्राण तथा अन्य सब कुछ असंस्कृत था और चैत्य था पर्देके पीछे। मुझे नहीं मालूम कि उनमेंसे कोई उस समय वैश्व चेतनामें प्रविष्ट हुआ था। उन दिनों मैं अभी रूपान्तर तथा अतिमानसमें प्रवेश करनेके लिये (योगके उस सब भागके लिये जो साधारण वेदांतसे परे जाता है) मार्ग खोज रहा था और यहां जो थोड़ेसे साधक थे उनके साथ कुछ 'छूट देने'के सिद्धांतपर ही व्यवहार करता था। 'क्ष' उनमेंसे एक है जिन्होंने उस 'छूट'के लिये दुःख करना कभी बन्द नहीं किया है— उस समय उन्हें जो प्राणिक स्वाधीनता प्राप्त थी तथा अनुशासनका अभाव था, उसके लिये वह दुःख करता है।

२७-७-१९३४

* * *

प्र०– किसीने मुझे बताया है: "इसके पूर्व कि श्रीअरविन्दने हमें माताजीको हमारे गुरुके रूपमें दिया, वे हमें योगके विषयमें कभी भी कुछ नहीं सिखाया करते थे। वे हमसे अपने ही ज्ञानका अनुसरण करनेको कहा करते थे।" क्या आपने सचमुचमें यह सलाह दी थी?

उ०– मुझे इस बातका ध्यान नहीं। परन्तु अब भी माताजी सिखाती नहीं, वे सभीको खुलने और ग्रहण करनेके लिये कहती हैं। पर वे लोगोंसे यह नहीं कहतीं और मेरी समझमें मैंने भी उनसे यह नहीं कहा था कि अपने ही "ज्ञान" का अनुसरण करो।

२६-४-१९३३

विभाग तीन

मार्गान्वेषकोंकी कठिनाइयां

मार्गान्वेषकोंकी कठिनाइयां

कठिन मार्ग

इस योगको किसीने भी ग्राण्ड ट्रंक रोड नहीं अनुभव किया है, न तो 'क' और न 'ख' ने, यहांतक कि न मैंने और न माताजीने भी। इस तरहके सब विचार रोमांचक भ्रम ही हैं।

अगस्त १९३५

मानवताका भार

हम ऐसे कष्टों और संघर्षोंमेंसे गुजर चुके हैं जिनके सामने तुम्हारा कष्ट और संघर्ष बच्चेका खेलमात्र है; मैंने अपनी अवस्थाको तुम्हारी अवस्थाके समान नहीं बताया है। मैंने कहा कि अवतार वह है जो मानवताके लिये उच्चतर चेतनाका मार्ग खोलने आता है। यदि कोई भी मनुष्य उस मार्गपर न चल सके, तो या तो हमारी इस विषयकी कल्पना, जो ईसा, कृष्ण और बुद्धकी भी कल्पना है, पूर्ण रूपसे गलत है अथवा अवतारका सम्पूर्ण जीवन और कार्य ही सर्वथा निरर्थक है। मालूम होता है 'क' यह कहता है कि अवतारका अनु-सरण करनेका कोई रास्ता नहीं है और न यह सम्भव ही हो सकता है, और अवतारके कष्ट तथा संघर्ष मिथ्या और बिलकुल ढोंग हैं — भगवान्‌के प्रतिनिधि के लिये संघर्षका होना सम्भव ही नहीं है। ऐसी धारणा अवतारवादके सम्पूर्ण विचारको ही मूर्खतापूर्ण बना देती है; तब इसका कोई औचित्य नहीं रहता, कोई आवश्यकता एवं कोई अर्थ नहीं रहता। भगवान् सर्वशक्तिमान् होनेके कारण भूतलपर उतरनेका कष्ट उठाये बिना भी लोगोंको ऊपर उठा सकते हैं। अवतारवादका कोई अर्थ तो तभी हो सकता है यदि भगवान्‌का मानवताके भारको अपने ऊपर लेना तथा मार्गको खोलना विश्व-व्यवस्थाका एक अंग हो।

७-३-१९३५

* * *

तुम कहते हो कि यह मार्ग तुम्हारे लिये या तुम-जैसोंके लिये अत्यन्त कठिन है और केवल मुझ-जैसे या माताजी-जैसे "अवतार" ही इसपर चल सकते

हैं। यह एक अजीब-सी गलत धारणा है; क्योंकि इसके विपरीत, यह अत्यन्त सुगम, अत्यन्त सरल तथा अत्यन्त सीधा मार्ग है और कोई भी आदमी इसपर चल सकता है यदि वह अपने मन तथा प्राणको शान्त कर ले...। जिन लोगोंमें तुमसे दसवां हिस्सा सामर्थ्य है वे इसपर चल सकते हैं। दूसरा, जो खिचाव-तनाव और आयास-प्रयास तथा कठोर प्रयत्नका पथ है वही कठिन होता है और उसके लिये तपस्याकी महान् शक्तिकी आवश्यकता होती है। जहांतक माताजीका और स्वयं मेरा सम्बन्ध है, हमें सभी मार्गोंका परीक्षण करना, सभी विधियोंका अनुसरण करना पड़ा है और कठिनाइयोंके पहाड़ोंको पार करना पड़ा है; तुम्हारी अपेक्षा या आश्रमके या बाहरके और किसी भी व्यक्ति-की अपेक्षा कहीं अधिक भारी बोझ उठाना, कहीं अधिक विकट परिस्थितियों और युद्धोंका सामना करना, आघातोंको सहना, दुर्भेद्य दलदल, मरुस्थल और जंगलको चीरकर रास्ता बनाना और शत्रुओंके दलोंको जीतना पड़ा है— ऐसा काम करना पड़ा है जो, निःसंदेह, हमसे पूर्व और किसीको भी नहीं करना पड़ा। कारण, हमारे जैसे कार्यमें मार्गके नायकका काम केवल इतना ही नहीं है कि वह भगवान्‌को नीचे उतारे या उनका प्रतिनिधित्व करे और उन्हें मूर्त्ति-मान् करे, वरन् यह भी है कि वह मानवताके ऊपर उठनेवाले तत्त्वका प्रति-निधित्व करे, मानवजातिका भार पूरा-पूरा वहन करे और इस मार्गकी समस्त बाधा, कठिनाई और विरोधको, और पराजित, कुंठित तथा केवल धीरे-धीरे विजयी होनेवाले संघर्षको केवल लीलाके भावमें ही नहीं, बल्कि कठोर यथार्थता-के साथ अनुभव करे। परन्तु यह आवश्यक नहीं और न यह वांछनीय ही है कि यह सब कुछ दूसरोंके अनुभवमें भी नये सिरेसे पूराका पूरा दुहराया जाय। चूंकि हमें पूर्ण अनुभव है इसलिये हम दूसरोंको अधिक सीधा और अधिक सरल मार्ग दिखा सकते हैं—यदि वे केवल इसका अवलम्बन करना स्वीकार करें। बड़े भारी मूल्यपर प्राप्त अपने अनुभवके कारण ही हम तुमसे तथा दूसरों-से बलपूर्वक कह सकते हैं, "आन्तरात्मिक वृत्ति धारण करो, सरल प्रकाशमय पथका अनुसरण करो जिसमें भगवान् तुम्हें प्रकट और गुप्त रूपसे धारण किये रहते हैं। अभी चाहे वे गुप्त रूपमें ही आश्रय दें पर वे यथासमय अपनेको प्रकाशित भी करेंगे,—कठिन, कंटकाकीर्ण, वक्र, विषम पथपर मत अड़े रहो।"

५-५-१९३२

ज्योतिर्मय पथका निर्माण

प्राचीन योगी और जिज्ञासु जिस वस्तुके लिये सर्वप्रथम प्रार्थना करते थे वह थी

शान्ति और जिस अवस्थाको वे भगवान्‌के साक्षात्कारके लिये सर्वोत्तम जतलाते थे वह थी मनकी अचंचलता एवं निश्चल-नीरवता—और इससे सदा ही शान्ति प्राप्त होती है। प्रसन्न और आलोकित हृदय आनन्दके लिये उपयुक्त पात्र है, और भला कौन कहेगा कि आनन्द, या जो कुछ उसके लिये तैयार करता है, भागवत मिलनमें बाधक है? जहांतक निराशाका प्रश्न है, यह निश्चय ही मार्गका एक भीषण बोझ है। व्यक्तिको कभी-कभी इसमेंसे गुजरना तो होता है जैसे "तीर्थयात्रीकी प्रगति (पिलग्रिम्स प्रोग्रेस)" की कथाके क्रिश्चियन नायकको निराशाकी दलदलमेंसे गुजरना पड़ा था। परन्तु इसको बार-बार दुहराना बाधाके सिवा और कुछ नहीं हो सकता......मुझे खूब अच्छी तरह मालूम है कि दुःख-दर्द एवं संघर्ष और घोर निराशा स्वाभाविक हैं, यद्यपि ये मार्गमें अवश्यम्भावी नहीं हैं और इनकी स्वाभाविकताका कारण यह नहीं कि ये सहायक हैं वरन् यह कि ये इस मानवीय प्रकृतिके उस अंधकार द्वारा हमपर लादी जाती हैं, जिसमेंसे संघर्ष करते हुए हमें प्रकाशकी ओर जाना है।....रामकृष्ण इस बातसे अनभिज्ञ नहीं थे कि योगका एक ज्योतिर्मय मार्ग भी है। उन्होंने शायद यहांतक कहा है कि वह अधिक शीघ्र पहुँचानेवाला तथा अधिक अच्छा मार्ग है।

यह मैं इसलिये नहीं कह रहा कि स्वयं मैंने ज्योतिर्मय मार्गका अनुसरण किया है। अथवा कठिनाई, कष्ट और संकटसे पीठ फेरी है। मैंने इन चीजोंका अपना पूरा हिस्सा भोगा है और माताजीने तो अपने पूरे हिस्सेसे भी दसगुना अधिक भोगा है। परन्तु इसका कारण यह था कि 'पथ' खोज निकालनेवालोंको विजयी होनेके लिये इन चीजोंका सामना करना था। ऐसी कोई भी कठिनाई नहीं जो साधकपर आ सकती हो पर हमारे मार्गमें हमारे सामने न आई हो। अनेक कठिनाइयोंके साथ तो उन्हें जीत सकनेसे पहले हमें सैकड़ों बार संघर्ष करना पड़ा है (वास्तवमें, यह भी बातको कुछ घटा करके कहना है)। बहुत-सी तो अभीतक विरोध करती हुई विद्यमान हैं मानों उन्हें तबतक रहनेका अधिकार है जबतक सम्पूर्ण पूर्णता प्राप्त न हो जाय। परन्तु दूसरोंके लिये उनकी अनिवार्य आवश्यकता हमने कभी स्वीकार नहीं की। सच पूछो तो भविष्यमें दूसरोंके लिये सुगमतर मार्ग निश्चित करनेके लिये ही हमने यह भार ढोया है। इसी उद्देश्यसे माताजीने एक बार भगवान्‌से प्रार्थना की थी कि इस पथके लिये जो भी कठिनाइयां, विपत्तियां, दुःख-कष्ट आवश्यक हों वे दूसरोंके बजाय मुझ-पर ही लादे जायं। यह अभीष्ट उन्हें वर्षोंके दैनिक तथा भीषण संघर्षोंके परिणामस्वरूप इस हदतक प्रदान किया गया है कि जो लोग उनपर पूर्ण तथा सच्चा भरोसा रखते हैं वे ज्योतिर्मय मार्गपर चलनेमें समर्थ होते हैं और जो

भरोसा नहीं रख सकते वे भी जब भरोसा कर पाते हैं तब अपने मार्गको सहसा सुगम अनुभव करते हैं और अगर वह पुनः कठिन हो भी जाता है तो वह केवल तभी जब अविश्वास, विद्रोह, अभिमान या अन्य प्रकारके अंधकार उन्हें घेर लेते हैं। ज्योतिर्मय पथ कोई एकदम काल्पनिक चीज नहीं है।

परन्तु तुम पूछोगे, जो ऐसा नहीं कर सकते उनका क्या होगा? हां, तो उन्हींके हित मैं परिमित समयके भीतर अतिमानसिक शक्तिको अवतरित करने के लिये अपने पूरे बलसे प्रयास कर रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि यह अवतरित होकर रहेगी, परन्तु मैं इसे निकट भविष्यमें उतारना चाहता हूँ और पार्थिव प्रकृतिके किसी भी अन्धकारमय प्रतिरोधके या इसे रोकनेके लिये यत्नशील आसुरी शक्तियोंके प्रचण्ड आक्रमणोंके होते हुए भी, यह शक्ति धरतीके निकट आ रही है। अतिमानस, तुम्हारी कल्पनाके अनुसार, उदासीन, कठोर और पत्थर-जैसी वस्तु नहीं है। वह अपने अन्दर भागवत प्रेमके साथ-साथ भागवत सत्यकी उपस्थितिको भी लिये रहता है और जो लोग उसे स्वीकार करते हैं उनके लिये इस लोकमें उसके प्रभुत्वका अर्थ है एक ऐसा सरल और निष्कंटक पथ जिसमें कोई दीवाल या बाधा न हो और जिसकी सुदूर आशा प्राचीन ऋषियोंको दिखाई दी थी।

अन्धकारमय पथ भी है और ऐसे बहुत लोग हैं जो, ईसाइयोंकी भांति, 'आध्यात्मिक दुःख'को मूल मन्त्र मान लेते हैं। बहुतेरे इसे विजयका अपरिहार्य मूल्य मानते हैं। किन्हीं विशेष परिस्थितियोंमें यह ऐसा हो भी सकता है, जैसे कि प्रारम्भमें कितने ही लोगोंके जीवनमें यह ऐसा रहा है, अथवा कोई व्यक्ति चाहे तो इसे अपनी पसन्दके अनुसार ऐसा बना सकता है। परन्तु तब यह मूल्य तितिक्षा, साहस या स्थिरता और लचकीलेपनके साथ चुकाना होता है। मेरा विश्वास है कि अन्धकारमय शक्तियोंके द्वारा हमपर लादी हुई अग्नि-परीक्षाएं या उनके आक्रमण यदि इस प्रकार सहन किये जाय तो वे व्यर्थ नहीं जाते। उनपर प्राप्त की गई प्रत्येक विजयके बाद एक प्रत्यक्ष प्रगति दिखाई देती है। बहुधा ये शक्तियां हमारे अन्दरकी उन कठिनाइयोंको, जिन्हें हमें पार करना है, दिखा देती और यह कहती प्रतीत होती हैं कि "तुम्हें यहां विजय प्राप्त करनी होगी।" फिर भी यह एक अति अन्धकारमय और विकट मार्ग है; किसी भी व्यक्तिको इसका अनुसरण तबतक नहीं करना चाहिये जबतक वह विवश ही न हो जाय।

कितनों ही ने भगवत्कृपापर विश्वास न कर तपस्या या अन्य किसी साधन पर भरोसा रखते हुए योग किया है। वास्तवमें भगवत्कृपापर विश्वास नहीं बल्कि उच्चतर सत्य या उच्चतर जीवनके लिये अन्तरात्माकी मांग ज्यादा

जरूरी है। जहां ऐसी मांग विद्यमान हो वहां भगवत्कृपा अवश्यमेव सहायता करेगी, फिर चाहे हम उसपर विश्वास करें या न करें। यदि तुम्हें उसपर विश्वास हो तो उससे काम शीघ्र होता है और सारी बातें आसान हो जाती हैं; यदि तुम अभी विश्वास न कर सको, तो भी अन्तरात्माकी अभीप्सा, चाहे कितनी भी कठिनाई और संघर्षके साथ क्यों न हो, अपने-आपको सार्थक सिद्ध करेगी।

प्राणिक संवेदनशीलता

प्र०– क्या प्रत्येक व्यक्तिको प्राणिक संवेदनशीलताकी अवस्थामेंसे गुजरना पड़ता है?

उ०– माताजी और मैं इसमेंसे गुजर चुके हैं। विराट्की ओर सत्ताके पूर्ण उद्घाटनमें यह अनिवार्य रूपसे आती ही है।

१७-४-१९३६

हर्षपूर्ण त्याग

प्रसंगवश, क्या तुम यह समझते हो कि माताजीने या मैंने या आध्यात्मिक जीवन अपनानेवाले दूसरे लोगोंने जीवनका आनन्द नहीं लिया था और इसी-लिये माताजी हर्षपूर्ण त्यागकी बात कह सकीं? अथवा क्या तुम यह सोचते हो कि हमने अपनी प्रारम्भिक अवस्थाएं मिश्रके विलुप्त विलासमय जीवनकी लालसामें बिताईं और बादमें ही आध्यात्मिक त्यागका आनन्द अनुभव किया? निश्चय ही हमने ऐसा नहीं किया; जिस चीजको छोड़ना हमने आवश्यक समझा उसे छोड़नेके कारण हमें तथा अन्य बहुतसे लोगोंको भी कोई कठिनाई नहीं हुई और बादमें उसकी लालसा भी नहीं हुई। तुम्हारा नियम साधारण नियमोंकी भांति एक कठोर नियम है जो किसी प्रकार भी सबपर लागू नहीं होता।

१७-१०-१९३५

स्वयं-गृहीत निर्धनताके वर्ष

[विषय — साधक-साधिकाओंके सुन्दर वस्त्र पहनने आदिके विषयमें किसीकी

आलोचना]

सिद्धिके बाद उच्चतर संकल्पकी जो मांग हो वही सर्वोत्तम है — परन्तु उससे पहले, अनासक्ति ही नियम है। अनुशासन तथा विकासके बिना स्वातंत्र्य प्राप्त करना तो विरलोंके ही भाग्यमें बदा होता है। माताजी और मैं वर्षोंतक जीवनकी स्वेच्छापूर्वक अपनाई हुई नितांत दरिद्रतामेंसे गुजरे थे।

१५-११-१९३३

मानव प्रकृतिका ज्ञान

मेरी समझमें मानव प्रकृतिके द्वन्द्वों, दुर्बलताओं तथा अज्ञानके बारेमें मैं तुम्हारे जितना तो जानता ही हूँ और उससे बहुत अधिक भी। यह विचार आश्रममें फैला हुआ प्रतीत होता है कि माताजी या मैं आध्यात्मिक तौरपर तो महान् हैं परन्तु हम प्रत्येक व्यावहारिक बातसे अनभिज्ञ हैं। यह समझना भूल है कि उच्च आध्यात्मिक स्तरपर रहनेसे मनुष्य जगत् या मानव प्रकृतिसे अनभिज्ञ या असतर्क हो जाता है। यदि मैं मानव प्रकृतिके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानता अथवा उसे विचारमें नहीं लाता, तो स्पष्ट ही, मैं रूपान्तरके कार्यमें किसीका मार्गदर्शक बननेके अयोग्य हूँ, क्योंकि यदि कोई मनुष्य मानव प्रकृतिका स्वरूप नहीं जानता, उसके व्यापारोंको नहीं देखता, अथवा देखता भी है तो उन्हें विचारमें बिलकुल नहीं लाता तो वह उसका रूपान्तर नहीं कर सकता। यदि मैं ऐसा सोचता हूँ कि मानवी स्तर अनन्त ज्योति, शक्ति, आनन्द, निर्भ्रांत संकल्प-शक्तिके स्तर या स्तरोंके समान है तो या तो मैं बिलकुल पागल हूँ या निरर्थक बकबक करनेवाला अक्षम या इतनी अतल जड़तासे युक्त मूर्ख कि बस अजायब-घरमें एक दर्शनीय चीजके रूपमें रखने लायक।

३०-४-१९३७

* * *

इस बातको समझनेके लिये तर्ककी कोई आवश्यकता नहीं — थोड़ी-सी साधारण बुद्धि ही काफी है। यदि कोई मनुष्य, वह चाहे कोई भी क्यों न हो, यह सोचता है कि अज्ञान, सीमा तथा दुःखका घर जगत् नित्य और अनन्त ज्योति, शक्ति एवं आनन्द तथा निर्भ्रांत संकल्प और बलका एक लोक है, तो वह अपनेको धोखा देनेवाले मूर्ख या पागलके सिवा और क्या हो सकता है? और तब उच्चतर स्तरोंसे उक्त ज्योति, शक्ति आदि उतारनेकी आवश्यकता ही कहां

होगी यदि वह ज्योति इस पावन धरतीपर तथा इसके नरपशुओंके मूढ़ समूहके बीच पहलेसे ही सर्वत्र कूद-फांद रही है? परन्तु शायद तुम 'क्ष' के मतके हो। भगवान् यहीं हैं, वे भला कहींसे उतर कैसे सकते हैं? भगवान् यहां हो सकते हैं, पर यहां उन्होंने अपने प्रकाशको अज्ञानान्धकारसे तथा अपने आनन्दको दुःखसे ढक रखा है; इससे मेरे विचारमें स्तरका बड़ा अन्तर हो जाता है और, यदि कोई उस आवृत ज्योति आदिमें प्रवेश कर भी ले तो भी उससे चेतनामें तो अन्तर आ जाता है किन्तु इस स्तरपर कार्य करनेवाली शक्तिमें बहुत ही कम अन्तर पड़ता है।

३-५-१९३७

ज्ञानपर आश्रित श्रद्धा

मैं तुम्हें याद दिला दूं कि मैं स्वयं बुद्धिवादी रहा हूं तथा संशयोंसे सर्वथा अन-भिज्ञ नहीं हूं। माताजी और मैं दोनोंके मनका एक पार्श्व क्रियात्मक परिणामों-के बारेमें किसी भी रसेलके समान, वरंच उससे भी कहीं अधिक प्रत्यक्षवादी तथा आग्रहशील रहा है। हम उन चमकीले विचारों और वचनोंसे कभी संतुष्ट नहीं हो सकते थे जिन्हें एक रोलां या कोई और व्यक्ति सत्यका सुनहला सिक्का समझता है। हमें अच्छी तरह मालूम है कि आन्तरिक अनुभूति और सक्रिय, बहिर्मुख एवं कार्यसाधक शक्तिमें क्या अन्तर है। सो, यद्यपि हममें श्रद्धा है, (और किसने भला अपने ध्येयमें या उसके पीछे रहकर कार्य करनेवाले परम सत्यमें श्रद्धा रखे बिना संसारमें कभी कोई बड़ा काम किया है?) तो भी हमारा आधार केवल श्रद्धा ही नहीं है, बल्कि हमारा बृहत् आधार वह ज्ञान है जिसका हम जीवनभर विकास तथा परीक्षण करते रहे हैं। मेरे विचारमें, मैं कह सकता हूं कि जितनी सूक्ष्मतासे कोई वैज्ञानिक अपने सिद्धांत या अपनी विधिको भौतिक स्तरपर परखता है उससे भी अधिक सूक्ष्मतापूर्वक मैं कितने ही वर्षोंतक दिन-रात अपने ज्ञानको परखता रहा हूं। इसी कारण मैं अपने चारों ओरके जगत्का स्वरूप देखकर नहीं घबड़ाता और न उन विरोधी शक्तियों-के प्रायः सफल होनेवाले प्रकोपसे विक्षुब्ध होता हूं जिनका क्रोध वैसे-वैसे बढ़ता ही जाता है जैसे-जैसे प्रकाश पृथ्वी तथा जड़प्रकृतिके क्षेत्रके अधिकाधिक समीप आता जाता है।

यदि मैं केवल इसकी सम्भावनामें ही नहीं बल्कि सुशक्यतामें भी विश्वास करता हूं, यदि मैं अतिमानसिक अवतरणके सम्बन्धमें व्यवहारतः निःसंदिग्ध हूं (मैं कोई तिथि नियत नहीं करता), तो इसका कारण यह है कि ऐसे विश्वास

के लिये मेरे पास आधार हैं, यह कोई हवाई विश्वास नहीं है। मैं जानता हूँ कि अतिमानसिक अवतरण अवश्यंभावी है। अपने अनुभवको दृष्टिमें रखते हुए मुझे विश्वास है कि वह काल अभी हो सकता है और होना चाहिये, किसी सुदूर युगमें नहीं...परन्तु मुझे यदि यह पता भी चलता कि यह सुदूर कालकी बात है तो भी मैं अपने पथसे न डिगता और न अपने प्रयासमें निरुत्साहित या शिथिल होता। पहले मैं निरुत्साहित हो सकता था पर 'अब'—इतना सब रास्ता तै कर चुकनेके बाद — नहीं। जब कोई सत्यके सम्बन्धमें निश्चयात्मक होता है, अथवा जब कोई अपनी खोजके लक्ष्यको एकमात्र सम्भव समाधान मानता है तब वह अविलम्ब सफलताकी शर्त नहीं रखता। वह ऐसे साहस-कार्यके प्रत्येक संकटको सर्वथा सार्थक समझकर उसका सामना करता हुआ प्रकाशकी ओर अग्रसर होता है। तथापि, तुम्हारी तरह मैं भी अभी, इसी जीवनमें इसकी प्राप्तिका आग्रह करता हूँ, किसी और जन्ममें या परलोकमें नहीं।

३०-८-१९३२

कुछ और प्रगति

मुझे भय है कि परिस्थितिके बारेमें तुम्हारा जो अध्ययन है — कम-से-कम माताजीका और मेरा तथा कर्मके भावी फलका जहांतक सम्बन्ध है — उसका मैं समर्थन नहीं कर सकता। मैं केवल इस बातसे सहमत हो सकता हूँ कि अभी हाल ही में हमने बहुत बुरे दिन काटे हैं और भौतिक तथा जड़ स्तरपर प्रबल आक्रमण हुआ है। पर ये (प्रचण्ड आक्रमण) ऐसी चीजें हैं जिनके हम गत ३० वर्षोंसे अभ्यस्त हैं और ये किसी प्रकारकी आवश्यक प्रगति करनेसे कभी नहीं रोक सके। मुझे मार्गके सम्बन्धमें कभी कोई ऐसा भ्रम नहीं हुआ है कि यह सुखद तथा सरल है। मुझे सदासे ही मालूम था कि कार्य केवल तभी सिद्ध हो सकता है जब सभी मूल कठिनाइयां उठ खड़ी हों और उनका सामना किया जाय। अतएव, चाहे स्वयं हमारी या साधकोंकी या विश्वप्रकृतिकी कठिनाइयां कितनी भी अलंघ्य क्यों न हों उनका उठ खड़ा होना मुझे न तो थका सकता है और न निरुत्साहित कर सकता है।

नहीं, मैं ऊब नहीं गया हूँ, न मैं सब कुछ छोड़ देनेको तैयार बैठा हूँ। मैंने पिछले दो या तीन महीनोंमें आंतरिक तौरपर कुछ कदम आगे बढ़ाये हैं, ऐसे कदम जो लगातार वर्षों लंबे हठपूर्ण प्रतिरोधके कारण असम्भव प्रतीत होते थे और यह कोई ऐसा अनुभव नहीं जो मुझे निराश होने और छोड़

देनेको प्रेरित करे। यदि एक ओर अत्यधिक प्रतिरोध है तो दूसरी ओर महान् प्राप्तियां भी हुई हैं—सबका सब निष्फल अन्धकारका ही दृश्य नहीं रहा है। स्वयं तुम्हें भी संदेहके दैत्यने ही रोक रखा है और ज्यों ही तुम कोई दरवाजा खोलते हो वह उसे झट बन्द कर देता है। तुम्हें बस दृढ़तापूर्वक उस राक्षसका वध करनेमें लग जाना चाहिये और तब तुम्हारे लिये द्वार खुल जायंगे जैसे वे उन बहुतसे लोगोंके लिये खुल चुके हैं जो अपनी निजी मानसिक या प्राणिक प्रकृतिके कारण रुके हुए थे।

१२-१-१६३४

बढ़ता हुआ अवतरण

यह सत्य है कि उच्चतर शक्तिका अधिकाधिक शक्तिशाली अवतरण हो रहा है। बहुतसे लोग अब माताजीके चारों ओर प्रकाश और रंग तथा उनके सूक्ष्म प्रकाशमय रूप देखते हैं—इसका मतलब है कि उनकी दृष्टि अतिभौतिककी ओर खुल रही है, यह कोई कल्पना नहीं है। जो रंग या प्रकाश तुम देखते हो वे नाना स्तरोंकी शक्तियां हैं और प्रत्येक रंग एक विशेष शक्तिका सूचक है।

अतिमानसिक शक्ति उतर रही है, परन्तु इसने शरीर या जड़तत्त्वपर अभी अधिकार नहीं किया है—अभी इस कार्यमें बहुत बाधा है। जो शक्ति जड़तत्त्व-को छू चुकी है वह तो अतिमानसीकृत अधिमानस-शक्ति है और वह किसी समय भी मूल अतिमानस शक्तिमें परिणत हो सकती है या उसे स्थान दे सकती है।

१४-६-१६३४

अवतरणकी लम्बी प्रक्रिया

मुझे नहीं मालूम कि 'क्ष' को सूचना देनेवाला कौन था, पर निश्चय ही माताजी ने यह किसीसे कभी नहीं कहा कि अतिमानस २४ नवम्बरको उतरनेवाला है। तिथियां इस प्रकार निश्चित नहीं की जा सकतीं। अतिमानसका अवतरण एक लंबी प्रक्रिया है या कम-से-कम एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे पहले लंबी तैयारीकी आवश्यकता है, और इस बीच सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि काम चल रहा है। कभी तो उसे पूरा करनेके लिये जोरका दबाव पड़ता है और कभी नीचेसे सिर उठानेवाली चीजें उसे रोक देती हैं और आगे प्रगति करनेसे पहले उन्हें ठीक करना पड़ता है। यह प्रक्रिया आध्यात्मिक विकासकी प्रक्रिया है जिसे थोड़े कालके अन्दर समेट दिया गया है। वह दूसरे प्रकारसे

(जिसे मनुष्य चमत्कारपूर्ण हस्तक्षेप समझते) केवल तभी सम्पन्न की जा सकती थी यदि मानव मन आजकी अपेक्षा अधिक नमनीय और अपने अज्ञानके प्रति कम आसक्त होता! अतिमानसके अवतरणके विषयमें हमारा जैसा ख्याल है, वह पहले कुछ थोड़ेसे लोगोंमें ही अभिव्यक्त होगा और फिर औरोंमें फैलेगा, परन्तु यह सम्भव नहीं कि वह एक ही क्षणमें सारे भूमण्डलपर छा जाय। इस विषयपर अत्यधिक वाद-विवाद करना उचित नहीं कि अतिमानस क्या करेगा और उसे किस तरह करेगा, क्योंकि ये तो ऐसी चीजें हैं जिन्हें वह अपने अन्दरके भागवत सत्यके द्वारा कार्य करते हुए स्वयं निश्चित करेगा। मनको उसका रास्ता निश्चित कर देनेका यत्न कदापि नहीं करना चाहिये। स्वभावतः ही, अवचेतन अविद्या और रोगसे मुक्ति, इच्छानुसार आयुकी प्राप्ति और शरीरके व्यापारोंमें परिवर्तन – ये सब अतिमानसिक परिवर्तनके अन्तिम तत्त्वोंमेंसे होंगे। परन्तु इन विषयोंकी ब्योरेवार बातें तो अतिमानसिक शक्तिपर छोड़ देनी होंगी ताकि वह अपनी प्रकृतिके सत्यके अनुसार उन्हें कार्यान्वित करे।

१८-१०-१९३४

अवतरणका प्रतिरोध

जब मैंने अपने पत्रोंमें अतिमानस और हठीले प्रतिरोधके विषयमें लिखा था तो, निश्चय ही, मैंने एक ऐसे विषयकी चर्चा की थी जिसकी मैं पहले भी चर्चा कर चुका था। मेरा मतलब यह नहीं था कि प्रतिरोध अप्रत्याशित ढंगका है या इसने किसी प्रधान चीजको पलट दिया है। परन्तु अवतरण, अपने स्वरूपमें, कोई मनमानी और चमत्कारी वस्तु नहीं है बल्कि एक तेज विकासकी प्रक्रिया है जो कुछ वर्षोंमें पूरी की जाती है और जो वर्तमान प्रकृतिको अपने प्रकाश में ले लेती है और अपना सत्य निम्नतर स्तरोंमें उंडेल देती है। ऐसा सारे संसारमें एक ही साथ नहीं किया जा सकता, वरन् ऐसी सभी प्रक्रियाओंकी तरह यह पहले चुने हुए आधारोंके द्वारा और फिर अधिक विस्तृत क्षेत्रमें किया जाता है। यहांपर पार्थिव चेतनाने जो रूप ग्रहण किया है उसके अन्दर हमें यह प्रक्रिया पहले अपने द्वारा और फिर, अपने समीप एकत्र हुए साधक-वर्गके द्वारा पूरी करनी है। यदि कुछ साधक भी अपने-आपको खोल दें तो वह इस प्रक्रियाकी सफलताके लिये काफी है। दूसरी ओर, यदि एक व्यापक (सबमें नहीं, पर बहुतोंमें) मिथ्या धारणा और प्रतिरोध हो तो इस कार्यको कठिन और इस प्रक्रियाको अधिक मेहनतका काम बना देगा; परन्तु इसे असम्भव नहीं बनायेगा। मेरे कहनेका आशय यह नहीं था कि अवतरण असम्भव हो

गया है वरन् यह कि यदि हम इस सबसे अधिक महत्त्वकी वस्तुपर पर्याप्त ध्यान न दे सकें तथा हमें इससे असम्बद्ध बहुत-सा काम करना पड़े और फलतः परिस्थिति प्रतिकूल हो जाए तो अवतरणमें अन्यथा जो समय लगता उससे कहीं अधिक समय लग सकता है। निश्चय ही, जब अतिमानस इस पृथ्वीको इतनी पर्याप्त शक्तिके साथ स्पर्श कर लेगा कि वह धरतीकी चेतनामें जड़ पकड़ सके तो आसुरिक मायाकी किसी प्रकारकी सफलता या स्थायित्वकी कोई सम्भावना नहीं रह जायगी।

शेष सब, जो मैंने मानवीय तथा दिव्यके बारेमें कहा था, अतिमानसिक अवतरणसे पहलेके मध्यवर्ती कालसे सम्बन्ध रखता था। मेरा मतलब यह था कि यदि माताजी अपने शरीर तथा भौतिक सत्ताके अन्दर दिव्य व्यक्तित्वों तथा शक्तियोंकी प्रकट कर सकें जैसा कि वे कुछ वर्ष पूर्व, आश्रमके इतिहासके सबसे उज्ज्वल समयमें, कई मासतक निरन्तर करती रही थीं, तो कार्य अत्यधिक सुगम हो जायगा और इस समय जो भयानक आक्रमण होते हैं उन सबके साथ शीघ्रतासे निपट लिया जायगा तथा, सच पूछो तो, उनका घटित होना ही असम्भव हो जायगा। उन दिनों जब माताजी या तो साधकोंको ध्यान कराती थीं या अन्य प्रकारसे दिन-रात, बिना सोये तथा अत्यन्त अनियमित रूपसे भोजन करते हुए, काम करती तथा ध्यान करती थीं, तो वे न अस्वस्थ होती थीं न थकती ही थीं और काम भी बिजलीकी गतिसे आगे बढ़ता था। उस समय जो शक्ति प्रयोगमें लाई जाती थी वह अतिमानसकी नहीं बल्कि अधिमानस-की थी, परन्तु जो कुछ किया जा रहा था उसके लिये वह काफी थी। आगे चलकर, क्योंकि साधकोंके निम्नतर प्राण और देह साथ नहीं चल सके, माताजीको उन दिव्य व्यक्तित्वों तथा शक्तियोंको, जिनके द्वारा वे कार्य कर रही थीं, पर्देके पीछे ठेल देना पड़ा तथा स्थूल मानवीय स्तरपर उतरकर उसकी अवस्थाओंके अनुसार ही कार्य करना पड़ा और इसका अर्थ है कठिनाई, संघर्ष, रोग, अज्ञान तथा तमस्। बहुत समयतक सब कुछ मन्द, कठिन तथा लगभग निष्फल ही मालूम हो रहा था, पर अब आगे बढ़ना पुनः सम्भव हो रहा है। परन्तु इसके लिये कि प्रगति अपनी प्रक्रियामें व्यापक या तीव्र-सी हो, साधकमात्रकी, केवल कुछ एक साधकोंकी ही नहीं, मनोवृत्तिका बदलना आवश्यक है। उन्हें बाह्य भौतिक चेतनाकी अवस्थाओं तथा वेदनोंसे कम चिपके रहकर योगी तथा साधक-की वास्तविक चेतनाकी ओर खुलना होगा। यदि वे ऐसा करें तो उनकी अन्दर-की आंख खुल जायगी और यदि माताजी फिरसे पहलेकी तरह कुछ-कुछ दिव्य व्यक्तित्वोंको बाहर प्रकट करें, तो वे भौचक्के या भयभीत नहीं होंगे। तब वे उनसे सदा अपने ही (साधकोंके ही) स्तरपर रहनेके लिये नहीं कहते रहेंगे

बल्कि ऊपर उन्हींकी ओर तेजीसे या धीरे-धीरे उठाये जानेपर प्रसन्न होंगे। उस समय कठिनाइयां दसगुनी कम हो जायंगी और अधिक विस्तृत, अधिक सुगम एवं अधिक सुरक्षित प्रगति सम्भव हो जायगी।

यही मेरा अभिप्राय था और मेरी समझमें, मैंने इस बातके लिये कुछ अधीरता प्रकट कर दी थी कि बहुतसे लोग हमारे योगके, जो कि रूपान्तरका योग है, मूल सिद्धान्तसे निकलनेवाले कम-से-कम युक्तिसंगत परिणामको भी समझनेमें बड़े सुस्त हैं। वे परिणाम हैं, मानव प्रकृतिमें जो भी बेसुरा है उस सबको आलोक द्वारा अस्तित्वविहीन कर देना, जो समस्वरतामें सहायक है उस सबको उसके दिव्य प्रतिरूपमें, अधिक शुद्ध, अधिक महान्, उदात्त और सुन्दर रूपमें बदल देना तथा जो बहुत-सी चीजें मानव विकासमें अबतक नहीं रही हैं उन्हें भी उसके अन्दर जोड़ देना। मेरा मतलब यह था कि यदि साधकों-की मनोवृत्ति कम अज्ञानपूर्ण हो तो अवस्थाएं इस ओर अधिक शीघ्रतासे बढ़ सकती हैं, परन्तु वे यदि अभी इसे प्राप्त नहीं कर सकते तो निःसंदेह हमें तब तक जैसे-तैसे आगे बढ़ना होगा जबतक अतिमानसिक अवतरण भौतिक स्तरतक नहीं आ पहुँचता।

अन्तमें, तुम्हें निराश होनेकी इस अकारण प्रवृत्तिसे छुटकारा पाना होगा। मैं जिस मानसिक रचनाकी बात कर रहा हूँ उसमें मजा लेनेके कारण तुम्हारे लिये कठिनाई उत्पन्न हो गयी है; यदि तुम उसे प्रश्रय देना एकदम बन्द कर दो तो कठिनाई भी दूर हो जायगी। प्रगति आरम्भ में धीमी हो सकती है पर वह होगी अवश्य; आगे चलकर वह तीव्र हो जायगी और अतिमानसिक शक्तिके यहां आ जानेपर तो औरोंकी भांति तुम्हें भी पूर्ण वेग और निश्चय-भाव मिल जायगा।

१८-१०-१९३४

* * *

तुम कहोगे, "परन्तु इस समय माताजी पीछे हट गई हैं और इसमें अतिमानस का ही दोष है, क्योंकि अतिमानसको जड़प्रकृतिमें उतारनेके लिये ही वे पीछे हटी हैं।" अतिमानसका दोष नहीं है, यदि भौतिक तथा प्राणिक सम्पर्कके लिये माताजी द्वारा बनाये गये साधनोंको आश्रमके वातावरणमें विद्यमान अनु-चित मनोभाव तथा अनुचित प्रतिक्रियाओंके द्वारा कलुषित न कर दिया जाता तो अतिमानस पहलेकी अवस्थाओंमें भी जड़प्रकृतिके अन्दर खूब अच्छी तरह उतर सकता था। जो शक्ति कार्य कर रही थी वह साक्षात् अतिमानसिक

शक्ति नहीं बल्कि एक बीचकी तथा तैयार करनेवाली शक्ति थी जो अतिमानससे निकली हुई एक ज्योतिको कुछ हलका करके अपने अन्दर धारण किये हुए थी, परन्तु यदि अबतक न जीते गये निम्नतर (भौतिक) प्राणमय-जड़ स्तरपर इन अनुचित शक्तियोंका आक्रमण न होता तो वह शक्ति उच्चतम क्रियाका मार्ग खोलनेके लिये पर्याप्त होती। इन शक्तियोंका हस्तक्षेप ऐसी विरोधी संभावनाएं उत्पन्न कर रहा था जिन्हें जारी नहीं रहने दिया जा सकता था। अन्यथा माताजी पीछे न हटतीं; और जो स्थिति इस समय है उसका अभिप्राय भी कार्यक्षेत्रका त्याग नहीं है बल्कि (एक अधिक बाह्य कार्यसे संबंधित आजकलके एक प्रचलित मुहावरेको उधार लेकर कहूँ तो) केवल पीछे हटनेकी एक सामयिक चाल है, अधिक अच्छी छलांग भरनेके लिये पीछे हटना है। अतएव अतिमानस इसके लिये उत्तरदायी नहीं है; इसके विपरीत, अतिमानसका अवतरण ही सब कठिनाइयोंका अन्त करेगा।

१४-१-१९३२

भौतिक स्तरमें साधनाका अवतरण

प्र०– जब साधना भौतिक स्तरमें चलती है तब क्या सभी साधकोंको भौतिक चेतनामें उतरना पड़ता है, या केवल उन्हींको जिनके अन्दर अत्यधिक जड़ता तथा अपवित्रता होती है, जैसे कि मेरे अन्दर है?

उ०– यह कहना कुछ कठिन है कि सभीको पूरी तरहसे भौतिक स्तरमें उतरना पड़ता है या नहीं। माताजीको और मुझे ऐसा करना पड़ा था क्योंकि अन्यथा कार्य किया ही नहीं जा सकता था। हमने इसे ऊपरसे मन तथा उच्चतर प्राणके द्वारा करनेका यत्न किया था, परन्तु ऐसा नहीं हो सका क्योंकि साधक हमारे पीछे चलनेके लिये तैयार नहीं थे — उनके निम्नतर प्राण और भौतिक सत्ताने, जो कुछ उतर रहा था उसमें भाग लेनेसे इन्कार किया अथवा उसका दुरुपयोग किया और वे अतिरंजित एवं उग्र प्रतिक्रियाओंसे भर गये। तबसे सम्पूर्ण साधना ही हमारे साथ-साथ भौतिक चेतनामें उतर आयी है। बहुतोंने हमारा अनुसरण किया है — कई तो तुरन्त, मन और प्राणकी पर्याप्त तैयारीके बिना ही, कुछ प्राण और मनसे चिपके रहकर तथा अभीतक तीनोंके बीच ही रहते हुए और कई पूर्ण रूपसे, किन्तु तैयार मन और प्राणके साथ भौतिक चेतनामें उतर आये। पूर्ण रूपसे भौतिक स्तरमें उतर आना अत्यन्त कष्टदायक

अवस्था है — इसका मतलब होता है दीर्घकालतक कठिनाइयोंका कष्टदायी दबाव, क्योंकि भौतिक सत्ता साधारणतया तमसाच्छन्न एवं जड़ होती है और उसके अन्दर प्रकाश प्रवेश नहीं कर पाता। वह अभ्यासोंसे बनी हुई वस्तु है, अधिकांशमें वह अवचेतन तथा उसकी यांत्रिक प्रतिक्रियाओंकी दास होती है। बीमारी तथा अपनी कुछ दूसरी क्रियाओंको छोड़कर वह उग्र आक्रमणोंके प्रति प्राणकी अपेक्षा कम खुली होती है। परन्तु जबतक प्रकाश, शांति, शक्ति और आनन्द ऊपरसे उतरकर दृढ़ रूपसे प्रतिष्ठित नहीं हो जाते तबतक इन सब क्रियाओंको छोड़ना नीरस और शुष्क होता है। हम यह ज्यादा पसन्द करते हैं कि हम यहांका सारा कठिन काम अपने-आप पूरा कर लेते और आसान-आसान हालतें और गतियां पैदा हो जानेके बाद ही औरोंको वहां बुलाते परन्तु यह सम्भव नहीं सिद्ध हुआ।

मैं नहीं समझता कि इसका अपवित्रतासे कोई सम्बन्ध है। हां, इतना अवश्य है कि तुम जरा ज्यादा जल्दी नीचे उतर आये। जिस समय ऐसा हुआ, आत्माकी शान्ति और नीरवता तथा सिरके ऊपर आत्माको उपलब्ध करनेके लिये उच्चतर चेतनाकी ऊर्ध्वमुख गति स्वतः ही स्थापित होनेवाली थी। यदि यह पहले ही हो चुका होता तो कठिनाई कम हो जाती। इसका मतलब है इन चीजोंको सम्पन्न करानेके लिये जड़ताके विरुद्ध प्रबल संघर्ष करना — परन्तु तुम्हें केवल धैर्यपूर्वक लगे रहना है और ये चीजें अवश्यमेव सम्पन्न हो जायंगी। सारी बातें ही तुम्हारे लिये बहुत अधिक सुगम हो जायंगी।

३१-१२-१९३४

एक नयी शक्ति

'क्ष'की मांकी बीमारी दूर करनेमें सफल होना निश्चय ही एक बड़ी प्राप्ति होगी और यद्यपि रोगके कठिन, भयावह और अत्यन्त दुःसाध्य होनेके कारण सफल होना कठिन है, फिर भी असम्भव नहीं है। तुम्हारा कहना ठीक है, शक्ति पहले कार्य कर रही थी पर वह केवल उन्हींमें एकदम तेजीसे और पूरी तरह कर्म करती थी जिनमें पर्याप्त श्रद्धा तथा ग्रहणशीलता होती थी — (मुख्य रूपसे साधकोंमें) अथवा जहां कुछ दूसरी अच्छी अवस्थाएं होती थीं।

ये दृष्टांत शक्तिकी एक नई सामर्थ्य तथा नई कार्यप्रणालीकी ओर इंगित करते प्रतीत होते हैं। तुम्हारा यह विचार निराधार नहीं है कि यह शक्ति और जगहोंपर भी फैल सकती तथा वैसा ही कर सकती है; क्योंकि जब एक बार पृथ्वीके वातावरणमें कोई ऐसी चीज उतर आती है जो वहां पहले नहीं

थी, तो वह अनेक दिशाओंमें अज्ञातपूर्व तरीकोंसे कार्य करने लगती है। इस प्रकार, जबसे हमारा योग क्रियाशील हुआ है तबसे इसकी कई विशेष प्रारम्भिक गतियोंका ऐसे बहुतसे लोगोंको भी अनुभव हुआ है जो हमसे दूर थे तथा हमारे साथ सम्बद्ध नहीं थे और जो समझ भी नहीं पाते थे कि उनके अन्दर क्या हो रहा है। इन चीजोंकी आशा करनी ही चाहिये क्योंकि प्रकृति अभीतक विकसित हो रही है और उसके अन्दर नई ज्योतियों तथा शक्तियोंको उतारना तथा सचेतन पार्थिव जीवनका अंग बनाना ही होगा।

२१-१-१९३६

भौतिक स्तरपर संघर्ष

जहांतक रोगका प्रश्न है, भौतिक स्तरपर पूर्णता प्राप्त करना योगके आदर्शका अंग अवश्य है, पर है यह अन्तिम कार्य। जबतक स्थूल चेतनामें, शरीर जिसका कि एक अंग है, मौलिक परिवर्तन न हो जाय तबतक मनुष्य शरीरमें रोगसे पूरी मुक्ति प्राप्त किये बिना भी अन्य स्तरोंपर एक प्रकारकी पूर्णता प्राप्त कर सकता है। हमने अलग व्यक्तिगत रूपसे अपने लिये पूर्णताकी खोज नहीं की है, बल्कि सार्वभौम परिवर्तनके अंगके रूपमें — दूसरोंके लिये पूर्णताकी सम्भावना पैदा करनेके लिये ही यह खोज की है। यदि हम उपलब्धि और रूपान्तरकी कठिनाइयोंको स्वीकार करके उनका सामना न करते तथा अपने लिये उनपर विजय न प्राप्त करते तो यह कार्य किया ही न जा सकता। यह अन्य स्तरोंपर पर्याप्त मात्रामें किया जा चुका है — पर भौतिक स्तरके अत्यन्त जड भागमें अभीतक नहीं किया गया है। जबतक यह कार्य पूरा नहीं हो जाता, तबतक वहां संघर्ष जारी रहेगा और, यद्यपि यौगिक क्रिया और संरक्षणकी शक्ति उपस्थित हो सकती है और है भी, तथापि पूर्ण मुक्ति नहीं मिल सकती। माताजीकी कठिनाइयां अपनी निजी नहीं हैं; वे दूसरोंकी कठिनाइयोंको तथा उन कठिनाइयोंको भी वहन करती हैं जो रूपान्तरके लिये किये जानेवाले सामान्य कार्य और उसकी प्रणालीमें अन्तर्निहित हैं। यदि ऐसा न होता तो बात बिलकुल और ही होती।

अगस्त, १९३६

विभाग चार

योगमार्गमें सहायक

योगमार्गमें सहायक

आश्रम बनानेका कारण

शुरू-शुरूमें यहां कोई आश्रम नहीं था, केवल कुछ लोग श्रीअरविन्दके पास रहने तथा योग-साधना करनेके लिये आये थे। माताजीके जापानसे आनेके कुछ समय बाद ही इसने आश्रमका रूप धारण किया और इसका कारण माताजी या श्रीअरविन्दकी कोई इच्छा या योजना नहीं थी, बल्कि उन साधकोंकी इच्छा थी जो अपना समस्त आन्तरिक और बाह्य जीवन माताजीको सौंपना चाहते थे।

* * *

तथ्य ये हैं इस बीच माताजी फ्रांस और जापानमें दीर्घकालतक रहनेके पश्चात् २४ अप्रैल, १९२०को पांडिचेरी लौट आई। तब शिष्योंकी संख्या कुछ अधिक तेजीसे बढ़ने लगी। जब आश्रमका विकास होना आरम्भ हुआ, इसके संगठनका भार माताजी पर आ पड़ा। श्रीअरविन्दने शीघ्र ही एकान्तवास ले लिया और आश्रमके सम्पूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक कार्यका भार माताजीके ऊपर आ गया।

* * *

प्र०— १९२६ में किस तारीखको माताजीने आश्रमका सारा कार्य-भार अपने ऊपर ले लिया?

उ०— माताजीको ठीक तारीख बिलकुल याद नहीं। सम्भवत: १५ अगस्तके कुछ दिन बादकी कोई तारीख होगी। जब मैं एकान्तमें चला गया तब उन्होंने पूर्ण रूपसे सारा कार्य अपने हाथोंमें ले लिया।

१६-५-१९३६

आश्रमकी सीमाएं

आश्रमकी सीमाएं कौनसी हैं? ऐसा प्रत्येक घर जिसमें आश्रमके साधक रहते

हैं, आश्रमकी सीमाओं के भीतर है। लोगोंके बोलनेका यह एक विचित्र ढंग है कि वे इस अहाते के घरोंको ही आश्रम कहते हैं—इसका कोई अर्थ नहीं है। अथवा क्या वे यह समझते हैं कि माताजीका या मेरा प्रभाव एक अहातेके अन्दर ही बन्द है?

जनवरी, १९३५

आश्रममें दो वायुमण्डल

आश्रममें दो वायुमण्डल हैं, हमारा और साधकोंका। जब कुछ अनुभव शक्ति रखनेवाले लोग बाहरसे आते हैं तो वे यहांके वायुमण्डलकी गहरी स्थिरता और शान्तिसे प्रभावित होते हैं और यह अनुभव एवं प्रभाव विलीन तभी होते हैं जब वे साधकोंके साथ बहुत मिलते-जुलते हैं। दूसरा, नीरसता और अशांतिका, वायुमण्डल स्वयं साधकोंके द्वारा उत्पन्न किया जाता है—यदि वे माताजीकी और उस प्रकार खुले हों जिस प्रकार होना चाहिये तो वे स्थिरता और शान्तिमें रहेंगें, अशान्ति और नीरसतामें नहीं।

१५-३-१९३७

आश्रमका विस्तार

प्र०— यदि आश्रम बहुत अधिक फैलता जाय और पांडिचेरी नगरमें घर प्राप्य न हों तो स्वभावतः ही विस्तार पासके गांवोंमें कहीं होगा?

उ०— बरसों पहले इस प्रकारके विस्तारका कुछ विचार आया था, पर परिस्थितियोंने और ही मोड़ ले लिया और वह मूर्त रूपमें परिणत नहीं हुआ।

१४-४-१९३५

शिष्य पानेकी उत्सुकता नहीं

तुम्हारा दिया हुआ मत्स्यग्रहणका रूपक सर्वथा असंगत है। मैं किसीको जालमें नहीं फंसाता; लोगोंको यहां खींचा या बुलाया नहीं जाता, वे चैत्यकी सहज-प्रेरणासे स्वयं आते हैं। विशेषकर, मैं बड़े और प्रसिद्ध या सफल व्यक्तियोंकी खोजमें नहीं रहता। ऐसे आदमी मानसिक या प्राणिक रूपसे बड़े हो सकते

हैं, पर साधारणतया वे उस प्रकारके बड़प्पनसे बिलकुल संतुष्ट होते हैं और उन्हें आध्यात्मिक वस्तुओंकी चाह नहीं होती, अथवा, यदि होती भी है तो उनका बड़प्पन उनका सहायक होनेके बजाय उनके मार्गमें बाधक होता है। उन्हें जालमें फंसानेका विचार 'क्ष' का विचार है—वह 'अ', 'ब' और अब 'स' आदि, आदिको पकड़ में लाना चाहता था, पर यदि वे कभी इस प्रकारकी किसी चीजका सचमुचमें स्वप्न लेते तो अतीव कष्टप्रद साधक रहते। ये सब साधारण अज्ञानपूर्ण विचार हैं; परम आत्मा अपने पास आनेवाले लोगोंकी कीर्ति, सफलता या महत्ताकी रत्ती भर भी परवाह नहीं करता। लोगोंका यह विचित्र विचार है कि माताजी और मैं लोगोंको शिष्य-रूपमें प्राप्त करनेको उत्सुक हैं और यदि कोई चला जाता है तो यह हमारे लिये एक बड़ी चोट, भीषण पराजय, भयानक विपत्ति एवं विनाश होता है। बहुत-से तो यहांतक सोचते हैं कि उनका यहां रहना हमपर बड़ी कृपा है जिसके लिये हम पर्याप्त कृतज्ञ नहीं। ये सब ऊलजलूल बातें हैं।

आश्रमकी "प्रतिष्ठा"

यदि अज्ञानी लोगोंकी प्रशंसा और निन्दाको ही हमारा मानदण्ड बनना है तब तो हम आध्यात्मिक ध्येयको अलविदा कह सकते हैं। यदि माताजीने और मैंने प्रशंसा या निन्दाकी परवाह की होती तो हम कबके कुचल दिये गये होते। यह तो अभी हालकी ही बात है कि आश्रमको "प्रतिष्ठा" प्राप्त हुई है—पहले तो यह लगभग सभीकी आलोचनाका लक्ष्य था, गन्दे-से-गन्दे हमलोंका तो कहना ही क्या।

आध्यात्मिक मातृत्वका सत्य—समस्त धार्मिक मतान्धताका मिथ्यात्व

यदि तुम सीधा-सादा सत्य जानना चाहते हो तो वह यह है कि तुम पूर्ण मिथ्यात्व-में जा गिरे हो और तुमने अपनेको उस विरोधी प्रभावके हाथोंमें सौंप दिया है जो संभ्रम और अज्ञानके सहारे ही जीता है। पहले-पहल तो तुमने अपनी अधकचरी विचारशक्तिको उच्चतर सत्य और ज्ञानके विरोधमें ला खड़ा किया। और अब मिथ्या एवं बेतुके तर्कोंके द्वारा तुमने अपने मनको इतना आच्छन्न कर दिया है कि वह बिलकुल गड़बड़ और भ्रांतिमें पड़ गया है और सीधे-से-सीधे भेदोंको समझने या असत्य और सत्यमें विवेक करनेमें भी असमर्थ हो गया है। तुम जो कुछ भी कह और कर रहे हो उस सबमें यह बात स्पष्ट

दीख रही है; तुम सत्य और धर्मको नहीं, वरन् अपने भ्रांतिग्रस्त और दुर्बल मनके मिथ्या और अक्षम विचारोंको ही दूसरोंपर लादनेकी चेष्टा कर रहे हो।

तुमने मुझे जो पत्र लिखा है उसे देखकर मुझे आश्चर्य होता है कि तुम स्पष्ट-से-स्पष्ट भेदों और सरल-से-सरल सत्योंको भी समझनेमें कितने असमर्थ हो। जो 'क्ष' के स्थूल शरीरको जन्म देनेमें निमित्त थी वह, निःसंदेह, अपने जीवन-कालमें 'क्ष' की भौतिक जननी थी। किन्तु यहांकी माताजी और 'क्ष' में (और माताजी तथा उन्हें स्वीकार करनेवाले सब साधकोंमें) जो सम्बन्ध है वह चैत्य और आध्यात्मिक मातृत्वका है। भौतिक माताका अपने बच्चेसे जो सम्बन्ध होता है उसकी अपेक्षा यह कहीं महान् सम्बन्ध है; यह वह सब कुछ देता है जिसे मानुषी मातृत्व दे सकता है, पर बहुत अधिक ऊंचे ढंगसे, और इसके अन्दर अनन्त गुना अधिक कुछ है। क्योंकि यह अधिक महान् और पूर्ण है अतः यह पूरी तरहसे भौतिक सम्बन्धका स्थान लेकर भीतरी और बाहरी दोनों प्रकारके जीवनमें इसके स्थानपर कार्य कर सकता है। इसमें ऐसी कोई भी चीज नहीं जो साधारण समझ और स्पष्ट एवं ऋजु बुद्धिवाले किसी भी व्यक्तिको भ्रममें डाल सके। भौतिक तथ्य महत्तर चैत्य एवं आध्यात्मिक सत्यके मार्गमें किञ्चित् भी बाधक नहीं हो सकता, न ही वह इसके सच्चे होनेमें रुकावट डाल सकता है। 'क्ष' का यह कहना बिलकुल ठीक है कि ये उसकी सच्ची माता हैं; क्योंकि इन्होंने उसे एक अन्तर्जीवनमें नया जन्म दिया है और एक अधिक दिव्य जीवनके लिये उसे नये सिरेसे गढ़ रही हैं।

आध्यात्मिक मातृत्वका विचार इस आश्रमका आविष्कार नहीं; यह एक सनातन सत्य है जो यूरोप और एशिया दोनोंमें अतीत युगोंसे माना जाता रहा है। भौतिक सम्बन्ध और चैत्य एवं आध्यात्मिक सम्बन्धमें मैंने जो भेद किया है वह भी कोई नया आविष्कार नहीं; यह एक ऐसा विचार है जिसे सब जगह लोग जानते-समझते हैं और सभी पूर्ण रूपसे स्पष्ट एवं सरल अनुभव करते हैं। तुम्हारे मनकी वर्तमान अस्तव्यस्त स्थिति ही तुम्हें उस चीजके समझनेमें बाधा पहुँचाती है जिसे सर्वत्र लोगोंने स्वाभाविक और बुद्धिगम्य अनुभव किया है।

जहांतक 'क्ष' और 'य' का सम्बन्ध है, उनपर तुम्हारा किसी प्रकारका दावा नहीं और उनके विचारों तथा कार्योंको नियंत्रित करनेका तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। 'क्ष' की इतनी उम्र है कि वह स्वयं चुनाव और निर्णय कर सकता है; वह अपने लिये आप विचार और कार्य कर सकता है और उसे उसकी तरफसे सोचने और कार्य करनेके लिये तुम्हारी आवश्यकता नहीं।

तुम न उसके सरक्षक हो न 'य' के, न ही तुम परिवारके मुखिया हो। किस आधारपर तुम यह निर्णय करनेका दावा करते हो कि वह कहां जायगा या कहां रहेगा? परमेश्वरके सामने तुम्हारा उस पुरुष या स्त्रीके लिये जिम्मेवार होनेका दावा करना अभिमानपूर्ण एवं भद्दी मूर्खता है। परमेश्वरके सामने हर एक अपने लिये स्वयं जिम्मेवार है जबतक वह किसी दूसरेपर, जिसमें उसका विश्वास है, जिम्मेवारी सौंपना स्वेच्छापूर्वक पसन्द न करे। दूारोंपर उनकी स्वतन्त्र इच्छाके विरुद्ध अपनेको धार्मिक या आध्यात्मिक गुरुके रूपमें थोपनेका अधिकार किसीको नहीं। 'क्ष' या 'य' को उनके आन्तरिक या बाह्य जीवनमें आदेश देनेका तुम्हें कतई अधिकार नहीं। यहां भी फिर तुम्हारे मनकी अपनी वर्तमान स्थितिमें अस्तव्यस्तता एवं असंबद्धता ही तुम्हें इन सीधे और स्पष्ट तथ्योंको स्वीकार नहीं करने देती।

और फिर, तुम कहते हो कि तुम्हें केवल सत्यकी चाह है और तो भी तुम एक ऐसे संकुचित और अज्ञानपूर्ण धर्मान्ध व्यक्तिकी भांति बातें करते हो जो उस धर्मके सिवा, जिसमें वह पैदा हुआ था, और किसी भी वस्तुको माननेसे इनकार करता है। समस्त मतान्धता मिथ्या वस्तु है, क्योंकि वह परमेश्वर और सत्यके वास्तविक स्वरूपके विरुद्ध है। सत्य किसी एक ही पुस्तकमें, बाइबल या वेद या कुरानमें, या किसी एक ही धर्ममतमें बन्द नहीं हो सकता। भगवान् सनातन, वैश्व और अनन्त हैं और वे एकमात्र मुसलमानों या सामी Semitic धर्मोंकी ही सम्पत्ति नहीं हो सकते,—उन धर्मोंकी जो बाइबलसे एक अनुक्रममें उत्पन्न हुए और यहूदी या अरब पैगम्बर जिनके संस्थापक थे। हिन्दुओं, कन्फ्यूशस-मतावलम्बियों और ताओवादियों तथा अन्य सबको भी अपने ढंगसे परमेश्वरके साथ सम्बन्ध स्थापित करने तथा सत्यको खोजनेका उतना ही अधिकार है। सब धर्मोंमें कुछ सत्य है, पर पूरा सत्य किसीमें भी नहीं; वे सभी कालके भीतर सृष्ट हुए हैं और अन्तमें क्षीण होकर नष्ट हो जाते हैं। स्वयं मुहम्मदने यह दावा कभी नहीं किया कि कुरान ईश्वरका अन्तिम सन्देश है और आगे और कोई नहीं होगा। ईश्वर और सत्य इन धर्मोंके बाद भी टिके रहते हैं और ऐसे किसी भी ढंगसे या किसी भी रूपमें अपने-आपको नये सिरेसे प्रकट करते हैं जिसे भागवत प्रज्ञा पसन्द करे। तुम भगवान्‌को अपने निजी संकुचित मस्तिष्ककी सीमाओंमें बन्द नहीं कर सकते, न भागवत शक्ति एवं चेतना पर हुक्म चला सकते हो कि वह कैसे या कहां या किसके द्वारा प्रकट हो; भागवत सर्वशक्तिमत्ताके आगे तुम अपनी क्षुद्र बाड़ें नहीं लगा सकते। ये भी सीधे-सादे सत्य हैं जिन्हें आज सारे संसारमें स्वीकारा जा रहा है; केवल बचकाने मनवाले लोग ही या वे जो अतीतके किसी सूत्रमें बेकार

समय बिता रहे हैं इनसे इनकार करते हैं।

तुमने मुझसे लिखनेके लिये आग्रहपूर्वक अनुरोध किया है और सत्यको जानना चाहा है और मैंने उत्तर दे दिया है। पर यदि तुम मुसलमान बने रहना चाहते हो तो तुम्हें कोई मनाही नहीं करता। जो सत्य मैं लाया हूँ वह यदि तुम्हारे लिये इतना अधिक महान् है कि तुम उसे समझ या सह नहीं सकते तो तुम यहांसे जाने और अर्द्ध-सत्यमें या अपने निजी अज्ञानमें रहनेके लिये स्वतन्त्र हो। मैं यहां किसीका धर्म-परिवर्तन करनेके लिये नहीं बैठा हूँ; मैं संसारको मेरे पास आनेके लिये उपदेश नहीं देता, न मैं किसीको यहां आनेके लिये बुलाता ही हूँ। मैं उन लोगोंमें जो मेरे पास आनेके लिये अपने-आप पुकार अनुभव करते हैं और उससे चिपके रहते हैं, दिव्य जीवन और दिव्य चेतना प्रतिष्ठित करनेके लिये यहां हूँ, दूसरोंमें नहीं। मैं तुम्हें हमें स्वीकार करनेके लिये नहीं कह रहा, न माताजी ही कह रही हैं। तुम किसी भी दिन जा सकते हो और अपनी निजी पसन्दके अनुसार सांसारिक या धार्मिक जीवन बिता सकते हो। परन्तु जैसे तुम स्वतन्त्र हो वैसे ही दूसरे लोग भी यहां रहने और अपने मार्गपर चलनेके लिये स्वतन्त्र हैं। अपने-आपको गड़बड़ीका केन्द्र और उनकी शान्ति एवं आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधक बनानेकी चेष्टा करनेका तुम्हें अधिकार नहीं।

तुम्हें उत्तर देते हुए मैं उन विचारोंका प्रतिवाद कर रहा हूँ जो तुम्हारे अन्दर अन्धकार और अज्ञानकी शक्तिने डाले हैं। यह शक्ति इस समय अपने प्रयोजनके लिये तुम्हारा प्रयोग कर रही है। यह अत्यन्त स्पष्ट है कि यह शक्ति दिव्य शक्ति नहीं। यह असत्यकी शक्ति है, यह तुमसे बेतुके काम करा रही और बेतुकी बातें कहला रही है जो इस्लामी नहीं हैं, बल्कि इस्लामी धर्म और आचरण का विद्रूप हैं। इसका उद्देश्य यह है कि तुम्हारे द्वारा न केवल इस्लामको वरन् समस्त अध्यात्म और धर्मको हास्यास्पद बना दे। यह भूतलपर दिव्य कार्यको भंग करनेकी आशा रखती है, चाहे यह ऐसा केवल थोड़ा-सा ही कर सके। यह तुम्हारा दिमाग बिगाड़ने और तुम्हारी बुद्धिको नष्ट करने, तुमसे मूर्खतापूर्ण और उच्छृङ्खल बातें कहलाने और कराने और तुम्हें तुम्हारे मित्रों और हितैषियोंके लिये शोक और दयाका पात्र तथा दूसरोंके लिये उपहासास्पद बनानेकी चेष्टा कर रही है। यदि तुम्हारे अन्दर अपने लिये अथवा ईश्वर या धर्मके लिये किसी प्रकारका संमानभाव है, यदि तुम्हें सचमुचमें सत्य और प्रकाशकी अपेक्षा है, यदि तुम्हें अपनी आत्माकी जागृति और मुक्तिकी चाह है तो तुम्हें ये निरंकुशतापूर्ण बातें कहना और करना बन्द कर देना होगा और

जो प्रभाव तुम्हें इस समय परिचालित कर रहा है उसे दूर फेंक देना होगा।

२३-१०-१९२९

साधकोंके साथ व्यवहार करनेका नियम

माताजी और मैं सभी लोगोंके साथ भगवान्‌के विधानके अनुसार व्यवहार करते हैं। हम लोग धनी और गरीबका तथा मानवीय कसौटियोंके अनुसार कुलीन या अकुलीन समझे जानेवाले सभी लोगोंका एक तरह ही स्वागत करते हैं और उन्हें समान रूपसे अपना प्रेम और संरक्षण प्रदान करते हैं। हमें उनकी साधनाकी उन्नतिका ही खास ख्याल होता है — क्योंकि वे यहां इसीके लिये आये हैं, न तो अपनी जीभ या पेटको संतुष्ट करने आये हैं और न साधारण प्राणकी मांगें पेश करने या पद-प्रतिष्ठा, मान या सुख-सुविधा के लिये झगड़ा करने। उनकी वह उन्नति केवल इस बातपर निर्भर करती है कि वे श्रीमाताजीके प्रेम या संरक्षणका प्रत्युत्तर किस प्रकार देते हैं — माताजी जिन शक्तियोंको सबपर समान रूपसे बरसाती रहती हैं उन्हें वे ग्रहण करते हैं या नहीं, और माताजीकी देनका सदुपयोग करते हैं या दुरुपयोग। परन्तु माताजीका न यह इरादा है और न इसके लिये वे बन्धी हैं कि बाहरसे भी सबके साथ एक ही तरीकेसे व्यवहार करें — यह मांग करना कि उन्हें ऐसा ही करना चाहिये, असंगत और मूर्खतापूर्ण है — और अगर वे ऐसा करें तो उनका कार्य वस्तुओंके सत्य तथा भगवान्‌के विधानके सामने मिथ्या साबित होगा। प्रत्येक साधकके साथ उसके स्वभाव, उसकी क्षमताओं, उसकी सच्ची आवश्यकताओंके अनुसार (उसकी मांगों या वासनाओंके अनुसार नहीं) और उसके आध्यात्मिक मंगलके लिये जो कुछ सबसे उत्तम है उसीके अनुसार व्यवहार करना होगा। अब प्रश्न है कि यह किया कैसे जाय? इस विषयमें हम उन सब साधकोंके अज्ञानकी आज्ञाको माननेसे इन्कार करते हैं जो यह समझते हैं कि श्रीमाताजीको उनके मानदण्डके अनुसार या समता या न्यायसम्बन्धी उनके विचारोंके अनुसार अथवा उनकी प्राणगत मांगोंके अनुसार या वे जो कुछ धारणाएं बाहरी जगत्‌से अपने साथ ले आये हैं उनके अनुसार ही कार्य करना चाहिये। हम लोग अपने भीतर-की ज्योतिके अनुसार और उस सत्यके लिये कार्य करते हैं जिसे हम पार्थिव प्रकृतिमें स्थापित करनेका प्रयत्न कर रहे हैं।

११-१२-१९३३

हर एकका साधना करनेका अपना ढंग और भगवान्‌के पास पहुँचनेका अपना

मार्ग होता है और उसे इस विषयमें कष्ट उठानेकी जरूरत नहीं कि दूसरे इसे कैसे करते हैं। उनकी सफलता या असफलता, उनकी कठिनाइयां, उनकी भ्रांतियां, उनका अहंकार और मिथ्याभिमान माताजीकी चिन्ताका विषय है। उनमें अनन्त धैर्य है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वे उनके दोषोंका अनुमोदन करती हैं अथवा वे जो कुछ कहते या करते हैं उस सबमें उनको प्रश्रय देती हैं। माताजी किसी कलह या वैर-विरोध या वाद-विवादमें किसीका पक्ष नहीं लेतीं, पर उनकी चुप्पीका यह अर्थ नहीं कि लोग जो कुछ कहें या करें उसका वे तब भी अनुमोदन करती हैं जब वह अनुचित होता है। आश्रम या आध्यात्मिक जीवन कोई ऐसा मञ्च नहीं जिसमें कुछको प्रधान पद ग्रहण करना या प्रमुख भाग लेना है, न यह कोई प्रतियोगिताका क्षेत्र है जिसमें किसीका कोई दावा होता है या वह अपनेको दूसरोंसे सच्चे अर्थमें ऊंचा समझ सकता है। ये चीजें संसारके प्रति साधारण मानवीय मनोवृत्तिके आविष्कार हैं और मानव-की प्रवृत्ति इसे साधनाके जीवनमें भी ले जानेकी होती है, पर यह वस्तुओंका आध्यात्मिक सत्य नहीं। माताजी सब कुछ सहन करती हैं; साधकोंकी एक-दूसरेके द्वारा किसी प्रकारकी आलोचनाको वे मना नहीं करतीं, न वे इन आलोच-नाओंको कुछ मूल्य ही देती हैं। जब साधक आध्यात्मिक भूमिकासे इन सब चीजोंकी निरर्थकता देख लेंगे तभी इनके बन्द होनेकी कोई आशा हो सकती है।

इन सब वस्तुओंमें ऐसा कुछ नहीं जिसे मनुष्यको आध्यात्मिक जीवनसे दूर हटा देना या अपने गुरुसे दूर ले जाना चाहिये। मुझे लगता है कि केवल गुरु ही इस बातका निर्णय कर सकता है कि कोई साधक योग्य है या नहीं। इस विषयमें किसी और की प्रतिकूल सम्मतिको स्वीकार करना मुझे मूर्खता-पूर्ण प्रतीत होता है और उसके अनुसार चलना अपनी आत्माके प्रति अपराध; अपने अयोग्य होनेका निर्णय कर लेना और उसके अनुसार कार्य करना अत्यन्त खतरनाक है, क्योंकि यह निर्णय केवल विषादका एक दौर या प्राणका क्षोभ हो सकता है जो तामसिक अहंकारकी आत्म-निन्दाको उभाड़ देता है। यदि मैंने यह न देखा होता कि तुम साधनामें उन्नति कर सकते हो या तुम्हारे अन्दर कोई प्रगति न देखी होती, तो मैं तुमसे लगे रहनेके लिये निरन्तर अनुरोध न करता और न मैं अब तुम्हारी कठिनाइयोंके प्रतिकारके लिये पत्रके बाद पत्र लिख रहा होता (मैं और किसीको इस प्रकार नहीं लिखता)।

पुनश्च–जहांतक तुम्हारी अन्य नीच प्रवृत्तिकी बात है, जिससे घृणा होनेके कारण तुम आश्रम छोड़ना चाहते हो, क्या तुम समझते हो कि माताजी ऐसी जड़मति और दृष्टिशून्य हैं कि लोगों और उनकी साधनाको उनके अपने मूल्यांकन-के अनुसार ही समझती हैं? कि वे उनके दोष तथा गुण नहीं देख सकतीं?

कि वे उनकी निम्न प्रकृतिकी चेष्टाओंसे अनभिज्ञ हैं? या कि वे उन्हें धोखा दे सकते और प्रभावित एवं चालित कर सकते हैं?

बचकाना "अभिमान"

'अभिमान' रखना अत्यन्त मूर्खतापूर्ण और बचकाना कार्य है; क्योंकि इसका अर्थ है कि तुम यह आशा करते हो कि माताजी और मेरे समेत सभी लोग सदा तुम्हारे विचारोंके अनुसार काम करें और जो तुम चाहते हो वही करें तथा ऐसी कोई चीज कभी न करें जिससे तुम्हें नाराजगी हो! यह माताजीका काम है कि वे जो कुछ ठीक या आवश्यक समझें करें, तुम्हें यह बात समझ लेनी होगी; अन्यथा तुम विना मतलबके अपनेको सदा दुःखी करते रहोगे।

२८-४-१९३२

प्रारम्भिक मांग

जिन लोगोंको हम स्वीकार कर लेते हैं उनके बारेमें तुम्हारा यह कहना ठीक है कि अगर उनका कोई एक भी भाग सच्चे दिलसे भगवान्‌को चाहता हो तो हम उन्हें अवसर देते हैं—यदि हम शुरूमें इससे अधिककी मांग करते, तो इस भगवन्मुखी यात्राका आरम्भ भी बहुत ही कम लोग कर पाते।

२४-४-१९३५

दुर्धर करुणा

प्र०— जिस धैर्य एवं करुणाके साथ आप हमारी असद्‌हृदयताओं, आज्ञाभंगों तथा शिथिलताओंको सहन करते हैं उसके बोझसे मैं दबा जा रहा हूं।

उ०— मानव प्रकृति अपने बीज तकमें ऐसी ही है, अतएव यदि हम धैर्य न रखें तो उसके परिवर्तनकी कोई आशा नहीं रहेगी। परन्तु मनुष्यके अन्दर 'कुछ' और भी है जो सद्‌हृदय है तथा परिवर्तनको सम्पन्न करनेवाली शक्ति हो सकता है। 'क्ष' जैसे लोगोंकी कठिनाई है—उस 'कुछ' तक पहुँचना (वह 'कुछ' इतना अधिक ढका हुआ है) और उसे क्रियाशील बनाना।

८-७-१९३४

साधकोंके प्रति एकमात्र कर्तव्य

यह अपराध या दण्डका प्रश्न नहीं है—यदि हमें लोगोंको उनके अपराधोंके लिये दोषी ठहराना तथा दण्ड देना हो और साधकोंके साथ न्यायालयकी भांति व्यवहार करना हो तो साधना सम्भव ही नहीं हो सकेगी। मेरी समझमें नहीं आता कि तुमने हमें जो उलाहना दिया है उसे कैसे उचित ठहराया जा सकता है। साधकोंके प्रति हमारा एकमात्र कर्तव्य है उन्हें आध्यात्मिक उपलब्धिकी ओर जाना। हम ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते कि घरके बड़े-बूढ़ेकी तरह घरेलू झगड़ोंमें दखल दें, किसी एकका पक्ष लें तथा दूसरेका विरोध करें! 'क्ष' कितनी ही बार क्यों न गिर पड़े, हमें उसका हाथ पकड़कर उसे फिरसे उठाना ही होगा और एक बार पुनः भगवान्‌की ओर चलाना होगा। तुम्हारे साथ भी हमने सदा ऐसा ही व्यवहार किया है।

२६-३-१९३३

वास्तविक आवश्यकता

चैत्य पुरुष अपने क्रमविकासकी इस अवस्थामें चिनगारीसे अधिक कुछ है। वह एक ज्वाला है। चाहे ज्वाला कुहरे या धुँएंसे आच्छादित है फिर भी उस कुहरे या धुँएंको हटाया जा सकता है। आवश्यकता है ऐसा करने और उच्चतर चेतनाकी ओर खुलनेकी, न कि श्रीअरविन्द बनने या माताजीके समान बननेकी। परन्तु यदि हम भगवान् हैं, तो भगवान्‌के अंशके रूपमें विकसित हो जानेमें, दिव्य चेतनामें, कम मात्रामें ही सही, निवास करनेमें क्या हानि है?

१०-२-१९३५

साधकोंके साथ तुलना

मेरा मतलब यह नहीं था कि यहांका कोई साधक मेरा और माताजीका स्थान ले सकता है या हमारी बराबरी कर सकता है....किन्तु यदि 'क', 'ख' और 'ग' में सच्चा संकल्प हो तथा वे प्रयत्न करें तो उनके लिये बदलना, अपने वर्तमान व्यक्तित्वों या सीमाओंका परित्याग करना तथा अबकी अपेक्षा हमारे अधिक निकट आ जाना निश्चय ही सम्भव है।

१०-८-१९३५

* * *

यहांतक कि अधिमानस भी माताजीके तथा मेरे सिवा और सबके लिये या तो एक अनुपलब्ध वस्तु है या केवल एक ऐसा प्रभाव है जो अधिकांशमें आभ्यंतरिक है।

२४-३-१९३४

साधकोंके लिये कार्य करना और माताजीके लिये कार्य करना

क्या साधकोंके लिये काम करना तुम्हारी शानके खिलाफ है? यह सर्वथा अहंकारपूर्ण भाव है और साधकके लिये अनुचित है। भोजनालय, भवन-निर्माण-विभाग तथा वस्तु-भण्डार, बढ़ई-घर, कारखाने तथा लुहारखानेके सभी लोग सारे समय साधकोंके लिये कार्य कर रहे हैं, माताजी स्वयं सारे दिन साधकोंके लिये काम करती रहती हैं; यह उत्तर लिखते हुए मैं अपना समय एक साधकके लिये काम करनेमें लगा रहा हूँ। क्या तुम्हारी समझमें भोजनालयके कार्य-कर्ताओंके लिये ऐसा कहना उचित होगा कि "हम साधकोंके लिये खाना नहीं पकायेंगे और न परोसेंगे ही; यह हमारी प्रतिष्ठाके अनुरूप नहीं है? हम केवल माताजीके लिये ही खाना बनाना स्वीकार करेंगे?" क्या तुम चाहते हो कि मैं तुम्हारे पत्रोंका उत्तर देना इस आधारपर बन्द कर दूँ कि मैं एक साधकके लिये काम कर रहा हूँ और मैं केवल माताजीको ही पत्र लिखूँगा और दूसरे किसीको नहीं?

'क्ष' इतने वर्षोंतक रसोईघरमें साधकोंके लिये खाना नहीं बना रहा था तो और क्या कर रहा था? और 'य' अगर अन्नागारमें साधकोंके लिये काम नहीं कर रहा था तो क्या कर रहा था? ये सब विचार नितान्त मूर्खतापूर्ण हैं। माताजीके द्वारा दिया हुआ समस्त कार्य माताजीके लिये ही है।

नवम्बर, १९३८

भारी कार्यसे कुछ राहत

कापियां और चिट्ठियां बन्द नहीं कर दी जायगी — किन्तु हफ्तेमें कामका एक दिन (रविवार) मुझे कम करना होगा। पत्र-व्यवहारका परिमाण अत्यधिक बढ़ता जा रहा है और इस काममें सारी रात तथा दिनका भी काफी बड़ा भाग लग जाता है — यह काम उससे अलग है जो माताजी पृथक् रूपसे करती हैं, उन्हें भी अपने दिनके कामके अतिरिक्त रातके अधिकांश समयमें काम करना पड़ता है। यही कारण है कि प्रणामका समय दिन-दिन पीछे हटता जा रहा है, क्योंकि

हम ७॥ बजे या इसके कुछ देर बाद तक भी काम खत्म नहीं कर पाते। फिर बहुत-सा काम बकाया भी पड़ा रहता है और इकट्ठा होता जाता है तथा बहुतसे महत्त्वपूर्ण कार्योंको बन्द कर देना पड़ा है। कुछ भार हलका करना आवश्यक है।

१६-१२-१६३३

प्रबल आकाङ्क्षा

मुझे प्रबल आकांक्षा होती है कि साधक इन सब कलहों और सन्देहोंसे मुक्त हो जायं; क्योंकि जबतक वर्तमान स्थिति बनी रहेगी और इस प्रकारकी आगें चारों ओर सुलगती रहेंगी तथा वायुमण्डल क्षुब्ध रहेगा तबतक, जो काम करनेका मैं यत्न कर रहा हूँ (निश्चय ही अपने लिये या किसी व्यक्तिगत कारणसे नहीं) वह सदा ही संकटसे आक्रांत रहेगा और मुझे नहीं मालूम कि जिस अवतरणके लिये मैं प्रयास कर रहा हूँ वह कैसे सम्पन्न होगा। सच पूछो तो, माताजीको और मुझे अपनी शक्तिका नौ बटा दस भाग स्थितिको शान्त करने, साधकोंको पर्याप्त मात्रामें संतुष्ट रखने आदि, आदि, आदिमें लगाना होता है। एक बटा दस भाग ही असली काममें लग पाता है, माताजीका तो इतना भी नहीं; वह पर्याप्त नहीं।

सितम्बर १६३४

पूर्वेक्षण नहीं

प्र०— मैं समझता था कि हमें आध्यात्मिक अनुभव, विशेषकर बड़े-बड़े अनुभव, तबतक नहीं हो सकते जबतक आपको पहलेसे इस बातका ज्ञान न हो जाय।

उ०— पहलेसे? हा राम, तब तो हमें अपना सारा समय साधकोंके अनुभवोंको पहलेसे देखते रहनेमें लगाना होगा। क्या तुम समझते हो कि माताजीको और कुछ काम नहीं? जहांतक मेरा प्रश्न है, मैं तो किसी चीजको पहलेसे कभी नहीं देखता, मैं केवल देखता और फिरसे देखता हूँ।

१८-१०-१६३६

लिखनेके द्वारा सहायता प्राप्त करना

प्र०— ऐसा समझा जाता है कि आप और माताजी जानते हैं कि हमारे अन्दर क्या चल रहा है, कैसे और किस चीजके लिये हम अभीप्सा कर रहे हैं, कैसे हमारी प्रकृति सहायता तथा मार्गदर्शनके प्रति प्रतिक्रिया कर रही है। तब फिर हमें आपको यह सब लिखनेकी क्या आवश्यकता है?

उ०— तुम्हारे लिये आवश्यक है कि सचेतन होओ तथा अपने आत्म-निरीक्षण-को हमारे सम्मुख रखो; उसके आधारपर ही हम कार्य कर सकते हैं। यदि हम केवल अपने निरीक्षणके आधारपर ही काम करें और साधकके उस अंगमें कोई भी तदनुरूप चेतना न हो तो कुछ भी परिणाम नहीं निकलेगा।
७-१-१९३६

* * *

यह सैकड़ों दृष्टांतोंसे प्रमाणित एक असंदिग्ध तथ्य है कि बहुतोंके लिये अपनी कठिनाइयोंको हमारे सामने ठीक-ठीक रख देना ही निस्तारका सर्वोत्तम साधन होता है और, सदा तो नहीं पर बहुधा यह तुरन्त ही, यहांतक कि तत्क्षण ही निस्तार प्रदान करता है। यह बात साधकोंने केवल यहीं नहीं बल्कि बहुत दूरी पर भी प्रायः ही अनुभव की है, और केवल भीतरी कठिनाइयोंके लिये ही नहीं, बल्कि बीमारीके लिये तथा प्रतिकूल परिस्थितियोंके बाह्य दबावके लिये भी। परन्तु इसके लिये एक विशेष प्रकारकी मनोवृत्तिका होना आवश्यक है —या तो मन और प्राणमें प्रबल श्रद्धाका होना आवश्यक है या आन्तर सत्तामें ग्रहण करने और प्रत्युत्तर देनेका अभ्यास। जहां यह अभ्यास स्थापित हो चुका है वहां मैंने इस विधिको लगभग अचूक रूपसे सफल होते देखा है, यहांतक कि उस समय भी जब कि श्रद्धा अनिश्चित थी या मनोगत बाह्य अभिव्यक्ति धुँधली एवं अज्ञानयुक्त थी अथवा वह अपने रूपमें भ्रांत या अशुद्ध थी। अपिच, यह विधि सबसे अधिक सफल तभी होती है जब लिखनेवाला स्वयं अपने कर्मोंके विषयमें एक साक्षीके रूपमें लिखता है और उनका वर्णन ठीक-ठीक और लग-भग निष्पक्ष यथार्थताके साथ अपनी प्रकृतिकी एक घटना या शक्तिकी एक ऐसी गतिके रूपमें करता है जो उसपर प्रभाव डालती है तथा जिससे वह छुटकारा प्राप्त करना चाहता है। इसके विपरीत, यदि लिखते हुए उसका प्राण उस

विषयके द्वारा अधिकृत हो जाता है जिसके बारेमें वह लिख रहा है और उसकी जगह प्राण ही कलम उठा लेता है,—सन्देह, विद्रोह, विषाद, निराशाके भाव प्रकट करता है और प्रायः उन्हींको पुष्ट करता है, तो मामला बिलकुल और ही हो जाता है। यहां भी कभी-कभी भावप्रकाशन शुद्धिका काम करता है; पर साथ ही अवस्थाका निरूपण आक्रमण को, कम-से-कम उस क्षणके लिये बल भी प्रदान कर सकता है, और उसे बढ़ाता तथा लम्बा करता प्रतीत हो सकता है, शायद तत्कालके लिये उसे उसकी अपनी प्रचण्डताके द्वारा समाप्त करके अन्ततः उससे छुटकारा प्राप्त करा सकता है, पर ऐसा वह विक्षोभ तथा उथल-पुथलके भारी मूल्यके बदलेमें और आवर्त दशमलवकी बार-बार आनेवाली गतिका खतरा मोल लेकर ही कर सकता है, क्योंकि छुटकारा आक्रमण करनेवाली शक्तिके कुछ देरके लिये थक जानेके कारण प्राप्त होता है, न कि साधककी असंदिग्ध स्वीकृति तथा सहयोगके साथ भागवत शक्तिके हस्तक्षेप करने और उसके द्वारा परित्याग और पवित्रीकरण होनेके कारण। एक अस्तव्यस्त संघर्ष होता रहा है और उसके साथ ही गोलमालमें हस्तक्षेप भी, पर शक्तियोंको स्पष्ट रूपसे व्यवस्थित करनेका कार्य नहीं हुआ है—और गोलमाल तथा आवर्तमें सहायक शक्तिके हस्तक्षेपका अनुभव नहीं होता। तुम्हारे संकटोंके समय यही हुआ था; तुम्हारा प्राण अत्यधिक प्रभावित हो जाता था और आक्रामक शक्तिके तर्कोंको संतुष्ट और प्रकट करने लगता था,—इसके स्थानपर कि सजग मन कठिनाईका स्पष्ट रूपसे निरीक्षण और प्रकाशन करता तथा वस्तु-स्थितिको उच्चतर ज्योति और शक्तिकी क्रियाके लिये प्रकाशमें लाता, मामलेको विरोधी पक्षकी ओरसे उग्र रूपमें स्थापित किया जाता था। बहुतसे साधकोंने (यहांतक कि "उन्नत" साधकोंने भी) अपनी कठिनाइयोंको इस प्रकारसे प्रकट करनेकी आदत बना ली थी और कुछ तो अब भी वैसा ही करते हैं; वे अब भी यह नहीं समझ पाते कि असली तरीका यह नहीं है। एक समय आश्रममें यह एक प्रकारका मंत्र बन गया था कि यही करने योग्य कार्य है,—मुझे मालूम नहीं कि इसका आधार क्या था, क्योंकि यह मेरी योग-सम्बन्धी शिक्षाका कभी अंग नहीं रहा,—किन्तु अनुभवसे पता लग चुका है कि यह कोई काम नहीं देता; यह मनुष्यको बार-बार आनेवाले दशमलवके संकेतोंके क्षेत्रमें, संघर्षके अन्तहीन चक्रमें उतार देता है। यह आत्म-उद्घाटनकी उस गतिसे सर्वथा भिन्न है जो सफल होती है (पर यहां भी वह गति आवश्यक रूपसे क्षण भरमें ही सफल नहीं हो जाती, पर फिर भी प्रत्यक्ष रूपमें तथा उत्तरोत्तर सफल अवश्य होती है) और जिसके बारेमें वे लोग सोच रहे हैं जो प्रत्येक बातको गुरुके सामने खोलकर रखनेका आग्रह करते हैं जिससे कि उन (गुरु) की सहायता

अधिक प्रभावशाली रूपमें उपस्थित रहे।

१७-१२-१९३२

सीधा सम्पर्क

प्र०— 'क्ष' ने मुझसे पूछा कि क्या यह सम्भव होगा कि आपसे सीधा सम्पर्क प्राप्त करके, आपका मार्गदर्शन पानेके लिये पत्र लिखनेकी आवश्यकतासे बचा जा सके। मैंने उत्तर दिया कि यह तबतक सम्भव नहीं हो सकता जबतक कोई दूरानुभूति की शक्ति विकसित न कर ले और भीतरसे ही उत्तर ग्रहण न करने लगे। किन्तु तब भी, ग्रहण करते समय उत्तरोंके धुंधले एवं विकृत हो जानेकी संभावना रहेगी जबतक चेतना पूर्णरूपसे आन्तरात्मिक नहीं हो जाती। पूर्ण आन्तरात्मीकरण होनेपर भी सब वस्तुओंको भीतरसे जानना सभव नहीं होगा, उदाहरणार्थ, अधिमानस और अतिमानस-जैसी उच्चतर भूमिकाओंके अनुभवोंसे सम्बद्ध वस्तुओंको, क्योंकि अन्तरात्मा (चैत्य-पुरुष) के पास उनके विषयमें ज्ञान प्राप्त करनेके नहीं। अतएव पत्रों द्वारा भाव-संप्रेषणकी फिर भी आवश्यकता रहेगी। किन्तु शायद माताजीके साथ पूर्ण घनिष्ठता रखनेवाला व्यक्ति पत्र-व्यवहारकी आवश्यकतासे बच सकता है। पर क्या अधिमानसको उपलब्ध कर चुका व्यक्ति भी ऐसी पूर्ण घनिष्ठता प्राप्त कर सकता है?

उ०— मैं समझता हूँ ऐसी पूर्ण घनिष्ठता स्थापित करनेके लिये स्वयं अतिमानसकी आवश्यकता होगी। चैत्य पुरुष इस दिशामें बहुत कुछ कर सकता है यदि उसे सत्ता पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो। अधिमानस और संबोधि इसे अपने-अपने स्तरपर कर सकते हैं, पर यहां उन्हें भौतिक चेतनामें उतरना होता है जो अपने बड़े भारी अन्धकारके साथ हस्तक्षेप करती है। उसके अतिरिक्त मन और प्राणकी पैदा की हुई विकृतियां तो होती ही हैं।

२७-५-१९३४

अशुद्ध प्रेरक-भावोंका आरोप

तुम माताजीपर बहुत ही अधिक प्रेरक-भावोंका आरोप लगाते हो — उदाहरणार्थ, कि वे प्रारम्भमें प्राणको स्व-तुष्टिके लिये प्रश्रय देकर प्रलोभित करनेकी

चेष्टा करती हैं। उनका ऐसा कोई उद्देश्य नहीं होता। वे तो सत्ताके साथ सरल-स्वाभाविक ढंगसे बरताव करती हैं—जो कोई परिवर्तन होता है वह स्वयं उनके कार्यमें नहीं, बल्कि उस कार्यके विषयमें प्राणपर पड़े संस्कारोंमें होता है—हां, उस परिवर्तनकी बात दूसरी है जो चेतनामें परिवर्तनके कारण आवश्यक हो जाता है। पहले तुम अधिकांशमें उच्चतर मनसे लिख रहे थे, पर कुछ अंशमें प्राणसे—प्राण प्रायः मेरे उत्तरोंसे असन्तुष्ट रहता था, अतः मैंने उसे उत्तर देना बन्द कर दिया और केवल वही कुछ लिखता था जिससे तुम्हारे उच्चतर मन और चैत्यको सहायता मिले। अब तुम बहुधा स्थूल मन और प्राणसे ही लिखते हो और इसी लिये मेरे उत्तर भी निश्चय ही उन्हींके लिये होते हैं और वे अनुभव करते हैं कि उन्हें उनका अभीष्ट उत्तर नहीं दिया जाता या योगासक्तिके उस स्वरमें नहीं दिया जाता जिसे वे पसन्द करेंगे। किन्तु उन्हें तुष्ट करना और भोगके लिये बढ़ावा देना तुम्हारी साधनामें सहायक नहीं होगा।

६-१२-१९३५

अशुद्ध व्याख्याएं और गलत परिणाम

मैं तुमसे बराबर कहता आया हूँ कि कोई साधक जो कुछ कहे या सोचे उसे तुम्हें प्रामाणिक या माताजीसे आया विचार नहीं मान लेना चाहिये। जब वे यह कहें कि वह मुझसे या माताजीसे आ रहा है तब भी उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रायः वह उनके मनोंमें रहनेवाला विचार होता है जिसे वे हमारा भी समझ लेते हैं या वह किसी विशेष प्रसंगमें हमने जो कहा होता है उसका मिथ्याबोध होता है, पर उनके मन उसे ऐसी चीजपर लागू कर देते हैं जिसके साथ उसका सम्बन्ध नहीं था या फिर वे उसे सभी चीजोंपर सामान्य रूपसे प्रयुक्त कर देते हैं। कोई भी साधक क्यों न हो वह हमारे स्थान-पर, हमारे प्रतिनिधिके रूपमें कार्य नहीं कर सकता अथवा हमारी ओरसे कोई बात नहीं कह सकता। प्रत्येक व्यक्तिके विषयमें ऐसा समझना चाहिये कि वह अपनी ओरसे अपना ही विचार या हृद्भाव प्रकट कर रहा है।

३-६-१९३७

* * *

लोग प्रायः ही मेरी लिखी हुई या माताजीकी कही हुई किसी बातको पकड़

लेते हैं, उसे उसके सच्चे अर्थसे सर्वथा भिन्न या बहुत दूरका अर्थ देकर उससे एकदम चरम तथा 'तर्कसंगत' परिणाम निकाल लेते हैं जो हमारे ज्ञान और अनुभवके सर्वथा विपरीत होता है। मेरी समझमें यह स्वाभाविक ही है, और विरोधी शक्तियोंकी क्रीड़ाका एक अंग है। इस प्रकारके तीव्र तर्कसंगत परिणामों-पर पहुँचना बहुपक्षी और समग्र सत्यको देखनेकी अपेक्षा कहीं अधिक सुगम है।

मई १९३३

आध्यात्मिक सफलताके दो सहायक तत्त्व

सहायता (मैं ऊपरसे होनेवाले भागवत हस्तक्षेपकी नहीं बल्कि अपनी तथा माताजीकी सहायताकी बात कह रहा हूँ) उपस्थिति रहेगी। तुम्हारे स्थूल मनके बावजूद भी यह कारगर हो सकती है, पर जिस स्थिर क्रियाशील संकल्प-की मैं बात कह रहा हूँ वह यदि इसके यंत्रके रूपमें मौजूद हो तो यह अधिक असर कर सकती है। आध्यात्मिक सफलतामें सदा ही दो तत्त्व होते हैं—मनुष्यका अपना स्थिर संकल्प एवं प्रयत्न और साथ ही वह शक्ति जो किसी-न-किसी प्रकार सहायता करती है तथा प्रयत्नका फल प्रदान करती है।

२६-१-१९३४

रक्षापर निर्भरता

तुम्हें माताजीकी तथा मेरी रक्षाका आश्रय लेनेके सामर्थ्य और स्वभावका विकास करना होगा और यही कारण है कि बाह्य मनके द्वारा आलोचना तथा विचार करने या उसकी पूर्व-कल्पित धारणाओं एवं रचनाओंको पोसनेकी आदत दूर हो जानी चाहिये। जब-जब यह आदत सिर उठानेका यत्न करे तब-तब तुम्हें सदैव अपने अन्दर ये शब्द दुहराने चाहियें, "श्रीअरविन्द और माताजी मुझसे अधिक अच्छा जानते हैं—उन्हें वह अनुभव और ज्ञान प्राप्त है जो मुझे प्राप्त नहीं है—निश्चय ही वे सर्वोत्तम हितके लिये और साधारण मानव ज्ञानके प्रकाशसे महत्तर प्रकाशके द्वारा कार्य कर रहे होंगे।" यदि तुम इस विचारको अपने अन्दर इस प्रकार जमा सको कि यह मेघाच्छन्न क्षणोंमें भी स्थिर बना रहे तो तुम आसुरी मायाके सुझावोंका सामना बहुत आसानीसे कर सकोगे।

* * *

माताजीके साथ तुम्हारी अन्तरात्माके संबंधके प्रति तुम्हारे स्थायी रूपसे सचेतन रहनेके विरोधमें तुम्हारा स्थूल मन जो उदासी की घटा ले आता है उससे तुम्हें मुक्त करनेके लिये माताजी और मैं सब कुछ करेंगे,—पर ऐसा करो कि उससे छुटकारा पाने और हमारी शक्तिकी सहायताको पुकारनेके लिये तुम्हारा चिन्तनशील मन अपने संकल्पमें दृढ़ रहे।

६-२-१९३६

आन्तरिक उपस्थिति

प्रसन्न रहो और भरोसा रखो। इसमें सन्देह नहीं कि संशय और कामना अपने दल-बलके साथ वहां हैं पर भगवान् भी वहां तुम्हारे अन्दर उपस्थित हैं। अपनी आंखें खोले रखो और निरन्तर देखते रहो जबतक पर्दा फट न जाय और तुम भगवान् या भगवती मांको देख न लो!

३०-१२-१९३३

* * *

नहीं — जब हम किसीको पहली बार आशीर्वाद देते हैं तो हम उसके अन्दर अपनी प्रतिच्छवि नहीं रख देते। परन्तु यदि तुम भीतर बराबर देखते रहो तो एक दिन माताजीको वहां पा लोगे।

मुक्त करनेके लिये दबाव

हमें खेद है कि तुमने इतना अधिक कष्ट भोगा है। माताजीने अपना दबाव तुम्हें चोट पहुँचानेके लिये नहीं बल्कि मुक्त करनेके लिये डाला था। तुम्हारे संघर्षोंमें तुम्हारे प्रति सदा गहरा स्नेह एवं सहानुभूति रखते हुए ही उन्होंने तुम्हें बराबर सहायता पहुँचानेका यत्न किया है। मुझे विश्वास है कि तुम शीघ्र ही अपनी मानसिक विश्रांति और शांति पुनः प्राप्त कर लोगे। मैं तुम्हें समस्त सम्भवनीय सहायता देनेका यत्न करूँगा।

२३-१-१९३५

शक्तिके प्रति ग्रहणशीलता और वैयक्तिक सम्पर्क

मेरी व्यक्तिगत सेवा करनेवालोंमें शामिल होनेके 'क्ष'के सुझावको स्वीकार करना सम्भव नहीं। वे अपनी साधनामें सहायताके रूपमें नहीं बल्कि किन्हीं व्यावहारिक कारणोंसे इस काममें लिये गये थे। वास्तवमें, इस विषयमें भी कुछ गलत धारणा विद्यमान है। लगातार वैयक्तिक सम्पर्क आवश्यक रूपसे शक्तिकी क्रियाको नहीं ले आता। हृदयको श्रीरामकृष्णके साथ ऐसा व्यक्तिगत सम्पर्क तथा उनकी व्यक्तिगत सेवाका अवसर प्राप्त था, पर उसने एक अवसरको छोड़कर और कभी कुछ भी प्राप्त नहीं किया और उस अवसरपर भी गुरुने उसके अन्दर जो शक्ति और अनुभूति स्थापित की थी उसे वह धारण नहीं कर सका। अपने-आपको खो देनेकी जो अनुभूति 'क्ष'को प्राप्त हुई थी वह दर्शन तथा माताजीको प्रणाम करनेके विशेष अवसरोंपर प्राप्त हुई थी। उसके अन्दर जो यह प्रतिक्रिया हुई उससे पता चलता है कि वह शक्तिको प्रत्युत्तर दे सकता है, या जैसा कि हम कहते हैं, उसमें ग्रहणशीलता है, और यह एक बड़ी चीज है, क्योंकि यह सबमें नहीं होती और जिनमें यह होती भी है वे सदा इसका कारण नहीं बल्कि केवल इसका परिणाम ही जानते हैं। परन्तु उसे तर्क-वितर्क कम करना चाहिये और अपने आपको खुला रखनेका यत्न करना चाहिये जैसे कि वह उन क्षणोंमें खुला था। यदि मैंने शक्तिके विषयमें लिखा है तो उसका कारण यह है कि माताजीको और मुझे, दोनोंको ऐसे हजारों अनुभव हुए हैं जिनमें शक्तिने कार्य किया और प्रत्येक प्रकारके परिणाम उत्पन्न किये। शक्तिविषयक इस विचारके साथ किसी सिद्धांत या तर्क-वितर्क का कोई सम्बन्ध नहीं वरन् यह तो प्रत्येक योगीके सतत अनुभव का विषय है; यह उसकी सामान्य यौगिक चेतना तथा अनवरत आध्यात्मिक कार्यका अंग है।

२८-५-१९४५

प्र०— क्या यह सम्भव नहीं कि आपके या माताजीके साथ अधिक बाह्य सामीप्य एवं घनिष्ठताका अर्थ हो कम अभीप्सा और कम अन्तर्विकास ?

उ०— यह व्यक्ति पर निर्भर है। कुछ लोग लाभ उठाते हैं, कुछ नहीं। इस विषयमें कोई सामान्य स्थापना नहीं की जा सकती।

१८-८-१९३३

शक्तिको अचेतन रूपसे ग्रहण करना

यह सत्य नहीं है कि तुमने हमसे कभी शक्ति नहीं प्राप्त की है; तुमने उसे बहुत अधिक प्राप्त किया है; हां, इतना कहा जा सकता है कि तुम उससे सचेतन नहीं थे, पर ऐसा तो बहुतोंके साथ होता है। निश्चय ही, कोई भी साधक उस सारी शक्तिको ग्रहण या प्रयुक्त नहीं करता जिसे माताजी भेजती हैं, पर यह तो एक सामान्य तथ्य है, तुम्हारे लिये ही कोई निराली बात नहीं।

२९-५-१९३६

* * *

प्र०– 'क्ष' यह सोचता प्रतीत होता है कि माताजी आपसे अधिक कठोर हैं।

उ०– इसका कारण यह है कि परिवर्तन साधित करनेके लिये माताजीका दबाव सदा ही प्रबल होता है — जब वे उसे शक्तिके रूपमें नहीं डालतीं तब भी वह उनके अन्दरकी भागवत ऊर्जाके असली स्वभावके कारण ही वहां उपस्थित होता है।

११-३-१९३७

सूक्ष्म शरीरपर शक्तिकी क्रिया

अब स्वप्नके विषयमें — वह स्वप्न नहीं था, बल्कि सचेतन स्वप्नावस्था किंवा स्वप्न-समाधिमें आन्तर सत्ताका एक अनुभव था। सत्ताकी निःस्पंदता और उसकी यह अनुभूति कि चेतना खोई ही जानेवाली है; सदा ही शक्तिके उस दबाव या अवतरणके कारण उत्पन्न होती है जिसका शरीर अभ्यस्त नहीं है, पर जिसे वह प्रबल रूपमें अनुभव करता है। यहां जिसपर सीधे दबाव डाला जा रहा था वह स्थूल शरीर नहीं वरन् सूक्ष्म शरीर था जिसमें अन्दरकी सत्ता अधिक अन्तरंग रूपसे निवास करती है और जिसमें यह निद्रा या समाधि या मृत्युके समय बाहर जाती है। परन्तु इन जीवन्त अनुभवोंमें स्थूल शरीरको ऐसा प्रतीत होता है मानों स्वयं उसीको अनुभव हो रहा हो। निःस्पंदता उसके अन्दर दबावके कारण उत्पन्न हुई थी। सारे शरीरपर दबाव पड़नेका अर्थ होगा सम्पूर्ण आन्तर चेतनापर दबाव, शायद किसी ऐसे हेर-फेर या परिवर्तनके

लिये जो उसे ज्ञान या अनुभवके लिये अधिक तैयार कर देगा; तीसरी या चौथी पसली प्राणिक प्रकृतिसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रदेश, अर्थात् प्राण-शक्तिके स्तरको, वहांपर होनेवाले परिवर्तनके लिये किसी दबावको सूचित करती है।

हाथका बल, भारीपन निश्चित रूपसे यह सूचित नहीं करता कि वह मेरा है—क्योंकि वह अनुभव न तो स्थूल हाथका था न स्थूल शरीरमें ही हुआ था, बल्कि वह सत्ताके सूक्ष्म स्तरोंमें हुआ था और वहां माताजीका स्पर्श और दबाव मेरी अपेक्षा अधिक प्रबल और भारी हो सकता है। माताजीको तिथि याद नहीं है, पर एक रात उस समयके लगभग उन्हें तीव्र रूपमें उस साधिका-का ख्याल आ रहा था और वे आध्यात्मिक उद्घाटनकी किसी बाधाको दूर करनेके लिये दबाव डाल रही थीं। सम्भव है कि इसी चीजने अनुभवको उत्पन्न किया हो। यदि वहां मेरी उपस्थिति विद्यमान थी तो यह उस समयकी बात होगी जब मैं एकाग्र होकर विभिन्न व्यक्तियोंको शक्ति भेज रहा था, पर मुझे कुछ भी ठीक-ठीक याद नहीं है। निःसंदेह मुझे अनेक बार उसका विचार आया है और मैंने उसकी सहायताके लिये शक्ति प्रेषित की है।

शक्तिकी क्रियासे भौतिक रूपमें सचेतन होना हमारे लिए सदा आवश्यक नहीं, क्योंकि प्रायः यह उस समय की जाती है जब मन बाह्य पदार्थोंमें व्यस्त होता है या जब हम सो रहे होते हैं। माताजीकी निद्रा निद्रा नहीं बल्कि एक आन्तरिक चेतना होती है जिसमें उनका लोगोंसे सम्बन्ध होता है या वे सर्वत्र कार्य कर रही होती हैं। उस समय वे सब बातोंसे सचेतन होती हैं पर वे उन सबको सदा अपनी जाग्रत् चेतना या स्मृतिमें नहीं रखतीं। उनके व्यस्त जाग्रत् मनमें किसीकी पुकार ऐसे आती है जैसे किसी आनेवाले व्यक्तिका ख्याल आता है—उनकी अधिक मुक्त या एकाग्र अवस्थामें वह ऐसे आती है जैसे संबधित व्यक्तिका संवाद आता है; अधिक गहरी एकाग्रतामें या नींद या समाधि-में वे उस आदमीको अपने पास आते तथा बातचीत करते देखती हैं या वे स्वयं वहां जाती हैं। इसके अतिरिक्त, जहां कहीं शक्ति कार्य कर रही होती है, वहां उपस्थिति विद्यमान होती है।

२८-९-१९३६

प्राणिक स्तरपर भिन्न रूपका दिखाई देना

स्वप्नमें माताजीको या मुझे हमारे वर्तमान रूपसे भिन्न अन्य रूपमें देखना सर्वथा स्वाभाविक है। ये स्वप्न प्राणिक स्तरके अनुभव होते हैं जहां रूप उतने

कठोर नहीं होते जितने भौतिक जगत्में।

१-६-१९३७

सतत उपस्थिति

यह बिलकुल पक्की बात है कि हम दिन-रात तुम्हारे साथ हैं; चाहे तुम अभी अपने स्वप्नोंमें माताजीको नहीं देखते या उनकी उपस्थिति नहीं अनुभव करते, फिर भी तुम्हें यही सोचना चाहिये कि वे वहां हैं और तुम्हें सहारा दे रही हैं और इससे तुम्हें निश्चय ही सहायता प्राप्त होगी।

यदि यह तुम्हारे मनकी स्वाभाविक क्रिया है कि वह तुम्हारे वर्णन किये हुए ढंगसे शिवके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है और फिर वह मेरी और माताजीकी ओर छलांग लगा देता है तो उसे छलांग क्यों न लगाने दी जाय? सम्भवतः यह छलांग नहीं, स्वाभाविक संक्रमण है, संघर्ष नहीं, समन्वय है। निश्चय ही तुम्हारे प्रणामोंको हम सदा स्वीकार करते हैं और सदा करेंगे भी।

अवतरणका अनुभव

प्र०— कल सांझके बाद मुझे अनुभव हुआ मानों जगत्के ईश्वरीय विधानमें कोई अभिनन्दनीय महापरिवर्तन हो गया हो। मैं ध्यानमें सम्मिलित हुआ और सारे स्थानको स्थिरता और निश्चल-नीरवतासे परिपूर्ण अनुभव किया। मुझे लगा कि मैं निःसीम विशालताके बीच ध्यानमें अकेले बैठा हूँ। सब-के-सब साधक एक ही बन गये थे, एक ही ठोस पुञ्ज; और उस पुंजीभूत देहके ऊपर एक ज्योति शान्त, नीरव, स्थिर और निश्चल था। तुरन्त ही मैंने अपने अन्दर अनेकों कमल देखे। तब एक विराट् महापुरुष उतरे, डील-डौलमें हिमालय-जैसे, रूप श्रीअरविन्दका। वे, मानों पृथ्वीको उनका भार सहनेमें असमर्थ देखकर, श्रीमांके पीछे स्थित थे और अपने हाथ श्रीमांके कंधोंपर रखे थे। सारे-का-सारा संसार नीरवता और आनन्दसे ओत-प्रोत हो रहा था। उस दृश्यका वर्णन करना मेरी शक्तिसे परे है। एक अपरिमेय शक्तिकी लहर-पर-लहर मेरे अन्दर दौड़ती चली आई। मेरा सांस जल्दी-जल्दी चलने लगा और छोटा हो गया। धीरे-धीरे हर एक चीजपर नीरवता छा गई। उसने मुझे यह सोचने को प्रेरित किया कि माताजी हमें यौगिक निद्रामें

लीन छोड़कर चली गई होंगी। तब चुपकेसे एक चौकस चोरकी तरह मैंने अपनी आंखें खोलीं और मुझे सामने एक हिममय धवल आकृति दिखाई दी,—स्थिर, निश्चल, कठिन-कठोर, प्रतिमा-सी, मानों निर्जीव हो। क्या मेरा अनुभव सच्चा था ?

उ०— तुम्हें जो अनुभव हुआ वह सच्चा था, क्योंकि उस दिनके ध्यानमें कोई ऐसी चीज अवतरित हुई थी जो पहले नहीं उतरी थी और तुम्हारा अनुभव तुम्हारी चेतनामें इस अवतरणका एक प्रकारका व्याख्याकारी रूप था। तुम इसे इस प्रकार अनुभव कर पाये — यह बात दर्शाती है कि तुम्हारा यहां रहना तुम्हारे लिये अत्यन्त लाभप्रद रहा है और उसने तुम्हारी चेतनाको सच्चे साक्षात्कारके लिये तैयार कर दिया है। इसके लिये सामर्थ्य अब तुम्हारे अन्दर है। तुम्हारी भावी साधना अनुभवसे साक्षात्कारकी ओर प्रगति-रूप होनी चाहिये।

११-९-१९३६

चैत्य अनुभव

प्र०— दर्शनके दिन (१५ अगस्तको) और उससे पहले दिन मैंने अपने अन्दर आपके तथा माताजीके लिये प्रगाढ़ प्रेमका अनुभव किया। कुछ कालके लिये उसने मेरी सारी सत्ताको अपने अधिकारमें कर लिया। और तब अनुभूत हुआ आप दोनोंके लिये एक ऊंचा और गहरा आदर-भाव — और "एक आनन्द जिसे कोई सांसारिक सुख हमें प्रदान नहीं कर सकता"।

उ०— यह स्पष्ट ही एक चैत्य अनुभव है।

२५-८-१९३४

शर्त्तोंके अधीन शक्तिका कार्य

शक्तिके सम्बन्धमें मैं किसी और समय लिखूंगा। मैं तुम्हें बता ही चुका हूं कि वह सदैव सफल नहीं होती, बल्कि सभी शक्तियोंकी भांति किन्हीं विशेष अवस्थाओंमें कार्य करती है; केवल अतिमानसिक शक्ति ही एक ऐसी शक्ति है जो निरपेक्ष रूपमें कार्य करती है, क्योंकि वह अपनी अवस्थाएं आप उत्पन्न कर लेती है। परन्तु जिस शक्तिका मैं प्रयोग कर रहा हूं वह एक ऐसी शक्ति

है जिसे जगत्‌की वर्तमान अवस्थाओंके अधीन कार्य करना होगा। पर इस कारण उसके अन्दर शक्तित्व कुछ कम हो ऐसी बात नहीं। उसके द्वारा मैंने अपनी तीन बीमारियोंके सिवा बाकी सभी बीमारियोंको अच्छा कर लिया है। और इन तीनोंको भी, जबसे वे आयी हैं, मैंने रोक रखा है; मेरा इन तीनोंके आने या आनेकी सम्भावनाको अभीतक दूर करनेमें सफल न होना अन्य रोगोंपर प्राप्त मेरी सफलताकी बातको रद्द नहीं करता। जहांतक माताजीका सम्बन्ध है, वे पहले उसी शक्तिसे प्रत्येक रोगको तुरन्त ठीक कर लिया करती थीं — अब उन्हें अपनी देहकी चिंता करने या अपनेको उसपर एकाग्र करनेका समय नहीं है। यह ठीक है कि ठीक इस समय बीमारीका जोर है; यह उस संघर्षका अंग है जो जड़ प्रकृतिके क्षेत्रमें चल रहा है। पर फिर भी आश्रममें ऐसे बहुत लोग हैं जो माताजीपर भरोसा रखनेके कारण अपनी व्याधियोंसे मुक्त हो जाते हैं। यदि सब ऐसा नहीं कर पाते तो उससे भला क्या साबित होता या नहीं होता है? उससे तो केवल यही सिद्ध होता है कि शक्ति सम्पूर्ण, अद्भुत तथा असम्भव रूपसे कार्य नहीं करती, बल्कि कुछ नियत साधनोंके द्वारा तथा कुछ शर्तोंके अधीन कार्य करती है। मैंने सदैव यही कहा है, सो, इसमें भला ऐसी कौन-सी चीज है जो नई हो या जो योगके सत्यका खण्डन करती हो?

६-२-१९३५

रोग दूर करनेके लिये शक्तिकी ग्रहणशीलता

मेरा मतलब है चेतनाके अन्दर एक प्रकारकी ग्रहणशीलता — मन, प्राण, शरीरमेंसे चाहे जिस किसीमें इसकी आवश्यकता क्यों न हो। श्रीमां या मैं एक शक्ति भेजता हूं और अगर साधकमें कोई उद्‌घाटन न हो तो शक्ति वापस आ सकती है अथवा वह दूर फेंक दी जा सकती है (बशर्ते कि हम तीव्र शक्तिका प्रयोग न करें — जिसका प्रयोग करना उचित नहीं) — जैसा कि कोई बाधा या विरोध होनेपर देखनेमें आता है। अगर थोड़ा-सा उद्‌घाटन हो तो फल आंशिक या धीमा हो सकता है; अगर पूर्ण उद्‌घाटन या ग्रहणशीलता हो तो फिर परिणाम तुरत हो सकता है। निस्संदेह, ऐसी चीजें भी होती हैं जो सब-की-सब तुरत-फुरत नहीं दूर की जा सकतीं, क्योंकि वे प्रकृतिका पुराना अंश होती हैं, परन्तु ग्रहणशीलता होनेपर उनके साथ भी अधिक सफलता और शीघ्रताके साथ निपटारा किया जा सकता है। कुछ लोग इतने खुले होते हैं कि वे खाली लिखनेसे ही, उनकी पुस्तक या चिट्ठी हमारे पास पहुँचनेसे पहले

ही, उन सबसे मुक्त हो जाते हैं।

८-६-१९३३

* * *

यह इस बातपर निर्भर करता है कि आन्तर सत्ता कहांतक जागरित है—अन्यथा मनुष्यको किसी स्थूल अवलम्बनकी आवश्यकता होती ही है। कुछ लोग ऐसे हैं जो केवल तभी सहायता पाते हैं जब पत्र पढ़ लेते हैं, दूसरे लिखनेके साथ ही या हमारे पास पत्र पहुँचनेसे पहले ही या पत्र पहुँचनेके बाद पर पढ़े जानेसे पहले ही सहायता पाते हैं। अन्य कई केवल मन-ही-मन सारी बात हमारे सामने रख देनेसे ही उसे पा जाते हैं। अपनी-अपनी प्रकृति !

मार्च, १९३५

ठीक सूचना देनेकी आवश्यकता

प्र०— यदि व्यक्तिगत रूपसे अपरिचित किसी व्यक्तिके बीमार होनेकी सूचना आनेपर श्री माताजी या आप उसपर आध्यात्मिक रूपसे क्रिया करना आरम्भ कर दें और उसके बाद उस व्यक्तिके परिचयके सम्बन्धमें कोई गलत सूचना दी जाय तो क्या भेजी हुई सहायता अपने लक्ष्यसे चूक जाती है ?

उ०— क्रिया करते समय जो गलत सूचना आती है वह गड़बड़ी पैदा करती है जिससे कि फिर यह कहना सम्भव नहीं होता कि परिणाम क्या हो रहा है। निःसंदेह, यदि आरम्भमें ही गलत सूचना आये तो वह और भी बुरा होता है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि जो सूचना दी जाय वह ठीक हो।

१०-६-१९३५

ऐलोपैथ और होमियोपैथ डाक्टरोंके द्वारा शक्तिका कार्य

माताजीको और मुझे ऐलोपैथीके प्रति कोई पक्षपातका भाव नहीं है। माताजीका ख्याल है कि अधिक मामलोंमें डाक्टर अच्छा करनेकी जगह बुरा ही अधिक करते हैं, क्योंकि वे अपनी दवाइयां अधिक मात्रामें और गलत तरीकेसे प्रयुक्त कर बीमारीका मुकाबला करनेकी शक्ति नष्ट कर देते हैं। हम लोग अन्य किसी

चीजसे बहुत अधिक 'र' की होमियोपैथीके द्वारा कार्य करनेमें समर्थ हुए हैं — यद्यपि यह सम्भव है कि उन होमियोपैथिक डाक्टरोंके द्वारा, जो सचेतन यंत्र नहीं थे, कार्य करनेवाली शक्ति को ऐलोपैथिक डाक्टरोंके द्वारा काम करने की अपेक्षा अधिक सफलता न मिलती।

आश्रममें मृत्यु पानेवालोंको सहायता

> प्र०— आश्रममें होनेवाली मृत्यु और बाहर होनेवाली मृत्युमें क्या भेद है? क्या व्यक्ति इस रूपमें अधिक लाभ प्राप्त करता है कि उसका मन तथा अन्य भाग सूक्ष्म स्तरोंपर विकास प्राप्त करते हैं जिससे वह एक अधिक अच्छा नया जन्म प्राप्त कर सके?

उ०— अपने-अपने स्तरपर "मन आदिके किसी प्रकारके विकास" के विषयमें मुझे कुछ पता नहीं; विकास पृथ्वीपर ही होता है। मन तथा अन्य भूमिकाएं विकसनशील नहीं।

जो व्यक्ति यहां मरता है उसे चैत्य लोककी ओर उसकी यात्रामें तथा भगवान्‌की ओर उसके भावी विकासमें सहायता दी जाती है।

१४-१२-१९३६

साधना और खेल-कूद

निश्चय ही, हम आश्रममें केवल खिलाड़ी-ही-खिलाड़ी नहीं देखना चाहते: इससे तो यह आश्रम न रहकर खेलका मैदान बन जायगा। खेल तथा शारीरिक व्यायाम मुख्यत: स्कूलके बच्चोंके लिये हैं और वे भी केवल खेल ही नहीं खेलते बल्कि उन्हें अपनी पढ़ाई-लिखाईमें भी ध्यान देना होता है। संयोगवश स्वास्थ्य, नियमपालन और आचार-व्यवहारमें उन्होंने बहुत अधिक उन्नति की है जो एक बहुत ही बहुमूल्य परिणाम है। दूसरे, युवक साधकोंको इन खेलोंमें सम्मिलित होनेकी अनुमति दी गई है, पर आदेश नहीं, यहांतक कि परामर्श भी नहीं। पर अवश्य ही ऐसा नहीं माना जाता कि वे केवल खिलाड़ी ही बनेंगे, उन्हें कई अन्य अधिक आवश्यक कार्य भी करने हैं। निश्चय ही, खिलाड़ी बनना अपनी इच्छासे चुनाव करनेका विषय है और इस बातपर निर्भर करता है कि व्यक्तिको इस विषयमें रस एवं रुचि है या नहीं। स्वयं माताजीके इर्द-गिर्द भी ऐसे बहुतसे लोग हैं — उदाहरणार्थ 'क्ष'—जिन्हें बराबर खेलके मैदानमें

आने-जानेका या खेलोंमें भाग लेनेका कभी स्वप्नमें भी विचार नहीं आयगा और न माताजीके मनमें ही कभी यह विचार आयगा कि वे उन्हें ऐसा करनेको कहें। ठीक इसी प्रकार, इन आमोद-प्रमोदोंसे वचनेके कारण तुमसे अप्रसन्न होनेकी बात भी उनके मनमें कभी नहीं आयगी। अवश्य ही, कुछ लोग पूछ सकते हैं कि योगाश्रममें भला कोई खेल हो ही क्यों? आश्रमको तो ध्यान और आन्तरिक अनुभवोंसे तथा जीवनसे भागकर ब्रह्ममें लीन हो जानेसे ही मतलव होना चाहिये। परन्तु यह वात उन सामान्य ढंगके आश्रमोंपर ही लागू होती है जिनके हम अभ्यासी बने हुए हैं। किन्तु यह उस ढंगका पुराणपंथी आश्रम नहीं है। यह जीवनको योगके अन्दर समाविष्ट करता है, और जब एक बार हम जीवनको स्वीकार कर लेते हैं तब हम किसी भी चीजको समाविष्ट कर सकते हैं जो जीवनके अन्तिम तथा तात्कालिक उद्देश्यके लिये उपयोगी मालूम हो तथा आत्माके कार्योंके साथ मेल खाती हो। आखिरकार, पुराणपंथी आश्रमोंका जन्म तो तभी हुआ जब ब्रह्मने संसारसे सब प्रकारका सम्वन्ध-विच्छेद करना शुरू किया तथा बौद्ध धर्मकी छाया समस्त देशपर छा गयी और आश्रम विहारों या मठोंमें परिणत हो गये। पुराने आश्रम एकदम इस तरहके नहीं थे। उनमें जिन बालकों एवं युवकोंका पालन -पोषण होता था उन्हें जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले बहुतसे विषयोंकी शिक्षा दी जाती थी। पुरुरवा और उर्वशीके पुत्रने एक ऋषिके आश्रममें धनुर्विद्याका अभ्यास किया और वह एक निपुण धनुर्धारी बना रहा और कर्ण एक महान् ऋषिके शिष्य बने ताकि वह उनसे शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्रोंका उपयोग करंना सीख सकें। अत: ऐसा कोई समुचित कारण नहीं जिससे हमारे आश्रम-जैसे आश्रमके जीवनसे, जहां हम जीवनको आत्माकी बराबरीका स्थान देनेकी चेष्टा कर रहे हैं, खेलोंका बहिष्कार कर दिया जाय। यहां तक कि टेबल-टेनिस और फुटवालको भी कठोरतापूर्वक बहिष्कृत करनेकी आवश्यकता नहीं। परन्तु इन सब हंसी-मजाककी बातोंको एक ओर रख दें, और मेरा कहना यह है कि खेलना या न खेलना अपनी पसन्द या इच्छाकी बात है और खिलाड़ी बननेकी परवा न करनेके कारण जैसे 'क्ष' से वैसे ही तुमसे नाराज होना माताजीके लिये मूर्खतापूर्ण होगा। अत: इस आधारपर तुम्हें आशंका करनेकी कोई आवश्यकता नहीं; इसके कारण माताजीका तुमसे नाराज होना सर्वथा असम्भव है। इसलिये यह विचार कि किसी कामके करने या न करनेके कारण वे तुमसे परे खिंच जाना चाहती थीं एक गलतफहमी थी जिसका कोई वास्तविक आधार नहीं था, क्योंकि इसके लिये तुमने कोई अवसर ही नहीं दिया और उनके मनसे कुछ भी ओझल नहीं था। उन्होंने स्वयं ही बतलाया है कि पिछले कुछ दिनोंसे

उनके मनमें जो भाव था वह ठीक इसके विपरीत था और तुम्हारे लिये जो उनकी इच्छा और भावना थी वह बढ़ती हुई दयालुताकी ही थी। तुमसे वे जिस एकमात्र परिवर्तनकी आशा कर सकती थीं वह था अपने आन्तरात्मिक एवं आध्यात्मिक प्रयास तथा अन्तर्विकासमें अग्रसर होना और इस में तुम चूके नहीं हो — बल्कि, इसके विलकुल विपरीत, तुम इसमें सफल ही हुए हो। यह सोचना कि चूँकि किसी एक नमूनेके अनुसार तुम परिवर्तित नहीं हुए इस-लिये वे नाराज होंगी, एक जंगली विचार है; यह तो एकदम मनमानी और युक्तिहीन बात होगी।

१०-७-१९४८

* * *

माताजी यह नहीं चाहतीं कि यदि किसीके अन्दर खेलोंके लिये रुचि या स्वा-भाविक झुकाव न हो तो भी वह उनमें सम्मिलित हो। सम्मिलित होना या न होना, सर्वथा ऐच्छिक होना चाहिये और जो लोग सम्मिलित नहीं होते उन्हें उसके कारण माताजी उदासीनता या घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखतीं। ऐसा भाव धारण करना माताजीके लिये मूर्खतापूर्ण होगा: ऐसे लोग भी हैं जो निष्ठापूर्वक उनकी सेवा करते हैं जिसकी वे अत्यधिक सराहना करती हैं और जिन्हें वे स्नेह और विश्वासकी दृष्टिसे देखती हैं पर जो रुचि या समयके अभाव-के कारण खेलके मैदानमें कभी नहीं ज़ाते,—क्या तुम यह कल्पना कर सकते हो कि इसी कारण वे उनसे मुँह मोड़ लेंगी तथा उन्हें उदासीन भावसे देखेंगी? माताजी कभी यह इच्छा नहीं कर सकतीं कि खेल आश्रमके सदस्योंका एकमात्र या प्रधान धंधा हो जाय; यहांतक कि स्कूलके बच्चोंको भी,—जिनके शारीरिक विकासके लिये ये खेल तथा विशेष व्यायाम महत्त्वपूर्ण हैं और जिनके लिये ये मूलत: शुरू हुए थे — और कई काम करने होते हैं, अपना काम-काज, अध्ययन तथा अन्य कार्य और आमोद-प्रमोद जिनमें वे इन व्यायामोंके समान ही दिलचस्पी रखते हैं। इससे भी अधिक आवश्यक और चीजें हैं: योग, आध्या-त्मिक विकास, भक्ति, आराधना, सेवा......।

मेरी समझमें नहीं आता कि इससे तुम्हारा क्या अभिप्राय है कि मैं "खेलोंके लिये समय देता हूँ": इनके लिये मैं कोई समय नहीं दे रहा हूँ सिवा इसके कि मैंने माताजीके अनुरोधसे बुलेटिनके प्रथम अंकके लिये एक लेख लिखा है तथा एक और आगामी अंकके लिए भी। खेलोंकी व्यवस्थाका शेष सब काम स्वयं माताजी ही कर रही हैं और स्पष्ट ही, वह उन्हें करना ही चाहिये,

जबतक कि वह इतना काफी संगठित नहीं हो जाता कि वह स्वयमेव चलता रहे और माताजीका ऊपर से उसका सामान्य निरीक्षण तथा दिनमें एक बार वहां स्वयं उपस्थित होना ही पर्याप्त हो। आश्रमके अन्य समस्त कार्यकी भांति इसमें भी मैं उनकी सहायताके लिये अपनी शक्तिका प्रयोग करता हूँ, पर वैसे मैं खेलोंके लिये कोई समय नहीं दे रहा।

४-३-१९४९

* * *

खेलोंको योगके लिये या माताजीकी कृपा और प्रेमका पात्र बननेके लिये अनिवार्य समझते हुए उनमें सम्मिलित होना किसीके लिये आवश्यक नहीं। योग स्वयं आप ही अपना लक्ष्य है और उसके अपने निजी साधन एवं अपनी निजी शर्तें हैं, खेल इससे सर्वथा भिन्न एक वस्तु है जैसा कि स्वयं माताजीने भी तुम्हें उस समय सूचित किया था जब उन्होंने यह कहा था कि खेलके मैदानमें जो ध्यान किया जाता है वह ठीक ध्यान नहीं है और उसका प्रयोग योगके किसी उद्देश्यके लिये नहीं बल्कि शारीरिक कार्योंकी क्षमता प्राप्त करनेके लिये किया जाता है।

१४-३-१९४९

* * *

यह भी सत्य नहीं है कि माताजी या मैं योगसे मुँह मोड़ रहे हैं तथा केवल खेलोंमें दिलचस्पी लेनेका इरादा रखते हैं; आश्रमके मूल स्वरूपको बदलने तथा इसके स्थानपर एक क्रीड़ासंघ स्थापित करनेका हमारा तनिक भी विचार नहीं है। यदि हम ऐसा करें तो वह एक अत्यन्त मूर्खतापूर्ण कार्य होगा और यदि तुमसे किसीने ऐसी कोई बात कही हो तो निश्चय ही उसका दिमाग फिरा हुआ है या वह एक अत्यन्त औंधे विचारके लिये उन्मादपूर्ण उत्साह रखनेके कारण एक अस्थायी संकटसे ग्रस्त है। माताजीने एक बार तुम्हें अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें कहा था कि खेलके मैदानमें जो ध्यान किया जाता है वह योगके लिये ध्यान या एकाग्रता नहीं है बल्कि केवल शारीरिक व्यायामोंके लिये की जानेवाली सामान्य एकाग्रता ही है। यदि वे इनके संगठनमें व्यस्त हैं—और यह सच नहीं है कि वे केवल इसी कार्यमें व्यस्त हैं—तो यह इसलिये कि इस कार्यको वे शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर लें जिसके बाद कि यह आश्रमके अन्य

कार्योंकी भांति स्वयमेव चलता रहे और उन्हें इसमें न तो व्यस्त ही रहना पड़े और न विशेष रूपसे संलग्न। जहां तक मेरी बात है, यह सोचना निश्चय ही मूर्खतापूर्ण है कि मैं ध्यान और योगकी उपेक्षा कर रहा हूँ और केवल दौड़-धूप, उछल-कूद तथा मार्चिंगमें ही दिलचस्पी रखता हूँ! 'बुलेटिन'में प्रकाशित मेरे दूसरे सन्देशको लेकर विचित्र गलतफहमियां फैली हुई प्रतीत होती हैं। पहले संदेश-में मैंने खेलों तथा उनकी उपयोगिताके बारेमें लिखा था जिस प्रकार मैंने राजनीति या सामाजिक विकास या अन्य किसी विषयपर लिखा है। दूसरे में मैंने खेलोंका प्रश्न प्रसंगवश ही उठाया था क्योंकि लोग इस विषयमें अपनी अज्ञानता प्रकट कर रहे हैं कि आश्रमको खेलोंसे कोई सम्बन्ध ही क्यों रखना चाहिये। मैंने समझाया था कि ऐसा क्यों किया गया है और इस अधिक व्यापक प्रश्नपर विचार किया था कि कैसे यह तथा अन्य मानव प्रवृत्तियां सत्ताके, शरीर समेत, सभी अंगोंकी समग्र पूर्णताकी खोजका अंग बन सकती हैं और इससे भी अधिक विशेष रूपसे, इस विषयका विवेचन किया था कि शरीरकी पूर्णताका स्वरूप क्या होगा। मैंने स्पष्ट रूपसे यह बतलाया था कि केवल योगके द्वारा ही आत्माके सभी करणोंकी परम और समग्र पूर्णता प्राप्त हो सकती है तथा सम्पूर्ण सत्ताका उच्चतम स्तरपर ऊपर उठना, भूतलपर दिव्य जीवन बिताना और दिव्य शरीर ग्रहण करना सम्भव हो सकता है। मैंने यह स्पष्ट कर दिया था कि खेल आदि जैसे मानवीय तथा भौतिक साधनोंसे केवल एक सीमित एवं अनिश्चित मानवीय पूर्णता ही प्राप्त हो सकती है। इस सबमें ऐसी कोई चीज नहीं है जो इस विचारका समर्थन करती हो कि खेल अतिमानसमें कूद जानेका साधन हो सकता है या अतिमानस केवल खेलके मैदानमें ही उतरेगा, और कहीं नहीं और जो लोग वहां हैं केवल वे ही उसे प्राप्त करेंगे; यह तो मेरे लिये एक बुरा ही दृश्य होगा क्योंकि मुझे कोई मौका न मिलेगा!

यह सब मैं उन सब विचित्र भ्रांतियोंको दूर करनेकी आशासे लिख रहा हूँ जिनसे वातावरण खूब भरा हुआ प्रतीत होता है और जिनमेंसे कुछका प्रभाव तुमपर भी शायद पड़ा होगा।

२७-४-१९४९

तुम्हें यह देखनेमें समर्थ होना चाहिये कि तुम्हारा यह विचार निराधार है कि हम तुमसे खेलमें सम्मिलित होने या उसे पसन्द करने तथा किसी प्रकार स्वीकार करनेके लिये आग्रह करते हैं। मैं स्वयं भी कभी खिलाड़ी नहीं रहा अथवा — इंगलैण्डमें क्रिकेटमें दर्शककी-सी दिलचस्पी लेने या बड़ौदा क्रिकेट क्लबका न खेलनेवाला सदस्य रहनेके सिवा — किन्हीं शारीरिक खेलों या

व्यायामोंमें भाग नहीं लिया, हां, बड़ौदेमें मद्रासी पहलवानोंसे दंड-बैठक आदि कुछ व्यायाम सीखे थे तथा उनका अभ्यास किया करता था और वह भी अपने अस्वस्थ तो नहीं पर दुबले-पतले और कमजोर शरीरमें बल-सामर्थ्यकी कुछ वृद्धि करनेके लिये ही; किन्तु इन चीजोंको और कोई महत्त्व या अर्थ कभी नहीं दिया और जब मैंने यह देखा कि ये अब आवश्यक नहीं हैं तो इन्हें त्याग दिया। निश्चय ही, मेरी दृष्टिमें व्यायामों तथा शारीरिक खेलोंसे अलग रहने या शारीरिक व्यायामोंमें भाग लेनेका योगसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं। और न तो खेल-कूदके प्रति तुम्हारी घृणा न दूसरोंकी उसके प्रति रुचि ही तुम्हें साधनाके अधिक योग्य या अधिक अयोग्य बनाती है। अत इसका कोई भी कारण नहीं कि हम तुम्हारे इसमें भाग लेनेपर आग्रह करें या तुम इस कल्पनासे अपने मनको व्यथित करो कि हम चाहते हैं कि तुम भाग लो ही। ऐसे विषयोंमें अपनी राह पकड़नेके लिये प्रत्येक व्यक्तिकी भांति तुम भी निश्चय ही सर्वथा स्वतन्त्र हो।

२८-४-१९४९

* * *

......मुख्य विषयपर आनेसे पहले मैं एक और विषयको भी स्पष्ट कर दूं जो इससे असम्बद्ध नहीं है: वह है 'बुलेटिन'में प्रकाशित मेरे लेख या संदेश,— जैसा कि उन्हें कहा जाता है। कारण, ऐसा प्रतीत होता है कि उनके प्रकाशन तथा उनकी विषयसामग्रीने और विशेषकर मेरे दिव्य-शरीर-विषयक विचारोंने तुम्हारे मनमें उद्वेग, द्विविधा या भ्रांति उत्पन्न की है। इसमें से पहला लेख मैंने इस विषयको समझानेके लिये लिखा था कि आश्रमके कार्यक्रममें खेल कैसे और क्यों सम्मिलित हो गये और मेरी समझमें मैंने आगे चलकर यह स्पष्ट किया था कि खेल साधना नहीं है, यह उस छोरकी चीज है जिसे मैं वस्तुओंका निचला छोर कहता हूं, किन्तु यह मनोरंजन या आमोद-प्रमोद या स्वास्थ्य-रक्षाके लिये ही नहीं बल्कि देहकी महत्तर क्षमताकी प्राप्तिके लिये भी प्रयोगमें लाया जा सकता है, और केवल शरीरके ही नहीं वरन् नैतिकता और अनुशासनके कई-एक गुणों एवं सामर्थ्योंके विकास और मानसिक शक्तियोंके प्रोत्साहनके लिये भी इसका उपयोग किया जा सकता है। परन्तु मैंने इस ओर भी निर्देश किया था कि वे अन्य साधनोंसे भी विकसित किये जा सकते हैं और किये जाते भी हैं और फिर इस उपयोगिताकी भी सीमाएं हैं। सच पूछो

तो केवल साधनाके द्वारा ही मनुष्य उन सीमाओंको पार कर सकता है जो निचले छोरके साधनोंके लिये स्वभाविक हैं। मैं समझता हूँ इसमें गलतफहमी होनेकी गुँजायश् नहीं थी, किन्तु माताजीने मुझे खेलसे सर्वथा असम्वद्ध कुछ अन्य विषयोंपर भी लिखनेके लिये कहा था और इस प्रकारके कुछ विषय सुझाये भी थे, जैसे दिव्य शरीरके विकासकी सम्भावनाएं; सुतरां मैंने इस विषयपर लिखा और अतिमानस तथा सत्य-चेतनाकी चर्चा करने लग पड़ा जिनका, स्पष्ट ही, खेलसे अत्यन्त दूरका भी सम्बन्ध न था। उद्देश्य यह था कि पत्रिकामें एक ऐसी चीजको लाया जाय जो व्यायामशालाकी गतिविधियोंके विवरणमात्रसे अधिक उच्च और रोचक हो और जो कुछ एक पाठकों और यहांतक कि अधिक व्यापक क्षेत्रोंको भी अपील कर सके। दिव्य शरीरकी चर्चा करते हुए मैं आध्यात्मिक शक्तिके द्वारा होनेवाले उसके भावी विकासमें क्या हो सकता है इस विषयमें कुछ दूरकी कल्पनाओंमें उतर पड़ा था, पर यह स्पष्ट ही है कि वे सम्भावनाएं कोई आसन्न या तात्कालिक वस्तु नहीं हो सकती थीं, और मैंने काफी स्पष्ट रूपमें कहा था कि किसी असामान्य वस्तुके लिये यत्न न करके हमें पहली सीढ़ीसे ही आरम्भ करना होगा। सम्भवतः, वर्तमान सीमाओंपर मुझे अधिक बल देना चाहिये था, पर उन्हें मैं अब स्पष्ट कर दूँ। मेरे प्रयत्नोंका तात्कालिक लक्ष्य भूतलपर आध्यात्मिक जीवनकी प्रतिष्ठा करना है और उसके लिये सदा सबसे पहली आवश्यकता भगवत्प्राप्ति ही होनी चाहिये। केवल तभी जीवनको अध्यात्ममय बनाया जा सकता है अथवा जिसे मैंने दिव्य जीवन कहा है उसे सम्भव बनाया जा सकता है। एक ऐसी चीजकी रचना, जिसे दिव्य शरीर कहा जा सके, इस रूपान्तरके अंगके रूपमें स्वीकृत एक दूरका लक्ष्य ही हो सकती है, क्योंकि स्पष्ट ही, इन परिकल्पनाओंमें जिस प्रकारके दिव्य शरीरकी बात कही गयी है उसका विकास एक सुदूर विकासके परिणामके रूपमें ही दृष्टिगोचर हो सकता है और उससे किसीको डरना या घबराना नहीं चाहिये। उसे किसी सुदूर सम्भवनीय भविष्यकी कल्पना भी समझा जा सकता है जो एक दिन सत्य सिद्ध हो सकती है।

अब मैं मुख्य विषयपर आता हूँ, अर्थात् यह जो कहा जाता है कि श्रीमाताजी की इच्छा स्थायी रूपसे खेलोंपर ही ध्यान देने तथा साधना और हमारे आध्यात्मिक प्रयाससे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य चीजोंसे हट जानेकी है, यह एक कहानी और कपोल-कल्पना है और इसमें कोई सत्य नहीं, अपने शारीरिक व्यायामके लिये माताजी जो समय देती हैं—खेलके मैदानमें शामको साधारणतः दो या कभी-कभी तीन घंटे—उसे छोड़कर उनका एकदम सुबहसे लेकर सारा दिन और रातका भी अधिकांश समय उनके अन्य साधना-सम्बन्धी कार्यों (उनकी

अपनी नहीं बल्कि साधकोंकी साधना से सम्बन्ध रखनेवाले कार्यों) में ही बराबर-से लगता आ रहा है — प्रणाम, आशीर्वाद, ध्यान, सीढ़ीके ऊपर या और कहीं साधकोंसे मिलना, — कभी-कभी एक साथ दो घंटेतक — और उन्हें जो कहना होता है उसे सुनना, साधनाविषयक प्रश्न, उनके कार्यके परिणाम या उनके मामले, शिकायतें, विवाद, झगड़े, इस या उस कार्यके विषयमें निर्णय करने तथा उसे करनेके बारेमें सब प्रकारके विचार-परामर्श आदि — इस सूचीका कोई अन्त ही नहीं। इसके अतिरिक्त उन्हें साधकोंकी चिट्ठियां, आश्रम तथा उसके अनेक विभागोंके बाह्य कार्यके विषयमें प्रतिवेदन (रिपोर्टें), बाहरी दुनियाके साथके सम्पर्कोंसे सम्बद्ध पत्रव्यवहार तथा और सब प्रकारके विषय जिनके अन्दर प्रायः भीषण कष्ट-क्लेश और कठिनाइयोंकी बातें तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयोंका निर्णय भी आ जाता है — इन सबकी ओर भी ध्यान देना होता है। निश्चय ही, इस सबका खेलोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं और शामके थोड़ेसे समयको छोड़कर उन्हें खेलके बारेमें सोचनेका भी अवकाश नहीं। इसमें इस विचारके लिये कोई आधार नहीं कि वे साधकों या साधनाकी उपेक्षा कर रही हैं अथवा केवल या प्रधान रूपसे खेलकी ओर ही अपना ध्यान देनेकी सोच रही हैं, फिर मुझपर इस कार्यमें व्यस्त होनेका आरोप लगानेकी तो चर्चा ही क्या? हां, पहली और दूसरी दिसम्बरसे पहलेके कुछ दिनोंमें इस वर्ष माताजीको इन दो दिनोंके कार्यक्रमकी तैयारीके लिये बहुत अधिक समय और ध्यान देना पड़ा क्योंकि उन्होंने एक लम्बे सांस्कृतिक प्रोग्रामका निश्चय किया था: पहली दिसम्बरके लिये अपना एक नाटक 'वैर लावनीर' Vers l'Avenir भविष्यकी ओर), नृत्य, Savitri और Prayers and Meditations ('सावित्री' और 'प्रार्थना और ध्यान') मेंसे कुछ संदर्भोंका पाठ, और साथ ही दूसरी तारीखके लिये नाना प्रकारके खेलों और व्यायामोंका बड़ा उमंग-पूर्ण प्रोग्राम। इन कार्योंके लिये अपेक्षाकृत बहुत अधिक समयकी आवश्यकता थी पर इनसे उनके अन्य कार्योंमें कदाचित् कोई बाधा नहीं पड़ी; हां, इस समारोहकी ठीक समाप्ति पर दो-एक कार्योंमें व्यतिक्रम अवश्य हुआ। निश्चय ही, यहां यह परिणाम निकालनेके लिये कोई पर्याप्त आधार नहीं था कि भविष्यके लिए यह उनके कार्यका एक सामान्य अंग बन जानेवाला है अथवा यह उनके कार्य या आश्रमके जीवनमें एक स्थायी परिवर्तन लानेवाला है जिसके परिणाम-स्वरूप आश्रमका जीवन आध्यात्मिक जीवनसे पूरी तरह अलग हो जायगा और यहां खेलके देवताकी ही प्रतिष्ठा हो जायगी। जिन लोगोंने इस विचारको प्रकट किया है या यह घोषणा की है कि आगेसे खेल सबके लिये अनिवार्य हो जायगा वे ऐसी कल्पनाओंमें रमण कर रहे हैं जिनपर विश्वास करनेके

लिए कोई उचित आधार नहीं। सच तो यह है कि वह कामके भारका समय खत्म हो गया है और दूसरी दिसम्बरके बाद खेलके मैदानकी हलचलें अपनी सामान्य अवस्थाको, या यहां तक कि उससे भी मन्द अवस्थाको पहुँच गई हैं और भविष्यके सम्बन्धमें तुम इस कहावतको याद कर सकते हो कि "एक बारका मतलब 'सदाके लिए' नहीं होता।"

परन्तु अब भी यह निर्मूल धारणा बची हुई प्रतीत होती है कि आगेको खिलाड़ी बनना प्रत्येक साधकके लिये अनिवार्य होगा और इसके बिना माताजी-का ध्यान आकृष्ट करने या उनकी कृपादृष्टि पानेकी कोई सम्भावना नहीं। इसलिये यह आवश्यक है कि मैं उस वक्तव्यको पूरे बलके साथ फिरसे दुहरा दूँ जो मैंने पहले दिया था जब कुछ समयसे लगातार यह दंतकथा प्रचलित हो चली थी और, मैं समझता हूँ, उसके साथ यह अफवाह भी फैल गई थी कि अतिमानस खेलके मैदानमें तथा उन लोगोंपर ही उतरेगा जो उस समय वहां होंगे और वह और कहीं भी तथा और किसी पर भी नहीं उतरेगा — जिसका यह अर्थ होता कि कम-से-कम मैं तो उसे कभी नहीं प्राप्त करूँगा! जो कुछ मैंने तब कहा था वह मुझे फिर दुहराना होगा, वह यह कि माताजीने ऐसी कोई बाध्यता किसीपर कभी नहीं लादी और न इसे लादनेका उनका कोई विचार ही है, साथ ही ऐसा करनेका कोई कारण भी नहीं। यदि तुम्हें या और किसी व्यक्तिको खेल-कूदकी ओर रुचि या प्रवृत्ति नहीं है तो वे यह नहीं चाहतीं कि वह या तुम उसमें भाग लो ही। ऐसे लोग कितने ही हैं जिन्हें उनकी परम कृपादृष्टि प्राप्त है पर जो खेलके मैदानमें पैर तक नहीं रखते; उनमें कुछ उनके श्रेष्ठ तथा अत्युपयोगी कार्यकर्ता हैं, कुछ उनके अत्यन्त समीप-वर्ती तथा स्नेहभाजन भी हैं। अतएव, सम्भवतः कोई भी व्यक्ति खेलमें भाग लेनेसे इन्कार करनेसे या खेलके प्रति घृणा या तीव्र अरुचि होनेके कारण उनके स्नेह या कृपाकटाक्षसे वंचित नहीं हो सकता। ये चीजें अपनी-अपनी मानसिक प्रकृतिके सिवा और कुछ नहीं। यह विचार नितांत मूर्खतापूर्ण है कि खेल अब माताजीकी दृष्टिमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु है तथा साधनाके लिये अनिवार्य है, भले ही यह विचार माताजीके इरादोंको प्रकट करनेका अपनेको अधिकारी माननेवाले किसी व्यक्तिने ही क्यों न पेश किया हो।

६-१२-१९४९

भगवान्‌की उपलब्धि ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है और शेष सब चीजें वहीं तक वांछनीय हैं जहांतक वे उपलब्धिमें सहायता करती या इस ओर हमें ले जाती हैं अथवा उपलब्धि हो जानेपर उसे फैलाती और प्रकट करती हैं। मेरे

योगका सम्पूर्ण आशय और उद्देश्य है भगवान्‌को अभिव्यक्त करना या भागवत कार्यके लिये सम्पूर्ण जीवनको सुव्यवस्थित करना, अर्थात् पहले तो, वैयक्तिक तथा सामूहिक साधना जो उपलब्धिके लिये तथा भगवत्प्राप्त व्यक्तियोंके सामूहिक जीवनके लिये आवश्यक हैं, दूसरे संसारकी सहायता करना जिससे यह प्रकाशकी ओर बढ़े और उसमें निवास करे। परन्तु उपलब्धि सबसे पहली आवश्यकता है और इसीके इर्द-गिर्द बाकी सब चीजें सम्पन्न होती हैं, क्योंकि इसके बिना बाकी सब चीजोंका कोई अर्थ नहीं रह जायगा। न तो माताजीने और न मैंने ही कभी इस बातका स्वप्न देखा और न हम ऐसां स्वप्न देख ही सकते थे कि हम इसका स्थान किसी और चीजको दे दें या किसी और चीजके लिये इसकी उपेक्षा कर दें। वास्तवमें माताजीका दिनका अधिकांश समय इसी उद्देश्य-के हित साधकोंको किसी-न-किसी प्रकार सहायता देनेमें लगता है। बाकी बहुत-सा समय आश्रमके कार्यमें लगता है जिसकी न तो उपेक्षा की जा सकती है और न जिसे भंग ही होने दिया जा सकता है, क्योंकि वह काम भी भगवान्‌के लिये ही है। जहांतक व्यायामशाला, खेलके मैदान आदिका सम्बन्ध है, माताजीने शुरूसे ही यह स्पष्ट कर दिया है कि इन चीजोंको वे क्या स्थान देती हैं; उन्होंने कभी इतना मूर्खतापूर्ण कार्य नहीं किया है जिससे प्रधान कार्योंका स्थान इन गौण वस्तुओंको प्राप्त हो।

४-४-१९५०

अचंचलता और कार्य

प्र०— भाषाएं सीखना मनको सक्रिय कर देता है। क्या योगका यह अर्थ नहीं कि मनको शान्त रखकर उसे सदा भगवान्‌की ओर मोड़े रखा जाय ?

उ०— क्या तुम्हारे कहनेका यह मतलब है कि मनकी अचंचलता प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य कुछ भी न करे ? तब तो यहां न माताजीका मन शान्त है न मेरा और न किसी और का।

६-४-१९३७

समाचार पत्र पढ़ना

प्र०— क्या समाचारपत्र पढ़ना छोड़ देना हमारी साधनामें अत्यन्त

आवश्यक है? मैं देखता हूँ कि प्रायः सभी साधक, अच्छे-से-अच्छे साधक भी, उन्हें पढ़ते हैं और आप भी। और फिर, यदि कोई उन्हें न पढ़े तो उसे कोई जानकारी नहीं होती और वह कोरा ही रहता है।

उ०— ये वस्तुएं व्यक्ति और उसकी अपनी अवस्थाओंपर निर्भर करती हैं— इनके विषयमें कोई सामान्य नियम नहीं हो सकता। यह ठीक है कि मैं अखबार पढ़ता हूँ, पर माताजी कभी नहीं पढ़तीं जबतक उनका ध्यान किसी विशेष समाचारकी ओर न खींचा जाय। मैं साहसपूर्वक कह सकता हूँ कि यदि 'क्ष' एक सालके लिये अखबार पढ़ना बन्द कर दे तो यह उसके लिये बहुत लाभप्रद हो सकता है। व्यक्तिको यह देखना होता है कि उसकी अपनी साधनाकी आवश्यकता क्या है। यदि अखबार मनको बहुत अधिक विक्षिप्त या चेतनाको अत्यधिक बहिर्मुख कर देते हैं तो उन्हें पढ़ना छोड़ देना चाहिये। दूसरी ओर, यदि कोई साधनामें बेकार समय गंवा रहा है और कोई विशेष आन्तरिक प्रयत्न नहीं कर रहा तो वह समाचारपत्र पढ़ सकता है—यह किसी अन्य चीजसे अधिक बुरा नहीं। इसके विपरीत, यदि समाचारपत्र गठित हो चुकी या हो रही अन्तश्चेतनाको किसी भी प्रकार (विक्षिप्त, निम्न या बहिर्मुख करने आदिके द्वारा) प्रभावित नहीं करते तो भी व्यक्ति उन्हें पढ़ सकता है। मैं अखबार मुख्य रूपसे इसलिये पढ़ता हूँ कि मुझे देखना होता है कि क्या घटनाएं हो रही हैं जो मेरे काम आदिपर किसी भी दिन प्रभाव डाल सकती हैं। मैं पढ़नेके शौकके कारण नहीं पढ़ता।

९-७-१९३६

* * *

इस योगमें प्रयुक्त एकमात्र मंत्र

सामान्यतया इस साधनामें जो एकमात्र मन्त्र प्रयुक्त होता है वह माताजीका या मेरे और माताजीके नामका है। हृदयमें एकाग्रता या सिरमें एकाग्रता दोनोंका प्रयोग किया जा सकता है—प्रत्येकका अपना परिणाम होता है। पहली चैत्यपुरुषको खोल देती है और भक्ति, प्रेम, माताजीके साथ मिलन, हृदयमें उनकी उपस्थिति तथा प्रकृतिमें उनकी शक्तिकी क्रिया—यह सब लाती है। दूसरी मनको आत्म-साक्षात्कारकी ओर, मनके ऊपर जो कुछ है उसकी चेतनाकी

ओर, तथा चेतनाके शरीरसे बाहर आरोहण और उच्चतर चेतनाके शरीरके अन्दर अवतरणकी ओर खोल देती है।

१३-१०-१९३४

* * *

प्र०— जब मैं नींदमें श्रीमांको पुकारता हूँ तब जो शक्ति सहायता करती है उसमें और जब मैं "श्रीअरविन्द-मीरा"का मन्त्र जपता हूँ तब जो शक्ति आती है उसमें कोई अन्तर है क्या ?

उ०— शक्तिमें कोई अन्तर हो यह आवश्यक नहीं। साधारणतया माताजीके नाममें पूरी शक्ति होती है; पर चेतनाकी किन्हीं विशेष अवस्थाओंमें दोहरे नामका विशेष प्रभाव हो सकता है।

२९-८-१९३६

एक मन्त्र*

OM Sri Aurobindo Mira
Open my mind, my heart, my life
to your Light, your Love your Power.. In all
things may I see the Divine

(ॐ श्रीअरविन्द-मीरा

मेरे मन, मेरे हृदय, मेरे प्राणको अपनी ज्योति, अपने प्रेम, अपनी शक्ति-की ओर खोल दो। सभी वस्तुओंमें मैं भगवान्को देखूँ।)

१६-७-१९३८

ॐ श्रीअरविन्द मीरे
उन्मीलय मनो मे त्वं हृदयं जीवनं तथा।
तव ज्योतिः प्रति प्रेम शक्तिञ्चापि प्रति प्रभो।
पश्येयं सर्वभूतेषु भगवन्तं परात्परम्॥

*एक साधकने श्रीअरविन्दसे उनके और माताजीके नामसे युक्त एक संक्षिप्त प्रार्थना मन्त्रके रूपमें प्रयोगमें लानेके लिये मांगी थी। उन्होंने उसे यह मन्त्र दिया था। इसे देते हुए उन्होंने लिखा था:

"मैंने तुम्हारे लिये नामोंसे युक्त एक संक्षिप्त प्रार्थना मन्त्रके रूपमें लिखी है। मुझे आशा है यह तुम्हें अपनी कठिनाईपर विजय पाने और आन्तरिक आधार प्राप्त करनेमें सहायता देगी।" (१६-७-१९३८)

"क्या मुझे नामों और प्रार्थनाको एक ही मन्त्र समझना होगा?"

श्रीअरविन्दने उत्तर दिया: "हां"। (१८-७-१९३८)

श्रीअरविन्द-गायत्री

तत्सवितुः वरं रूपं ज्योतिः परस्य
धीमहि।
यन्नः सत्येन दीपयेत्॥

(तत्सवितुः वरं रूपं ज्योतिः परस्य धीमहि, यन्नः सत्येन दीपयेत्।[1])

मङ्गल-प्रार्थना

असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥[2]

(बृहदारण्यक उपनिषद् १.३.२८)

तथास्तु[3]

Sri Aurobindo

[1] सविताके परममङ्गलकारी (वरेण्य) रूपका, परात्परकी ज्योतिका हम ध्यान करें। वह हमें सत्यसे प्रदीप्त करे। (श्रीअरविन्दका अनुवाद)

[2] (मुझे ले चल)
असत्से सत्की ओर,
तमसे ज्योतिकी ओर,
मृत्युसे अमृतकी ओर।
ॐ शान्ति! शान्ति! शान्ति!

(बृहदारण्यक उपनिषद्, १-३-२८)

[3] ऐसा ही हो।